हजारीप्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली

10



राजकमल प्रकाशन

नयी दिल्ली पटना

मूल्य : रु. 75.00

प्रथम संस्करण : अगस्त, 1981
प्रकाशक : राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड,
8, नेताजी सुभाष मार्ग, नयी दिल्ली-110002
मुद्रक : रुचिका प्रिण्टर्स, दिल्ली-110032
कलापक्ष : मोहन गुप्त

HAZARIPRASAD DWIVEDI GRANTHAVALI
Price : Rs. 75 00



"साहित्य में सहज होना (मैं सरल नहीं कहता) भी मौलिकता का श्रेष्ठ प्रतिमान है।"

—विचार-प्रवाह



"अच्छा समझिए या बुरा, मैं बालू में से तेल निकालने का सचमुच ही प्रयत्न करता हूँ, बशर्ते कि वह बालू मुझे अच्छी लग जाये।"

—अशोक के फूल

लोकभाषा का साहित्य — भारतीय चिंता का स्वाभाविक विकास है।

निजी, (१)

आज से हजार वर्ष पहले से हिंदी साहित्य बनना शुरू हुआ था। इन हजार वर्षों में भारतवर्ष का हिंदी भाषी जनसमुदाय क्या सोच समझ रहा था, यह जानने के लिये एक मात्र साधन हिंदी साहित्य ही है। कम से कम भारतवर्ष के अपने विस्तीर्ण सहस्र वर्ष व्यापी आशा आकांक्षा का मूर्तिमान प्रतीक हिंदी साहित्य अपने आप में एक ऐसा शक्तिशाली वस्तु है कि इसकी उपेक्षा भारतीय जन समुदाय के समझने के लिये घातक सिद्ध होगी। नाना कारणों से सचमुच ही यह उपेक्षा होती चली गई है। प्रधान कारण यह है कि इस साहित्य के जन्म के साथ ही भारतीय इतिहास में एक अभूतपूर्व राजनीतिक और धार्मिक घटना हो गई। भारतवर्ष के उत्तर पश्चिम की सीमान्त से इस्लाम ने प्रवेश किया जो देखते देखते इस विशाल महादेश के एक सिरे से दूसरे सिरे तक फैल गया। इस्लाम जैसे सुसंगठित समाज से इस देश का कभी पाला नहीं पड़ा था। इसी लिये इस नवागत समाज की राजनीतिक धार्मिक, सामाजिक और विधि इस देश के ऐतिहासिक का सारा ध्यान खींच लेती है, यह स्वाभाविक है पर उचित भी है, ऐसा नहीं कह सकते। दुर्भाग्यवश हिंदी साहित्य के अध्ययन करने का और लोकचक्षुगोचर करने का भार जिन विद्वानों ने अपने ऊपर लिया है वे भी हिंदी साहित्य का संबंध हिंदू जाति के पतन से ही अधिक बताते हैं और अनजान आदमी को दो ढंग से सोचने का मौका देते हैं — (१) यह कि हिंदी साहित्य एक हतदर्प पराजित जाति की सम्पत्ति है, इसलिये उसका महत्त्व उस जाति के राजनीतिक उत्थान पतन से अंगांगिभाव से संबद्ध है। और (२) यह कि यदि ऐसा न भी हो तो भी यह एक निरंतर पतनशील जाति की चिन्ताओं का मूर्त प्रतीक है जो अपने आप में कोई विशेष महत्त्व नहीं रखता। मैं इन दोनों बातों का प्रतिवाद करता हूं और अगर प्रतिवाद न भी करूं और उक्त दोनों बातों में से एक या दोनों को सत्य मान भी लूं तो भी यह कहने में मुझे कोई हिचक नहीं होगी कि अगर ऐसा हो भी, तो भी इस साहित्य के अध्ययन का महत्त्व है। क्योंकि दस सौ वर्षों तक एक बड़े कुचले हुए मनुष्य समूह की बात भी मानवता की जानकारी के लिये अत्यन्त आवश्यक वस्तु है। लेकिन मैं इन दोनों बातों से एक को भी नहीं मानना चाहता। मैं ऐसा करके इस्लाम के महत्त्व को कम नहीं कर रहा हूं, लेकिन जोर देकर कहना चाहता हूं कि अगर इस्लाम न भी आया होता तो भी इस साहित्य का १२ आना ऐसा ... जैसा आज है।

निवेदन

प्रातः स्मरणीय आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के समग्र साहित्य को एक सूत्र मे अनुस्यूत करके हिन्दी-पाठकों को समर्पित करते हुए हमें अत्यधिक आनन्द का अनुभव हो रहा है। स्वर्गीय आचार्यजी के मन मे अनेक परिकल्पनाएँ तथा योजनाएँ थी जिन्हें कार्यान्वित करने के लिए वे निरन्तर क्रियाशील थे। परन्तु नियति-निर्णय से उन्हें अधूरी ही छोडकर वे चले गये हैं। हजारीप्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली की प्रकाशन-योजना उसी सम्पूर्णता की शृंखला की पहली कड़ी है।

आचार्यत्व की गरिमा से दीप्त आचार्य द्विवेदी का व्यक्तित्व और उनकी अपार सर्जनात्मक क्षमता किसी भी पाठक को चमत्कृत और अभिभूत करने के लिए पर्याप्त है। मनीषियों की दृष्टि में वे चिन्तन और भावना दोनों ही स्तरों पर महत्त्व-बिन्दु पर भासमान हैं। उनकी रचनादृष्टि समय के आरपार देखने मे समर्थ थी। इतिहास उनकी लेखनी का स्पर्श पाकर अपनी समस्त जड़ता खो बैठा और सतत् प्रवाहित जीवनधारा साहित्य में हिल्लोलित हो उठी, जो तीनों कालो को जोड़ देती है।

आचार्य द्विवेदी की बहुमुखी जीवन-साधना ने हिन्दी वाङ्मय के एक पूरे और विशाल युग को प्रभावित किया है। वे संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश तथा हिन्दी और बांग्ला साहित्य के मर्मज्ञ विद्वान् थे। साथ ही, अंग्रेजी साहित्य का भी व्यापक धरातल पर उन्होंने परिशीलन किया था और अंग्रेजी भाषा के माध्यम से ग्रीक साहित्य का भी रसास्वादन किया था। अगाध पाण्डित्य में सहजता का मणिकांचन योग उन्हें सामान्य मानव की भूमिका मे प्रतिष्ठित कर देने की क्षमता प्रदान कर देता था और वे अनायास ही जनहृदय से स्पन्दित और आन्दोलित हो उठते थे। उनका विद्वान् सरलता से सजग हो उठता था। वे प्रत्येक मन में विराजमान हो जाने की अपूर्व मेधा के धनी हो जाते थे।

आचार्यजी की इन्ही अद्वितीय प्रवृत्तियो को स्थायी रूप देने के लिए इस ग्रन्थावली की योजना बनायी गयी है। विषय और विधा दोनों दृष्टिकोणों को साथ रखकर विभिन्न खण्डों का विभाजन किया गया है। कुल मिलाकर ये ग्यारह खण्ड हैं—

1. पहला खण्ड : उपन्यास-1
2. दूसरा खण्ड : उपन्यास-2
3. तीसरा खण्ड : हिन्दी साहित्य का इतिहास
4. चौथा खण्ड : प्रमुख सन्त कवि
5. पाँचवाँ खण्ड : मध्यकालीन साधना
6. छठवाँ खण्ड : मध्यकालीन साहित्य
7. सातवाँ खण्ड : लालित्य तत्त्व एवं साहित्य मर्म
8. आठवाँ खण्ड : कालिदास और रवीन्द्र
9. नवाँ खण्ड : निबन्ध-1
10. दसवाँ खण्ड : निबन्ध-2
11. ग्यारहवाँ खण्ड : विविध साहित्य

ग्रन्थावली को क्रमबद्ध करने मे अनेकों समस्याएँ आयी हैं। निबन्धों का विभाजन भी निबन्ध-संग्रह तथा तिथि-क्रम के आधार पर न करके विषय के अनुसार ही किया गया है। निबन्ध के अन्त में मूल निबन्ध-संग्रह का नाम दे दिया गया है। ग्रन्थावली अधिकाधिक उपयोगी हो सके; इस बात को ध्यान में रखकर ऐसा किया गया है। कबीर, सूर और तुलसी के अतिरिक्त कालिदास और रवीन्द्रनाथ ठाकुर से आचार्यप्रवर प्राय: अभिभूत रहे हैं, अत: दोनों महाकवियों से सम्बद्ध सामग्री एक ही खण्ड में दे दी गयी है। अन्तिम खण्ड मे विविध प्रकाशित एवं अप्रकाशित सामग्री संकलित है। आचार्य द्विवेदी ने प्रारम्भ में काव्य रचनाएँ भी की थीं और अनेक अनुवाद भी। उन्हे यहाँ समाहित कर दिया गया है।

इस विशाल योजना की परिपूर्णता में अनेक लोगों ने अपना अमूल्य सहयोग दिया है जिसके बिना निश्चय ही यह कार्य पूर्ण नहीं हो पाता। उन सबके प्रति हम हार्दिक धन्यवाद व्यक्त करते हैं। पं. राजाराम शास्त्री ने अप्रकाशित ज्योतिःशास्त्र एवं साहित्य-शास्त्र सम्बन्धी रचनाओं के विषय में परामर्श दिया; और श्री महेशनारायण 'भारतीभक्त' ने मुद्रण प्रति तैयार करके हमारे दायित्व को आसान बनाया। हम इन दोनों को साधुवाद अर्पित करते है। श्रीमती शीला सन्धू, और राजकमल प्रकाशन से सम्बद्ध सभी व्यक्तियों ने जिस तत्परता और रुचि से इस योजना को सम्पूर्ण कराया है, वह प्रशंसनीय है।

इन शब्दों के साथ आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी का सम्पूर्ण रचना-संसार ग्रन्थावली के रूप मे, हम वृहद् हिन्दी विश्व-परिवार को समर्पित करते है। इससे ज्ञानधारा एव रससृष्टि मे थोड़ा भी विकास सम्भव हुआ तो हम अपने को कृतकार्य मानेंगे

जगदीशनारायण द्विवेदी
मुकुन्द द्विवेदी

अनुक्रम

पुरानी सड़ी रूढ़ियों का मैं पक्षपाती नहीं हूँ, परन्तु संयम और निष्ठा पुरानी रूढ़ियाँ नहीं है। वे मनुष्य के दीर्घ आयास से उपलब्ध गुण हैं और दीर्घ आयास से ही पाये जाते हैं। इनके प्रति विद्रोह प्रगति नहीं है। आदिम युग मे मनुष्य की जो वृत्तियाँ अत्यन्त प्रबल थी, वे निश्चय ही अब भी है और प्रबल भी है; परन्तु मनुष्य ने अपनी तपस्या से उनको अपने वश मे किया है और वश मे करने के कारण वह उनको सुन्दर बना सका है। मनुष्य के रंगमंच पर आने के पहले प्रकृति लुढ़कती-पुढ़कती चली आ रही थी। प्रत्येक कार्य अपने पूर्ववर्ती कार्य का परिणाम है। संसार की कार्य-कारण-परम्परा मे कहीं फाँक नहीं थी। जो वस्तु जैसी होने को है, वह वैसी होगी। इसी समय मनुष्य आया। उसने इस नीरन्ध्र ठोस कार्य-कारण-परम्परा में एक फाँक का आविष्कार किया। जो जैसा है, उसे वैसा ही मानने से उसने इनकार कर दिया। उसे उसने अपने मन के अनुकूल बनाने का प्रयत्न किया। सो, मनुष्य की पूर्ववर्ती सृष्टि किसी प्रकार बनती जा रही थी, मनुष्य ने उसे अपने अनुकूल बनाना चाहा—यही मनुष्य पशु से अलग हो गया। वह पशु-सामान्य धरातल से ऊपर उठा। बार-बार उसे उसी धरातल की ओर उन्मुख करना प्रगति नहीं, यह पीछे लौटने का काम है। मै मानता हूँ कि न तो कभी ऐसा समय रहा है, जब लालसा को उत्तेजना देनेवाला साहित्य न लिखा गया हो और न कोई ऐसा देश है, जहाँ ऐसी बात न लिखी गयी हो; परन्तु मेरा विश्वास है कि मनुष्य सामूहिक रूप से इस गलती को महसूस करेगा और त्याग देगा। यह ठीक है कि मनुष्य का इतिहास उसकी गलतियों का इतिहास है, पर यह और भी ठीक है कि मनुष्य बराबर गलतियों पर विजय पाता आया है। लालसा को उत्तेजन देनेवाला साहित्य उसकी गलती है। एक-न-एक दिन वह इस पर अवश्य विजय पायेगा।

—मनुष्य ही साहित्य का लक्ष्य है
(निबन्ध)

…मनुष्य क्या केवल इसलिए पैदा हुआ है कि जो कुछ जैसा है उसे चुपचाप स्वीकार कर ले? क्या प्रयत्न और पुरुषार्थ केवल सिरफिरे लोगों की बकवास मात्र है? मेरा अन्तरतर ऐसा नहीं मानना चाहता। केवल अक्लमन्दी से सिर छिपा लेना ही बड़ी बात होती तो मनुष्य कीड़े-मकोड़ों से अधिक न होता। मनुष्य इसलिए 'मनुष्य' है कि उसने सृष्टि की धारा को अपने पुरुषार्थ से अनुकूल दिशा में मोड़ा है। कई बार उस पर गलत ढंग की अक्लमन्दी का नशा छा जाता है। वह अपनी दुर्बलताओं को तत्त्वचिन्तक मनीषी की भाषा में महनीय बनाने का प्रयत्न करता है। अपनी आदतों को फलसफे का रूप देता है; परन्तु इससे गलतियाँ या दुर्बलताएँ बड़ी नहीं हो जातीं। जो तर्क इस दृष्टि से दिये जाते हैं कि हमारी आदतें और लतें ही चारित्र्य का बाना धारण करके प्रकट हो, वे तर्काभास मात्र हैं। अन्तर्यामी सब समय तर्कों के द्वारा अपनी योजना नहीं प्रकट करते। भावावेग तर्कों की अपेक्षा अधिक गहराई से निकलते हैं। वे अन्तरतर में बैठे हुए अज्ञात देवता के तर्जनी-संकेत पर चलते हैं। तथाकथित अक्लमन्दी कई बार निष्क्रियता, लत और आदत के इंगित का नामान्तर मात्र होता है।

—कुटज
(निबन्ध)
ग्रन्थावली-10, पृ. 293

हजारीप्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली

10

निबन्ध

मनुष्य की सर्वोत्तम कृति : साहित्य

जिस दिन छोटे-से जीव-कण ने जड़ प्रकृति के साथ विद्रोह किया था, उस दिन सृष्टि के इतिहास का नया अध्याय शुरू हुआ था, पर उससे भी बाद का अध्याय उस दिन शुरू हुआ, जिस दिन मनुष्य ने जीव-सृष्टि में अपना अद्वितीय स्थान अधिकृत किया। मनुष्य और मनुष्येतर जीव-जगत् मे यही अन्तर है कि विकास मनुष्येतर जीवों में अपने-आप होता गया; पर मनुष्य-जगत् में विकास प्रयत्नपूर्वक किया गया। मनुष्येतर जगत् मे इच्छा तो है, पर उसको रूप देने की क्षमता उसमें नहीं है। मनुष्य में इच्छा भी है और उसे रूप देने का सामर्थ्य भी। यही एक ऐसी बात है, जिसने मनुष्य को संसार का अप्रतिद्वन्द्वी जीव बना दिया है।

सभी मनुष्य किसी-न-किसी परिमाण में इस शक्ति को लेकर पैदा हुए हैं। अपनी इच्छाओं को सभी किसी-न-किसी प्रकार रूप दे लेते है। पर कमाल वहाँ है, जहाँ मानवीय आकांक्षा का रूप सुन्दर हुआ है। अगर एक आदमी इच्छापूर्वक अपनी शक्तियों का दुरुपयोग करके हजारों का खून चूसकर सेठ या साहूकार बन बैठे, लाखों को पीसकर सम्राट् बन जाय तो निस्सन्देह इच्छा को एक रूप तो दिया, पर यह रूप सुन्दर न होगा। सौन्दर्य सामंजस्य में होता है, पर जहाँ लाखों की कीमत पर एक फल-फूल रहा हो, वहाँ सामंजस्य कैसा? यह तो बीभत्स काण्ड है। कहते है, जब चीन देश के 'छु' राज्य के सम्राट् ने एक छोटे-से 'सुङ्' नामक राज्य पर आक्रमण करना चाहा, तो चीन के प्रसिद्ध दार्शनिक आचार्य मो-च उनके पास गये। सम्राट् ने अभिवादनपूर्वक उनसे आने का कारण पूछा। मो-च ने बताया कि उनके गाँव में एक डाकू ने उपद्रव मचा रखा है। उसके अत्याचार से एक स्त्री विधवा हो गयी है और तीन बच्चे अनाथ हो गये हैं। कई लोग गृहहीन हो गये हैं। सम्राट् ने रोष-पूर्वक उन्हें आश्वासन दिया कि डाकू को अवश्यमेव उसके किये का दण्ड दिया जायगा। परन्तु मो-च की चिन्तित मुखमुद्रा और भी गम्भीर हो गयी। उन्होंने गम्भीरता के साथ पूछा, "उसे दण्ड क्यों दिया जायगा, सम्राट्?" सम्राट् ने कहा, "उसने समाज में विशृंखलता पैदा की है, मेरी प्रजा की शान्ति में बाधा

पहुँचायी है।" मो-च ने नम्रतापूर्वक पूछा, "दीनबन्धु, क्या समाज को विश्रृंखल करना, शान्ति में बाधा पहुँचाना, दण्डनीय अपराध है?" सम्राट् ने घृणा के साथ उत्तर दिया, "हाँ, ये संसार की सबसे भद्दी और घृण्य बातें हैं। इनसे समाज का सामंजस्य नष्ट होता है।" मो-च ने नम्रतापूर्वक कहा, "तो धर्मावतार! एक और बड़ा डाकू है। यदि विचार करने में एक दिन की भी देर हुई तो वह हजारों स्त्रियों को विधवा बना देगा, लाखों बच्चों को अनाथ कर देगा और लाखों प्रजाजन उसके अत्याचार से भीत होकर त्राहि-त्राहि पुकार उठेंगे। वह संसार की सबसे भद्दी और घृण्य बातों से भी बड़ा और घृण्य कार्य करना चाहता है।" सम्राट् ने आवेश में प्रश्न किया, "उस अत्याचारी जालिम का नाम क्या है?" मो-च ने विनयपूर्वक उत्तर दिया—" 'छु' राज्य का सम्राट्!" और सम्राट् ने लज्जा और घृणा से सिर झुका लिया।

जब हम कहते हैं कि अमुक दृश्य बड़ा सुन्दर है, उदाहरण के लिए किसी वन या पर्वत की शोभा ले ली जाय, तो उसका मतलब यही होता है कि वहाँ रंग का सामंजस्य है, ऊँचाई-निचाई बेमाप नहीं हो गयी है। सबमें एक मीठा सम्बन्ध है, कोई किसी को दबा नहीं रहा है। मगर श्मशान की खर-स्रोता नदी अपनी हड्डियों, कंकालों, नरमुण्डों और चिता-भस्म के साथ बीभत्स होती है; क्योंकि उसमें सामंजस्य नहीं होता। सुन्दरता सामंजस्य में होती है।

पुराणों में तिलोत्तमा की कथा आती है। समस्त देवियों और अप्सराओं के सर्वोत्तम अंगों का सौन्दर्य तिल-तिल-भर संग्रह करके इस अपूर्व सुन्दरी तिलोत्तमा की सृष्टि हुई थी। परन्तु सर्वोत्तम सौन्दर्यों का बण्डल बाँध दिया जाये तो तिलोत्तमा नहीं बनती। सर्वोत्तम सौन्दर्यों के संग्रह के बाद भी उनको यथायोग्य स्थान पर बैठा देना चतुर स्रष्टा के ही बस का काम है। इसी को सामंजस्य कहते हैं। सभी चित्रकारों के पास काले, नीले, लाल आदि अनेक रंग रहते हैं, केवल उत्तम शिल्पी ही जानता है कि किसका किस स्थान पर उपयोग करने से चित्र सुन्दर लगेगा। यह संसार भी एक महत्त्वपूर्ण विशाल कला-कृति है। इसको इस ढंग से सजाना कि उसकी कुरूपता और भद्दापन मिट जाय, प्रत्येक प्रकार के उपादान उचित मात्रा में, उचित स्थान पर ठीक से बैठा दिये जायँ—यही सबसे बड़ी कला है। सारे मानव-समाज को सुन्दर बनाने की साधना का ही नाम साहित्य है। सौन्दर्य को ठीक से समझने से ही आदमी सौन्दर्य का प्रशंसक और स्रष्टा बन सकता है। घर की छोटी-छोटी चीजों के सामंजस्य से यह शिक्षा शुरू होती है; क्योंकि वस्तुत: जो छोटे परिमाण के सौन्दर्य को समझ सकता है, वही बड़े माप के सौन्दर्य को भी पहचान सकता है—'जोइ-जोइ पिण्डे सोइ ब्रह्माण्डे!' इसलिए जो जाति जितनी ही अधिक सौन्दर्य-प्रेमी है, उसमें मनुष्यता भी उतनी ही अधिक होती है। जाति का यह सौन्दर्य-प्रेम उसके साहित्य में, उसकी कला में और उसके दान-पुण्यों में व्याप्त रहता है। साहित्य और कला में जो प्रेम है, वही उत्तम है। दान, पुण्य और परोपकारवाला उसके बाद आता है। यह बात सुनने

में जरा उलटी-सी जान पड़ती है, पर है सीधी ही। वास्तव में दान, पुण्य, परोपकारादि बातें साहित्य और कला की प्रेरणा के फल हैं। हमारे कहने का मतलब यह है कि दान और पुण्य आदि बातें ऐसी हैं जिन्हें समय पर अच्छा भी कहा जा सकता है और समय पर बुरा भी। अगर किसी ने कसाई को पाँच सौ गायें दान कर दीं तो निश्चय ही उसने दान किया, पर यह दान बुरा हुआ। इसी तरह अगर किसी ने नदियों और तालाबों से घिरे हुए देश में दस-पाँच कुएँ खुदवा दिये तो इससे क्या लाभ? किसी को घी खिलाना बुरा नहीं है, पर अगर किसी अतिसार के रोगी को सेर-भर घी खिला दिया गया तो उसकी मृत्यु निश्चित है। असल में दान और पुण्य तो जिसके पास पैसा, समय और सहृदयता है वही कर सकता है, पर दान-पुण्य कब करना चाहिए, कैसे करना चाहिए, किसे करना चाहिए, इत्यादि-इत्यादि बातें कुछ ही लोग सोच सकते हैं। इसीलिए दान-पुण्य के लिए ऐसे मनीषियों की सहायता अपेक्षित होती है, जिन्होंने जगत् के द्वन्द्वों को, उसकी समस्या को, उसके सत् और असत् पक्ष को, इस प्रकार देख लिया हो, जैसे आदमी हाथ पर रखे हुए आँवले के फल को देख सकता है। ऐसे मनीषी साहित्य के स्रष्टा हैं। साहित्य उन्हीं के चिन्तन का रूप है। इसीलिए जो जाति साहित्य के सर्वोत्तम रूप को समझ सकती है, वह मनुष्यता के सर्वोत्तम रूप को समझ सकती है; वही दान कर सकती है, वही पुण्य कर सकती है, वही धर्म-कर्म चला सकती है। यह समझना कि दान-पुण्य कर देना बड़ी बात है, भूल है। दान-पुण्य बुरी चीज नहीं है, यदि वह समझकर ढंग से किया जाय; परन्तु वह अपने-आपमें बड़ी चीज नहीं है। बड़ी चीज वह है, जो मनुष्य को आहार-निद्रा आदि पशु-सामान्य मनोवृत्तियों से ऊपर उठाती है, जो उसे देवता बनाती है। साहित्य का कार्य यही है। वह पौराणिक आख्यान सबको मालूम ही है जब क्रौञ्च-मिथुन में से एक को निहत देखकर आदिकवि के मुख से अचानक नये छन्द का आविर्भाव हुआ था। कवि को छन्द मिल गया था, पर विषय उनको नहीं मिला था। वे उन्मत्त की भाँति घूम रहे थे, छन्द तो मिल गया, पर वक्तव्य-वस्तु क्या होगी, कौन-सी कथा, कौन-सा चरित्र, कौन-सा उद्देश्य इस छन्द के बन्धन में बाँधा जाय? तमसा के तट पर व्याकुल भाव से घूमते हुए वाल्मीकि को महामुनि नारद मिले। कविवर रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने इस आख्यान पर एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण कविता लिखी है। छन्द पाकर आदि-कवि के मन में जो व्याकुलता हुई थी, उसे वही समझ सकता है, जो छन्द पाकर कभी व्याकुल हो चुका हो और शायद समझ भी वही सकता है, जो छन्द पाकर पागल हो चुका हो। वाल्मीकि ने नारद से कहा था कि "अब तक देवता के छन्द ने देवता को मनुष्य बनाया है, मैं मनुष्य को देवता बनाना चाहता हूँ। हे देवर्षि, मुझे एक ऐसा चरित्र बताओ जिसे मैं इस छन्द में गूँथकर मनुष्य को देवता बना सकूँ।" नारद ने वाल्मीकि को अयोध्या के राजा राम का नाम बताया। वाल्मीकि ने कातर भाव से कहा, "हे देवर्षि! नाम तो मैंने भी सुना है, परन्तु उनका यथावत् चरित्र तो मैं नहीं जानता, इतिवृत्त कैसे लिख सकूँगा? मुझे भय हो रहा है कि कहीं मैं

सत्य-भ्रष्ट न हो जाऊँ।" नारद ने हँसकर जवाब दिया—"कवि, दुनिया में जो कुछ घटता है, वह सब सत्य नहीं होता। तुम जो कहोगे वही सत्य होगा, अपनी मनोभूमि को राम की जन्मभूमि अयोध्या की अपेक्षा कहीं सत्य मानो।"

नारद कहिलो हासि, सेइ सत्य जा रचिबे तुमि।
घटे जा ता सब सत्य नहे, कवि तव मनोभूमि।।
रामेर जनम स्थान अयोध्यार चेये सत्य जेनो।

सो, मनुष्य को देवता बनाना ही, छन्दः-साधना का चरम लक्ष्य है। जिस कवि को सचमुच ही छन्द-रूपी रत्न का साक्षात्कार हुआ है, उसे ऐसा ही विषय खोजना चाहिए, जिससे मनुष्य देवता बने—लोभ-मोह की मार से ऊपर, आहार-निद्रा के धरातल से ऊपर, सकीर्ण स्वार्थ के पुजों से मुक्त। साथ ही, यह भी याद रखना चाहिए कि जो कुछ घटता है वह सत्य ही नहीं होता—सभी तथ्य सत्य नहीं होते। 'हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापहितं मुखम्'—सत्य का मुख सुनहरे पात्र से ढका हुआ है।

स्वार्थ तो सबमें होता है। पशु में भी है, मनुष्य में भी है। जहाँ तक स्वार्थ का सम्बन्ध है, मनुष्य पशु ही तो है। अगर पशु कहना कुछ कड़ा मालूम होता हो तो उसे 'बड़ा पशु' कहिए। पशु का स्वार्थ छोटा होता है और मनुष्य का बड़ा। नहीं तो क्या उन आदमीनुमा लोगों को मनुष्य ही कहेंगे, जो पेट पालने के लिए, स्वार्थ के लिए, खुदगरजी के लिए झूठ बोलते हैं, दगा करते हैं, दूसरों का अहित करते हैं और जाने क्या-क्या करते हैं? जो और भी बड़े स्वार्थी होते हैं, वे पैसे के बल पर कभी अन्ध जनता को पैसे की शराब पिलाकर उन्हें मतवाला करते हैं और निरीहों के रक्तशोषण का औजार बना लेते है। कुछ बुद्धि के बल पर उन्हें धार्मिक ढोंग का नशा पिलाकर लोगों को जलील करते हैं, देश-का-देश तबाह करा देते है। कुछ अधिकार का मद पिलाकर गरीबों की पसलियाँ दुह लेते हैं। क्या इन आदमियों को भी आप आदमी कहते है? नशा सेवन करना पाप है, उसके सेवन का साधन बनना और भी बड़ा पाप है, पर उस पाप की तो कोई तुलना ही नहीं, जिसमें नशे को नशा न कहकर, उसके असली तत्त्व को छिपाकर और अच्छा नाम देकर सेवन कराया जाता है!

कोई व्यक्ति या वर्ग या जाति रुपये कमा सकती है, नाम कमा सकती है, बुद्धि से निम्न कोटि का स्वार्थ-साधन करके यश भी कमा सकती है, पर यह इस बात का प्रमाण नहीं है कि उसके भीतर मानवोचित सद्वृत्तियों का विकास हुआ है और न इसी बात का प्रमाण है कि वह जाति संसार की प्रगति में अपना कोई स्थायी दान छोड़ जाती है। दूसरी तरफ वह जाति जो सौन्दर्य की पूजा करती है, असुन्दर की उपेक्षा करती है, साहित्य और कला की सृष्टि करती है—वह अगर निर्धन भी हो तो संसार में अपनी अमूल्य छाप छोड़ जाती है। ग्रीक-संस्कृति अपने अनुयायियों और निर्माताओं के अभाव में भी आज संसार का नेतृत्व करती है। सिकन्दर गुजर गये, सुकरात और अफलातून भी नहीं रहे, पर अपराजित, अमर

ग्रीक-साहित्य संसार को अपनी ज्योति से आज भी जगमग कर रहा है। इटली का उदाहरण लीजिए। परसो तक यह देश पराधीन अवस्था में संसार की सहानुभूति और अनुकम्पा का पात्र था। कल अधिकार के मद में चूर होकर उसने एक गरीब देश की गर्दन पर छूरी चला दी। उसकी विजय हुई, उसे धन मिला, नाम भी कम नही मिला! पर इसीलिए इटली मे मनुष्योचित गुण नही कहा जायगा। कहनेवाले तो उसे पशु से भी अधम कह रहे है। पुराने ग्रीक और नवीन इटली में अन्तर क्या है? एक ने संसार को विजय किया, पर उसकी विजय पूजनीय मानी गयी; दूसरे ने एक भूखण्ड को विजय किया, पर संसार ने उसे नीच और बर्बर कहा है। उसकी विजय भी स्थायी नही रही और उसे पराजय का फल चखना पड़ा। भविष्य शायद और भी कड़ा विशेषण खोजेगा; क्योंकि एक की विजय साहित्य और कला की है और दूसरे की विजय पशु-बल की। एक ने मनुष्य की सर्वोत्तम वृत्ति का सहारा लिया था और दूसरे ने उसके अधमतम स्वार्थी रूप का। असल मे किसी जाति के उत्कर्ष और अपकर्ष का पता उसके साहित्य से ही लगता है। भारतवर्ष के गुप्तकाल का साहित्य लीजिए और अठारहवी शताब्दी का, दोनो मे कितना अन्तर है! एक मे वह विराट् जीवनी शक्ति है, जो आज डेढ़ हजार वर्ष बाद भी हमारी रहनुमाई कर रही है और दूसरी की नाड़ी में स्पन्दन भी नही—न राग, न विराग, न प्रेम, न द्वेष! रूस का साहित्य आज समुद्र और पर्वतो को अनायास ही लाँघकर संसार के गले का हार बन गया; क्योंकि रूसी जाति मे आज जीवन है।

सभी मनुष्य स्वभाव से ही साहित्य-स्रष्टा नही होते, पर साहित्य-प्रेमी होते हैं। मनुष्य का स्वभाव ही है सुन्दर देखने का। घी का लड्डू टेढ़ा भी जरूर भला ही होता है, पर मनुष्य गोल बनाकर उसे सुन्दर कर लेता है। मूर्ख-से-मूर्ख हलवाई के यहाँ भी गोल लड्डू ही प्राप्त होता है; लेकिन सुन्दरता को सदा-सर्वदा तलाश करने की शक्ति साधना के द्वारा प्राप्त होती है। उच्छृंखलता और सौन्दर्य-बोध में अन्तर है। बिगड़े दिमाग का युवक परायी बहू-बेटियों के घूरने को भी सौन्दर्य-प्रेम कहा करता है, हालाँकि यह संसार की सर्वाधिक असुन्दर बात है। जैसा कि पहले ही बताया गया है, सुन्दरता सामञ्जस्य मे होती है और सामञ्जस्य का अर्थ होता है, किसी चीज का बहुत अधिक और किसी का बहुत कम न होना। इसमें संयम की बड़ी जरूरत है। इसलिए सौन्दर्य-प्रेम मे संयम होता है, उच्छृंखलता नही। इस विषय में भी साहित्य ही हमारा मार्गदर्शक हो सकता है।

जो आदमी दूसरों के भावो का आदर करना नही जानता, उसे दूसरे से भी सद्भावना की आशा नही करनी चाहिए। मनुष्य कुछ ऐसी जटिलताओ में आ फँसा है कि उसके भावो को ठीक-ठीक पहचानना सब समय सुकर नही होता। ऐसी अवस्था मे हमें संसार के मनोवियों की चिन्ता का सहारा लेना पड़ता है। इस दिशा में साहित्य के अलावा दूसरा उपाय नही है। मनुष्य की सर्वोत्तम कृति साहित्य है

और उसे मनुष्यपद का अधिकारी बने रहने के लिए साहित्य ही एकमात्र सहारा है। यहाँ साहित्य से हमारा मतलब सब तरह की उसकी सात्विक चिन्ता-धारा से है।

[कल्पलता से]

मनुष्य ही साहित्य का लक्ष्य है

मैं साहित्य को मनुष्य की दृष्टि से देखने का पक्षपाती हूँ। जो वाग्जाल मनुष्य को दुर्गति, हीनता और परमुखापेक्षिता से बचा न सके, जो उसकी आत्मा को तेजोद्दीप्त न बना सके, जो उसके हृदय को परदुःखकातर और संवेदनशील न बना सके, उसे साहित्य कहने में मुझे संकोच होता है। मैं अनुभव करता हूँ कि हम लोग एक कठिन समय के भीतर से गुजर रहे हैं। आज नाना भाँति के संकीर्ण स्वार्थों ने मनुष्य को कुछ ऐसा अन्धा बना दिया है कि जाति-धर्म-निर्विशेष मनुष्य के हित की बात सोचना असम्भव हो गया है। ऐसा लग रहा है कि किसी विकट दुर्भाग्य के इंगित पर दलगत स्वार्थ-प्रेम ने मनुष्यता को दबोच लिया है। दुनिया छोटे-छोटे संकीर्ण स्वार्थों के आधार पर अनेक दलों में विभक्त हो गयी है। अपने दल के बाहर का आदमी सन्देह की दृष्टि से देखा जाता है। उसके रोने-गाने तक पर असदुद्देश्य का आरोप किया जाता है। उसके तप और सत्यनिष्ठा का मजाक उड़ाया जाता है। उसके प्रत्येक त्याग और बलिदान के कार्य में भी 'चाल' का सन्धान पाया जाता है और अपने-अपने दलों में ऐसा करनेवाला सफल नेता भी मान लिया जाता है, परन्तु मेरा विश्वास है कि ऐसा करनेवाला आदमी सबसे पहले अपना ही अहित करता है। बड़े-बड़े राष्ट्रनायक जब अपनी विराट् अनुचरवाहिनी के साथ इस प्रकार का गन्दा प्रचार करते हैं, तो ऊपर-ऊपर से चाहे जितनी भी सफलता उनके पक्ष में आती हुई क्यों न दिखायी दे, इतिहास-विधाता का निष्ठुर नियम-प्रवाह भीतर-ही-भीतर उनके स्वार्थों का उन्मूलन करता रहता है। इतिहास शक्तिशाली व्यक्तियों और राष्ट्रों की चिताभूमि को कुचलता हुआ आगे बढ़ रहा है, फिर भी गन्दे तरीके सुधारे नहीं गये हैं, बल्कि उनको और भी कौशलपूर्ण और प्रभावशाली बनाया जाता रहा है। जो लोग द्रष्टा हैं, वे इस गलती को समझते हैं; पर उनकी बात मदमत्त व्यक्तियों की ऊँची गद्दियों तक नहीं पहुँच पाती। संसार में अच्छी बात कहनेवालों की कमी नहीं है, परन्तु मनुष्य के सामाजिक संगठन में ही कहीं कुछ ऐसा बड़ा दोष रह गया है, जो मनुष्य को अच्छी बात सुनने और समझने से रोक

रहा है। इसीलिए आज की सबसे बड़ी समस्या यह नहीं है कि अच्छी बात कैसे कही जाय; बल्कि यह है कि अच्छी बात को सुनने और मानने के लिए मनुष्य को कैसे तैयार किया जाय।

इसीलिए साहित्यकार आज केवल कल्पनाविलासी बनकर नहीं रह सकता। शताब्दियों का दीर्घ अनुभव यह बताता है कि उत्तम साहित्य की सृष्टि करना ही सबसे बड़ी बात नहीं है। सम्पूर्ण समाज को इस प्रकार सचेतन बना देना परमावश्यक है, जो उस उत्तम रचना को अपने जीवन में उतार सके। साहित्यिक सभाएँ यह कार्य कर सकती हैं, सम्पूर्ण जन-समाज को उत्तम साहित्य सुनाने का माध्यम बना सकती हैं। इस विशाल देश में शिक्षा की मात्रा बहुत ही कम है। जिन देशों में शिक्षा की समस्या हल हो चुकी है, उनके साहित्यिकों की अपेक्षा यहाँ के साहित्यिकों की जिम्मेदारी कहीं अधिक है। फिर हमने जिस भाषा के साहित्य-भण्डार को भरने का व्रत लिया है, उसका महत्त्व और भी अधिक है। वह भारतवर्ष के केन्द्रीय प्रदेशों की भाषा है, कई करोड़ आदमियों की ज्ञानपिपासा उसे शान्त करनी है। इसीलिए उसे सम्पूर्ण ज्ञान-विकास का वाहन बनाना है।

हम लोग जब हिन्दी की 'सेवा' करने की बात सोचते हैं, तो प्रायः भूल जाते हैं कि यह लाक्षणिक प्रयोग है। हिन्दी की सेवा का अर्थ है उस मानव-समाज की सेवा, जिसके विचारों के आदान-प्रदान का माध्यम हिन्दी है। मनुष्य ही बड़ी चीज है, भाषा उसी की सेवा के लिए है। साहित्य-सृष्टि का भी यही अर्थ है। जो साहित्य अपने-आपके लिए लिखा जाता है, उसकी क्या कीमत है, मैं नहीं कह सकता, परन्तु जो साहित्य मनुष्य-समाज को रोग-शोक, दारिद्र्य, अज्ञान तथा परमुखापेक्षिता से बचाकर उसमें आत्मबल का संचार करता है, वह निश्चय ही अक्षय निधि है। उसी महत्त्वपूर्ण साहित्य को हम अपनी भाषा में ले आना चाहते हैं। मैं मनुष्य की इस अतुलनीय शक्ति पर विश्वास करता हूँ कि हम अपनी भाषा और साहित्य के द्वारा इस विषम परिस्थिति को बदल सकेंगे।

परन्तु हमें सावधानी से सोचना होगा कि हिन्दी बोलनेवाला जन-समुदाय क्या वस्तु है और वास्तव में वह परिस्थिति क्या है, जिसे हम बदलना चाहते हैं। काल्पनिक प्रेत को घूँसा मारना बुद्धिमानी का काम नहीं है। नगरों और गाँवों में फैला हुआ, सैकड़ों जातियों और सम्प्रदायों में विभक्त, अशिक्षा, दारिद्र्य और रोग से पीड़ित मानव-समाज आपके सामने उपस्थित है। भाषा और साहित्य की समस्या वस्तुतः उन्हीं की समस्या है। क्यों ये इतने दीन-दलित हैं? शताब्दियों की सामाजिक, मानसिक और आध्यात्मिक गुलामी के भार से दबे हुए ये मनुष्य ही भाषा के प्रश्न हैं और संस्कृति तथा साहित्य की कसौटी हैं! जब कभी आप किसी विकट प्रश्न के समाधान का प्रयत्न कर रहे हों तो इन्हें सीधे देखें। अमरीका में या जापान में ये समस्याएँ कैसे हल हुई हैं, यह कम सोचें; किन्तु असल में ये हैं क्या और किस या किन कारणों से ये ऐसे हो गये हैं, इसी को अधिक सोचें। बड़े-बड़े विचारकों ने इस देश के जन-समुदाय के अध्ययन का प्रयत्न किया है, अब भी कर रहे हैं; पर

ये अध्ययन या तो इन्हें अच्छी प्रजा बनाने के उद्देश्य से किये गये हैं या वैज्ञानिक कुतूहल-निवारण के उद्देश्य से। इनको इस दृष्टि से देखना अभी बाकी है कि वे मनुष्य कैसे बनाये जायें। हमारी भाषा, हमारा साहित्य, हमारी राजनीति—सबकुछ का उद्देश्य यही हो सकता है कि इनको दुर्गतियों से बचाकर इस प्रकार मनुष्यता के आसन पर बैठाया जाय।

हमारा यह देश जाति-भेद का देश है। करोड़ों मनुष्य अकारण अपमान के शिकार हैं। निरन्तर दुर्व्यवहार पाते रहने के कारण उनके अपने मन मे हीनता की गाँठ पड़ गयी है। यह गाँठ जब तक नही निकल जाती, तब तक भारतवर्ष की आत्मा सुखी नही रह सकती। कर्म का फल मिलता ही है। उससे बचने का उपाय नहीं है। जिन लोगों को अकारण अपमान के बन्धन मे डालकर हमने अपमानित किया है, वे लोग सारे संसार मे हमारे अपमान के कारण बने हैं।

हमें सावधानी से उनकी वर्तमान अवस्था का कारण खोजना होगा। ये अनादिकाल से हीन नहीं समझे जाते रहे हैं। नाना प्रकार की ऐतिहासिक, सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक कारण-परम्परा के भीतर से गुजरकर भारतवर्ष का सैकड़ों जातियोंवाला समाज तैयार हुआ है। इस शतच्छिद्र कलश में आध्यात्मिक रस टिक नही सकता। आजकल हम लोग हिन्दू-मुसलमानों की मिलन-समस्या से बुरी तरह चिन्तित है। निस्सन्देह यह बहुत महत्त्वपूर्ण प्रश्न है। इस महान् प्रश्न ने हमारे समस्त जीवन को गम्भीरतापूर्वक विचारने के लिए चुनौती दी है। हम अपनी भाषा के क्षेत्र में भी इस कठिन समस्या से हतबुद्धि हो रहे है। हमारे बड़े-बड़े विचारकों ने प्रत्येक क्षेत्र मे सुलह का व्रत लिया है; परन्तु मुझे ऐसा लगता है कि इससे भी कठोर समस्या का सामना हमे हिन्दू-हिन्दू-मिलन के लिए ही करना है। अशान्ति के चिह्न अभी से प्रकट होने लगे है। जब हम भाषा या साहित्य-विषयक किसी प्रश्न का समाधान करने बैठें, तो केवल वर्तमान पर दृष्टि निबद्ध रखने से हम धोखा खा सकते है। मुझे अपनी बुद्धि या दीर्घ-दर्शिता का गर्व नही है, लेकिन जो कुछ अनुभव करता हूँ, उसे ईमानदारी से प्रकट करने से शायद कुछ लाभ हो जाय, इसी आशा से ये बातें कह रहा हूँ। सैकड़ो व्यर्थ कल्पनाओं की भाँति ये अनन्त वायुमण्डल में विलीन हो जायेंगी। मुझे ऐसा लगता है कि ज्यों-ज्यों हमारे देशवासियों मे आत्म-चेतना का संचार होता जायेगा, त्यो-त्यों हिन्दू-समाज की भीतरी समस्याएँ उग्र रूप धारण करती जायेंगी। राजनीतिक बन्धनो के दूर होते ही हमारी मानसिक या आध्यात्मिक गुलामी का बन्धन और भी कठोर प्रतीत होगा। दो-सौ वर्षों की राजनीतिक गुलामी को तोड़ने मे हमे जितना प्रयास करना पड़ा है, उससे कही अधिक प्रयास करना पड़ेगा इस सहस्राधिक वर्षों की सामाजिक और आध्यात्मिक गुलामी की जंजीरो को तोड़ने मे।

कवि ने बहुत पहले सावधान किया है, "जिसे तुमने नीचे फेंक रखा है, वह तुम्हें नीचे से जकड़कर बाँध लेगा; जिसे पीछे डाल रखा है, वह पीछे खीचेगा; अज्ञान के अन्धकार की आड़ मे जिसे तुमने ढक रखा है, वह तुम्हारे समस्त मंगल

को ढककर घोर व्यवधान की सृष्टि करेगा। हे मेरे दुर्भाग्यग्रस्त देश ! अपमान में तुम्हें समस्त अपमानितों के समान होना पड़ेगा।"1

शताब्दियों के विकट अपमान की प्रतिक्रिया कठोर होगी। उसके लिए हमें तैयार होना होगा। मुझे ऐसा लगता है कि जब भाषा और साहित्य के मसले पर विचार किया जाता है तो इस तथ्य को बिलकुल भुला दिया जाता है। हिन्दुओं की अपनी भीतरी समस्याएँ भी हैं और उन भीतरी समस्याओं के लिए जो विचार-विनिमय हुए हैं या हो रहे है, वे नाना कारणों से संस्कृत-साहित्य से अधिक प्रभावित हुए हैं। वे किसी के प्रति घृणा या अदूरदर्शिता के कारण नही हुए है। छोटी कही जाने वाली जातियो मे ऊपर उठने की आकांक्षा स्वाभाविक है और उसके लिए उनका संस्कृत-साहित्य की ओर झुकना भी अस्वाभाविक नही है। यदि संस्कृत-बहुल भाषा के व्यवहार से और समस्त जातियों के ब्राह्मण या क्षत्रिय कहे जाने से सात करोड़ आदमियो मे अपने को हीन समझने की मनोवृत्ति कुछ भी कम होती है, तो ऐसा करना वाछनीय है या नही, यह मैं देश के नेताओं के विचारने के लिए छोड़ देता हूँ।

एक जमाना था जब भाषा-विज्ञान और नृतत्त्वशास्त्र की घनिष्ठ मैत्री में विश्वास किया जाता था। माना जाता था कि भाषा से नस्ल की पहचान होती है, परन्तु शीघ्र ही यह भ्रम टूट गया। देखा गया है कि ये दोनों शास्त्र एक-दूसरे के विरुद्ध गवाही देते है। भारतवर्ष भाषा-विज्ञान और नृतत्त्वशास्त्र के कलह का सबसे बड़ा अखाड़ा सिद्ध हुआ है। वर्त्तमान हिन्दू-समाज मे एक-दो नही, बल्कि दर्जनों ऐसी जातियाँ हैं, जो अपनी मूल भाषाएँ भूल चुकी है और आर्यभाषा बोलती हैं। ब्राह्मण-प्रधान धर्म ने जातियों का कुछ इस प्रकार स्तर-विभाग स्वीकार किया है कि निम्न श्रेणी की जाति हमेशा अवसर पाने पर ऊँचे स्तर मे जाने का प्रयत्न करती है। इस देश में जाने किस अनादिकाल से संस्कृत भाषा का प्राधान्य स्वीकार कर लिया गया है कि प्रत्येक नस्ल और फिरके के लोग अपनी भाषा को संस्कृत श्रेणी की भाषा से बदलते रहे है। ग्रियर्सन ने अपने विशाल सर्वे मे एक भी ऐसा मामला नही देखा, जहाँ आर्य-भाषा—संस्कृत श्रेणी की भाषा—बोलनेवाले किसी जन-समुदाय ने अन्य से अपनी भाषा बदली हो, यहाँ तक कि आर्य-भाषा की एक बोली के बोलनेवालो ने भी दूसरी बोली को स्वीकार नही किया है।

स्पष्ट है कि इस देश में संस्कृत-प्राधान्य कोई नयी घटना नही है। यह भी स्पष्ट है कि इस भाषा का सहारा लेकर जातियाँ ऊपर उठी हैं। मैं केवल उन तथ्यों को आपके सामने रख रहा हूँ, जिनके आधार पर मेरी यह धारणा बनी है कि इस देश के करोड़ों मनुष्यो मे आत्म-चेतना भरने का काम बहुत दिन से संस्कृत भाषा करती आयी है और आगे भी करती रहेगी, ऐसी सम्भावना है। यह न समझिए कि जो संस्कृत-बहुल भाषा का व्यवहार कर रहे हैं, वे किसी सम्प्रदाय के

1. रवीन्द्रनाथ : 'गीतांजलि'

प्रति द्वेषवश या घृणावश करते हैं। यह हमारा दुर्भाग्य है कि ऐसी बेतुकी बातों पर भी आसानी से विश्वास कर लिया जाता है।

दीर्घकाल से ज्ञान के आलोक से वंचित इन मनुष्यों को हमें ज्ञान देना है। शताब्दियों से गौरव से हीन इन मनुष्यों में हमें आत्म-गरिमा का संचार करना है। अकारण अपमानित इन मूक नर-कंकालों को हमें वाणी देनी है। रोग, शोक, अज्ञान, भूख, प्यास, परमुखापेक्षिता और मूकता से इनका उद्धार करना है। साहित्य का यही काम है।

इससे छोटे उद्देश्य को मैं विशेष बहुमान नहीं देता। आप क्या लिखेंगे, कैसे लिखेंगे और किस भाषा में लिखेंगे, इन प्रश्नों का निर्णय इन्हीं की ओर देखकर कीजिए। यदि इनको मनुष्यता के ऊँचे आसन पर आप नहीं बैठा सकते तो साहित्यिक भी नहीं कहे जा सकते, और यह कहना ही आवश्यक है कि स्वयं मनुष्य बने बिना, स्वयं छोटे-छोटे तुच्छ विवादों से ऊपर उठे बिना, कोई भी व्यक्ति दूसरे को नहीं उठा सकता है। साहित्य के साधकों को मनुष्य की सेवा करनी है तो देवता बनना होगा :

नान्यः पंथा विद्यतेऽयनाय।

शायद मेरी ही भाँति आप भी इतना अवश्य स्वीकार करते हैं कि इस बहुधा-विभक्त जन-समुदाय को सम्बद्ध बनाना है। यदि यह बात सत्य है तो मैं समझता हूँ, अभी हमने साहित्य का आरम्भ ही नहीं किया है। हिन्दी में कितने जन-समूहों के परिचायक ग्रन्थ हमने लिखे हैं? इस विशाल मानव-समाज की रीति-नीति, आचार-विचार, आशा-आकांक्षा, उत्थान-पतन समझने के लिए हमारी भाषा में कितनी पुस्तकें हैं? इनके जीवन को सुखमय बनाने के साधनों, इनकी भूमि, इनके पशु, इनके विनोद-सहचर, इनके पेशे, इनके विश्वास, इनकी नयी-नयी मनोवृत्तियों का हमने क्या अध्ययन प्रस्तुत किया है? कहाँ है वह सहानुभूति और दर्द का प्रमाण, जिसे आप गणदेवता के सामने रख सकेंगे? हिन्दी की उन्नति का अर्थ उसके बोलने और समझनेवालों की उन्नति है।

अपना यह देश कोई नया साहित्यिक प्रयोग करने नहीं निकला है। इसकी साहित्यिक-परम्परा अत्यन्त दीर्घ, धारावाहिक और गम्भीर है। साहित्य नाम के अन्तर्गत मनुष्य जो कुछ भी सोच सकता है, उस सबका प्रयोग इस देश में सफलतापूर्वक हो चुका है। यह अपनी भाषा का दुर्भाग्य है कि हमारी प्राचीन चिन्तन-राशि को उसमें संचित नहीं किया गया है। संस्कृत, पाली और प्राकृत की बढ़िया पुस्तकों के जितने उत्तम अनुवाद अंग्रेजी, फ्रेंच और जर्मन आदि भाषाओं में हुए हैं, उतने हिन्दी में नहीं हुए। परन्तु दुर्भाग्य भी लाक्षणिक प्रयोग है और यह वस्तुतः उस विशाल मानव-समाज का दुर्भाग्य है, जो भाषा के जरिये ही ज्ञान-अर्जन करना चाहता है या करता है। यह विशाल साहित्य अपनी भाषाओं में यदि अनूदित होता तो हमारा साहित्यिक सहज ही उन सैकड़ों प्रकार के अपप्रचारों और हीन भावनाओं का शिकार होने से बच जाता, जो आज सम्पूर्ण समाज को दुर्बल और

परमुखापेक्षी बना रहे हैं। विभिन्न स्वार्थ के पोषक प्रचार इस देश की अतिमात्र विशेषताओं का डंका प्रायः पीटा करते है।

इतिहास को कभी भौगोलिक व्याख्या के भीतर से, कभी जातिगत और कभी धर्मगत विशेषताओं के भीतर से प्रतिफलित करके समझाया जाता है कि हिन्दुस्तानी जैसे हैं, उन्हें वैसा होना ही है और उसी रूप मे बना रहना ही उनके लिए श्रेयस्कर है। इतिहास की जो अभद्र व्याख्या इन भिन्न-भिन्न विशेषताओं के भीतर से देखनेवाले प्रचारकों ने की है, वह हमारे रोम-रोम में व्याप्त होने लगी है। अगर इस जहर को दूर करना है तो प्राचीन ग्रन्थों के देशी प्रामाणिक संस्करण और अनुवाद करने के सिवा और कोई रास्ता नही है। लेकिन अपनी भाषा में प्राचीन ग्रन्थों को हमें सिर्फ इसलिए नही भरना है कि हमे दूसरे स्वार्थी लोगों के अपप्रचार के प्रभाव से मुक्त होना है। विदेशी पण्डितो ने अपूर्व लगन और निष्ठा के साथ हमारे प्राचीन शास्त्रों का अध्ययन, मनन और सम्पादन किया है। हमें उनका कृतज्ञ होना चाहिए; परन्तु यह बात भूल नही जाना चाहिए कि अधिकांश विदेशी पण्डितों के लिए हमारे प्राचीन शास्त्र नुमाइशी वस्तुओं के समान हैं। उनके प्रति उनका जो सम्मान है, उसे अंग्रेजी के 'म्युजियम इण्टरेस्ट' शब्द से भी समझाया जा सकता है। नुमाइश में रखी हुई चीजों को हम प्रशंसा और आदर की दृष्टि से देखते हैं, परन्तु निश्चित जानते हैं कि हम अपने जीवन में उनका व्यवहार नही कर सकते। किसी मुगल सम्राट् का चोगा किसी प्रदर्शिनी मे दिख जाय तो हम उसकी प्रशंसा चाहे जितनी करें, पर हम निश्चित जानेंगे कि उसको हमें धारण नहीं करना है। परन्तु भारतीय शास्त्र हमारे देशवासियों के लिए प्रदर्शिनी की वस्तु नही है, वे हमारे रक्त में मिले हुए हैं। भारतवर्ष आज भी उनकी व्यवस्था पर चलता है और उनसे प्रेरणा पाता है। इसीलिए हमें इन ग्रन्थों का अपने ढंग से सम्पादन करके प्रकाशन करना है। इनके ऐसे अनुवाद प्रकाशित करने हैं, जो पुरानी अनुश्रुति से विच्छिन्न और असम्बद्ध भी न हों और आधुनिक ज्ञान के आलोक में देख भी लिये गये हों। यह बड़ा विशाल कार्य है। संस्कृत भारतवर्ष की अपूर्व महिमाशालिनी भाषा है। वह हजारो वर्षों के दीर्घकाल मे और लाखों वर्गमील में फैले हुए मानव-समाज के सर्वोत्तम मस्तिष्कों में विहार करनेवाली भाषा है। उसका साहित्य विपुल है। उसका साधन गहन है और उसका उद्देश्य साधु है। उस भाषा को हिन्दी-माध्यम से समझने का प्रयत्न करना भी एक तपस्या है। उस तपस्या के लिए संयम तथा आत्मबल की आवश्यकता है। हमें अपनी सम्पूर्ण शक्ति लगाकर गम्भीरतापूर्वक उसके अध्ययन में जुट जाना चाहिए। हिन्दी को संस्कृत से विच्छिन्न करके देखने-वाले उसकी अधिकाश महिमा से अपरिचित हैं।

महान् कार्य के लिए विशाल हृदय होना चाहिए। हिन्दी का साहित्य-सृजन सचमुच महान् कार्य है, क्योंकि उससे करोड़ों का भला होना है। हम आजकल प्रायः गर्वपूर्वक कहा करते हैं कि हिन्दी बोलनेवालों की संख्या भारतवर्ष में सबसे अधिक है। मैं समझता हूँ यह बात चिन्ता की है, क्योंकि हिन्दी बोलनेवाले

जन-समूह की मानसिक, बौद्धिक और आध्यात्मिक भूख मिटाने का काम सहज नही है।

भारतवर्ष के पड़ोसी देशों में आजकल हिन्दी-साहित्य पढ़ने और समझने की तीव्र लालसा जाग्रत हुई है। चीन से, मलय से, सुमात्रा से, जावा से, समस्त एशिया से माँग आ रही है। एशिया के देश अब अंग्रेजी पुस्तकों में प्राप्त सूचनाओ से सन्तुष्ट नही है। वे देशी दृष्टि से देशी भाषा में लिखा हुआ साहित्य खोजने लगे हैं। आगे यह जिज्ञासा और भी तीव्र होगी। मुझे चिन्ता होती है कि क्या हम अपने को इस उठती हुई श्रद्धा के उपयुक्त पात्र सिद्ध कर सकेंगे ? जिस दिन इतिहास-विधाता हमे ठेलकर विश्व-जनता के दरबार मे ला पटकेगा, उस दिन तक क्या हम इतना भी निश्चय कर सके होगे कि हमारी भाषा कैसी होगी, उसमें भिन्न-भिन्न भाषाओ के शब्दो का अनुपात क्या होगा और शब्दो के 'शुद्ध' और 'ग़ैर-शुद्ध' उच्चारणो मे से कौन-सा अपनाया जायगा ?

समूचे जन-समूह में भाषा और भाव की एकता और सौहार्द्र का होना अच्छा है। इसके लिए तर्कशास्त्रियों की नही, ऐसे सेवाभावी व्यक्तियों की आवश्यकता है, जो समस्त बाधाओ और विघ्नों को शिरसा स्वीकार करके काम करने में जुट जाते हैं। वे ही लोग साहित्य का भी निर्माण करते हैं और इतिहास का भी। आज काम करना बड़ी बात है। इस देश में हिन्दू हैं, मुसलमान है, स्पृश्य हैं, अस्पृश्य है, संस्कृत है, फ़ारसी है--विरोधों और संघर्षो की विराट वाहिनी है; पर सबके ऊपर मनुष्य है—विरोधों को दिन-रात याद करते रहने की अपेक्षा अपनी शक्ति का सम्बल लेकर उसकी सेवा मे जुट जाना अच्छा है। जो भी भाषा आपके पास है, उससे बस मनुष्य को ऊपर उठाने का काम शुरू कर दीजिए। आपका उद्देश्य आपकी भाषा बना देगा।

अच्छी बात करनेवालों की कमी इस देश में कभी नही रही है। आज भी बहुत ईमानदारी और सचाई के साथ अच्छी बात करनेवाले आदमी इस देश में कम नही हैं। उन्होने प्रेम और भ्रातृभाव का मन्त्र बताया है। अनादिकाल से महा-पुरुषों ने एक और सौहार्द्र का सन्देश सुनाया है। कहते है, व्यासदेव ने अन्तिम जीवन में निराश होकर कहा था कि 'मैं भुजा उठाकर चिल्ला रहा हूँ कि धर्म ही प्रधान वस्तु है, उसी से अर्थ और काम की प्राप्ति होती है, पर मेरी कोई सुन नहीं रहा है':

ऊर्ध्वबाहुर्विरौम्येष नैव कश्चिच्छृणोति मे।
धर्मादर्थश्च कामश्च स धर्मः किं न सेव्यताम् ॥

ऐसा क्यों हुआ ? इसलिए कि समाज के ऐतिहासिक विकास, आर्थिक संयोजन और सामाजिक संगठन के मूल में ही कुछ ऐसी गलती रह गयी है कि एक दल जिसे धर्म समझता है, दूसरा उसे नही समझ पाता। इस वैषम्य को ध्यान में रखकर ही प्रेम और सौहार्द्र का पाठ पढ़ाया जाना चाहिए। दही मे जितना भी दूध डालिए, दही होता जायगा। शंकाशील हृदयों मे प्रेम की वाणी भी शंका उत्पन्न करती है।

मेरी अल्प बुद्धि में तो यही सूझता है कि समाज के नाना स्तरों के लिए अलग-अलग ढंग की भाषा होगी। नाना उद्देश्यों की सिद्धि के लिए नाना भांति के प्रयत्न करने होंगे। सारे प्रतीयमान विरोधों का सामंजस्य एक ही बात से होगा—मनुष्य का हित।

भारत के हजारों गांवों और शहरों मे फैली हुई सैकड़ों जातियों और उप-जातियों में विभक्त सभ्यता की नाना सीढ़ियों पर खड़ी हुई यह जनता ही हमारे समस्त वक्तव्यों का लक्ष्यीभूत श्रोता है। उसका कल्याण ही साध्य है, बाकी सब-कुछ साधन है—संस्कृत भी और फारसी भी, व्याकरण भी और छन्द भी, साहित्य भी और विज्ञान भी, धर्म भी और ईमान भी। हमारे समस्त प्रयत्नों का एकमात्र लक्ष्य यही मनुष्य है। उसको वर्त्तमान दुर्गति से बचाकर भविष्य मे आत्यन्तिक कल्याण की ओर उन्मुख करना ही हमारा लक्ष्य है। यही सत्य है, यही धर्म है। सत्य वह नहीं है जो मुख से बोलते है। सत्य वह है जो मनुष्य के आत्यन्तिक कल्याण के लिए किया जाता है। नारद ने शुकदेव से कहा था कि 'सत्य बोलना अच्छा है, पर हित बोलना और भी अच्छा है। मेरे मत से सत्य वह है, जो भूतमात्र के आत्यन्तिक कल्याण का हेतु हो':

सत्यस्य वचनं श्रेयः सत्यादपि हितं वदेत्।
यद्भूतहितमत्यंतमेतत् सत्यं मतं मम॥

यही सर्वभूत का आत्यन्तिक कल्याण साहित्य का चरम लक्ष्य है। जो साहित्य केवल कल्पना-विलास है, जो केवल समय काटने के लिए लिखा जाता है, वह बड़ी चीज नही है। बड़ी चीज वह है, जो मनुष्य को आहार-निद्रा आदि पशु-सामान्य धरातल से ऊपर उठाता है। मनुष्य का शरीर दुर्लभ वस्तु है, इसे पाना ही कम तप का फल नही है, पर इसे महान् लक्ष्य की ओर उन्मुख करना और भी श्रेष्ठ कार्य है।

इधर कुछ ऐसी हवा बही है कि हर सस्ती चीज को साहित्य का वाहन माना जाने लगा है। इस प्रवृत्ति को 'वास्तविकता' के गलत नाम से पुकारा जाने लगा है। तरह-तरह की दलील देकर यह बताने का प्रयत्न किया जा रहा है कि मनुष्य की लालसोन्मुख वृत्तियाँ ही साहित्य के उपयुक्त वाहन हैं। मुझे किसी मनोरोग के विपक्ष में या पक्ष मे कुछ भी नही कहना है। मुझे सिर्फ इतना ही कहना है कि साहित्य के उत्कर्ष या अपकर्ष के निर्णय की एकमात्र कसौटी यही हो सकती है कि वह मनुष्य का हित साधन करता है या नही। जिस बात के कहने से मनुष्य पशु-सामान्य धरातल के ऊपर नही उठता, वह त्याज्य है। मैं उसी को सस्ती चीज कहता हूँ। सस्ती इसलिए कि उसके लिए किसी प्रकार के संयम या तप की जरूरत नही होती। धूल मे लोटना बहुत आसान है, परन्तु धूल में लोटने से संसार का कोई बड़ा उपकार नही होता और न किसी प्रकार के मानसिक संयम का अभ्यास ही आवश्यक है। और जैसा कि रवीन्द्रनाथ ने कहा है कि यदि कोई नि.संकोच धूल में लोट पड़े तो इसे हम बहुत बड़ा पुरुषार्थ नही कह सकते। हम इस बात को डरने

योग्य भी नही मानेंगे; परन्तु यदि दस-पाँच भले आदमी ऊँचे गले से यही कहना शुरू कर दें कि धूल में लोटना ही उस्तादी है तो थोड़ा डरना आवश्यक हो जाता है। भय का कारण इसका सस्तापन है। मनुष्य में बहुत-सी आदिम मनोवृत्तियाँ हैं, जो ज़रा-सा सहारा पाते ही झनझना उठती हैं। अगर उनको भी साहित्य-साधना का बड़ा आदर्श कहा जाने लगे तो उसे मानने और पालन करनेवालों की कमी नही रहेगी। ऐसी बातों को इस प्रकार प्रोत्साहित किया जाता है कि मानो यह कोई साहस और वीरता का काम है।

पुरानी सड़ी रूढ़ियों का मैं पक्षपाती नहीं हूँ, परन्तु संयम और निष्ठा पुरानी रूढ़ियाँ नही हैं। वे मनुष्य के दीर्घ आयास से उपलब्ध गुण है और दीर्घ आयास से ही पाये जाते है। इनके प्रति विद्रोह प्रगति नही है। आदिम युग में मनुष्य की जो वृत्तियाँ अत्यन्त प्रबल थी, वे निश्चय ही अब भी है और प्रबल भी हैं; परन्तु मनुष्य ने अपनी तपस्या से उनको अपने वश में किया है और वश में करने के कारण वह उनको सुन्दर बना सका है। मनुष्य के रंगमंच पर आने के पहले प्रकृति लुढ़कती-पुढ़कती चली आ रही थी। प्रत्येक कार्य अपने पूर्ववर्त्ती कार्य का परिणाम है। संसार की कार्य-कारण-परम्परा में कही फाँक नही थी। जो वस्तु जैसी होने को है, वह वैसी होगी। इसी समय मनुष्य आया। उसने इस नीरन्ध्र ठोस कार्य-कारण-परम्परा मे एक फाँक का आविष्कार किया। जो जैसा है, उसे वैसा ही मानने से उसने इन्कार कर दिया। उसे उसने अपने मन के अनुकूल बनाने का प्रयत्न किया। सो, मनुष्य की पूर्ववर्त्ती सृष्टि किसी प्रकार बनती जा रही थी, मनुष्य ने उसे अपने अनुकूल बनाना चाहा—यही मनुष्य पशु से अलग हो गया। वह पशु-सामान्य धरातल से ऊपर उठा। बार-बार उसे उसी धरातल की ओर उन्मुख करना प्रगति नही, यह पीछे लौटने का काम है। मैं मानता हूँ कि न तो कभी ऐसा समय रहा है, जब लालसा को उत्तेजना देनेवाला साहित्य न लिखा गया हो और न कोई ऐसा देश है, जहाँ ऐसी बात न लिखी गयी हो; परन्तु मेरा विश्वास है कि मनुष्य सामूहिक रूप से इस गलती को महसूस करेगा और त्याग देगा। यह ठीक है कि मनुष्य का इतिहास उसकी गलतियों का इतिहास है, पर यह और भी ठीक है कि मनुष्य बराबर गलतियो पर विजय पाता आया है। लालसा को उत्तेजन देनेवाला साहित्य उसकी गलती है। एक-न-एक दिन वह इस पर अवश्य विजय पायेगा।

सत्य अपना पूरा मूल्य चाहता है। उसके साथ समझौता नही हो सकता। साहित्य के चरम सत्य को पाने के लिए भी उसका पूरा-पूरा मूल्य चुकाना ही समीचीन है। जो लोग पद-पद पर सहज और सीधे साधनों की दुहाई दिया करते हैं, शायद किसी बड़े लक्ष्य की बात नहीं सोचते। मनुष्य को उसके उच्चतर लक्ष्य तक पहुँचाने के लिए उसके प्रतिदिन के व्यवहार में आनेवाली वृत्तियों के साथ सुलह करने मे काम नही चलेगा। कठोर संयम और त्याग द्वारा ही उसे बड़ा बनाया जा सकेगा। जो बात एक क्षेत्र में सत्य है, वह सभी क्षेत्रों में सत्य है—साहित्य में, भाषा में, आचार-विचार में, सर्वत्र। भाषा को ही लीजिए। मनुष्य अपने आहार

और निद्रा के साधनों को जुटाने के लिए जिस भाषा का व्यवहार करता है, वह उसकी अनायासलब्ध भाषा है; परन्तु यदि उसे इस धरातल से ऊपर उठाना है तो उतने से काम नहीं चलेगा। सहज भाषा आवश्यक है। पर सहज भाषा का मतलब है सहज ही महान् बनानेवाली भाषा, रास्ते में बटोरकर संग्रह की हुई भाषा नहीं।

सीधी लकीर खींचना टेढ़ा काम है। सहज भाषा पाने के लिए कठोर तप आवश्यक है। जब तक आदमी सहज नहीं होता तब तक भाषा का सहज होना असम्भव है। स्वदेश और विदेश के वर्तमान और अतीत के समस्त वाङ्मय का रस निचोड़ने से वह सहज भाव प्राप्त होता है। हर अदना आदमी क्या बोलता है या क्या नहीं बोलता, इस बात से सहज भाषा का अर्थ स्थिर नहीं किया जा सकता। *क्या कहने या क्या न कहने से मनुष्य उस उच्चतर आदर्श तक पहुँच सकेगा*, जिसे संक्षेप में 'मनुष्यता' कहा जाता है, यही मुख्य बात है। सहज मनुष्य ही सहज भाषा बोल सकता है। दाता महान् होने से दान महान् होता है!

जिन लोगों ने गहन साधना करके अपने को सहज नहीं बना लिया है, वे सहज भाषा नहीं पा सकते। व्याकरण और भाषा-शास्त्र के बल पर यह भाषा नहीं बनायी जा सकती, कोशों में प्रयुक्त शब्दों के अनुपात पर इसे नहीं गढ़ा जा सकता। कबीरदास और तुलसीदास को यह भाषा मिली थी, महात्मा गांधी को भी यह भाषा मिली, क्योंकि वे सहज हो सके। उनमें दान करने की क्षमता थी। शब्दों का हिसाब लगाने से यह दातृत्व नहीं मिलता, अपने को दलित द्राक्षा के समान निचोड़-कर महासहज के समर्पण कर देने से प्राप्त होता है। जो अपने को निःशेष भाव से दे नहीं सका, वह दाता नहीं हो सकता। आपमें अगर देने लायक वस्तु है तो भाषा स्वयं सहज हो जायगी। पहले सहज भाषा बनेगी, फिर उसमें देने योग्य पदार्थ भरे जायेंगे, यह गलत रास्ता है। सही रास्ता यह है कि पहले देने की क्षमता उपार्जन करो। इसके लिए तप की जरूरत है, साधना की जरूरत है, अपने को निःशेष भाव में दान कर देने की जरूरत है।

हिन्दी साधारण जनता की भाषा है। जनता के लिए ही उसका जन्म हुआ था और जब तक वह अपने को जनता के काम की चीज बनाये रहेगी, जनचित्त में आत्म-बल का संचार करती रहेगी, तब तक उसे किसी से डर नहीं है। वह अपने आपकी भीतरी अपराजेय शक्ति के बल पर बड़ी हुई है, लोक-सेवा के महान् व्रत के कारण बड़ी हुई है और यदि अपनी मूल शक्ति के स्रोत को भूल नहीं गयी तो निस्सन्देह अधिकाधिक शक्तिशाली होती जायेगी। उसका कोई कुछ भी बिगाड़ नहीं सकता। वह विरोधों और संघर्षों के बीच ही पली है। उसे जन्म के समय ही मार डालने की कोशिश की गयी थी, पर वह मरी नहीं है, क्योंकि उसकी जीवनी-शक्ति का अक्षय स्रोत जनचित्त है। वह किसी राजशक्ति की उँगली पकड़कर यात्रा तय करनेवाली भाषा नहीं है, अपने-आपकी भीतरी शक्ति में महत्त्वपूर्ण आसन अधिकार करनेवाली अद्वितीय भाषा है।

शायद ही संसार मे कोई ऐसी भाषा हो, जिसकी उन्नति में पद-पद पर इतनी बाधा पहुँचाई गयी हो, फिर भी जो इस प्रकार अपार शक्ति संचय कर सकी हो। आज वह सैकड़ों 'प्लेटफार्मों' से, कोड़ियों विद्यालयों से और दर्जनों प्रेसों से नित्य मुखरित होनेवाली परमशक्ति-शालिनी भाषा है। उसकी जड़ जनता के हृदय मे है। वह करोड़ों नर-नारियों की आशा और आकांक्षा, क्षुधा और पिपासा, धर्म और विज्ञान की भाषा है। हिन्दी-सेवा का अर्थ करोड़ों की सेवा है। इसका अवसर मिलना सौभाग्य की बात है।

वास्तव में हमारे अध्ययन की सामग्री प्रत्यक्ष मनुष्य है। आपने इतिहास में इसी मनुष्य की धारावाहिक जययात्रा की कहानी पढी है, साहित्य मे इसी के आवेगों, उद्वेगों और उल्लासों का स्पन्दन देखा है, राजनीति मे इसकी लुका-छिपी के खेल का दर्शन किया है, अर्थशास्त्र में इसकी रीढ़ की शक्ति का अध्ययन किया है। यह मनुष्य ही वास्तविक लक्ष्य है। आप इससे सीधा सम्बन्ध जोड़ने जा रहे हैं। यह जो प्रत्यक्ष मनुष्य का पढना है, वही बड़ी बात है। हमारी शिक्षा का अधिक भाग जिन सब दृष्टान्तों का आश्रय लेता है, वे हमारे सामने नही आते। हमारा इतिहास पढना तब तक व्यर्थ है, जब तक हम उसे इस जीवन्त मानव-प्रवाह के साथ एक करके न देख सकें। हमारे देश का इतिहास—यदि वह सचमुच ही हमारे देश का है—आज भी निश्चय ही हमारे घरों में, गाँवों में, जातियों में, खँडहरों में और इस देश के जर्रे-जर्रे में अपना चिह्न छोड़ता जा रहा है। जब तक देश के इन प्रत्येक कणों से हमारा प्रत्यक्ष सम्बन्ध नही स्थापित होता, तब तक हम इतिहास का वास्तविक ज्ञान कैसे प्राप्त कर सकेंगे ? हममे से जो कोई भी अपने को शिक्षित समझता हो, उसे अपनी उच्च अट्टालिका से नीचे उतरकर अपने देश के इर्द-गिर्द फैले हुए विशाल जन-समूह, विस्तृत भूखण्ड और सजीव चिन्ता-प्रवाह को ही प्रधान पाठ्य-पुस्तक बनाना होगा। पुस्तकें इसी महाग्रन्थ को समझाने का साधन मानी जानी चाहिए। नोटों और कुंजियों को उत्पन्न करनेवाली मनोवृत्ति का निर्दयतापूर्वक दमन कर देना चाहिए। हम लोग नृतत्त्व के ग्रन्थ न पढते हों सो बात नहीं है, किन्तु जब हम देखते हैं कि ग्रन्थ पढने के कारण हमारे घरो के निकट जो चमार, धीवर, कोरी, कुम्हार लोग रहते है, उनके पूरे परिचय पाने के लिए हमारे हृदयो में ज़रा-भी उत्सुकता नही उत्पन्न होती, तब अच्छी तरह समझ मे आ जाता है कि पुस्तकों के सम्बन्ध में हमें कितना अन्धविश्वास हो गया है, पुस्तको को हम कितना बड़ा समझते हैं और पुस्तकें वस्तुतः जिनकी छाया है, उनको कितना तुच्छ मानते हैं। यह ढंग गलत है। इसमें सुधार होना चाहिए। विद्या के क्षेत्र मे 'सेकेण्ड हैण्ड' ज्ञान की प्रधानता स्थापित होना वांछनीय नहीं। दुर्भाग्यवश अपने देश में ऐसे ही ज्ञान की प्रधानता स्थापित हो गयी है। हमें यदि सचमुच कुछ नया करना है तो बड़े विकट प्रयास करने पड़ेंगे। समूचे देश के मस्तिष्क में जो जड़-संस्कार पैदा कर

दिये गये उनसे जूझना पड़ेगा। इसका समर्थन तभी हो सकता है, जब हम दृढ प्रत्यक्ष ज्ञान की ओर अग्रसर हों।

आपमे से अधिकांश का मार्ग शायद मातृभाषा और उसके साहित्य द्वारा देश की सेवा करना हो। यह बड़ा उत्तम मार्ग है; परन्तु हमें अच्छी तरह समझ लेने की आवश्यकता है कि साहित्य-सेवा या मातृभाषा की सेवा का क्या अर्थ है। किसे सामने रखकर आप साहित्य लिखने जा रहे है ? आपके वक्तव्यों का लक्ष्यीभूत श्रोता कौन है ? हिन्दी भाषा कोई देवी-देवता की मूर्त्ति का नाम नहीं है। हिन्दी की सेवा करने का अर्थ हिन्दी की प्रतिमा बनाकर पूजना नहीं है। यह लाक्षणिक प्रयोग है। इसका अर्थ है—हिन्दी के माध्यम द्वारा समझनेवाली विशाल जनता की सेवा। कभी-कभी हम लोग इस भाषा के प्रति होनेवाले अन्यायों से विक्षुब्ध होकर गलत ढंग के स्वभाषा-प्रेम का परिचय देते हैं। अपनी भाषा, अपनी संस्कृति और अपने साहित्य से प्रेम होना बुरी बात नही है, पर जो प्रेम ज्ञान द्वारा चालित और श्रद्धा द्वारा अनुगमित होता है, वही प्रेम अच्छा है। केवल ज्ञान बोझ है, केवल श्रद्धा अन्धा बना देती है। हिन्दी के प्रति जो हमारा प्रेम है, वह भी ज्ञान द्वारा चालित और श्रद्धा द्वारा अनुगमित होना चाहिए। हमें ठीक-ठीक समझना चाहिए कि हिन्दी की शक्ति कहाँ है। हिन्दी इसलिए बड़ी नहीं है कि हममें से कुछ लोग इस भाषा में कहानी या कविता लिख लेते है या सभा-मंचों पर बोल लेते हैं। नही, वह इसलिए बड़ी है कि कोटि-कोटि जनता के हृदय और मस्तिष्क की भूख मिटाने मे यह भाषा इस देश में सबसे बड़ा साधन हो सकती है। हमारे पूर्वजों ने दीर्घकाल की तपस्या और मनन से जो ज्ञानराशि संचित की है, उसे सुरक्षित रखने का यह सबसे मजबूत पात्र है, अकारण और सकारण शोषित और पोषित, मूढ़, निर्वाक् जनता तक आशा और उत्साह का सन्देश इसी जीवन्त और समर्थ भाषा के द्वारा पहुँचाया जा सकता है। यदि देश मे आधुनिक ज्ञान-विज्ञान को हमें जन-साधारण तक पहुँचाना है तो इसी भाषा का सहारा लेकर हम यह काम कर सकते हैं। हिन्दी इन्ही सम्भावनाओ के कारण बड़ी है। यदि वह यह कार्य नही कर सकती तो 'हिन्दी-हिन्दी' चिल्लाना व्यर्थ है। यदि वह यह काम कर सकती है तो उसका भविष्य अत्यन्त उज्ज्वल है। यदि वह इन महान् उद्देश्यों के अनुकूल है तो फिर वह इस देश में हिमालय की भाँति अचल होकर रहेगी। हिमालय की ही भाँति उन्नत, उतनी ही महान् हिन्दी जनता की भाषा है। जनता के लिए ही उसका जन्म हुआ था और जब तक वह जनता के चित्त में आत्मबल संचारित करती रहेगी, उसके हृदय और मस्तिष्क की भूख मिटाती रहेगी, तब तक उसका जीवन सार्थक है। जो लोग इस भाषा और इसके साहित्य की सेवा करने का व्रत करने जा रहे हों, उन्हे यह बात कभी नही भूलनी चाहिए।

भारतवर्ष क्या है ? अनादिकाल से नाना जातियाँ अपने नाना भाँति के संस्कार, रीति-रस्म आदि लेकर इस देश में आती रही हैं। यहाँ भी अनेक प्रकार के मानवीय समूह विद्यमान रहे हैं। ये जातियाँ कुछ देर तक झगड़ती रही हैं

और फिर रगड़-झगड़कर, ले-देकर पास-ही-पास बस गयी हैं—भाइयों की तरह ! इन्ही नाना जातियों, नाना संस्कारों, नाना धर्मों, नाना रीति-रस्मों का जीवन्त समन्वय यह भारतवर्ष है। विदेशी पराधीनता ने इसके स्वाभाविक विकास मे बाधा पहुँचायी है। उसका वाह्य रूप विचित्र-सा दिखायी दे रहा है। इसी वैचित्र्य-पूर्ण जन-समूह को आशा और उत्साह का सन्देश देना साहित्य-सेवा का लक्ष्य है। हजारों गाँवों और शहरों में फैली हुई, शताधिक जातियों और उप-जातियों में विभक्त, सभ्यता के नाना स्तरों पर ठिठकी हुई यह जनता ही हमारे समस्त प्रयत्नों का लक्ष्य है। इसका कल्याण ही साध्य है। बाकी सबकुछ साधन है। आपने जो अपनी भाषा पर अधिकार प्राप्त किया है, वह अपने-आपमे अपना अन्त नही है। वह साधन है। इसे भाषा के सहारे आपको इस जनता तक पहुँचाना है। इसको निराशा और पस्त-हिम्मती से बचाना आपका कर्त्तव्य है; परन्तु यह कोई सरल काम नही है। केवल कुछ अच्छा करने की इच्छामात्र से यह काम नही होगा। आज की समस्याएँ बड़ी उलझनदार और जटिल हैं। बिजली की बत्ती मुंह से फूंककर नही बुझायी जाती है। यह समझने की जरूरत है कि जो दुर्गति आज हम प्रत्यक्ष देख रहे हैं, उसका वास्तविक कारण क्या है ? साहित्य का साधक केवल कल्पना की दुनिया में विचरण करके, केवल 'हाय-हाय' की या 'वाह-वाह' की पुकार करके अपने सामने की कुत्सित कुरूपता को नही बदल सकता। हमें उस समूची विद्या को सीखना पड़ेगा, जो विश्व-रहस्य के नये-नये द्वार खोल रही है, जो प्रकृति के समस्त गुप्त भण्डार पर धावा बोलने के लिए बद्ध-परिकर है, जो मनुष्य को असीम सुख और समृद्धि तक ले जा सकती है। फिर हमें उस स्वार्थ-शक्ति को भी समझना है, जो इस विद्या का गलत प्रयोग करनेवाले मनुष्य को सर्वत्र लांछित और अपमानित कर रही है। साहित्य का कारबार मनुष्य के समूचे जीवन को लेकर है। जो लोग आज भी यह सोचते हैं कि साहित्य के लिए कुछ खास-खास विषय ही पढने के हैं, वे बड़ी गलती करते है। आज की जनता की दुर्दशा को यदि आप सचमुच ही उखाड़ फेंकना चाहते हैं तो आप चाहे जो भी मार्ग लें, राजनीति से अलग होकर नही रह सकते, अर्थनीति की उपेक्षा नही कर सकते और विज्ञान की नयी प्रवृत्तियों से अपरिचित रहकर कुछ नही कर सकते। साहित्य केवल बुद्धि-विलास नही है। वह जीवन की वास्तविकता की उपेक्षा करके सजीव नही रह सकता।

साहित्य के उपासक अपने पैर के नीचे की मिट्टी की उपेक्षा नहीं कर सकते। हम सारे बाह्य जगत् को असुन्दर छोड़कर सौन्दर्य की सृष्टि नही कर सकते। सुन्दरता सामंजस्य का नाम है। जिस दुनिया में छोटाई और बड़ाई में, धनी और निर्धन मे, ज्ञानी और अज्ञानी में आकाश-पाताल का अन्तर हो, वह दुनिया बाह्य सामंजस्यमय नही कही जा सकती और इसीलिए वह सुन्दर भी नही है। इस बाह्य असुन्दरता के 'ढूह' में खड़े होकर आन्तरिक सौन्दर्य की उपासना नही हो सकती। हमें उस बाह्य असौन्दर्य को देखना ही पड़ेगा। निरन्न, निर्वसन जनता के बीच

खड़े होकर आप परियों के सौन्दर्य-लोक की कल्पना नहीं कर सकते। साहित्य सुन्दर का उपासक है, इसलिए साहित्यिक को असामंजस्य को दूर करने का प्रयत्न पहले करना होगा, अशिक्षा और कुशिक्षा से लड़ना होगा, भय और ग्लानि से लड़ना होगा। सौन्दर्य और असौन्दर्य का कोई समझौता नहीं हो सकता। सत्य अपना पूरा मूल्य चाहता है। उसे पाने का सीधा और एकमात्र रास्ता उसकी कीमत चुका देना ही है। इसके अतिरिक्त कोई दूसरा रास्ता नहीं है। हमारे देश का बाह्य रूप न तो आँखों को प्रीति देने लायक है, न कानों को, न मन को, न बुद्धि को। यह सचाई है।

यदि किसी देश का बाह्य रूप सम्मान योग्य तथा सुन्दर नहीं बन सका है, तो समझना चाहिए कि उस राष्ट्र की आत्मा में एक उच्च जगत् का निर्माण किया जाना शुरू नहीं हुआ है, अर्थात् वहाँ सच्चे साहित्य के निर्माण का श्रीगणेश नहीं हुआ है। साहित्य ही मनुष्य को भीतर से सुसंस्कृत और उन्नत बनाता है और तभी उसका बाह्य रूप भी साफ और स्वस्थ दिखायी देता है। और साथ-ही बाह्य रूप के साफ और स्वस्थ होने से आन्तरिक स्वास्थ्य का भी आरम्भ होता है। दोनों ही बातें अन्योन्याश्रित हैं। जबकि हमारे देश में नाना भाँति के कुसंस्कार और गन्दगी वर्त्तमान हैं, जबकि हमारे समाज का आधा अंग परदे में ढका हुआ है, जबकि हमारी नब्बे फी-सदी जनता अज्ञान के मलबे के नीचे दबी हुई है, तब हमें मानना चाहिए कि अभी दिल्ली बहुत दूर है। हम साहित्य के नाम पर जो कुछ कर रहे हैं और जो कुछ दे रहे हैं, उसमें कहीं बड़ी भारी कमी रह गयी है। हमारा भीतर और बाहर अब भी साफ-स्वस्थ नहीं है। साहित्य की साधना तब तक बन्ध्य ही रहेगी जब तक हम पाठकों में एक ऐसी अदमनीय आकांक्षा जाग्रत न कर दें, जो सारे मानव-समाज को भीतर से और बाहर से सुन्दर तथा सम्मान-योग्य देखने के लिए सदा व्याकुल रखे। अगर यह आकांक्षा जाग्रत हो सकी तो हममें से प्रत्येक अपनी-अपनी शक्ति के अनुसार उन सामग्रियों को जरूर संग्रह कर लेगा, जो उक्त इच्छा की पूर्ति की सहायक है। अगर यह आकांक्षा जाग्रत नहीं हुई तो कितनी भी विद्या क्यों न पढ़ी हो, वह एक जंजाल मात्र सिद्ध होगी और दुनियादारी और चालाकी का ढकोसला ही बनी रहेगी। जो साहित्यिक निष्ठा के साथ इच्छा को लेकर रास्ते पर निकल पड़ेगा, वह स्वयं अपना रास्ता खोज निकालेगा। साधन की अल्पता से कोई महती इच्छा आज तक नहीं रुकी है। भूख होनी चाहिए। एक बार भूख के होने पर खाद्य-सामग्री जुट ही जाती है, पर खाद्य-सामग्री के भरे रहने पर भूख नहीं लगती है। गरुड़ ने उत्पन्न होते ही कहा, "माँ, बहुत भूख लगती है।" माता विनता घबड़ाकर विलाप करने लगी कि इस प्रचण्ड क्षुधाशाली पुत्र को अन्न कहाँ से दें! पिता कश्यप ने आश्वासन देकर कहा था, "कोई चिन्ता की बात नहीं। महान् पुत्र उत्पन्न हुआ है; क्योंकि उसकी भूख महान् है।" हमारी भाषा को भी इस समय प्रचण्ड साहित्यिक क्षुधावाले महान् पुत्र की आवश्यकता है। जब तक हमारी

मातारूपी भाषा के गर्भ से ऐसे कृती पुत्र पैदा नहीं होते, तभी तक वह विनता की तरह कष्ट पा रही है। जिस दिन ऐसे पुत्र पैदा होंगे, उस दिन मातृभाषा धन्य हो जायेगी।

इस देश मे हिन्दू है, मुसलमान है, ब्राह्मण हैं, चाण्डाल हैं, धनी हैं, गरीब है—विरुद्ध संस्कारो और विरोधी स्वार्थो की विराट् वाहिनी है। इसमे पद-पद पर गलत समझे जाने का अन्देशा है, प्रतिक्षण विरोधी स्वार्थों के संघर्ष मे पिस जाने का डर है, संस्कारों और भावावेशो का शिकार हो जाने का अन्देशा है; परन्तु इन समस्त विरोधों और संघातो से बड़ा और सबको छापकर विराज रहा है मनुष्य। इस मनुष्य की भलाई के लिए आप अपने-आपको निःशेष भाव से देकर ही सार्थक हो सकते है। सारा देश आपका है। भेद और विरोध ऊपरी हैं। भीतर मनुष्य एक हैं। इस एक को दृढ़ता के साथ पहचानने का यत्न कीजिए। जो लोग भेद-भाव को पकड़कर ही अपना रास्ता निकालना चाहते हैं, वे गलती करते है। विरोधी रहे हैं तो उन्हें आगे भी बने ही रहना चाहिए, यह कोई काम की बात नही हुई। हमे नये सिरे से सबकुछ गढ़ना है, तोड़ना नही है, टूटे को जोड़ना है। भेद-भाव की जयमाला से हम पार नही उतर सकते। कबीर ने हैरान होकर कहा था :

कबीर इस संसार को समझाऊँ कै बार।
पूँछ जु पकड़े भेद का, उतरा चाहै पार।।

मनुष्य एक है। उसके सुख-दु.ख को समझना, उसे मनुष्यता के पवित्र आसन पर बैठाना ही हमारा कर्त्तव्य है।

[कराची हिन्दी साहित्य सम्मेलन की साहित्यिक परिषद् का
अध्यक्षीय भाषण—अशोक के फूल से]

साहित्य की साधना

आज साहित्य मनुष्य के अन्य प्रयत्नों से विच्छिन्न और अपने-आपमें स्वतन्त्र वस्तु नही रह गया है। विभिन्न संघर्षो की चिनगारियो से वह अपने को बचा नही सका है और स्वय सघर्ष का साधन बनने लगा है। जो लोग प्राचीन सरस साहित्य के मर्मज्ञ है, जिन्होने उदार कल्पनाओ और विदग्ध वाणियों के जादू-भरे उद्यान में शान्ति की साँस ली है, वे आज के साहित्यिको की दौड़-धूप और व्यस्तता को

देखकर हैरत मे आ गये है। वे आश्चर्य से देखते है कि आज न जाने कौन-सा पागलपन इन साहित्यिकों पर सवार है कि वे हर चिथड़े को बटोर लेना चाहते है और गर्व के साथ घोषणा करना चाहते हैं कि वे इन चिथड़ों मे आग लगाकर ही दुनिया को रोशनी देंगे। जिन लोगों को प्राचीन साहित्य के रसमय लोक मे घूमने का अवसर नही मिला, वे भी कम आश्चर्य में नही हैं। अपनी वात को अधिक स्पष्ट भाषा में न कहकर वे उदासीनता के साथ कहते है—जमाना वड़ी तेजी से भागा जा रहा है। परन्तु कम लोग ही सोचते है कि उनके कहने का मतलब क्या है। जमाना कोई पागल ऊँट नही है कि वह तेजी से भाग खड़ा होगा। आखिर जमाने के भागने का मतलव क्या है? मतलब बहुत स्पष्ट भी नही है। जीवन के विभिन्न मूल्यों में नित्य परिवर्तन हो रहे है। कल जिसको मनुष्य नगण्य समझता था, आज उसका दाम वढ गया है। कल जिसका दाम बहुत अधिक था, आज उसे कोई पूछता नही। किसी जमाने का सुसस्कृत समझा जानेवाला व्यक्ति वश-विशेष मे उत्पन्न दूसरे व्यक्ति को छू लेने पर गंगास्नान करना आवश्यक समझता था, परन्तु आज ऐसा आचरण करनेवाला व्यक्ति असंस्कृत माना जाने लगा है। यही एक उदाहरण नही, ऐसे सैकड़ों उदाहरण हैं। हर समय मनुष्य इन बदलते हुए मानो के प्रति सचेत नही होता। सबकी दृष्टि इतनी सूक्ष्म भी नही होती कि वदलनेवाली गति को पहचान सके। पर एक दिन बदली हुई प्रवृत्ति मन छोड़नेवाली परिस्थिति के रूप मे सामने आ जाती है, तो आदमी लाचार होकर कह उठता है: जमाना वड़ी तेजी से वदल रहा है!

साहित्य की दुनिया मे भी इन वदलते हुए मानों ने उत्पात मचा रखा है। कठिनाई यह है कि साहित्यिक—यदि वह सचमुच ही साहित्यिक है—औसत आदमी की अपेक्षा कुछ पहले ही इन परिवर्तनमान मूल्यो का अन्दाज लगा लेता है। आजकल साहित्य केवल सहृदयों की आलोचना और रसास्वादन की वस्तु नही रह गया है। छापे की मशीनों ने इसमे भी प्रजातान्त्रिक गन्ध पैदा कर दी है। अनिवार्य शिक्षा आवश्यक मान ली गयी है। उसके साथ-ही-साथ समूची जनता को साहित्य की शिक्षा देने का व्रत भी ले लिया गया है और उस व्रत को कार्यान्वित करने के लिए साहित्य-शिक्षकों की भारी-भरकम पलटन भी तैयार हो रही है। यह अव आवश्यक हो गया है। इसको अव कोई अस्वीकार नही कर सकता। यह भी जमाने की तेज रफ्तार है; अर्थात् महाकालदेवता के अप्रतिरोध्य रथचक्र का निर्मम सचालन है, जिसमे कोई ममता नही है, कोई दया नही है, मनुष्य के कोमल मनोभावों के प्रति कोई आसक्ति नही है, कल्पना और भावुकता के द्वारा रचे हुए लोको के प्रति कोई भावालुता नही है। वह तेजी से दौड़ा जा रहा है और जो भी उसके पहिये के नीचे आ जाता है, उसे चूर्ण-विचूर्ण करता हुआ आगे वढ रहा है—अनिवार्य शिक्षा हो करके ही रहेगी, साहित्य के शिक्षकों की सेना भी भर्ती होकर ही रहेगी और हम मानें या न मानें, हमे अच्छा लगे या वुरा लगे, साहित्य भी सर्वजन की सम्पत्ति होकर ही रहेगा। ऐसी अवस्था मे ऐसे साहित्य के

समालोचक भी पैदा होगे, जो सच्चे साहित्यिकों की अनुभूति को साधारण औसत आदमी की तरह ही ठीक से न समझकर उदासीनता से कह देंगे—जमाना है। जो लोग इनमे कुछ अधिक कार्यपटु होगे, वे इतने से ही सन्तोष न करके इन प्रयत्नों को बुरा-भला भी कहेगे। परन्तु महाकाल का रथ इनकी ओर दृग्पात नही करेगा। निरन्तर बदलते हुए मानवीय व्यापारो का मूल्य कहानीवाले बखान की तरह अपनी गति मे आगे ही बढता जायगा।

लेकिन कठिनाई यही नहीं समाप्त हो जाती। साहित्यिकों में भी पंख खोंसकर बने हुए मोरों की कमी नही है। प्रजातान्त्रिक साहित्य में यह होगा ही। हवा में उड़ते हुए विचारो को आत्मसात् किये बिना आधुनिक बनने का प्रयत्न बराबर ही होता रहा है; आज भी हो रहा है। यूरोप में मनोविश्लेषण-शास्त्र की नयी थ्योरी निकलती है और हिन्दुस्तान का अधकचरा साहित्यिक उसको खाकर बिना पचाये ही वमन कर देता है। उसे इस बात की चिन्ता नहीं होती कि वह जो-कुछ कहने जा रहा है, वह उसका कहां तक अपना है। कहां तक उसे वह 'सहज' बना सका है। उसे केवल आधुनिकता का नशा है और किसी प्रकार वह पाँचों सवारों मे नाम लिखाना चाहता है। मुझे खुशी है कि हमारे साहित्य मे केवल ऐसे अधकचरे लोग ही नही है; बल्कि ऐसे भी कृती है, जिन्होने इन सिद्धान्तों का मन्थन किया है, इन्हे पचा लिया है और सहज भाव से इन्हें अपना बना लिया है। जब ऐसे सच्चे साहित्यकार इन सहज बातों को सहज ढंग से कहने लगते है, तो उसकी दीप्ति छिपती नही है। जैसे पचे हुए भोजन की आभा चेहरे पर कान्ति के रूप में प्रकट होती है, उसी प्रकार इन साहित्यकारो के नवीन विचार इनके साहित्य मे नवीन कान्ति का रूप धारण करते है। वे साहित्य-लक्ष्मी के सौन्दर्य मे नये आभरण का योग देते हैं। परन्तु इनकी संख्या साहित्य में बहुत कम है। अधिकतर उन्ही लोगो ने विशिष्ट स्थानों पर अधिकार कर रखा है, जिनका भोजन पचा नही है और जो केवल खट्टी डकारो से वायुमण्डल को दूषित कर रहे है।

ज्ञान का सहज बनना बहुत आवश्यक है। यदि आपके लिखने मे आपका सुचिन्तित मत उसी प्रकार सहज गति से आ रहा है जिस प्रकार माता के दूध मे पौष्टिक तत्त्व अनायास आ जाते है, तो कोई परवा नही। आज के युग मे उस लेखक की कोई कीमत नही जिसका कोई अपना मत न हो। मत का होना बुरी बात नही है। सचाई के साथ अपने विश्वासों को कह देना भी बुरा नहीं है। परन्तु इस बात का ध्यान रखना आवश्यक है कि आज के साधन-सम्पन्न युग मे सभी प्रकार की बातों का फैलना आसान हो गया है। यदि असावधानी से जल्दी में निर्णय किया हुआ मत या उधार लिया हुआ मत हम प्रचारित करने लगें तो सामाजिक अमंगल की आशंका है।

हमारे देश मे साहित्यकारों की एक बड़ी भारी अनुकरणीय परम्परा हमें विरासत मे मिली है। वह है ज्ञान के प्रति गम्भीर निष्ठा की परम्परा। 'नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते'—ज्ञान के समान पवित्र कुछ भी नही है। एक बार

व्यक्ति ज्ञान की साधना का व्रत लेता है, वह पवित्र साधना का व्रत लेता है। उसे भीतर और बाहर से शुचि होकर इस क्षेत्र में आना चाहिए। साहित्य केवल मन की उमंग मे आया हुआ मानसिक उल्लासमात्र नही है। वह एक पवित्र कर्त्तव्य है। उसे लिखकर मनुष्य वर्त्तमान और भावी पीढियों को प्रभावित करना चाहता है।

पिछले कुछ वर्षों के हमारे साहित्यकारों के चित्त में जो घोर मन्थन हुआ है उसके फलस्वरूप कोई बड़ी कृति लिखी गयी है या नही, इसका उत्तर भविष्य ही देगा। परन्तु एक बात निश्चित-सी लग रही है कि लड़ते-झगड़ते हम लगभग एक निश्चित निर्णय तक पहुँच सके हैं। साहित्यकारों ने यह अनुभव किया है कि हमारे लिखने का लक्ष्य सामाजिक 'मनुष्य' का मंगल-विधान है। मनुष्य एक है। विषमताएँ मनुष्य-मात्र को प्रभावित करती हैं। सारी मनुष्य-जाति को अखण्डनीय और अविच्छेदनीय 'एक' मानकर ही हम उस सामाजिक मंगल का मार्ग सोच सकते है, जिसे उपलब्ध किये बिना मनुष्यता का त्राण नही है। हमने 'मनुष्य' को—सामाजिक मनुष्य को—इसी मर्त्यलोक मे सुखी और समृद्ध, अज्ञान और परमुखापेक्षिता से मुक्त बनाने के महान् सिद्धान्त को स्वीकार कर लिया है। व्यक्तिगत संस्कारों और रुचि के कारण हमारे भीतर मतभेद बहुत है। पर आज के किसी साहित्यकार से यदि आप कहें कि उसकी रचना सामाजिक मगल के आदर्श से च्युत है तो वह लज्जित अवश्य होता है और प्रतिवाद करने का प्रयत्न करता है। लजाना बड़े तत्त्व को स्वीकार करने का लक्षण है।

आज साहित्य को केवल कल्पना-विलास की सामग्री समझना खतरनाक है। नवीन साहित्यकारों को ज्ञान-विज्ञान के सभी क्षेत्रों में रस-संग्रह करने की आवश्यकता है। ज्ञान-विज्ञान—जो देश और काल में व्याप्त है। कबीरदास ने ऐसे ही साधक को शूर कहा था जो आठों पहर मस्त बना रहता है और अतीत और वर्त्तमान मे संचित होनेवाली ज्ञान-राशि का सार भाग ग्रहण करता है, उसे सहज बनाकर दुनिया को देता है। जो ऐसा नही कर सकता उसकी साधना अधूरी है। नवयुग के साहित्यकारों को इस तत्त्व को बराबर स्मरण रखना चाहिए:

आठहू पहर मस्तान माना रहे, आटहू पहर की छाक पीवे,
कहै 'कबीर' सोई सन्तजन सूरमा, काल निचोड़ि के अमृत पीवे॥

[सभ्यता और संस्कृति से]

साहित्य का प्रयोजन : लोककल्याण

साहित्य का प्रयोजन क्या है ? इस प्रश्न के उत्तर देने के पहले मुझे यह बता देना चाहिए कि साहित्य मैं किसे कहता हूँ और प्रयोजन का क्या तात्पर्य है, क्योंकि मुझे ऐसा लगता है कि यदि मै इस अर्थ को स्पष्ट न करूँ तो मेरा वक्तव्य अधूरा-सा लगेगा। आजकल 'साहित्य' शब्द का प्रयोग कुछ व्यापक अर्थो मे होने लगा है। ज्योतिष का साहित्य, वेदान्त का साहित्य, गणित का साहित्य आदि शब्दो का जब हम प्रयोग करते हैं तो हमारा मतलब इन विषयो पर लिखी पुस्तको से होता है, परन्तु आज जिस साहित्य के प्रयोजन पर मुझे बोलना है वह इस प्रकार का साहित्य नही हो सकता। ज्योतिष सिखाना है, इसके बारे में किसी को सन्देह है न जिज्ञासा। इसलिए जब कोई साहित्य का प्रयोजन जानना चाहता है तो वस्तुतः वह रसपरक साहित्य की बात जानना चाहता है; वह कविता, कहानी, उपन्यास, नाटक आदि ऐसी पुस्तकों के प्रतिपादन विषय का प्रयोजन जानना चाहता है जिनका कारबार मनुष्य के हृदय से है, जो मनुष्य को मनुष्य के प्रति संवेदनशील और सहानुभूतियुक्त बनाना चाहती हैं, जो उसे दूसरे के दुख से दुखी और सुख से सुखी बनाना चाहती है। वैसे, यह समझना ठीक नही है कि 'साहित्य' शब्द का शुरू से ऐसा अर्थ हुआ है। पर इसी से मिलते-जुलते अर्थ से इसका प्रथम-प्रथम प्रयोग हुआ था। कुन्तक नामक आचार्य ने आज से लगभग एक हजार वर्ष पहले कहा था कि केवल शब्द में भी कवित्व नही होता और केवल अर्थ में भी कवित्व नही होता। वस्तुतः शब्द और अर्थ के साहित्य मे अर्थात् साथ-साथ या सहित होकर रहने के कारण जो उनका सामंजस्य है उसमें कवित्व होता है। काव्य मे शब्द और अर्थ के साहित्य (अर्थात् साथ-साथ रहने) में एक विशिष्टता होनी चाहिए। इस प्रकार साहित्य शब्द का प्रथम-प्रथम प्रयोग हुआ था। आज भी वह अर्थ स्वीकृत है और व्यापक हो गया है। अब शब्द और अर्थ की केवल एक-दूसरे से होड़ मचानेवाली सुन्दरता को ही जिसे प्राचीन पण्डित 'परस्परस्पर्द्धि चारुता' कहा करते थे, हम साहित्य नही कहते, बल्कि उस सुन्दरता से उत्पन्न होनेवाले प्रभावो की भी बात सोचते हैं।

मैं अपनी बात जरा और स्पष्ट करके कहूँ। दुनिया में कोई काम इसलिए महत्त्वपूर्ण नहीं होता कि उसके लिए बहुत परिश्रम किया गया है, या उसके पीछे बहुत सुचिन्तित योजना है, या वह बहुत साजसरंजाम के साथ किया जा रहा है। आज की दुनिया जहाँ वैज्ञानिक सफलताओं के कारण बहुत सिमट गयी है वहीं यह संकीर्ण स्वार्थो का दलदल भी बनती जा रही है। एक जाति को दूसरी घृणा करने लगी है, एक देश दूसरे को शंका की दृष्टि से देखने लगा है। नाना भाँति के गलत प्रचारो ने मनुष्य को मनुष्य के प्रति शंकालु बना दिया है। ऐसा जान पड़ता है कि दलगत स्वार्थ के प्रेत ने समूची मनुष्यता को दबोच लिया है। इस समय हमें ऐसे साहित्य की आवश्यकता है जो हमारे हृदय को संवेदनशील और उदार बनाये।

परन्तु यह काम हमें किसी विशिष्ट स्वर्ग की प्राप्ति के लिए या प्रभूत पुण्य के उपार्जन के लिए नही करना है। यह मनुष्यता की रक्षा के लिए परम आवश्यक हो गया है। यदि हम किसी प्रकार शब्द और अर्थ के सौन्दर्य को निवाहते जाने को ही साहित्यकार का परम कर्त्तव्य मानते रहेंगे तो उन सब सद्गुणों के प्रति मनुष्य को सहजभाव से कौन उद्बुद्ध करेगा जिन्हे बहुत तपस्या के बाद मनुष्य ने सीखा है। संयम, त्याग और तपस्या मनुष्यता की रक्षा के लिए ही आवश्यक है। पर मनुष्यता क्या है ? क्या मनुष्य जो कुछ करता है, वही मनुष्यता है ? नही, मनुष्य मे आहार, निद्रा आदि अनेक वातें वैसी ही है जैसी पशु मे है। जहाँ तक इन्द्रिय-लोलुपता है, लोभ-मोह की गुलामी है, छीना-झपटी और स्वार्थ-परता है वहाँ तक मनुष्य पशु ही है। इनसे जब वह ऊपर उठता है, जब वह विवेक से और संयम से काम लेता है, जब वह दूसरे के सुख-दुख में हर्ष-विषाद का अनुभव करता है, तब वह मनुष्य होता है। इसको पशु-सामान्य धरातल से ऊपर उठाना है। यही मनुष्य की मनुष्यता है। इसी का सर्वोत्तम प्रकाश साहित्य मे होता है। साहित्य इसीलिए कल्पना-विलास नही है, बल्कि दीर्घकालीन त्याग और तप से उपार्जित उसकी महती साधना है।

कुछ साल पूर्व मेरे मन में एक प्रश्न उठा था। मैने उसे इस प्रकार प्रकट किया था—उन्नीसवी शताब्दी यूरोप में जड़ विज्ञान लेकर आयी थी। परन्तु उस युग के साहित्य मे संसार को आदर्श रूप में गढ़ने की जैसी उत्कट और शक्तिशाली भावना प्रकट हुई, उसकी तुलना किसी युग से नही की जा सकती। बीसवी शताब्दी प्राणि-विज्ञान और मनोविज्ञान का युग कहा जाता है। पस्तहिम्मती, पलायन और नियति-दासता को क्या इस युग के साहित्य में बड़ा हो जाना चाहिए था ? युद्धो और राजनीतिक कचकचाहटों ने इस युग के साहित्यकार को निराशावादी और मनोविश्लेषक बना दिया है। वह देख रहा है कि दुनिया मे नख और दन्त चाहे जितने तेज हों, मन परवर्तित नही हुआ है। मनुष्य सब मिलाकर आज भी पशु ही बना हुआ है। डार्विन ने उन्नीसवी शताब्दी मे कहा था कि मनुष्य वस्तुतः पशु का ही विकसित रूप है। वर्त्तमान युग के वैज्ञानिकों ने आज भुजा उठाकर घोषणा की है कि मनुष्य पशु का विकसित रूप केवल शरीर से है, मन की ओर से वह आज भी प्रायः पशु ही है ! वही आदिम मनोवृत्तियां जो चूहे में हैं, वकरी मे हैं, वनमानुष में हैं, वही मनुष्य मे भी हैं ! उन मनोवृत्तियों में एकदम परिवर्त्तन नही हुआ है, केवल रूप बदला है। परिस्थिति के कारण जिस प्रकार ऊँट की गर्दन एक प्रकार की वन गयी है, हाथी की सूँड़ दूसरी प्रकार की हो गयी है, उसी प्रकार बदली हुई परिस्थितियों ने मानवचित्त को कुछ नया रूप दिया है, नही तो है वही पुरानी चीज। उसका चेतन चित्त वासनाओं के महासमुद्र मे उतरानेवाली वोतल के कार्क से अधिक गौरव नही पा सकता। प्रश्न यह है कि आज का साहित्यकार क्या इसी प्रकार के विचारों को चुपचाप स्वीकार कर नया-नया प्रयोग करता जायेगा। समूची जाति का भाग्य अधर मे लटका हुआ है, अविश्वास और शक ने हमारे

विचारशील लोगों के चित्त में भय और सन्देह को भर दिया है, भीतर और बाहर की विकट समस्याओं के सम्मुखीन होने में देश के समझदार लोग दुविधा का अनुभव कर रहे हैं। आज भी यह प्रश्न जहाँ-का-तहाँ है।

हमारे सामने देश को स्वाधीन बनाये रखने की समस्या ही मुख्य नहीं है। स्वाधीनता भी एक साधन है। सारे संसार को अविश्वास और पारस्परिक घृणा और विद्वेष के दलदल से उबारने का हमें अवसर मिलने जा रहा है। हम क्या आज निराश और हतोत्साह होकर कोई कार्य कर सकते हैं? मनोविज्ञान, प्राणि-विद्या और पदार्थविज्ञान का अध्ययन हम अवश्य करें। परन्तु निश्चित समझें कि यह शास्त्र मनुष्य की अद्भुत बुद्धि के कणमात्र हैं। यही सब-कुछ नहीं हैं। मनुष्य इनसे भी बड़ा है। यह शास्त्र केवल सामने पड़ी विशाल ज्ञानराशि की ओर संकेत कर रहे हैं। भारतवर्ष के साहित्यकारों को आज सुवर्ण संयोग प्राप्त है, अगर इस अवसर पर हम चूक गये तो सम्भवतः दुनिया एक नये दलदल में फिर फँस जायेगी। यह मत समझिए कि भारतवर्ष अब उपेक्षित और अपमानित बना रहेगा। संसार को नयी ज्योति देने की जिम्मेदारी आज हमारे तरुण साहित्यकारों के कन्धे पर आ पड़ी है। आज हमें स्मरणीय चरित्रों और अविस्मरणीय आदर्शों का निर्माण करना है। हमारे महान् देश का भविष्य हमारे हाथ में है।

निस्सन्देह मनुष्य में पशु-सामान्य आदिम मनोवृत्तियाँ जीवित हैं। उनके अस्तित्व को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। थोड़ी-सी भी उत्तेजना पाकर वे झनझना उठती हैं। साहित्यकार को इनकी उत्तेजना जगाने में विशेष परिश्रम नहीं करना पड़ता। अगर इन आदिम मनोवृत्तियों को ही उपजीव्य बनाकर मनुष्य अपना कारबार आरम्भ कर दे तो उसे बहुत आयास नहीं करना पड़ेगा। परन्तु संयम और निष्ठा, धैर्य और दृढचित्तता साधना से प्राप्त होती है। उनके लिए श्रम की जरूरत होती है। साहित्यकार से मेरा निवेदन है कि इन श्रमसाध्य गुणों को पाने के लिए समूची मनुष्यजाति को उद्बुद्ध करे। इस युग-सन्धिकाल में साहित्यकार को अविचलित चित्त से उन गुणों की महिमा समाज में प्रतिष्ठित करनी है जिन्हें मनुष्य ने शताब्दियों की साधना और तपस्या से पाया है। जिस स्वाधीनता के लिए हम दीर्घकाल से तड़प रहे थे, वह आ गयी है। साहित्यकार ने इसके आह्वान में पूरी शक्ति लगा दी थी। आज उसे अपने को महान् उत्तरदायित्व के योग्य सिद्ध करना है। मैं दृढ़ता के साथ कहना चाहता हूँ कि मनुष्य को अज्ञान, मोह, कुसंस्कार और परमुखापेक्षिता से बचाना ही साहित्य का वास्तविक लक्ष्य है। इससे छोटे लक्ष्य की बात मुझे अच्छी नहीं लगती।

केवल शिक्षित और पण्डित बना देने से यह काम नहीं हो सकता। वह शिक्षा किस काम की जो दूसरों के शोषण में, अपने स्वार्थ-साधन में ही अपनी चरम सार्थकता समझती हो। इसलिए जब हमारे सामने गम्भीर साहित्य लिखने का प्रयोजन आ उपस्थित हुआ है, मैं अपने सहकर्मियों से विनयपूर्वक अनुरोध कर रहा हूँ कि जो कुछ भी लिखो उसे अपने महान् उद्देश्य के अनुकूल बनाकर लिखो।

संसार के अन्यान्य राष्ट्रों ने अपने साहित्य को जिस दृष्टि से लिखा है उसकी प्रतिक्रिया और अनुकरण नहीं होना चाहिए। जिस प्रकार शिक्षा के क्षेत्र में मनुष्य ने संयोग का सहारा लिया है, उसी प्रकार साहित्य और शिक्षा के क्षेत्र मे भी अटकल का सहारा लिया है। उसका फल अच्छा नहीं हुआ है। हमें सौभाग्यवश नये सिरे से सब-कुछ करना है। इसीलिए हमारे पाठ्य ग्रन्थों और रसात्मक साहित्य की रचना किसी खण्ड सत्य के लिए नहीं होनी चाहिए। समूची मनुष्यता जिससे लाभान्वित हो, एक जाति दूसरी जाति से घृणा न करके प्रेम करे, एक समूह दूसरे समूह को दूर न रखकर पास लाने का प्रयत्न करे, कोई किसी का आश्रित न हो, कोई किसी का मोहताज न हो, कोई किसी से वंचित न हो, इस महान् उद्देश्य से ही हमारा साहित्य प्रणोदित होना चाहिए। संसार के कई देशों ने अपनी जातीय श्रेष्ठता प्रतिपादित करने के उद्देश्य से साहित्य लिखा है और कोमल बुद्धिवाले युवकों की बुद्धि विषाक्त बना दी है। इसका परिणाम संसार को भोगना पड़ रहा है। घृणा और द्वेष से जो बढ़ता है, वह शीघ्र पतन के गह्वर में गिर पड़ता है। यही प्रकृति का विधान है। लोभवश, मोहवश और क्रोधवश जो कर्त्तव्य निश्चित किया जायगा, वह हानिकारक होगा। बड़ी साधना और तपस्या के बाद मनुष्य ने इन आदिम मनोवृत्तियों पर विजय पायी है। वे वृत्तियाँ दबी हैं, किन्तु फिर भी वर्त्तमान हैं। उन पर आधारित प्रयत्न मनुष्यता के विरोधी है। प्रेम बड़ी वस्तु है और मनुष्य मात्र को मनुष्य बनानेवाला ज्ञान तो और बड़ी वस्तु है।

यहाँ पूछा जा सकता है कि इन बातों को बतलानेवाले ग्रन्थ यदि साहित्य हों तब तो यह जरूरी नहीं है कि वे रसपरक साहित्य ही हो, वे धर्म या विज्ञान की पुस्तकें भी हो सकती हैं और नीतिशास्त्र की भी हो सकती है! इसी प्रश्न के भय से मैंने शुरू मे ही आपसे कहा था कि मुझे केवल 'साहित्य' के बारे में अपनी धारणाओं को ही नहीं बताना चाहिए, बल्कि प्रयोजन के बारे में भी अपने विचार बता देने चाहिए, नहीं तो मेरा वक्तव्य अधूरा लगेगा।

साधारण तौर पर 'प्रयोजन' शब्द का प्रयोग बड़े स्थूल अर्थों मे होता है। मैंने कई बार लिखा है कि प्रयोजन जहाँ समाप्त होता है, वहीं कला शुरू होती है। घी का लड्डू टेढ़ा भी बुरा नहीं होता, फिर भी मनुष्य उसे सुन्दर बनाकर सजाता और सँवारता है। जहाँ तक स्वाद और भोग का प्रश्न है, घी का टेढा लड्डू भी काम चला देता है, पर मनुष्य की तृप्ति उतने से ही नहीं होती। समस्त इन्द्रिय और मन परितृप्त होने चाहिए और बुद्धि भी सन्तुष्ट होनी चाहिए, तब जाकर कोई वस्तु रुचिसंगत होती है। केवल स्थूल इन्द्रियवृत्ति को चरितार्थ करनेवाली वस्तुएँ भी मनुष्य के लिए आवश्यक हैं, मन और बुद्धि को परितोष देनेवाली बातें भी आवश्यक हैं, पर वह उतने से पूर्ण सन्तुष्ट नहीं होता। मनुष्य को ये सब चाहिए, परन्तु वास्तविक तृप्ति उसकी और भी कुछ चाहती है। उसे दूसरों के साथ एकात्मता की अनुभूति में वास्तविक आनन्द मिलता है। साहित्य यही काम करता है। जो वस्तु मनुष्य के हृदय को इतना संवेदनशील और सहानुभूतिशील बना दे कि एक व्यक्ति

दूसरे के सुख-दुख में सुखी-दुखी बन सके और दूसरे के मनोभावों को समझने का प्रयत्न करे, वह बड़ी चीज है। वही जब शब्द और अर्थ को आश्रय करके उन्ही के माध्यम से प्रकट होती है तो साहित्य कही जाती है। इसीलिए साहित्य का प्रयोजन मनुष्य को संकीर्णता और मोह से उठाकर उदार, विवेकी और सहानुभूतिपूर्ण बनाता है। यह प्रचलित अर्थ में प्रयोजन नही है, क्योकि स्थूल लाभ-हानि का इससे कोई सम्बन्ध नहीं है। परन्तु वृहत्तर अर्थ मे यह भी है प्रयोजन ही।

इसीलिए साहित्य का लक्ष्य मनुष्यता ही है। जिस पुस्तक से यह उद्देश्य सिद्ध नही होता; जिससे मनुष्य का अज्ञान, कुसंस्कार और अविवेक दूर नही होता; जिससे मनुष्य शोषण और अत्याचार के विरुद्ध सिर उठाकर खड़ा नही हो जाता; जिससे वह छीना-झपटी, स्वार्थपरता और हिंसा के दलदल से उबर नही पाता, वह पुस्तक किसी काम की नही है। किसी जमाने में वाग्विलास को भी साहित्य कहा जाता रहा होगा, किन्तु इस युग मे साहित्य वही कहा जा सकता है जिससे मनुष्य का सर्वांगीण विकास हो।

[आकाशवाणी के सौजन्य से विचार और वितर्क मे संगृहीत]

साहित्य का नया कदम
(एक काल्पनिक वार्त्तालाप)

स्थान—पुस्तकालय के अध्यक्ष का कमरा।

उपस्थित सज्जन—

पण्डितजी—पुस्तकालय के अध्यक्ष।

रत्नाकरदास—वृद्ध साहित्यिक।

वलराज—नवीन साहित्यिक।

मोहनलाल—नवीन साहित्यिक।

रत्नाकरजी—मोहनलाल, तुम कल साहित्य के नये अंग के बारे में कुछ कहने जा रहे थे। मैं आज तुम लोगों की बात सुनना चाहता हूँ। मैंने और शर्माजी ने कल तुम्हे बहुत-सी पुरानी बातें सुनायी हैं, पर सच पूछो तो मैं भी भीतर-भीतर अनुभव करने लगा हूँ कि पुरानी ही बातें सब-कुछ नही है और तुम लोगों से सुनने योग्य बहुत-सी बातें सुनी जा सकती है।

वलराज—कल आपने जो बातें बतायी थी, उन्हें मैंने बड़े ध्यान से सुना।

पर मुझे ऐसा लग रहा था कि वे किसी ऐसे स्वप्नलोक की बातें है जो केवल अभिभूत करती हैं, आंखों पर एक नशे का आवरण डाल देती हैं और चित्त को इस प्रकार मत्त बना देती है कि आदमी जीवन की वास्तविकताओं के प्रति बेखबर हो जाता है। मैं फिर एक बार कहना चाहता हूँ कि इस यन्त्र-युग मे सामन्त-युगीन नायिकाओं की सिंगार-पटार की बात बिल्कुल बेतुकी लगती है। मशीनों ने आदमियों की परिस्थितियो को ही नहीं बदला है, आदमी को भी बदल डाला है।

रत्नाकरजी—मशीनें आदमी की परिस्थिति को बदल दें, यह बात तो कुछ समझ में आ जाती है। पर आदमी कैसे बदल गया है बलराज? साहित्य उन मूल मनोवृत्तियों पर आधारित है जिनमें कभी परिवर्त्तन नही होता। तुम क्या कहना चाहते हो कि मूल मनोवृत्तियाँ भी अस्थायी है?

बलराज—जी, मैं कहना तो कुछ ऐसी बात चाहता हूँ।

रत्नाकरजी—(कुछ सोच मे पड़कर) बलराज की सभी बातें झकझोर देनेवाली होती हैं। क्यों मोहनलाल, तुम कुछ कहना चाहते हो? बोलो, मैं आज सुनना ही चाहता हूँ। मुझसे अधिक धैर्यपूर्वक सुननेवाला बूढा तुम्हें नही मिलेगा।

मोहनलाल—जैसी आज्ञा। मैं कल जिस साहित्य के नये अंग की बात कह रहा था वह नयी परिस्थिति की उपज है। छापे की मशीन का आविष्कार यद्यपि पन्द्रहवी शताब्दी में ही हो गया था, तथापि वह साहित्य पर अपना सम्पूर्ण प्रभाव तब तक नही विस्तारित कर सकी जब तक भाप की मशीनों और तार का संयोग उससे नहीं हुआ। रेल और जहाज ने एक स्थान से दूसरे स्थान पर कागज आदि उपकरण पहुँचाना शुरू किया और टेलीग्राफ ने खबरें मँगाना सुलभ कर दिया। और इस प्रकार उस नये साहित्य का जन्म हुआ जिसे पत्रकार-कला कहा जाने लगा है। यूरोप में अठारहवी सदी के अन्त तक यह कला पैर नहीं जमा सकी थी। उन्नीसवी शताब्दी में इसने निश्चित रूप से साहित्य को प्रभावित करना शुरू किया और वर्त्तमान शताब्दी में यह साहित्य का एक अनिवार्य वाहन हो गयी है। एक पण्डित ने इस नये साहित्यांग की महिमा का अन्दाजा लगाने के लिए हिसाब लगाकर बताया है कि सुकरात को गत ढाई हजार वर्षों में जितने पाठक मिले होंगे, उतने बर्नार्ड शॉ को एक दिन में मिल जाते है। यह तो नही कहा जा सकता कि पाठकों के अधिक मिलने से किसी लेखक का महत्त्व बढ़ ही जाता है, पर यह निश्चित है कि किसी विचारक की सोची हुई किसी बात को सूक्ष्म भाव से आलोचित और गृहीत होने के लिए यह जरूरी है कि अधिक-से-अधिक आदमी उस विचार को सुनें। इस दृष्टि से शॉ साहब निश्चय ही सुकरात से अधिक भाग्यवान है। पर अगर पत्रकारों के साहित्य पर गौर करके देखा जाय तो मानना पड़ेगा कि यह साहित्य जल्दी लिखने, जल्दी पढने और जल्दी ही भूलने की उत्तेजना देता है। इस प्रकार वह एक तरफ जहाँ किसी लेखक को बहुत अधिक प्रचारित करता है, वहाँ उसके विचारों को गम्भीरतापूर्वक विचार करने में विघ्न भी उपस्थित करता है। नित्य हजारों किस्म की इतनी ऊल-जलूल बातें छपती

कि उसमें अच्छी चीज का खो जाना ही ज्यादा स्वाभाविक जान पड़ता है। एक अमेरिकन लेखक ने उत्तम पुस्तकों के लिए कहा है कि ये पुस्तकें नित्य छपनेवाले अक्षरों के महासमुद्र में छोटे-छोटे द्वीपों के समान हैं जो कदाचित् ही मिलती हैं।

बलराज—जिज्ञासा-वृत्ति को उत्तेजित करना ही बड़ी बात है, पाठ्य सामग्री की स्थायिता या अस्थायिता नहीं। पत्रकार-कला ने अपना काम ठीक ही किया है। स्थायी पाठ्य-सामग्री का निर्माण साहित्य के अन्य अंगों का काम है। आप दोनों को मानते क्यों हैं ?

मोहनलाल—जी, यह ठीक है कि पत्रों ने पाठकों की वृद्धि की है और पाठकों में साहित्य की माँग बढ़ती गयी है। छापे की मशीन के आविष्कार के साथ-ही-साथ अगर स्टेट की ओर से या समाज की ओर से इस प्रकार का प्रतिबन्ध लगा दिया जाता कि केवल अर्वाचीन और प्राचीन उत्तम पुस्तकें ही लाखों की संख्या में छापी जायेंगी तो क्या अवस्था होती, यह नहीं कहा जा सकता। कुछ विचारकों का दावा है कि ऐसी हालत में हमारी वर्त्तमान पीढ़ी जिस विचार-शैथिल्य और छिछलेपन का शिकार हो रही है, वह नहीं दीखता। पर शायद उस हालत में स्वाधीनता के विचार नहीं फैलते। जो नहीं हुआ उसके लिए चिन्ता करने से कोई फायदा नहीं। सम्प्रति यह सत्य है कि छापे की मशीन ने लेखों की माँग बढ़ायी है और ऐसे बहुतेरे लेखक, जो वस्तुतः प्रतिभाशाली नहीं हैं, साहित्य-क्षेत्र में आये हैं और नित्य नयी साहित्यिक चिन्ता को देने में असमर्थ होकर—और जल्दी के कारण संसार के विचारकों की बातों को केवल सुनकर और उन पर ठीक-ठीक विचार न कर सकने के कारण—बहुत-सी ऐसी बातें लिखते रहे हैं जो गलतफहमी का प्रचार करती रही हैं। ऐसे हजारों लेखकों को पत्रकार-कला ने उत्पन्न और प्रसिद्ध किया है। अपनी ऊट-पटाँग बातों का समर्थन करने के लिए ये लेखक गत शताब्दी के सामाजिक नारे, वैयक्तिक स्वाधीनता की दुहाई देते रहे हैं। इस प्रकार साहित्य में असंयत रचनाओं का बहुत अधिक प्रचार हुआ है। प्रत्येक प्रचार ने नये प्रचार को जन्म दिया है। वैयक्तिक स्वाधीनता का सिद्धान्त साहित्य में अबाध भाव से प्रवेश कर गया है। समाज में उसे बाधा का सामना करना पड़ा है। वह बाधा समाज की ओर से भी रही है और प्रकृति की ओर से भी, पर साहित्य में उसे खुलकर खेलने का मौका मिला है। इसकी चरम परिणति संसार में बढ़ते हुए घासलेटी साहित्य के रूप में हुई है। आचार-निष्ठ लोग इस मनोवृत्ति की निन्दा करते ही रहे हैं और यह बढ़ती ही गयी है।

बलराज—जो प्रवृत्ति इतना अंकुश रखने पर भी बढ़ती गयी है, उसकी जड़ें बहुत गहरी गयी होंगी। आचार-निष्ठ व्यक्तियों के निन्दा करने से वह खोटी नहीं हो जायगी। जो है, वही सत्य है।

मोहनलाल—समाज में निश्चय ही मनुष्य को दो प्रकार के कर्त्तव्य पालन करने पड़ते हैं। अपनी रुचि-अरुचि और राग-विराग के मामले में वह स्वाधीन है। परन्तु इस रुचि-अरुचि का परिणाम अगर ऐसा हो जो समाज के अन्य अंग को

क्षति पहुँचाता हो तो वहाँ वह पराधीन है। इन दोनों वृत्तियों की चरम सीमा का नाम क्रमशः व्यक्तिवाद और समाजवाद है। व्यक्तिवाद ने समाचारपत्रों का आश्रय ग्रहण करके साहित्य में कुछ दिनों तक अखण्ड राज्य किया है, क्योंकि इस क्षेत्र में वह बाधाहीन-सा था। हाल में ही इसकी प्रतिक्रिया शुरू हुई है। राज्य की ओर से पत्रों पर प्रतिबन्ध तो पुरानी बात है, पर समाज की ओर से अभी कोई प्रतिबन्ध नही लगाया गया। पर हवा का रुख जिस ओर है उससे सहज ही अनुमान किया जा सकता है कि साहित्य के इस निरंकुश बच्चे का नियमन समाज को अपने हाथ में लेना होगा। आदर्शवादी पत्र एक प्रकार से समाज के अंकुश ही कहे जा सकते हैं। और मैं बलराजजी के इस मत का प्रतिवाद करना चाहता हूँ कि जो कुछ है अर्थात् जो कुछ ऊपर-ऊपर से दिखायी देता है, वही सत्य है। पुराने दार्शनिक पण्डित कहा करते थे कि प्रत्यक्ष कोई प्रमाण नहीं है, अनुमान प्रत्यक्ष से भी गहरा प्रमाण है। मैं कहता हूँ, यह भी ऊपर-ही-ऊपर की बात है। जिस प्रकार विकल इन्द्रिय द्वारा देखना ठीक देखना नही है उसी प्रकार तामस चित्त का अनुमान गलत और सदोष है। बुद्धि भी बाहरी करण ही है यद्यपि अन्यान्य इन्द्रियों की अपेक्षा वह अधिक भीतरी है। इन सबसे अतीत है आत्मा—

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धियो बुद्धेः परतस्तु सः॥

आत्मानुभूति ही सच्ची अनुभूति है। आचारनिष्ठ कहे जानेवाले लोगों में से अधिकांश जब इस गर्हित नीति का या उस अनुचित परिपाटी का विरोध करते हैं तो मन और बुद्धि का आश्रय लेते हैं। वे भी सतह के सदाचार को ही प्रधानता देते हैं। सचाई और भी गहरे में होती है। मशीन ने जिस साहित्य के अंग का अधिक प्रचार किया है उसने हमारे बाह्य करणों को ही उत्तेजना दी है। हमने सस्ती युक्तियों का आश्रय लिया है, सतह पर के सदाचार और दुराचार को ही बड़ी बात समझना शुरू किया है। यह गलत रास्ता है।

बलराज—बिल्कुल उलटी बात कह रहे हैं आप। आत्मा यदि सचमुच ही कुछ है तो वह बाह्य करणों का ही विकास है। विकास-परम्परा को एक बार ध्यान से देख जाइए तो आपको मालूम होगा कि इन्द्रियाँ बहुत बाद के विकास हैं; मन और भी बाद का और बुद्धि उसके भी बाद। आत्मा नामक कोई पदार्थ यदि सचमुच ही हो तो यह बहुत हाल का विकास है। ये जितने भी सूक्ष्म हों, हैं स्थूल पर आधारित। मौलिक सत्ता स्थूल जड़ देह है; इन्द्रिय, मन, बुद्धि और आत्मा उसके विकार हैं। स्थूल देह के आकर्षण-विकर्षण को ही जटिल रूप में आप शास्त्रों, दर्शनों और योग-क्रियाओं में पाते हैं। आत्मा ही असल में ऊपरी सतह है।

रत्नाकरजी—तो तुम, बलराज, मनुष्य की उच्चतर वृत्तियों में विश्वास नहीं रखते?

बलराज—क्यों नही रखता हूँ? मनुष्य की सर्वोच्च वृत्ति यही है कि वह मनुष्य है—हाड़-चाम का मनुष्य!

पण्डितजी--मनुष्य की सर्वोच्च वृत्ति यही है कि वह मनुष्य है—हाड़-चाम का पशु नहो !

[पण्डित कमलेश शर्मा (प्राचीन साहित्यिक) और पण्डित विहारीलालजी (पुराने समालोचक) तथा श्री विमल तिवारी का प्रवेश]

कमलेशजी—वाह, सभा तो खूब जमी है ! हाथ में कौन-सी पुस्तक है बलराज ? मार्क्स की कोई नयी पुस्तक निकली है क्या ? (हँसते है)

बलराज—[प्रमाण करके] नहो पण्डितजी, 'मतिराम-ग्रन्थावली' है !

कमलेशजी—'मतिराम ग्रन्थावली' ! क्या हो गया तुम्हें बलराज, छिः-छिः, यह भी कोई पढ़ने लायक पुस्तक है ? अरे कोई प्रगतिवादी रचना लेते, खास रूस में रची हुई !

बिहारीलालजी—आप तो पण्डितजी, सब समय कटाक्ष ही करते रहते हैं। लड़के ने पुस्तक ली तो मजाक की क्या जरूरत है ? क्यों बलराज, तुम्हें ये पुस्तकें कुछ अच्छी लगने लगी है ? इनका भी अपना रस है। पढोगे तो नितान्त वंचित नहीं रहोगे। कुछ-न-कुछ अवश्य प्राप्त होगा। बुरा क्या है !

बलराज—जी, बुरा तो मैं कभी नही कहता। मगर इन पुस्तकों को दो पेज से आगे कभी पढ ही नही पाता। पन्ना खोलते ही इसमें बड़े भोंड़े किस्म की एरिस्टोक्रेसी (रईसी) की बू आने लगती है। नायिकाएँ है कि सिंगार-पटार मे उलझी ही रहती हैं, वियोगिनियाँ है कि उसांसें लेती ही रहती हैं, नायक हैं कि प्रियाओं की मिजाजपुर्सी के मारे दम ही नही ले पाते। इसे आप कविता कहते हैं ? जीवन से विच्छिन्न, वास्तविकता से दूर, पैरासाइट (परोपजीवी) लोगों की खुशामद से भरपूर ! एरिस्टोक्रेसी का इतना भद्दा रूप शायद ही कहीं देखने को मिले।

मोहनलाल—(धीरे से) एरिस्टोक्रेसी की मुहर लगा देने से ही कोई चीज क्यों खराब हो जायगी ?

रत्नाकरजी—हो सकती है, अगर शब्द का प्रयोग बेसमझे-बूझे किया जाय। एरिस्टोक्रेसी का अर्थ क्या है—पैसा ? बिलकुल नहीं। गंगा पंसारी इस कसबे में सबसे अधिक पैसोंवाला आदमी है; पर वह क्या रईस है ? नही। क्योंकि रईसी उसके रक्त में नहीं है। एरिस्टोक्रेसी का सम्बन्ध रक्त से है। भद्दा नाम क्यों देते हो ? अपना देशी नाम देकर देखो तो इस चीज की महिमा साफ समझ मे आ जायगी। यह शब्द है कौलीन्य। शरीर, मन और आत्मा तीनों की कुलीनता से रईसी आती है। यह एक दिन मे पैदा नहीं होती। इसे भी कल्चर करना पड़ता है। कई पुश्तों की साधना से यह चीज बनती है। तुम भारतेन्दु हरिश्चन्द्र जैसे सहृदय की कल्पना भी एक दरिद्र किसान के घर में कर सकते हो ? हरिश्चन्द्र कुलीनता की देन थे, रईसी से उपजे थे। रवीन्द्रनाथ क्या एरिस्टोक्रेट नहीं हैं ? इतिहास देखो। बड़े-बड़े सभी आन्दोलन रईसों ने शुरू किये हैं। चाहे वे जनक हों, बुद्ध हों या गांधी हों।

बलराज—आप बुजुर्ग हैं। बुरा न मानें तो आपकी पीढ़ी के सभी लोगों मे यह एक बडा भारी दोष था कि वे समाज के कुछ गिने-चुने व्यक्तियों का नाम लेकर उस पर से सामान्य नियम निकाला करते हैं। यह एकदम अवैज्ञानिक बात है। जो आर्थिक व्यवस्था आज तक चली आ रही है, उसमें यही सम्भव था। आप जिस चीज को प्रतिभा या कला या सहृदयता नाम दे रहे हैं, वह सब आपकी रईस-प्रधान समाज-व्यवस्था की कल्पना है। आपने पहले तो एक ऐसी परिभाषा बनायी, जो आपके संस्कारों के अनुकूल है; फिर, बाद में ऐसे व्यक्ति ढूंढे, जो उस परिभाषा के उदाहरण के लिए पूरे उतरते हैं। असल में व्यक्ति को आप लोगों ने जो प्राधान्य दिया है, वह आवश्यकता से बहुत अधिक है। आखिर, व्यक्ति परिस्थितियों से ही तो बनते हैं। सत्रहवीं शताब्दी मे कोई गांधी क्यों नही हो गया? और, बीसवी शताब्दी का बन्दा बैरागी कै दिन अपनी शूरता दिखा सकता है?

कमलेशजी—कुछ फिक्र मत करो, बेटा! तुम्हारे लड़के भी तुम्हें ललकार कर कहेंगे कि आप लोगों की पीढी मे यह एक बड़ा भारी दोष था कि सभी बहकी-बहकी बातें किया करते थे। कोई ऐसी चीज जिसे छुआ जा सके, देखा जा सके, समझा जा सके, उनके दिमाग से निकली ही नहीं।

मोहनलाल—तब की बात तब देखी जायगी। अभी तो आप बलराजजी की बातों का कोई ठोस जवाब नही दे रहे हैं।

कमलेशजी—देता हूँ, घबराओ मत; हमारी पीढ़ी व्यक्ति पर विश्वास करती थी। व्यक्ति के बिना तुम किसी जाति के इतिहास की कल्पना कर सकते हो? तुम क्या हिन्दुओं के एक ऐसे इतिहास की बात सोच सकते हो, जिसमें कालिदास और भवभूति न हों, तुलसीदास और बिहारी न हो, हर्ष और राणा प्रताप न हों? तुम परिस्थितियों की बात कर रहे थे। शिवाजी के अनुकूल कौन-सी ऐसी परिस्थितियाँ थीं जो शिवाजी को पैदा कर सकी? इतिहास साक्षी है कि दरिद्रता, हीनता और बन्धनों मे ऐसे महापुरुष पैदा होते हैं, जो जबरदस्त-से-जबरदस्त सत्ताधारियों की कीर्त्ति छीन लेते है। जो काम बड़े-बड़े सम्राट् अक्षरबहुल कवित्त-जैसी वाहिनियों से नही कर पाते, वह वे दोहे की दुनाली से कर डालते है। व्यक्तियों ने इतिहास बनाये हैं, व्यक्तियों के कारण मरी हुई जातियों में जान आयी है, व्यक्तियों के कारण ही जीती हुई जातियाँ नष्ट हो गयी है। सही बात तो यह है कि व्यक्तियों के बिना जाति का कोई अर्थ ही नही होता। आज जो बड़े-बड़े आविष्कार हुए हैं, वे किनके किये? निश्चय ही कुछ थोड़े-से लोकोत्तर प्रतिभाशाली व्यक्तियों के कारण। तुम नही मानते?

मोहनलाल—आप, शायद आविष्कारों के द्वारा जो प्रगति हुई है, उसकी ओर इशारा करना चाहते हैं?

कमलेशजी—हाँ, और प्रत्येक आविष्कार के पीछे एक व्यक्ति है, जिसको परिस्थितियों ने कभी-कभी एकदम सहायता नही पहुँचायी है, उलटे बाधा पहुँचायी है।

बलराज—व्यक्ति की बात आप व्यर्थ ही जोड़ रहे हैं। आविष्कारों की बात ठीक है। प्रत्येक आविष्कार के पीछे कोई-न-कोई आर्थिक कारण रहा है। मनुष्य को जीवन की लड़ाई में जब बाधा प्राप्त हुई है, तो उसने उसका प्रतिकार किया है। चूहे भी लोकोत्तर चमत्कारी आविष्कार किया करते हैं। मनोविज्ञान की प्रयोगशाला में ऐसे आविष्कारों के अनेक रेकर्ड हैं; आप विश्वास मानें, जब चूहा अन्धकार में बिजली के धक्के से बचकर निकलने का मार्ग ढूंढ़ता है, तो चूहों की दुनिया में वह न्यूटन और कोपरनिकस के स्थान का ही अधिकारी होता है। जो आर्थिक व्यवस्था चल पड़ी है, उसमे मे बहुत कम लोग आविष्कार करने की योग्यता-वाले निकल पाते हैं। अधिकांश लोग इसी योग्य होते हैं कि मजूरी करते रहें और पेट भरते रहें। मैं दो सौ आविष्कारकों के नाम आपको बता सकता हूँ, जो और परिस्थिति में होते तो भाड़ झोंकते होते। प्रतिभा तो बहुत बिखरी हुई है, पर सुयोग कहाँ है?

बिहारीलालजी—भई, व्यक्ति की प्रधानता तो मुझे भी स्वीकार है। मैंने इतिहास पढे है और लिखे भी हैं। मेरी अपनी राय यह है कि प्रतिभा नाम की एक शाश्वत वस्तु है, जो कभी इस व्यक्ति में और कभी उस व्यक्ति में प्रकट होती है। शेक्सपीयर और देव दो बिल्कुल भिन्न परिस्थितियों में पैदा हुए थे; पर प्रतिभा का विकास दोनो मे समान भाव से हुआ।

कमलेशजी—(गुनगुनाकर) 'काह कहौं तुम्हें गंग की गैल में गीत मदारिन के लगे गावन।'

रत्नाकरजी—प्रत्येक आविष्कार के पीछे आर्थिक कारण हुआ करता है। क्यों बलराज, तुम यही कह रहे थे न? मैं तुम्हारी बात समझने की कोशिश कर रहा हूँ। संगीत के विषय मे तुम्हारी क्या राय है? बैजू बावरा ने या तानसेन ने जिन नये सुरों का आविष्कार किया था, उनके पीछे भी पेट की चिन्ता थी? और कविता? तुलसीदास ने रुपये के लिए कविता लिखी?

बलराज—जी हाँ, मैं कहता यह था कि आदमी ने जो कुछ भी आविष्कार किया है वह पेट के लिए, पर मेरी बात स्पष्ट रूप से समझने के लिए एकाध घण्टे की बात पर्याप्त नही है। मुझे भय हो रहा है कि आपकी पीढी के लोग उसका मजाक उड़ायेंगे।

कमलेशजी—तुम समझते हो कि ज्ञान का ठेका तुम्ही लोगों ने ले रखा है:

मगर एक इल्तज़ा इन नौजवानो से मैं करता हूँ।
खुदा के वास्ते अपने बुजुर्गो का अदब सीखें॥

पण्डितजी—बलराज, तुम अपनी बात साफ-साफ क्यों नही कहते? आखिर इन वृद्ध आचार्यो को विचार करने का मौका भी तो दो!

कमलेशजी—तो जनाबेमन, आप ही क्यों नही समझा देते? बूढ़ों को कुछ अक्ल तो हो जाय!

रत्नाकरजी—हाँ पण्डितजी, तुम्ही कहो; मैं मजाक के मूड में नहीं हूँ।

पण्डितजी--मैं नही जानता कि बलराज इसका क्या उत्तर देंगे; पर जो लोग उनकी तरह युक्ति पेश करते हैं, वे जो कुछ कहते है उसे मैं बता सकता हूँ। आपको किसी वस्तु के वास्तविक कारण को समझना हो तो आज की जटिल समाज-व्यवस्था के उपयुक्त उदाहरण व्यक्ति नही होंगे। आप आदिम युग के मनुष्यों के समाज की कल्पना करें। संगीत क्या है? मन का विश्राम! खेतों मे दिन-भर काम करते-करते थकी हुई मजदूरिनें गाती हुई घर जाती है, गाती हुई खेतों में काम करती हैं। गाना उनका उद्देश्य नही होता, उद्देश्य आर्थिक है। गाना अपने-आप उनको आराम पहुँचाने के लिए—आर्थिक उद्देश्य की पूर्ति की सहायता के लिए—बन जाता है। वह कोलतार और साबुन की भाँति फोकट की पैदावार है—बाई प्रोडक्ट है—और चीजों को बनाते-बनाते अपने-आप बन गयी हुई चीज है। इसीलिए इसके पीछे भी आर्थिक कारण नही है—ऐसा तो नही कह सकते। क्यों बलराज?

बलराज—बिल्कुल ठीक कहते हैं आप; जिसको आप आविष्कार कहते है, वह कोई एक दिन मे निकली हुई चीज नही होती। सदियों से उसकी तैयारी होती रहती है। उस सिलसिले की अन्तिम परिणति को आप आविष्कार कहते हैं। यह आविष्कार स्वयं अन्य आविष्कार का कारण होता है। अगर किसी भी आविष्कार की आप छानबीन करें, तो आपको पता चलेगा कि सदियों से पेट की मार के कारण आदमी उस बात को खोज निकालने के लिए सिर मार रहा था।

रत्नाकरजी--शाबाश बेटा, मैं तुम्हारी बात समझ रहा हूँ। तुमने पते की बात कही है। ज़रा-सी गलती तुमसे हो गयी है। तुम जिसे पेट की मार कहते हो, आर्थिक आवश्यकता कहते हो, उसे मैं जीवन की आवश्यकता कहना चाहता हूँ। आर्थिक आवश्यकता उसका एक हिस्सा है। बहुत-से आविष्कार और बहुत-सा इतिहास प्रेम के कारण हुआ है। तुम नही मानते?

बलराज—आप 'मतिराम-ग्रन्थावली' जैसे आविष्कारों की बात कहते होंगे?

रत्नाकरजी--अबकी बार तुम्हारा पलड़ा हल्का होता जा रहा है। गम्भीर प्रसंग में मजाक छेड़ना हारने का लक्षण है। हाँ, मैं 'मतिराम-ग्रन्थावली' जैसे आविष्कारो की भी बात कह रहा हूँ। तुम शायद उस बात को आविष्कार नहीं मानना चाहते जिसमें यान्त्रिक होशियारी न हो। परन्तु याद रखो कि यन्त्रगत दक्षता मनुष्य नही बनाती। एक बन्दर अगर साइकिल पर चढ़ने लगे और सिगरेट पीने लगे तो भी वह बन्दर ही रहेगा। मैं यान्त्रिक आविष्कार को खोटा नही कहता; पर वही एकमात्र सत्य नही है। दुनिया मे उससे बड़ी-बड़ी बातें भी हैं। आज जिसके पास अधिक-से-अधिक भयंकर वैज्ञानिक उपज है, वही सभ्य कहला रहा है, चाहे उसमे पशुता अपनी चरम सीमा को पहुँच चुकी हो। यही वर्त्तमान युग का सबसे बड़ा अभिशाप है। वह वस्तु जो हृदय को मुलायम बनाती है, जो पर-दुःख की संवेदना देती है, तुम्हारी सभ्यता में बहुत नगण्य मानी जाती है। काव्य

ऐसी ही वस्तु है। वह एरिस्टोक्रेसी या ऑटोक्रेसी की खुशामद नही करती। वह मनुष्य के हृदय को कोमल बनाती है, उसे दूसरों की पीड़ा के प्रति सहानुभूतिशील बनाती है। तुम्हारी यान्त्रिक सभ्यता दानवी मशीन की ताकत रखती है और संसार को मशीन से अधिक नही समझने देती। 'मतिराम ग्रन्थावली' उसकी शाश्वत प्रतिद्वन्द्विनी है। वह मृदु और दृढ़ कण्ठ से कह रही है कि यान्त्रिकता का दर्प बहुत दिन तक नही टिकेगा, मैं अभी जीवित हूँ।

मोहनलाल—हम मूल प्रश्न से दूर हो गये। बलराजजी का प्रश्न जहाँ-का-तहाँ है।

रत्नाकरजी—मुझे याद है, मैं उसी प्रश्न पर आ रहा हूँ। शर्माजी ने व्यक्ति की महिमा बतायी थी और बलराज ने कहा था कि व्यक्ति परिस्थितियों की उपज है। मैं दोनों को मानता हूँ, इसीलिए मेरी बात तीसरी हो जाती है। मैं मानता हूँ कि व्यक्ति ही देश का नक्शा बदल देते है, परन्तु ये व्यक्ति अपने-आप नही पैदा हो जाते। उनके लिए उपयुक्त परिस्थिति और उचित वातावरण की जरूरत होती है। व्यक्तियों को भी सुन्दर मूर्तियों की भाँति ढालना पड़ता है। संसार के अर्थ-शास्त्रियो से पूछो तो शायद वे बतायें कि अगर सब धन लोगों मे बराबर बाँट दिया जाय तो भी सब लोग औसत आराम के ढंग पर नही रह सकते। हजारो आदमियो को अधपेट भोजन देकर जिलाये रखने की अपेक्षा यह अच्छा है कि कुछ परिवारो को सदियो तक ऐसी सुविधाएँ दी जायें, जिससे ऐसे पुरुष उत्पन्न हो, जो ससार को ऊपर उठा सकें, जो सर्वसाधारण की सुख-सुविधा के उत्तम साधन ढूँढ़ निकालें। जंगली जातियाँ, जिनमे ऐसी रईसी नही उपजी, अब तक जहाँ-की-तहाँ पड़ी हुई है। साम्यवाद ने उनको असभ्य अवस्था में रहने को बाध्य किया है। दूसरी तरफ उन जातियो को देखो जो साम्राज्यवादी है, जो सामन्त-बहुल है, जो रईस की कदर करती है। इन्होंने ही संसार को वह सब-कुछ दिया है, जिसे तुम मनुष्यता कहते हो, कला कहते हो, काव्य कहते हो, दर्शन कहते हो। भारतवर्ष ऐसा ही देश है, ग्रीस और रोम ऐसे ही थे, इंगलैण्ड और फ्रांस का यही किस्सा है। क्यों मोहनलाल, हम प्रश्न से दूर तो नही जा रहे हैं न ? तुम्हारे अध-रोष्ठ फड़क रहे हैं। तुम कुछ कहना चाहते थे क्या ?

मोहन.—जी, मैं आपकी बात समझने की कोशिश कर रहा हूँ। आप वृद्ध लोगो के सामने हमारी क्या हस्ती है !

कमलेशजी—तुम शौक से अपनी बातें कहे जाओ बेटा ! नाराज होनेवाले खूँसट कही और होगे।

मोहन.—जी, रत्नाकरजी की बात दो कारणों से मेरी समझ मे नही आ रही है। एक तो अगर उनकी बात मान ली जाय तो यह समझ में नही आता कि किसी खास परिवार को सदियों तक सुविधा देने से अच्छे आदमी ही कैसे पैदा हो सकते हैं। बुरे भी तो हो सकते हैं और इतिहास में इस बात का सबूत है कि बुराइयाँ इस प्रथा से जितनी पैदा हुई है, उतनी भलाइयाँ नही। जिनको आपने अभी सद्गुण

के रूप मे गिनाया है, उनकी अगर तह खोल-खोलकर जाँच की जाय तो मेरी बात ज्यादा स्पष्ट हो जायगी। कविता की बात ही लीजिए और उसमे भी हमारी आलोच्य कविता रीति-काव्य की। परकीयाओं और सामान्याओं का जो यह निर्दोष कलापूर्ण चित्रण है, उसके मूल मे क्या है? रईसी की उच्छृंखल कामवासना। जिस समय रईसी अपने चढ़ाव पर नही आयी होगी, उस समय इस प्रकार की वासना निश्चय ही गर्हित मानी जाती रही होगी; पर रईसी ने जीवन मे उसका उपभोग ही नही किया, इस भयकर कुरीति को इस प्रकार विज्ञापित किया मानो यह एक गुण है। जनसाधारण विश्वास करने लगा कि रईस है, इसीलिए ऐसी सुन्दर कविता बन रही है। तो पहला कारण जो आपकी बात समझी जाने मे बाधक है, वह यह है कि आप पहले मान लेते है कि यह कविता अच्छी है, वह कला अच्छी है, साम्राज्य फैलाना अच्छा है, और तब आप इनके कारण-स्वरूप रईसी प्रथा का समर्थन करते है। रीतिकाव्य में जो कुछ भी अच्छा समझा जाता है, उसकी जाँच कीजिए, आपको फौरन पता चल जायगा कि शुरू-शुरू में वह किसी रईसी बुराई के रूप में थी। मुझे आप गलत न समझिएगा। मैं बुराई और भलाई के शब्दों का व्यवहार उनके रूढ़ि-समर्थक अर्थों में कर रहा हूँ। ऐसा करने से मेरा अभिप्राय यह है कि आपको विश्वास दिला सकूँ कि रईसी प्रथा ने जिनको बुराई समझा है, उन्हें भलाई के नाम पर उत्तेजन भी दिया है।

बलराज—आप अपना दूसरा कारण भी कह जाइए।

मोहनलाल—जी, दूसरा कारण ही अधिक महत्त्वपूर्ण है। आपने (रत्नाकरजी ने) जो बात बतायी वह वही चीज है जिसे किसी तथाकथित गांधीवादी ने अत्यन्त भद्दे तरीके पर 'आराम की सभ्यता' नाम दे दिया है। खैर, पुराने जमाने में क्या हुआ था, इसका तो मैं या आप केवल अनुमान ही कर सकते है, लेकिन हमारी आँखों के सामने जो कुछ घट रहा है, उसी पर से अन्दाजा लगाया जाय तो आपकी बातो में सान्त्वना पाने लायक कुछ नही रह जाता। मशीनें बनी थी तो बड़े-बड़े विचारकों ने उम्मीद बाँधी थी कि संसार का बहुत परित्राण हो जायगा। मशीनें कम समय मे अधिक माल तैयार करेंगी और इस प्रकार अधिकाधिक फुरसत मिलेगी और लोग ज्यादातर चिन्तन और मनन में समय व्यतीत करेंगे और ऐसी बहुत-सी समस्याएँ, जो अभी तक हल नही हो सकी है, चुटकी बजाते हल हो जायेंगी। पर हो क्या रहा है? मैं समझता हूँ, मशीनों ने हमारी तत्त्व-चिन्ता को बहुत पीछे ढकेल दिया है। कुछ थोड़े-से लोगों को इतनी अधिक सुविधा मिली है कि वे दिन-रात ऐसे महापापो की फिक्र मे व्यस्त रहते हैं, जिनसे जिन्दगी में कुछ लज्जत आ जाय। दूसरी तरफ मुक्खड मजदूरों और किसानों के कंकाल हैं, जो दिन-भर जान लड़ाकर भी पेट नहीं भर पाते। इस आराम और सुविधा ने वैयक्तिक अर्थ-नीति को इतना प्रबल बना दिया है कि विराट् जनसमूहों का भाग्य मुट्ठी-भर खाली दिमाग और भरी गाँठ के आदमियो के हाथ मे है। इससे शरीर, मन और आत्मा की कुलीनता तो सिद्ध हुई नही, इनकी कब्र जरूर तैयार हो रही है। मैं मानता हूँ

कि फ़ुरसत समस्त कला, विज्ञान और दर्शनों की जननी है, पर इस फ़ुरसत का अर्थ काम का अभाव नहीं है। आप जिन परोपजीवी पैरासाइटों की वकालत कर रहे हैं, उनके पास अभाव-रूप फ़ुरसत होती है। गुस्ताखी माफ हो तो आप इस प्रकार के लोगों का पक्ष लेकर काम की महिमा कम कर रहे हैं। परिश्रम अपने-आप में एक तपस्या है।

बलराज—वाह भाई, वाह, आपने बड़ी शानदार बात कही है, सुनकर तबीयत साफ हो गयी। इतना और जोड़ दीजिए कि इस अभाव-रूप फ़ुरसत के इर्द-गिर्द जो कला और दर्शन उत्पन्न होते हैं, वे भी अभाव-रूप होते हैं। धनिक तन्त्र आपकी ऐसी कला, ऐसी फिलासफी या ऐसी तर्क-प्रणाली को पनपने ही नहीं देगा, जो धनिक तन्त्र के विरुद्ध पड़े। उसने सत्-असत् की अपनी परिभाषाएँ बना रखी हैं, तुम अगर कविता लिखो तो उस परिभाषा के अनुसार ठीक उतरनी चाहिए, दर्शन लिखो तो उस अर्थचक्र के अनुकूल होना चाहिए। वस्तुतः रीतिकाव्य वही वस्तु है, जिसमें कवि स्वतन्त्र भाव से कुछ चिन्ता नहीं करता। उसे समाज की ओर से बनी-बनायी, गढ़ी-छिली शब्दावली मिल जाती है, परिभाषा प्राप्त हो जाती है और उसी पर से वह अपना छकड़ा हाँक देता है। यह गलत बात है कि रीति-काल सत्रहवीं शताब्दी से शुरू होता है। वह हमेशा रहता है, कभी दबकर, कभी जमकर। आजकल क्या वह कहीं चला गया है ? छायावादियों के अनन्त के पथ पर वह क्या जम नहीं गया है ?

पण्डितजी—मेरा ख्याल है बलराजजी, कि हमने मूल विषय को छोड़ अवान्तर बातों पर ही बहुत बहस की है।

कमलेशजी—जमाना ही लपक-झपक का है।

पण्डितजी—आप अगर रीतिकाव्य पर जानने योग्य प्रामाणिक पण्डितों के मत सुनना चाहते हैं, तो आज की इस बैठक में सौभाग्यवश उपस्थित पण्डितों की उपस्थिति का पूरा-पूरा फायदा उठाना चाहिए। रत्नाकरजी की बात भी हमने आधी ही सुनी है, समझी उसकी भी आधी है। उन्होंने शुरू में ही शरीर, मन और आत्मा के सुसंस्कृत होने की बात कही थी, वह हमने भुला दी है। उन्होंने संयम की बात उठायी थी, उसकी ओर हमने ध्यान ही नहीं दिया। पहले हमें मूल विषय को समझने का प्रयत्न करना चाहिए। फिर नये वृहत्तर जीवन की पट-भूमिका पर रखकर जाँच करने की हमें स्वाधीनता रहेगी। अब तक हमने आप लोगों की बात सुनकर जो कुछ समझा है, उससे इस विषय में तो सन्देह नहीं रह जाता कि रीतिकाव्य में रईसाना समाज की बू है। फिर यह भी निश्चित है कि व्यक्ति इस समाज में प्रधान वस्तु है, पर अगर 'मतिराम-ग्रन्थावली' को एक बार अत्यन्त ध्यानपूर्वक भी पढ जाइए तो यह पता नहीं लग सकेगा कि यह व्यक्ति मतिराम कौन है, उसने दुनिया को क्या देखा और कैसा देखा ? उसको कोई कायदा-कानून अच्छा-बुरा लगा भी या नहीं ? सब-कुछ एक टाइप की बात है। नायिकाओं के टाइप हैं, नायकों के टाइप हैं, आनन्द और हर्ष के टाइप हैं, कष्ट

और वियोग के भी टाइप हैं। बिहारी की अपेक्षा मतिराम ने व्यक्तिगत दृष्टि से क्या विशेष देखा था या कितना विशेष देखा था, इसका कोई जवाब साधारण पाठक नहीं खोज सकता। इन विद्वानों से हमें ऐसे ही विषयों की चर्चा चलानी चाहिए थी। फिर, हमें यह भी जानकारी प्राप्त करनी चाहिए कि इतिहास के विशाल पट पर इस जाति के काव्य का कोई महत्त्व है भी या नहीं। मुझे तो इस काव्य की नैतिकता, ईश्वर, धर्म, समाज सबके विषय में प्रश्न सूझ रहे हैं; पर मैं जानता हूँ कि प्रश्नों से समस्याओं की मूल भित्ति तक पहुँचने की जर्नलिस्टिक रीति सर्वत्र फलप्रसू नहीं भी होती। हमें प्रश्नों का तांता न बाँधकर कुछ खास विषयों पर इन पण्डितों की बातें सुननी चाहिए।

बलराज—अर्थात् आप बृहत्तर जीवन से काटकर इसे अलग रखकर डिसेक्ट (चीर-फाड़) करना चाहते हैं।

पण्डितजी—बिल्कुल नहीं, मैं किसी वस्तु को असीम काल-प्रवाह के भीतर से देखने का पक्षपाती हूँ। मैं मानता हूँ कि प्रत्येक घटना पूर्ववर्ती घटना का परिणाम है। वह अपने-आपमें बुरी भी नहीं है, भली भी नहीं है। अगर किसी भी घटना को—वह कितनी ही नगण्य क्यों न दिखायी देती हो—हम ठीक-ठीक समझ सकें, तो उसकी पूर्ववर्ती घटना को समझ सकते हैं और परवर्ती घटना का अनुमान कर सकते हैं। परवर्ती घटनाओं का अनुमान लगाते समय या पूर्ववर्ती घटना का स्वरूप-निर्णय करते समय हमें पार्श्ववर्ती अन्य घटनाओं का भी ध्यान रखना चाहिए। जितना ही हम इन पार्श्ववर्ती घटनाओं को ठीक-ठीक समझ सकेंगे, अभीष्ट निर्णय में हमें उतनी ही सफलता मिलेगी। मैं किसी वस्तु को अपने-आपमें स्वतन्त्र नहीं मानता—ईश्वर और आत्मा को भी नहीं। परन्तु मेरी पहली और अन्तिम शर्त यह है कि जिस वस्तु की जाँच करने के लिए हमने प्रयत्न शुरू किया है, उसका यथार्थ स्वरूप हमें मालूम हो जाना चाहिए। यह तभी हो सकता है, जब उस वस्तु के जितने सम्भव हों उतने अवयव अलग-अलग करके हम ब्यौरेवार उसकी पड़ताल कर लें। ऐसा करते समय आपाततः ऐसा लग सकता है कि हम उक्त वस्तु को स्वतन्त्र और अन्य-निरपेक्ष मानने की गलती कर रहे हैं, पर बात ऐसी नहीं है। बगीचे की सुगन्धित हवा की सुगन्धि का विश्लेषण करना और उसे समस्त वायु-मण्डल से विच्छिन्न समझना एक ही बात नहीं है।

बलराज—मैं आपकी बात समझ रहा हूँ। पर मुझे भय इस बात का है कि (गुरुजनों से मैं पहले ही क्षमा माँग लूँ) जो लोग व्यक्तिवादी होते हैं या स्वतन्त्र आत्मा के स्वतन्त्र कर्तृत्व में अतिरिक्त विश्वास-पोषण करते हैं, वे बिस्मिल्ला ही गलत बोल देते हैं। यह नहीं कि परवर्ती घटना को देखकर पूर्ववर्ती का स्वरूप-निर्णय करें, बल्कि यह कि न जाने कब की सड़ी-गली परिभाषाओं पर से परवर्ती घटना का स्वरूप-निर्णय करते हैं। यह बात अत्यन्त हास्यास्पद तब हो जाती है, जब इन वस्तुओं का स्वरूप इनके बाद बनी परिभाषाओं पर से निर्णीत करने का प्रयत्न किया जाता है। एक उदाहरण दूँ—बुद्धि रखनेवाले सभी जानते हैं कि

'साहित्य-दर्पण' मे महाकाव्य का जो लक्षण दिया हुआ है, जिसमें एक प्रख्यात वंश के कई वीर पुरुषों का काव्य का नायक हो सकना स्वीकार किया गया है, वह कालिदास के 'रघुवंश' को देखकर उद्भावित हुआ था। परन्तु, आजकल कई टीकाकारों ने 'रघुवंश' के काव्यत्व का प्रमाण उसी लक्षण-श्लोक को बताया है। यह कितनी बेतुकी बात है!

कमलेशजी—क्या कहना है!

बलराज—हाँ, और यह दूसरी बात भी हमें खटकती है। आप किसी चीज को महज विस्मयादिबोधक अव्ययों और वाक्यों के प्रयोग से बढ़ा या घटा देते हैं। शर्माजी इस प्रथा के जनक है। केवल यह कहकर कि 'कल्पना की कितनी ऊँची उडान है!' आप किसी वस्तु का स्वरूप नही निर्णय कर सकते। मैं तो कहता हूँ कि ऐसा करके आप उसे दुर्बोध्य बना देते हैं। मैं आप लोगों की उस आतंकवादिनी शैली को भी बहुत खतरनाक मानता हूँ, जो केवल पाठकों को आतंकित करके बुरी तरह रगड देती है। मैं यह नही जानना चाहता कि 'क' ने हावों की कैसी सुन्दर योजना की है या 'ख' ने बिब्बोकों का कैसा प्रदर्शन किया है, मैं हावों और बिब्बोकों को महत्त्व देनेवाली मनोवृत्ति का विश्लेषण चाहता हूँ।

पण्डितजी—आपने इन पण्डितों को ठीक नही समझा बलराजजी! किसी वस्तु के स्वरूप का निर्णय करना और उसे तीव्र भाव से अनुभव करना एक ही बात नही है। निर्णय के प्रसंग मे विस्मयादिबोधक अव्यय बाधक होते हैं, तीव्र भाव से अनुभव कराने के प्रसंग मे नही। शर्माजी ने निर्णय की ओर कम ध्यान दिया है, अनुभव कराने की ओर अधिक। उन्होंने मान लिया था कि जिस सुकुमारता को, जिस शालीनता को और जिस भंगिमा को वे अच्छी मानते हैं, उन्हें आप भी वैसा ही मानते है। पर, आज जब उन्हें हमने इस बात का अवसर दिया है कि वे उन बातों को हमे 'अच्छी' के रूप में समझा दें तो उतावलेपन की क्या जरूरत है! और, बात को भी आपने अतिरंजित रूप मे रखा है! क्या रूपहीन चिन्तनाओं को रूपहीन परिभाषाओं में कहना गलत ढंग है? वे जब हावों और बिब्बोकों का नाम लेते है तो इसलिए नही कि पाठक दबक जाय या आतंकित हो जाय, बल्कि इसलिए कि कम-से-कम शब्दों मे अधिक-से-अधिक बात कह सकें। बेशक आपको उन्ही के मुँह से उन हावो और बिब्बोकों के पीछे काम करनेवाली मनोवृत्ति की व्याख्या सुनने का हक है। मैं समझता हूँ, वे हमें निराश नही करेंगे।

श्रीमती तिवारी—मैं बड़े धैर्य से अब तक आप लोगों की बात सुनती रही; पर मुझे ऐसा लग रहा है कि आप लोगों ने वास्तविक बात को छुआ ही नही। रीतिकाव्य में स्त्री का इतना अधिक, इतना गलत और इतना वाहियात चित्रण है कि वह स्वयमेव अपना प्रतिवाद हो गया है। आपने सोचा ही नही कि जिस काव्य की चर्चा आप करते जा रहे है, वह वस्तुतः एक विराट् शून्य है, एक गन्दा जंजाल है, एक मिथ्या ढकोसला है।

रत्नाकरजी—आपने विषय को बिल्कुल दूसरे कोण पर से देखा है। वहाँ से

देखिए तो आपको स्त्री-चरित्र की अपेक्षा गीतिकाव्य का पुरुष-चरित्र अधिक हीन, अधिक असत्य और अधिक वाहियात दीखेगा। परन्तु, किसी वस्तु को किसी खास कोण से देखना, सही देखना नहीं है।

कमलेशजी – मगर श्रीमती तिवारी का दृष्टिकोण एकदम उड़ा देने की चीज नहीं है। उसकी भी क्यों न जाँच हो !

रत्नाकरजी—कोई हर्ज नहीं, मैं केवल उस दृष्टिकोण की बात कह रहा था। वस्तु की यथार्थता उसकी समग्रता में से प्रकट होती है, इस या उस पार्श्व की स्थिति पर से नहीं।

रत्नाकरदास—हाँ पण्डितजी, तुम साहित्य की बात कहते-कहते इतिहास की बात कहने लगे थे। तुम्हारी बात कुछ ठीक समझ मे नही आयी। क्या उसका मतलब मैं यह समझूँ कि साहित्य के इतिहास मे पुस्तको और पुस्तक-लेखको का कोई स्थान है ही नही ?

पण्डितजी—जी नही, मैं यह कह रहा था कि साहित्य का इतिहास ग्रन्थों और ग्रन्थकारों के उद्भव और विलय की कहानी नही है। वह काल-स्रोत मे बहे आते हुए जीवन्त समाज की विकास-कथा है। ग्रन्थकार और ग्रन्थ उस प्राणधारा की ओर सिर्फ इशारा ही करते हैं। वे ही मुख्य नहीं है। मुख्य है वह प्राणधारा जो नाना परिस्थितियों से गुजरती हुई आज हमारे भीतर अपने-आपको प्रकाशित कर रही है। साहित्य के इतिहास में हम अपने-आपको ही पढ़ने का सूत्र पाते है। जो प्राणधारा नाना देश-काल की विभिन्न परिस्थितियों से गुजरती हुई हमारे भीतर तक पहुँची है, वही किसी भी इतिहास का मुख्य लक्ष्य है। मैं उन समस्त पुस्तको का एक स्वर से प्रतिवाद करता हूँ जो इतिहास के नाम पर चला दी गयी है, पर इस प्राणधारा को प्रकट करने में असमर्थ हैं। व्यक्तियों का असम्बद्ध विवरण हमे बार-बार याद दिलाता है कि इस वृहत् मानव इतिहास में एक ही बात बार-बार घटित हुई है—मृत्यु ! जीवन का प्रवाह अव्यक्त तो उसमें दिखायी ही नही देता और यदि क्वचित्-कदाचित् दिख गया तो ऐसा लगता है कि बार-बार वह मरु-कान्तार में खो गया है। प्रत्येक बार उसे नये सिरे से यात्रा करनी पड़ी है। यह मनोवृत्ति ही गलत है। मैं इतिहास को जीवन का अनिरुद्ध स्रोत मानता हूँ और दृढ़ता के साथ कहना चाहता हूँ कि यही मानना सही मानना है।

बलराज—वाह पण्डितजी, आपने बड़ी शानदार बात कही है। सुनकर तबीयत साफ हो गयी। इतना और जोड़ दीजिए कि इतिहास कभी अपने-आपको दुहराया नहीं करता। अंग्रेजी की यह कहावत इस देश मे वेद-वाक्य की तरह मान ली गयी है कि इतिहास अपने-आपको दुहराया करता है। प्रतिक्षण परिस्थितियाँ बदल रही हैं, क्रिया और प्रतिक्रिया का रूप बदलता जा रहा है और प्रतिक्षण जीवन-धारा अपने-आपको नवीन रूप में प्रकाशित कर रही है। इसी नवीनता के अनिरुद्ध प्रवाह का नाम इतिहास है। इस दुनिया की सबसे अधिक शानदार बात यही है कि हम चल रहे हैं, स्थिर नहीं हैं। किसी जमाने मे शाश्वत और सनातन होना बड़ा भारी

गुण माना जाता था। वस्तुतः यह शाश्वत और सनातन, मनुष्य की एक अतृप्त वाञ्छा से उत्पन्न सुखद कल्पना है। सब मिलाकर इससे यही सिद्ध होता है कि मनुष्य जीवन को कितना प्यार करता है।

पण्डितजी—जरा रुको बलराजजी, तुमने बहुत-सी बातें एक मे सान दी हैं। मैं नवीनता और क्षणिकता को अलग-अलग वस्तु मानता हूँ। नवीनता जीवन का प्रतीक है, क्षणिकता मृत्यु का। मैं नित्य-नवीन होने को मानव-जीवन का मूल सूत्र मानता हूँ।

रत्नाकरजी—'अविचारित रमणीय' इसी को कहते है। अच्छा पण्डितजी, सचमुच ही क्या मृत्यु इतिहास का एक बड़ा सत्य नही है? मैं तो इतिहास की सुदीर्घ परम्परा पर एक दृष्टि डालता हूँ तो शुरू से आखिर तक उसमे मृत्यु की काली छाया दिखायी देती है। भारतवर्ष बहुत पुराना देश है—इतना पुराना कि ऐतिहासिकों के अटकल बार-बार धक्के खाकर पीछे की ओर ही भागते रहते हैं। और आज यह कह सकना बड़ा मुश्किल है कि उसके प्रागैतिहासिक काल की मर्यादा कहाँ रखी जाये! बड़ी-बड़ी सभ्यताएँ उसकी आसमुद्र-विस्तीर्ण भूमि पर उद्भूत और विलीन हो चुकी हैं, बड़े-बड़े धर्म और दर्शन प्रचलित और विस्मृत हो चुके हैं, बड़े-बड़े विजेता और लुटेरे इसको समान भाव से विध्वस्त कर चुके हैं। और सर्वत्र एक ही बात अत्यन्त स्पष्ट होकर प्रकट हुई है—मृत्यु! मोहनजोदड़ो की समृद्ध नागरिक सभ्यता इस प्रकार मरी जान पड़ती है जैसे उसके हृदय की गति एकाएक बन्द हो गयी हो। रोग नही, शोक नही और हठात् मृत्यु! महान् मौर्य सम्राटो के स्थापित स्मृति-चिह्नों को जैसे लकवा मार गया हो, ज्यो-के-त्यो खड़े है, पर जीवनी शक्ति से हीन, हिलने-डुलने में असमर्थ! मैं जब महरौली के लौह-स्तम्भ पर खुदी हुई चन्द्रगुप्त की कीर्ति-कथा को पढ़ता हूँ तो आश्चर्य से देखता ही रह जाता हूँ। कहाँ है वह विशाल भुजा जिस पर शत्रुओं के खड्ग से कीर्त्ति-कथा लिखी गयी थी, जो बग से लेकर वाह्लीक तक आतंकित किये हुए था और 'आज भी' जिसके पराक्रम की सुगन्धित हवा दक्षिणी समुद्र को सुवासित कर रही है! 'आज भी' मे कूटकाल की कुटिल हँसी मूर्तिमान हो गयी है—अहा! 'यस्याद्याप्यधिवास्यते जलनिधिर्वीर्यानिलैर्दक्षिणः'!! और फिर भी तुम कहते हो—मृत्यु इतिहास का सत्य नही है! मिस्र के ऊँचे-ऊँचे पिरामिडों की बात सोचता हूँ तो हैरान हो रहता हूँ। किसी युग मे वह मानव-वीर्य का अप्रतिद्वन्द्वी प्रदर्शन था, पर आज अगर अमेरिकन सोना साल-दो-साल के लिए भी वहाँ जाना बन्द हो जाय तो विश्वास मानो कि रेगिस्तानी आँधी उसके ऊँचे-से-ऊँचे शिखर को हमेशा [illegible] लिए बालू से ढँक दे और फिर भी तुम कहते हो कि [illegible]! तुम उसे काला धब्बा कह लो, पर है वह [illegible]

कमलेशजी—

"अहन्यहनि भूतानि,
शेषा जीवितुमिच्छन्ति,

[प्रतिदिन जीवगण यमलोक को जा रहे हैं, फिर भी जो बच रहते है, वे जीवित रहना चाहते है। इससे बढकर आश्चर्य क्या हो सकता है !]

रत्नाकरजी—सचमुच ही 'किमाश्चर्यमतः परम् !'

कमलेशजी— केवल हृदय की गति निरुद्ध हो जाना या लकवा मार जाना ही इतिहास का सत्य नही है। कम-से-कम साहित्य के इतिहास में तो गला घोंट देना एक विशेष प्रकार की कला है। यह आधुनिक युग की देन है। हमारे देखते-देखते कितने नवजात साहित्यिक वादों का गला घोट दिया गया है। साहित्य की वह रसवती प्राण-धारा, जिसने बिहारी को बिहारी और पद्माकर को पद्माकर बनाया था, इस बुरी तरह मार डाली गयी है कि आश्चर्य होता है !

बलराज—गुस्ताखी माफ हो शर्माजी, उसने आत्मघात कर लिया है। हाँ, छायावाद का गला घोंट देने के लिए बुजुर्गों ने अलबत्ता कम कोशिश नही की है, पर कम्बख्त फिर भी बचा हुआ है।

मोहनलाल—नही बलराजजी, ताजी खबर यह है कि उसने भी अपने अनुचर रहस्यवाद के साथ आत्मघात कर लिया है। पोस्टमार्टम के विषय मे अभी डाक्टरों में मतभेद है, पर मरने के पहले अपने कुटुम्बियों के नाम उसने एक चिट्ठी टेबिल पर रख छोड़ी थी। उस चिट्ठी के अनुसार आत्मघात का कारण यह बताया जाता है कि किसी नवजात साहित्यिक वाद-शिशु के साथ—जो कपड़े पहनने के पहले ही नंगा ही दौड़ने लगा है—दौड़ने मे पूरा न पाने के कारण दोनों मित्रो ने लज्जावश ऐसा कर लिया है।

कमलेशजी—शिव ! शिव !

पण्डितजी—(रत्नाकरजी से) आपने जो कुछ कहा है उसे मैं समझता हूँ, पर मैंने कब कहा है कि मृत्यु इतिहास का सत्य नही है ? मैं कहता हूँ कि मृत्यु जीवन का उत्स है। वह प्रधान नही है। प्रधान है अशेष जीवनधारा। सचमुच ही एक बार महाभारतवाले उस श्लोक की गहराई में जाया जाय तो मेरी बात स्पष्ट हो जायगी। प्रतिदिन लोग मर रहे है, कौन नही जानता कि मृत्यु उसके सिर पर मँडरा रही है, फिर भी सब जीना चाहते है। महाभारतकार इसे 'आश्चर्य' कहते हैं, मैं इसे 'रहस्य' कहना पसन्द करूँगा। पुश्त-दर-पुश्त से मृत्यु की ध्रुवता को जानकर भी मनुष्य क्या अभी तक यह नही सीख पाया कि जीवन व्यर्थ है ! मनुष्य को इस बात की याद दिलानेवाले शक्तिशाली महात्मा अनेक हो गये हैं, शास्त्र भी बहुतेरे लिखे गये हैं, आन्दोलन भी कम नही चलाये गये है, फिर भी मनुष्य समझ नही पाया ! मेरी दृष्टि में यह समझ न सकना अपने-आपमे एक जबर्दस्त प्रमाण है कि इन उपदेशकों, शास्त्रों और आन्दोलनों की प्रथा गलत है कि मृत्यु ही सत्य है। मुझे यह विश्वास करने में शर्म मालूम होती है कि हम लोगों की यह दुनिया अनन्त कोटि मूर्खों की वास-भूमि है। मृत्यु अगर जीवन का सत्य होता तो आज से हजारो वर्ष पहले से मनुष्य ने जीवनेच्छा को नमस्कार कर दिया होता। आप लोग 'व्यक्ति को' अपने मन में इतना ऊँचा स्थान दिये हुए हैं कि 'समूह की' बात ही भूल जाते

है। व्यक्ति का उद्भव-विलय बराबर होता रहता है, पर कभी आपने यह भी सुना है कि समूचा समाज-का-समाज मर गया हो ? कभी भी क्या ऐसा समय बीता है कि जब पृथ्वी पर मानव-समूह निश्चिह्न हो गया हो ? वस्तुतः समाज बराबर था और बराबर है। समाज-रूप में जीवित रहने को ही मनुष्य अपने बृहत् मानस-पट पर अंकित किये हुए है। एक व्यक्ति व्यक्ति-रूप से नष्ट हो सकता है, पर पुत्र-पौत्र-परम्परा से वह निरन्तर जीता रहेगा। इसी जीवनेच्छा ने सन्तान-स्नेह को मानव-हृदय में प्रतिष्ठित किया है। ज्ञानी जब उसे माया कहता है, तो बड़ी भारी गलती करता है। वह इसे ठीक नहीं समझ पाता। वस्तुतः व्यक्ति का आपसी सम्बन्ध उसके समाज-रूप में जीवित रहने का ही द्योतक है।

कमलेशजी—पण्डितजी को व्यक्तिवादियों से बड़ी चिढ़ है। समय-असमय, मौके-बेमौके वे हमें बराबर याद दिला देते हैं कि हम व्यक्तिवादी हैं, इसलिए निरे ठूंठ हैं और चूंकि वे समूहवादी हैं इसलिए वस्तु की वास्तविक मर्यादा के सच्चे जानकार हैं। गुस्ताखी माफ हो तो व्यक्तिवादी एक शाश्वत-सनातन अमर आत्मा में विश्वास करते हैं और मृत्यु को उससे अधिक महत्त्व नहीं देते, जितना एक व्यक्ति पुराना कपड़ा छोड़ने को देता है। व्यक्तिवादी होने से कोई मृत्यु को प्रधान कैसे मान लेता है, यह बात समझ में नहीं आती। और जिस अर्थ में व्यक्ति की मृत्यु होती है, उस अर्थ में समाज की भी मृत्यु होती है। पण्डितजी पूछते हैं कि क्या कभी आपने यह भी सुना है कि एक समाज पूरा-का-पूरा निश्चिह्न हो गया हो ? हाँ, मैंने तो सुना है। ग्रीक समाज आज मिट गया है। सीरिया और बैबिलोनिया की सभ्यता के उन्नायक आज निश्चिह्न हैं और स्वयं भारतवर्ष का इतिहास साक्षी है कि विशेष-विशेष सभ्यता और संस्कृति के पोषक समूह यहाँ से उठ गये हैं। जब आप कहते है कि व्यक्ति के मर जाने पर भी समाज जीता रहता है तो मुझे उस जुलाहे की कहानी याद आती है जिसने अपने हुक्के का नारियल सात बार बदला था और लकड़ी भी सात बार, फिर भी उसका दावा था कि हुक्का वही है !

बलराज—शर्माजी, आपकी बात मैं समझ नहीं सकता हूँ। मुझे शास्त्र-वाक्यों की व्याख्या मत समझाइए। मैं सीधी बात को सीधी भाषा में समझना चाहता हूँ। क्या समस्त आत्मवादियों का यह मत नहीं है कि भव-जाल विकट है, माया-चक्र अनन्त है, संसार दुःख का आगार है, विघ्न-वाहिनी पद-पद पर बाधा देने को कटि-बद्ध है, गृहस्थ लाचार हैं ? यह क्या घोर निराशावाद नहीं है ? क्या मनुष्य-जीवन इस प्रकार के विचारवालों की दृष्टि में दुःख-शोक का प्रचण्ड जाल नहीं है ?

रत्नाकरजी—शाबाश बेटा, तुमने बात बहुत पक्की और पते की कही है। हाँ, सचमुच ही भव-जाल ऐसा ही है। पर उसे निराशावाद नहीं कहते। तुम शायद आशावादी हो। मैं तुमको आशावाद का ऐतिहासिक विकास बता दूँ। याद रखो कि आशावाद-जैसी बात बहुत हाल का आविष्कार है, बहुत हाल का। आज से दो-सौ वर्ष पूर्व यूरोप के विचारशील पुरुषों के सामने दुनिया बदलती हुई प्रकट हुई थी। पश्चिमी धार्मिक जनता के लिए गैलिलियो, कोपरनिकस और न्यूटन की बातें

जितनी ही आश्चर्यजनक थी, उतनी ही झकझोर देनेवाली। ये विचार कि यह पृथ्वी समस्त विश्व-ब्रह्माण्ड के केन्द्र में नही है, और मनुष्य भगवान् की सबसे श्रेष्ठ सृष्टि नही है, बाइबिल की महिमा पर प्रचण्ड आघात करते थे। इन विचारको के विचारों को रोकने की बहुत चेष्टा की गयी, पर सफलता नही मिली। भाप के इंजन और छापे की मशीन नया सन्देश लेकर आयी। विचारशील लोगों ने स्पष्ट देखा कि दुनिया बदल रही है। मशीनें मनुष्य को गुलामी से मुक्त कर देंगी, सबको सुख-समृद्धि समान भाव से मिलेगी। इस आशावाद ने अठारहवी शताब्दी के यूरोपियन लेखकों को रामराज्य की कल्पना के लिए उत्तेजित किया। अठारहवी शताब्दी का अन्तिम हिस्सा आशावाद के जयगान का युग है। कवि और नाटककार मनुष्य की महिमा का गान गाने में अघाते नही दिखते। प्रसिद्ध फ्रांसीसी लेखक कोण्डरसेट इस आशावादी साहित्य का ऐसा विधाता है जिसकी कहानी एक ही साथ करुणा-पूर्ण और स्फूर्तिदायक है। इस अभागे आशावादी ने फ्रांस के कई सम्भ्रान्त-वंशीय अन्य रईसों की भाँति राजा के वध के विरुद्ध मत दिया था। इस अपराध पर प्रजातन्त्री विद्रोहियों ने इसे एक छोटे-से गन्दे कमरे में बन्द कर दिया। इसी काल कोठरी में उसने मानव-प्रगति के भविष्य के सम्बन्ध मे एक पुस्तक लिखी। पुस्तक समाप्त होते ही वह अपनी काल-कोठरी से निकल भागा और दूर के एक गाँव की सराय मे शरण ली। उसके हाथ में सदा जहर की पुड़िया रहती थी। वह जानता था कि एक बार विद्रोहियों की सनक का शिकार होते ही उसे कुत्ते की मौत मरना होगा। अपनी आँखों के सामने उसने अपने सगे-सम्बन्धियों के चिथड़े उड़ते देखे थे। ऐसी मानसिक अवस्था में उसने मनुष्य पर जो ग्रन्थ लिखा उसे देखने पर आश्चर्य मे पड जाना पड़ता है। मनुष्य की सद्बुद्धि पर, उसके विवेक पर, उसकी न्यायशीलता पर, उसकी महिमा पर उसका अटूट विश्वास था। एक दिन सराय मे अपने को विद्रोहियों से घिरा देखकर इस अपराजेय आशावादी ने जहर खाकर प्राण दे दिये। मैं ठीक कह रहा हूँ, बलराज ?

बलराज— जी हाँ, आप ठीक कह रहे है। पर कोण्डरसेट को शायद आप इसलिए स्मरण कर रहे है कि इस मत की भद्द हो। पर सचमुच ही मशीनो ने अचरज ढाना शुरू किया। उन्नीसवीं शताब्दी के यूरोपियन देशों ने इन मशीनों के बल पर संसार को रौंदना शुरू किया। दुनिया की समृद्धि यूरोप मे आने लगी। बड़े-बड़े साम्राज्य स्थापित हुए। इन साम्राज्यों का उद्देश्य प्राचीनतर साम्राज्यो की भाँति विजय-लालसा की पूर्ति नही था। उनका उद्देश्य व्यवसाय की सुविधा प्राप्त करना था। यूरोप में व्यवसाय ने एकाएक नया रूप धारण किया। बड़े-बड़े शहर बसने लगे, फैक्टरियाँ खड़ी हुईं, सामन्त और जमीदारी प्रथा पर उसने जबर्दस्त आघात किया। व्यावसायिक क्रान्ति हुई। व्यवसाय के लिए नयी-नयी वस्तुओं का आविष्कार होने लगा। पूंजीपतियों ने विज्ञान के अध्ययन को प्रोत्साहन दिया। नयी यूनिवर्सिटियाँ और कालेज खुलते गये। मशीनें बढ़ती गयी। उनकी पूर्ति के लिए पदार्थ-विज्ञान और अन्यान्य जड़-विज्ञान उन्नति करते गये। मशीनों के इस

बढ़ते हुए प्रभाव ने मानव-मस्तिष्क को अभिभूत कर लिया। मनुष्य ने विजय-गौरव से *आत्म-निरीक्षण करके कहा— मैं ही सब-कुछ हूँ ! मनुष्य प्रकृति पर विजय पा* सकता है, मनुष्य दुनिया से अन्धविश्वास और घृणा के भाव दूर कर सकता है, मनुष्य आकाश और पाताल में अपनी जय-ध्वजा उड़ा सकता है। आशा और उल्लास से, प्रसादजी की भाँति, उस युग के मनुष्य ने भी कहा :

निधाता की कल्याणी सृष्टि
सफल हो इस भूतल पर पूर्ण
पटें सागर, बिखरें ग्रह पुञ्ज
और ज्वालामुखियाँ हों चूर्ण।
उन्हें चिनगारी सदृश सदर्प
कुचलती रहे खड़ी सानन्द,
आज से मानवता की कीर्त्ति
अनिल, भू, जल में रहे न बन्द।
जलधि के फूटें कितने उत्स
द्वीप - कच्छप डूबें - उतरायँ,
किन्तु वह खड़ी रहे दृढ़-मूर्त्ति
अभ्युदय का कर रही उपाय।
शक्ति के विद्युत्कण जो व्यस्त
विकल बिखरे हैं हो निरुपाय,
समन्वय उनका करे समस्त
विजयिनी मानवता हो जाय।

रत्नाकरजी—हाँ, बलराज, तुम मेरी ही बात कह रहे हो। तुम्हारे इस वक्तव्य का मैं समर्थन ही करता हूँ। सुनते जाओ। यन्त्रों की सफलता ने मनुष्य के मन में नास्तिकता का भाव ला दिया। उन्नीसवीं शताब्दी सन्देहवाद का युग है। मनुष्य ने ईश्वर पर सन्देह किया, धर्म पर सन्देह किया, शास्त्र पर सन्देह किया और फिर भी वह आशावाद का युग है, क्योंकि उसने अपने ऊपर सन्देह नहीं किया। उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य-भाग में सुप्रसिद्ध दार्शनिक आगस्ट कोम्त (August Comte) ने एक नये सिद्धान्त का प्रचार शुरू किया। पश्चिम में इसे 'पॉज़िटीविज़म' (positivism) कहते हैं। इस पण्डित के मत से मानवीय ज्ञान अब तक तीन सीढ़ियों तक चढ चुका है--(1) धार्मिकता, (2) दार्शनिकता, और (3) वैज्ञानिकता। पहली अवस्था में आदमी नाना देवी-देवताओं और अन्त में ईश्वर में विश्वास करता था। दूसरी में उन देवी-देवताओं और तटस्थ ईश्वर को छोड़कर उसने एक सर्वव्यापी चेतन सत्ता की कल्पना की। ये दोनों अवस्थाएँ अब पार हो चुकी हैं। अब मनुष्य अपने सुख-दु:ख के लिए देवी-देवताओं या ब्रह्म-सत्ता का मुखापेक्षी नहीं है। अब उसने दुनिया के रहस्य को बहुत-कुछ समझ लिया है और भविष्य में अधिकाधिक समझने योग्य होता जायगा। इसीलिए अब देवी-देवताओं

की या भगवान् की या सर्वव्यापक चेतन-सत्ता की उसे जरूरत नहीं है। परन्तु चूँकि मनुष्य में का धार्मिक भाव बहुत प्रबल है, वह किसी-न-किसी वस्तु पर विश्वास किये बिना रह नही सकता, इसलिए इस पण्डित ने ईश्वर के स्थान पर मानवता की प्रतिष्ठा की सिफारिश की। मानवता की सेवा करना ही वस्तुतः पूजा और उपासना है। मनुष्य के सिवा और कोई ईश्वर नही है। इस सिद्धान्त का यूरोप में उन दिनों खूब स्वागत हुआ। वस्तुतः तब से अब तक किसी-न-किसी रूप में मानवता साहित्य और दर्शन में ईश्वर का स्थान पाती ही आ रही है। मनुष्य की महिमा में विश्वास करना ही इस सिद्धान्त का मूल मन्त्र है। क्यों बलराज!

बलराज—जी हाँ, सही बात है।

मोहनलाल—परन्तु यह नियति का मजाक ही कहा जाना चाहिए कि उक्त दार्शनिक जब मनुष्य की प्रगति की वकालत कर रहा था और उसकी घोषणा कर रहा था, उसी समय भारतवर्ष में सन् सत्तावन में मनुष्य की सद्वृत्तियों पर, और उसकी न्याय-बुद्धि पर ऐसे विश्वास की भयंकर प्रतिहिंसाग्नि धधक रही थी, राजमार्ग रक्त से पिच्छिल हो रहे थे और शस्त्र-श्यामल मैदान धुएँ और राख से ढँक गये थे। मानो अदृश्य चेतन सत्ता को इस मजाक में कुछ मजा आ रहा था। उसने इसी साल कोम्त को दुनिया की सतह पर से पोंछ दिया। और दूसरे ही साल सुप्रसिद्ध डार्विन ने अपने नये आविष्कारों से दुनिया को चकित और क्षुब्ध कर दिया। इस बार देखा गया कि मनुष्य ईश्वर नही, पशु है; वह पशु से ही उपजा है। निरन्तर संघर्ष में विजयी होने के कारण ही वह बचा हुआ है। इस दुनिया में वही बचता है जो बचने में सबसे योग्य होता है, जो अपने इर्द-गिर्द के शत्रुओं को छल-बल से और बाहु-बल से जीत सकता है। इस आविष्कार ने दुनिया के चिन्ताशील लोगों को एक बार फिर झकझोर डाला। इसने दुनिया को नयी दृष्टि दी। कुछ भी ज्यों-का त्यों—जैसा आज दीख रहा है—नही आया। सभी वस्तु, सभी विचार, सभी समस्याएँ काल-प्रवाह में बहती हुई, परिस्थितियों से टकराती हुई, निरन्तर परिवर्तित होती हुई आ रही है। डार्विन का आविष्कार प्राणि-शास्त्र के क्षेत्र में था, परन्तु उसने मनुष्य की सारी मनीषा को नये रास्ते पर मोड़ दिया। प्रो. हिरेनूशा ने ठीक ही कहा है कि उन्नीसवी शताब्दी की चिन्ता की सबसे बड़ी कुन्जी डार्विन का विकासवाद है। छोटे-से-छोटे धूलि-कण से लेकर विशाल सौर-जगत् और विराट् तारागुच्छ भी इसकी लपेट से नही बच सके। यहाँ तक कि इस विचार ने ईश्वर को और आत्मा को भी प्रयोगशाला में बैठा दिया। जिस विचार ने इस प्रकार मनुष्य की चिन्ता में क्रान्ति ला दी, उसने साहित्य को कितना प्रभावित किया था, यह अनुमान का ही विषय है।

बलराज—जी, उस युग में विकासवाद का बड़ा विरोध हुआ था, पर आज कोई शास्त्र ऐसा नही है जो विकासवाद को किसी-न-किसी रूप में स्वीकार न करता हो। इतिहास को समझने में इस शास्त्र ने बहुत सहायता दी और इतिहास के स मझने का अर्थ होता है जीवन-प्रवाह को समझना। इस प्रकार मनुष्य अपने

जीवन-प्रवाह के विषय मे एक अविसंवादी तथ्य का पता पाकर बहुत-कुछ आश्वस्त तो हुआ, पर उसके आशावाद ने नया रूप ग्रहण किया। मैं उसी नये रूप का कायल हूँ।

पण्डितजी—लेकिन बलराज, इतना ही सब-कुछ नही है। एक पार्श्व से देखना ही सही देखना नही है। ईसा की उन्नीसवीं शताब्दी का प्रथमार्द्ध जहाँ मनुष्य को नयी आशा और नयी उमंगों से भर रहा था, वहाँ वह संवेदनाशील लोगों को निराशावाद की ओर भी ले जा रहा था। बड़े-बड़े शहरो के बसने से और बड़ी-बड़ी फैक्टरियों के स्थापित होने से जहाँ यूरोप की बाह्य सम्पत्ति बढती जा रही थी, वहाँ उसका आन्तरिक जीवन दु.खपूर्ण होता जा रहा था। व्यावसायिक क्रान्ति ने राजकीय और आर्थिक शक्ति को सामन्तवर्ग के हाथ से खीचकर व्यवसायी समुदाय के हाथ में कर दिया था; राजनीति में ही नही, साधारण आचार-विचार और विश्वास में भी प्रजातन्त्रवाद का जोर था। सामन्तशाही के विरुद्ध जो तीव्र आन्दोलन हुआ उसने साधारण व्यक्ति को अपनी स्वाधीनता में आस्थावान् बनाया, शहर के भीड़-भम्भड़ ने सदाचार के नियमो को शिथिल कर दिया, शिक्षा-प्रचार और वैज्ञानिक शोधों ने एक ही साथ वंशगत प्रतिष्ठा और धार्मिक शासन के विरुद्ध बगावत का भाव ला दिया। इस प्रकार वैयक्तिक स्वाधीनता का जन्म हुआ। आदम स्मिथ ने सुझाया कि किसी राष्ट्र की सम्पत्ति उसके व्यक्तियो की योग्यता और स्वाधीनता पर ही निर्भर होती है। यह ध्यान देने की बात है कि उन दिनो जब वैयक्तिक स्वाधीनता और समानता की बात कही जाती थी तब आज की भाँति सब छोटे-बड़े की बात नही समझी जाती थी, बल्कि कुलीन और सामन्तवर्ग के शासन से मुक्त होने की और मध्यवित्त के लोगों को उनके समान समझे जाने की बात समझी जाती थी। व्यवसाय की प्रधानता ने कुलीन पुरुष का यह दावा कि वह भगवान् की ओर से कुछ विशेष गुण लेकर उत्पन्न हुआ है, निर्मूल सिद्ध कर दिया। व्यवसाय में, जनता के व्याख्यान-मञ्च पर और अखबारों मे चमकने के लिए कुलीनता की कोई जरूरत नहीं थी। इसका नतीजा यह हुआ कि मध्यवित्त के लोगों में एक प्रकार से व्यक्तिगत अहंकार का भाव आता गया। यहाँ तक कि यह तर्क भी उपस्थित किया जाने लगा कि यदि वैज्ञानिक स्वाधीनता व्यवसाय-वाणिज्य मे अच्छी है तो वह सदाचार और राजनीति के क्षेत्र में क्यों नहीं अच्छी होगी! गाडविन ने निःसन्दिग्ध होकर इस प्रकार प्रचार करना शुरू किया कि मनुष्य स्वभावतः सदाचारी है। अगर सभी कानून और नियम रद्द कर दिये जायँ तो मनुष्य की बुद्धि और चरित्र में निस्सन्देह अभूतपूर्व उन्नति होगी। सुप्रसिद्ध कवि शेली ने इन्ही विचारो को छन्दोबद्ध किया और केवल दार्शनिक गाडविन की भाँति विचारों की ही दुनिया मे नही भटकता रहा, बल्कि उसने इसे जीवन मे कार्यान्वित भी किया। जब वृद्ध गाडविन अपनी जवानी के इन विचारों को तिलाञ्जलि दे चुका था, तब भी उसके इस विचार-परिवर्तन की परवा किये बिना उक्त कवि उसकी कन्या की सहायता से इस नवीन वैयक्तिक स्वाधीनता का प्रचार करता

रहा। कवि जब संसार की मंगल-विधायिनी सत्ता को स्वीकार न करता हो, और फिर किसी सामाजिक नियन्त्रण की भी परवा न करता हो तो जीवन के प्रत्यक्ष अनुभव उसे निश्चय ही निराशावादी बना देंगे। क्योंकि साधारण दुनिया उतनी अग्रसर नहीं हुई होती जितना अग्रसर होने की आशा कवि उसके निकट से किये रहता है। शेली ने भी इसीलिए जीवन को एक भार ही समझा। वह अपने विचारों के साथ संसार को चलता हुआ न देखकर घोर निराशावादी हो गया। वह बहुत थोड़ी उमर में मर गया, पर उसके एक प्रशंसक ने ठीक ही लिखा है कि वह बहुत दिन तक जिया; क्योंकि उसका प्रत्येक क्षण औरों के वर्ष से भी अधिक था। उस युग के अन्य कवियों—बायरन, कीट्स और वर्ड्सवर्थ में भी निराशावाद का सुर है। उन दिनों का यूरोपियन काव्य-साहित्य इस सुर से भरा पड़ा है। वर्तमान की विसदृशताओं से ऊबकर कविगण एक काल्पनिक अनुकूल जगत् के निर्माण में लगे रहे।

इन दिनों की यूरोपियन चिन्ताधारा में नियतिवाद का जोर था। निराशावादी सभी कवि जड़ प्रकृति की एक नियत स्वाभाविक परिणति में विश्वास करते थे। यह प्रकृति किसी की परवा किये बिना अपने रास्ते चली जा रही है। जो कोई भी इस प्रवाह में पड़ता है वह बह जाता है, उसको रोकने की ताकत मनुष्य में नहीं है। अपने सुख और दुःख नियति-प्रवाह के ऊपर निर्भर करते हैं। इस प्रकार उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य-भाग में नाना प्रकार की स्वाधीन चिन्ताएँ यूरोपियन विचारधारा को एक खास दिशा में मोड़ रही थीं। उसी की परिणति का नाम 'मॉडर्निज़्म' (modernism) है। उसमें ईश्वर का स्थान मनुष्यता ले चुकी थी, पर मनुष्यता को ईश्वर की भाँति सर्वगुणसम्पन्न नहीं माना गया था, उसके दोष-गुण आदि सभी स्वीकार कर लिये गये थे। 'धर्म' नाम से प्रचलित पुराने विश्वासप्रवण मतवाद के स्थान पर तर्क-प्रवण नवीन मतवाद जन्म ले चुका था। विचारशील लोग स्वीकार कर चुके थे कि मनुष्य नियति के हाथ का एक खिलौना है, या फिर यह कि मनुष्य प्रकृति को अपने कब्जे में ले आ सकता है।

बलराज—लेकिन सब मिलाकर उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में निराशावाद निश्चित रूप से उतार पर आ गया था। आशावाद ने यह नया रूप धारण किया जिसे मैं चरम सत्य मानता हूँ। विकासवाद की प्रतिष्ठा ने यह साबित कर दिया कि मनुष्य पशु की अवस्था से निरन्तर विकसित होता हुआ इस अवस्था तक पहुँचा है। उसका शारीरिक विकास प्रायः समाप्त हो आया है, पर मानसिक विकास बहुत कम हुआ है। वह निरन्तर पूर्णतर ज्ञान की ओर बढ़ रहा है। मैं जेम्स के इस मत का बड़ा आदर करता हूँ कि वही सबसे बड़ा सत्य है जिससे मनुष्य का हित सधे।

कमलेशजी—मैंने धैर्य से तुम्हारी बातें सुनी हैं, पर जिसे तुम उन्नीसवीं शताब्दी या अठारहवीं शताब्दी की विचारधारा कहते हो वह इतनी नयी भी नहीं है और इतनी दूर की भी नहीं है। घर की ओर क्यों नहीं देखते ? मैं तुम्हारी तरह

यह तो नहीं मानता कि जो मनुष्य का हित है वही सत्य है, पर महाभारत में इसी तरह के विचार का पता लगता है, अवश्य ही वह इससे ज़रा बृहत्तर भूमिका पर प्रतिष्ठित है। नारदजी ने शुकदेव से कहा था कि 'यत् भूतहितमत्यन्तम् एतत् सत्यं मतं मम।'

बलराज—(आश्चर्य से) अच्छा, इतनी पुरानी बात है यह! मैं महाभारत पढ़ूँगा।

कमलेशजी—जरूर पढ़ो। मगर अभी तो मैं प्रतिज्ञा कर चुका हूँ कि तुम्हें शास्त्र-वाक्यों की व्याख्या नहीं पढ़ाऊँगा। यद्यपि तुमने अब तक डार्विन और जेम्स वगैरह को जिस रूप में याद किया है वह शास्त्र-वाक्य की दुहाई से कुछ कम गर्हित नही है और सीधी बात को सीधी भाषा में मुझे कहने की हिदायत तुमने की है और उसके साथ इस सारे शास्त्रार्थ का कोई सामंजस्य नहीं है। अब यदि तुम सुनना चाहो तो सीधी भाषा में मैं सीधे तौर पर तुम्हारे सारे शास्त्रार्थ का निष्कर्ष बता दूँ।

पण्डितजी—जरूर बताइए।

कमलेशजी—मुझे ऐसा लगा है कि जिस आशावाद और निराशावाद के विषय मे आप लोगों में पक्ष-स्थापन की अहमिका पड़ गयी थी वे वस्तुतः ऐसे अपूर्ण व्यक्तियों द्वारा उद्भावित हैं जो सामयिक सुख-दुःखों से अभिभूत हो जाते हैं। उन्हें आप्त तो कहा ही नही जा सकता, धीर भी नही कहा जा सकता। ऐसे लोगो के द्वारा स्थापित मत अस्थिर और असत्य हैं, वे काल की कसौटी पर दस-पन्द्रह वर्ष भी नही टिक सकते। इसके विरुद्ध उन मतों को देखो जो जीवन-व्यापिनी साधना से उद्भावित हैं, जिनकी सत्यानुभूति को बार-बार अनुभव किया गया है, पद-पद पर तपस्या की अग्नि में उसकी सचाई की जाँच की गयी है। तुम इस प्रकार की बहस में उस मत को नही खीच सकते। वह मत 'टेबिल टॉक' का विषय नही है। वह साधना का विषय है। हमारा साहित्य उसी को केन्द्र करके गठित हुआ है। उसमें आशावाद और निराशावाद के उतार-चढ़ाव नहीं दिखते।

रत्नाकरजी—देखो पण्डितजी, कमलेशजी ने जो बात कही है उसकी गहराई में जाना चाहिए। भारतीय साहित्य इस मशीन के बनने या उस थ्योरी के आविष्कृत होने से प्रभावित नहीं हुआ। वह एक शाश्वत सत्य में प्रतिष्ठित है। तुम इस बात को अस्वीकार नही कर सकते।

पण्डितजी—(कुछ अनमने-से होकर) हाँ साहब, आपकी बात मानूँ तो कैसे और न मानूँ तो कैसे? एक दिन कैलास की देवदारु-द्रुम-वेदिका पर निर्वात निष्कम्प प्रदीप की भाँति स्थिर भाव से आसीन महादेव के सामने अपने ही यौवन-भार से दबी हुई वसन्त-पुष्पों की आभरणधारिणी पार्वती जब पुष्पास्तरण के भार से झुकी हुई संचारिणी पल्लविनी लता की भाँति उपस्थित हुई थी और अपने नील अलकों में शोभायमान कर्णिकार तथा कानो मे विराजमान नव किसलय दल को असावधानी से विस्रस्त करती हुई उस तपस्वी के पद-प्रान्त मे झुकी थी तो योगि-

राज क्षण-भर के लिए चंचल हो उठे थे, उन्होंने बरबस अपने विलोचनों को पार्वती के मयंक-मुख की ओर व्यापारित किया था। उन्होंने क्षण-भर के लिए सारे ससार को मधुमय देखा था—अशोक कन्धे पर से फूट पड़ा था, बकुल कण्टकित हो गया था, न इसने सुन्दरियों के आसिंजित नूपुर-ध्वनि की प्रतीक्षा की, न उसने उसके गण्डूषसेक की! किन्तु एक ही क्षण में योगासनासीन महादेव सँभल गये। उन्हें किसी अपदेवता का कुसुम-बाण-सन्धान उचित नही जान पड़ा। जब तक आकाश में मरुद्गण क्रोधशमन करने के लिए हाहाकार करते जाते है तब तक कामदेव कपोत-कर्बुर-भस्म मे परिणत हो गया! किशोरी पार्वती का कोमल हृदय अपने सौन्दर्य की व्यर्थता से झुंझला उठा, उन्होंने इस व्यर्थता को दूर करने के लिए कठोर तपस्या की ठानी। प्रथम दर्शन के प्रेम पर, वाह्य रूप के आकर्पण पर क्षण-क्षण-भर मे वज्रपात कराके समस्त हिमालय के सौन्दर्य को एक तरफ फेंककर कालिदास त्याग और तपस्या का आयोजन इस मस्ती से कराने मे जुट गये मानो कुछ हुआ ही नही, मानो 'कुमारसम्भव' के प्रथम तीन सर्ग माया थे, कवि का उन पर कोई मोह नही, ममता नही, प्रीति नही। क्योंकि वे मनुष्य को और उसकी इस दुनिया को ही सब-कुछ नही मानते थे। कुछ और भी है, इस दृश्यमान सौन्दर्य के उस पार, इस भासमान जगत् के अन्तराल मे कोई एक शाश्वत सत्ता है जो इसे मंगल की ओर ले जाने के लिए कृत-निश्चय है। परन्तु आज वह जमाना नही रहा। हम बदल गये है, हमारी दुनिया बदल गयी है, हमारे विश्वास हिल गये है, हमारी ऐहिकता बढ़ गयी है—'तेहि नो दिवसा गताः।'

मोहनलाल—नहीं पण्डितजी, कैसे कहा जाय कि वे दिन बीत गये! आज भी वह मायालोक आपको अभिभूत किये है, आज भी आप उसमे रस ले रहे हैं।

कमलेशजी—हम बदल सकते है, हमारी दुनिया बदल सकती है। हमारे विश्वास हिल सकते है, पर कालिदास का वह मायालोक सत्य है। हमारे बदलने-न-बदलने की वह परवा नही करता।

बलराज—सब खतम? पण्डितजी ने तो कमाल किया! कहाँ निराशावाद, आशावाद, पॉजिटिविज्म, मार्क्सवाद, और अन्त में सब फक्! कालिदास का मायालोक? वाह, हमारे बदलने-न-बदलने से वह लोक एकदम बदला ही नही? मानो आज नित्य ही कालिदास पैदा हो रहे हैं! मायालोक बदल गया है, पण्डित-जी, निश्चित बदल गया है और बदल गया है एक ही क्षण में आपका मूड।

मोहनलाल—हम किसी नतीजे पर नही पहुँचे। जहाँ-के-तहाँ रह गये।

बलराज—हाँ, हम रह गये, लेकिन युगसत्य वेगपूर्वक चला है। वह समस्त मोहों और आसक्तियों को अपने रथ-चक्र से रौंदता हुआ आगे बढ़ रहा है।

कमलेशजी—साधु, साधु!

[कल्पलता से]

साहित्य के नये मूल्य

जीवन्त साहित्य के सम्पर्क में आने से जीवन्त मनुष्य प्रभावित होता है। उन्नीसवीं शताब्दी के अंग्रेजी साहित्य में अद्‌भुत जीवनी शक्ति उद्वेलित हो रही थी—एक अपूर्व उन्मुक्त भावधारा। इसमें परिपाटी-विहित और परम्परा-मुक्त रसदृष्टि के स्थान पर आत्मानुभूति, आवेगधारा और कल्पना का प्राधान्य था। इस विशिष्ट दृष्टिभंगी को अपने ध्यान मे रखकर कुछ विद्वानों ने उस युग के साहित्य को स्वच्छन्दतावाद नाम दे दिया है। पर यह शब्द उस साहित्य की आत्मा को सम्पूर्ण रूप से प्रकट करने मे समर्थ नही है। स्वयं इंगलैण्ड में उस युग के साहित्य को रोमाण्टिक साहित्य कहा गया है। रोमाण्टिक अर्थात् वह साहित्य जो वस्तुत. जीवन के उस आवेगमय पहलू पर जोर देने के कारण विशिष्ट रूप ले सका है, जो कल्पनाप्रवण अन्तर्दृष्टि द्वारा चालित किंवा प्रेरित होता है और स्वयं भी इस प्रकार की अन्तर्दृष्टि को चालित और प्रेरित करता रहता है। उस देश के क्लासिकल या परम्परा-समर्थित साहित्य मे परिपाटी-विहित रसज्ञता या रस-निष्पत्ति पर जोर दिया गया था, इसीलिए उसमें उस अनासक्तिपूर्ण सौन्दर्य-ग्राहिणी दृष्टि का प्राधान्य था जो अधिकाधिक मात्रा मे सामान्य होती है, विशेष नही। जब कोई सहृदय सौन्दर्य और रसबोध के सामान्य मान को स्वीकार कर लेता है तो उसका ध्यान सामान्य भाव से निर्धारित सौन्दर्य के टाइप और नीति तथा सदाचार के परिपाटी-विहित नियमों की ओर केन्द्रित होता है। व्यक्ति की स्वतन्त्र अनुभूति तो कल्पना और आवेग के माध्यम से ही प्रकट होती है और जब वह प्रकट होती है तो नीति और सदाचार के परिपाटी-विहित मूल्यों से सब समय उसका सामंजस्य भी नही होता। कई बार उसे ऊपरी सतह के सदाचार के विरुद्ध विद्रोह करना पड़ता है। परन्तु यह विद्रोह उसका मूल स्वर नही होता। हिन्दी साहित्य के छायावादी उत्थान के समय इसी प्रकार की उन्मुक्त आवेग-प्रधान और कल्पना-प्रवण अन्तर्दृष्टि दिखी थी। कई कवियों मे उसका विद्रोहमूलक रूप ही प्रधान हो उठा, परन्तु यह भलीभाँति समझना चाहिए कि यह विद्रोह केवल विशेष प्रकार की वैयक्तिक दृष्टिभंगी के साथ परिपाटी-विहित रसास्वादन का सामंजस्य न हो सकने का बाह्य रूप मात्र है। यदि यही अन्त तक कवि का मुख्य वक्तव्य बना रह जाय तो कवि सफल नही होता। परन्तु जो कवि उसका वास्तविक मूल्य समझता है, वह स्थायी और अमर साहित्य का निर्माण करता है। उन्नीसवी शताब्दी के आरम्भ में अंग्रेजी के जिन साहित्यकारो में उन्मुक्त स्वाधीन दृष्टिभंगी विकसित हुई थी वे विद्रोही अवश्य थे, परन्तु वह विद्रोह उनकी नवीन भावधारा का एक बाहरी और तत्काल के लिए आवश्यक रूप मात्र था। केवल परम्पराप्राप्त साहित्य का विरोध करने के लिए या परिपाटी-विहित रसज्ञता का प्रत्याख्यान करने के लिए यह साहित्य नही रचा गया था। इसीलिए उसे 'स्वच्छन्दतावाद' कहना केवल एक

पहलू को ही बढा-चढ़ाकर कहना है। भारतवर्ष मे इसी स्वाधीन चिन्ताधारा का स्पर्श पाकर नवीन साहित्य निर्मित हुआ था। इसने साहित्य-रसिकों के हृदय मे उन्मुक्त भावधारा के प्रति सम्मान बढ़ाया, इस बात का सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि आज परिपाटी-विहित कविता के स्थान पर उन्मुक्त आवेग और अन्तर्दृष्टियुक्त कल्पनावाली कविता लोकप्रिय हो गयी है। भारतीय सहृदय के चित्त मे इस नयी भावधारा ने नया कम्पन उत्पन्न किया है। परन्तु इसे भी 'पाश्चात्य प्रभाव' नही कहा जा सकता, क्योंकि यद्यपि यह बात पाश्चात्य देशो के साहित्य के सम्पर्क से ही आयी, तथापि वह वहाँ भी नवीन ही थी। उसके लिए जिस नवीन ढंग की मानसिक गठन की आवश्यकता है, वह नये विज्ञान द्वारा उपस्थापित परिस्थितियो के कारण ही सम्भव हो सका था। जैसा कि पहले ही कहा गया है, इस नवीन साहित्य की वास्तविक उत्सभूमि वह मानसिक गठन है जिसमे कल्पना के अविरल प्रवाह से घन-सश्लिष्ट निविड़ आवेग की ही प्रधानता होती है। इस प्रकार कल्पना का अविरल प्रवाह और निविड़ आवेग, ये दोनों निरन्तर घनीभूत वृत्तियाँ ही इस व्यक्तित्व-प्रधान साहित्य-रूप की प्रधान जननी है। परन्तु यह नही समझना चाहिए कि ये दोनो एक-दूसरे से अलग रहकर काम करती है। वस्तुतः इनका पृथक्-पृथक् नाम देना और स्वरूप बताना केवल आलोचना की चर्चा की सहूलियत के लिए ही परिकल्पित हैं। काव्य की अभिव्यक्ति मे ये दोनो शक्तियाँ एक-दूसरे से इस प्रकार गुँथी रहती हैं कि इन्हें एक-दूसरे से अलग करना कठिन होता है। केवल सहृदय ही यह अनुभव कर सकता है कि कहाँ एक की मात्रा अधिक है और कहाँ दूसरी की कम, कहाँ वे करीब-करीब समान है और कहाँ एक ने दूसरी को एकदम दबोच लिया है। परन्तु जैसा कि ऊपर बतलाया गया है, उन्मुक्तता केवल इन दो मनोवृत्तियों का समानान्तर धर्म नही है। वह केवल काव्य के क्षेत्र मे ही अपने-आपको प्रकाशित नहीं करती। जीवन के विविध क्षेत्रो मे उसकी लीला विराजने लगती है।

यदि उस युग के इंग्लैण्ड की बाह्य परिस्थितियों का विश्लेषण किया जाय तो एक और तथ्य भी प्रकट होगा। इग्लैण्ड की साधारण जनता उन दिनों बहुत व्यवहारकुशल दुनियादारी मे लगी थी, रोजगार के नये साधन सामने आ रहे थे, दुनिया के कोने-कोने मे ब्रिटिश सिंह का जय-निनाद गूंज रहा था और घर में अनायास-लब्ध समृद्धि को भरने का प्रयत्न छोटे-बड़े सभी कर रहे थे। यही बिल्कुल ऊपरी सतह की बात है, किन्तु उस देश के विचारशील लोगों में एक प्रकार की मानसिक अशान्ति अत्यन्त स्पष्ट होकर प्रकट हुई थी, सन्तुलन नष्ट हो रहा था, संवेदनशील चित्त बाहरी समृद्धि और भीतरी औचित्य-बोध के संघर्ष से अस्थिर हो उठा था और भीतर-बाहर के इस संघर्ष ने सुकुमार कलाओ के माध्यम से अपने को अभिव्यक्त करना शुरू किया था। कविचित्त जब बाह्य परिस्थितियों के साथ समझौता नही कर पाता, तब छन्दों की भाषा अत्यन्त प्रभावशाली होकर प्रकट होती है। आन्तरिक सौन्दर्यानुभूति और बाहरी असुन्दर-सी लगनेवाली परिस्थिति

की टकराहट से जो विक्षोभ पैदा होता है, वह सभी देशों में काव्य की भाषा को मुखर बना देता है। उसमे मूर्त्त का रूप और आवेग का पंख लगा देता है। आदि-कवि के उपाख्यान में इसी तथ्य की ओर इशारा किया गया है। ऋषि का मनुष्योचित रूप अपने आन्तरिक आदेशों के एकदम विरुद्ध पड़नेवाले क्रौंचवधरूपी असुन्दर व्यापार से जब विचलित हुआ था, तभी अशरीरिणी वाणी नवीन छन्दों में मुखर हो उठी थी। रोमाण्टिक साहित्य इसी प्रकार के कविचित्त के आन्तरिक सौन्दर्य के आदर्श और बाहरी जगत् के एकदम विपरीत परिस्थिति के संघर्ष का परिणाम है। कविचित्त का प्रिय आदर्श जब दूर रहता है, तब उसका प्रेम और भी निविड़ हो जाता है, और भी व्याकुल वेदना जगा देता है। यह गलत बात है कि उसके अभाव से कवि मौन हो जाता है। कालिदास के यक्ष ने कहा था :

स्नेहानाहु: किमपि विरहध्वंसिनस्ते त्वभोगा-
दिष्टे वस्तून्युपचितरसा: प्रेमराशीभवन्ति।

इस संघर्ष में कवि के चित्त में विद्रोह का स्वर भी अवश्य मुखर हो उठता है, पर असली और प्रधान स्वर रचनात्मक ही होता है। वह कुछ नया करने का प्रयत्न है जो कुछ नया देखने की तीव्र आकांक्षा से उत्प्रेरित होता है और ब्राह्य असुन्दरता को बदलने के उद्देश्य से परिचालित होता है। इस भावधारा में स्नान करके पुरातन भी नवीन रूप में प्रकट होता है। हमारे देश मे कविवर रवीन्द्रनाथ की कविताओं में पुरातन ने जो अपूर्व नवीन सौन्दर्य-लक्ष्मी का रूप लिया है, वह इसी प्रक्रिया का परिणाम है। इस सद्य.स्नाता काव्यलक्ष्मी की 'प्रत्यग्र मज्जनविशेष-विविक्तकान्तिः' सचमुच दर्शनीय है। वर्ड्सवर्थ, शेली, कीट्स आदि कवियों ने जिस मोहक सौन्दर्य जगत् का निर्माण किया है, वह अपनी उपमा आप ही है। इस नवीन भावधारा ने हमारे देश के कवियों के संवेदनशील चित्त को उद्बुद्ध किया तो इसमे कोई आश्चर्य की बात नही। इस नये साहित्य के मनन और चिन्तन ने इस देश मे वैयक्तिकता-प्रधान नवीन चिन्ताधारा को जन्म दिया है। इसे केवल विदेशी प्रभाव कहकर-समझकर उपेक्षणीय समझना ठीक नहीं है। हिन्दी के कई प्रतिभाशाली कवियों को इस उन्मुक्त भावधारा ने प्रेरणा दी है। इसके यथार्थ स्वरूप को नही समझने से, इसकी आलोचना मध्यकालीन दृष्टि से की जाती है और इस प्रकार कभी-कभी इसे सदोष और त्याज्य समझा जाता है। जो वस्तु त्याज्य हो उसे त्याज्य समझना उचित ही है, पर विवेक-पूर्वक वस्तु के यथार्थ का पता लगाना भी आवश्यक है; नहीं तो जैसा कि दुष्यन्त के मुँह से कालिदास ने कहलवाया है कि अन्धे के सिर पर यदि मालती माला डाल दी जाय तो वह सांप समझकर सिर धुनने लगता है :

'स्रजमपि शिरस्यन्धः क्षिप्ता धिनोत्यहिशंकया'

जिन लोगो को इस प्रकार की भावधारा का सच्चा इतिहास नहीं मालूम है वे यदि इसको त्याज्य बताते हैं तो सोचना चाहिए कि उनकी बात विवेक-दृष्टि से कहाँ तक ठीक है। कही उन्होंने आँखें तो नही मूंद ली। उन दिनो व्यावसायिक क्रान्ति के कारण इंग्लैण्ड की राजनैतिक और आर्थिक शक्ति धीरे-धीरे सामान्तवर्ग

उन दिनों संवेदनशील कवियों के चित्त में ऊपरी सतह की ये हलचलें अपनी निश्चित लांछन-रेखा छोड़ जाती थीं। इन कवियों के चित्त में जो रचनात्मक प्रतिभा थी, उसमें इन ऊपर से कर्कश दिखनेवाले विचारों की कोमल अभिव्यंजना थी। वस्तुत. यह साहित्य अपने युग की सम्पूर्ण चेतना और विचार-संघर्ष की सुन्दर कलात्मक अभिव्यक्ति है। यह कहना ठीक नहीं है कि यह किसी पुराने विचार का नामान्तर मात्र है। इस कथन का अर्थ यदि यह हो कि मूल मानव मनोवृत्तियाँ नहीं वनी रहती है, केवल विभिन्न परिस्थितियो मे उनका ऊपरी रूप परिवर्तित होता रहता है तव तो यह बात किंचित् स्वीकारणीय हो सकती है, किन्तु इसका अर्थ यदि यह हो कि इसी श्रेणी की या यही भावधारा पहले कभी रही और वाद में भी कभी आ सकती है तो यह बात स्वीकार योग्य नहीं होगी। यह कहना कि कबीर का रहस्यवाद ही रवीन्द्रनाथ का रहस्यवाद है या मीराँ का रूपान्तर ही महादेवी वर्मा है, पूर्ण सत्य नहीं है। ऐसी बातों मे विचारगत गम्भीरता का निदर्शन नहीं। इतिहास अपने-आपको चाहे तथ्यात्मक जगत् में कभी-कभी दुहरा भी लेता हो, परन्तु विचार की दुनिया मे वह जो गया सो गया, मनुष्य का जीवन अपना उपमान आप ही है। इसमें एक वार जो गलती हो जाती है या भटकाव आ जाता है, वह अनुभव के रूप में और स्मृति के रूप मे कुछ-न-कुछ नया जोड़ जाता है। इस जुड़े हुए अंश को किसी भी पूर्ववर्ती युग मे नहीं पाया जा सकता। स्वयं रोमाण्टिक साहित्यकारो मे चौथी शताब्दी मे ही विचारगत विभेद और वैशिष्ट्य लक्षित होने लगा था। पण्डितों ने उन्नीसवीं शताब्दी के दूसरे चरण के साहित्य मे एक विशेष प्रकार की नयी प्रवृत्ति का सन्धान पाया है जो इसलिए सम्भव हुई थी कि इन दिनों के साहित्यकार इस बात में सचेत हो गये थे कि वे कुछ नया कर रहे हैं और उनके प्रधान अस्त्र आवेग और कल्पना हैं। पूर्ववर्ती साहित्यकारों में जो एक प्रकार का वाह्य जगत् के प्रति विस्मय का भाव था, वह आदिमानव के उस मनोभाव का सजातीय था जिसने पौराणिक विश्वासों और तान्त्रिक आचारों को जन्म दिया था, जबकि दूसरे चरण के साहित्यकारों में उस प्रकार का मनोभाव है जो तान्त्रिक आचारो के निर्विवाद रूढ़ियो के रूप में स्वीकार करनेवाले मनुष्य में पाया जाता है।

साहित्य-विचार मे बौद्धिक घपला किया जाता है कि एक युग के विचार को दूसरे युग के विचार के समान माना जाता है। आधुनिक चित्त में ऐतिहासिक दृष्टि प्रतिष्ठित हुई है तो यह उसके विपरीत बात है। एक वार एक प्रतिष्ठित साहित्यिक के इस वक्तव्य को पढ़कर कि "साधनों के वदलने से मनोभाव नहीं वदल जाते, बन्दूकों के स्थान पर टैंक होने से वीरत्व की मनोवृत्ति नहीं बदल जाती," मैंने गम्भीरतापूर्वक ऐसे प्रयत्न किये थे जिसमें साधनों को वदलकर पुरानी कविता को नया रूप दिया जाय। उदाहरण के लिए अपभ्रंश साहित्य के इस दोहे को मैंने साधना नास्ति करके देखने का प्रयास किया :

पिय एम्बहि कर सेएल करि छड्डहुँ तुहुँ करवाल।
जिवँ कावालिय वधुरा लेहिँ अभग्ग क वात॥

"हे प्रिय, तुम करवाल छोड़ दो, सेल ले लो ताकि बेचारे कापालिको को अनटूटे कपाल प्राप्त हों; जब तुम अपनी कराल करवाल चलाते हो, शत्रु की खोपड़ी चूर हो जाती है। सेल चलाओगे तो खोपड़ी तो दुरुस्त रहेगी।" मैंने करवाल के स्थान पर अग्निधर आटम बम रखा और सेल की जगह कस्मिक (Cosmic) किरणों को। कापालिकों की अभग्न कपालवाली साधना मे आजकल थोड़े लोगो को ही विश्वास है, इसलिए मैंने उनको छोड़ दिया। उनके स्थान पर सर्जनों की अविकृत मृत देहवाली साधना को रखा, जिनकी साधना मे अब तक किसी को सन्देह करते नही सुना, इसलिए मेरा दोहा इस प्रकार हुआ .

पिय अग्गिहर आटम तजहु, कसि कसमिक कर लेहु।
सरजन जन जातें लहैं, बहु अविकृत मृत देहु॥

मुझे यह दोहा मजाक-सा मालूम हुआ। शायद प्रथम बार कस्मिक किरणों का प्रयोग करनेवाला सैनिक आत्महत्या करेगा। सेल-करवालवाले की भाँति वीर-दर्प से वह मूँछों पर ताव तो कभी नही दे सकेगा। स्पष्ट ही साधनो के साथ मनोभाव भी बदले हैं। इसलिए यह समझना कि एक मनोभाव और संस्कार एक-से बने रहते हैं, बिल्कुल गलत बात है। एक-सी बनी रहती है आदिम शक्तियाँ, जिनका काल रूप बदलता रहता है। पर जीवन की विविध क्रियाओ के मूल्य निरन्तर बदल रहे हैं और इस प्रकार साहित्य के समझने का ढंग भी बदल रहा है। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र मे ऐतिहासिक दृष्टि प्रतिष्ठित हुई है। उसे अस्वीकार कर नये साहित्य को ठीक-ठीक नही समझा जा सकता। यह बिल्कुल गलत बात है कि इस काल मे 'बिहारी सतसई' लिखकर कोई उतना ही सफल हो जायगा, जितना बिहारी हुए। वस्तुतः 'बिहारी सतसई' इस युग मे नही लिखी जा सकती। वह जब लिखी गयी थी, तभी लिखी जा सकती थी।

यह ध्यान देने की बात है कि जिन दिनो भारतवर्ष का निविड़ संयोग इंग्लैण्ड से हुआ, उन दिनो इंग्लैण्ड की साधारण जनता राष्ट्रीयता के नये धर्म में दीक्षित हो चुकी थी, भारतवर्ष उनका अधिकृत देश था। अपने राष्ट्रीय स्वार्थ के लिए इस देश का कसके शोषण किया गया। अंग्रेजी साहित्य के महान् आदर्शों और अंग्रेज जाति के इन शोषणमूलक प्रयत्नों में बड़ा अन्तर था। शिक्षित भारतवासी के चित्त में इसकी तीव्र प्रतिक्रिया स्वाभाविक थी। इसी प्रतिक्रिया ने भारतीय राष्ट्रीयता के रक्षात्मक रूप में आत्मप्रकाश किया। यूरोप के विचारशील सुधी-मण्डली का चित्त जितना उन्मुक्त हुआ था, उतना साधारण जनता का नही। पण्डितों में भी कई प्रकार के स्तर-भेद थे। शुरू-शुरू में जिन महान् आदर्शों से अंग्रेज जाति चालित हो रही थी, वह अन्त तक नही बनी रह सकी। पहले-पहल ज्ञान की साधना अनसाक्त चित्त से की जाती थी। जिन यूरोपीय पण्डितों ने भारतीय पुरातत्त्व और इतिहास के अध्ययन का कार्य आरम्भ किया था, वे बहुत

ही उच्चकोटि के आदर्शवादी थे। उनके प्रयत्नों ने भारतीय प्राचीन समृद्धि को प्रकाशित करना शुरू किया। देखा गया कि भारतीय चित्त आज-जैसी जबदी स्थिति मे हमेशा नही रहा है। भूगर्भ से निकले हुए मन्दिरों, मूर्तियो, शिलाखण्डों, ताम्रपत्रो ने नये-नये रहस्य का द्वार उद्घाटन किया। देश और विदेश से प्राप्त ग्रन्थो के प्रकाशन ने भारतवर्ष के पढ़े-लिखे लोगो के चित्त मे आत्मविश्वास का सचार किया। बहुत-से पुराने विश्वासों में सुधार हुआ, भूले हु् बौद्ध धर्म के उपदेश अब 'कुत्ते के चमड़े मे सुरक्षित दूध' की भाँति निषिद्ध नही रहे। उसने भारतीय प्रतिभाशाली साहित्यकार को नवीन प्रेरणा दी। नृत्य और सगीत के सम्बन्ध मे नवीन भारतीय चित्त में नूतन गरिमा का संचार हुआ। यूरोप के नवीन निर्मुक्त भावधारा के साथ प्राचीन गौरव के इस नवाविष्कृत तथ्यों का मणिकांचन योग हुआ। रूढ़ियाँ टूटी, नवीन काव्यलक्ष्मी ने अभिनव गौरव के साथ प्रवेश किया। उधर धीरे-धीरे अंग्रेजों मे साम्राज्यवाद की मनोवृत्ति बढ़ती गयी और उन्होंने भारतीय इतिहास को भी इसी आसक्त दृष्टि से देखने का प्रयास किया। शिक्षित भारतीय चित्त पर इसकी बड़ी घोर प्रतिक्रिया हुई। कभी कभी इस बात से भारतीय नवीन साहित्य-साधना के स्वस्थ विकास मे बाधा भी पहुँची। इन्ही दिनों 'हमारे यहाँ ऐसा मानते है या नही मानते' का मोहक मन्त्र आविष्कृत हुआ। बढती हुई नवीन स्वच्छन्द विचारधारा में स्वभावत: सब प्रकार की बातें थी, हल्की अप्रामाणिक और गम्भीर भी। विक्टोरियन युग के अंग्रेजी साहित्य में भी ऐसी बातें थी, पर वहाँ पराधीनता का अभिशाप नही था, इसलिए ऐसी अस्वाभाविक प्रतिक्रिया नही हुई। रवीन्द्रनाथ, प्रसाद आदि कवियो मे नवीन विचारो का प्राचीन विचारो से बहुत ही सुन्दर समन्वय हो रहा था, परन्तु संकीर्ण राष्ट्रीय गौरव-बोध की इस नयी मनोवृत्ति ने हर नवीन बात का इसलिए विरोध किया कि यह बात 'हमारे यहाँ' ऐसी नही थी। साधारण भारतीय चित्त में 'हमारे यहाँ' की बोली ने अपूर्व भावकम्पन और गुदगुदी पैदा की। परन्तु सब मिलाकर इसने स्वस्थ साहित्यिक चिन्ता के विकास मे बाधा ही पहुँचायी। आगे चलकर 'पाश्चात्य प्रभाव' एक आरोप-भर रह गया और 'हमारे यहाँ' किसी भी विरोधी को धराशायी करने का अमोघ अस्त्र बन गया। मैं यहाँ यह नहीं कर रहा हूँ कि अपने यहाँ के शास्त्रों का जो विचार किया गया और उसका सहारा लिया गया, वह गलत था; बल्कि उनका जैसा उपयोग किया गया, वह गलत था। यह नही समझा गया कि चित्तगत उन्मुक्तता बड़ी चीज है, क्योकि वह बड़ी सम्भावना से भरी है, उसका स्वागत होना चाहिए। उसका स्वस्थ विकास हुआ तो भारतीय साहित्य का अच्छा अध्ययन होगा और उसके मर्म को हम अच्छी तरह समझ सकेंगे।

[विचार और वितर्क से]

आधुनिक साहित्य : नयी मान्यताएँ

साहित्य की नयी मान्यताओं पर विचार करने के पहले मैं यह निवेदन कर देना चाहता हूँ कि साहित्य की नयी मान्यताएँ जीवन की नयी मान्यताओं से विच्छिन्न नही हैं। हमारा आधुनिक साहित्य यूरोपियन सम्पर्क के वाद ही विकसित हुआ है। सौभाग्यवश जिन दिनों अंग्रेजी साहित्य के साथ भारतवर्ष का सम्पर्क हुआ, वह काल अंग्रेजी भाषा के इतिहास का वहुत ही समृद्ध काल था। उन दिनों जड़ विज्ञान नित्य नये सुधरे यन्त्रों को उत्पन्न कर रहा था और ये सुधरे हुए यन्त्र नित्य-नवीन सम्पत्ति से उस देश को सम्पन्न वना रहे थे। यद्यपि इसकी भूमिका सोलहवी शताब्दी मे ही तैयार हो रही थी—क्योंकि उन्हीं दिनों धर्म और कला के साथ लोक-चित्त को प्रभावित करनेवाला वह नया शास्त्र जन्म ले रहा था जिसे विज्ञान कहा जाता है—पर 18वी शताब्दी के पहले वह इनका सच्चा प्रतिद्वन्द्वी नही बन सका था। इस शताब्दी में प्रत्येक सुसंस्कृत व्यक्ति के चित्त पर इसका प्रभाव पडा और उन्नीसवीं शताब्दी मे वह नाना ऐतिहासिक शक्तियों के दवाव से सुविधाभोगी वर्ग के हाथ से सरककर साधारण जनता के हाथ में आ गया। उन्नीसवी शताब्दी के दूसरे चरण मे यूरोप के विज्ञान की अनेक मानसिक और भौतिक शाखाओं का युगपत् और समानान्तर विकास हुआ, जो आगे चलकर वहुत-से ऐतिहासिक परि-वर्त्तनों और विचारगत उथल-पुथल का कारण वना। इन दिनो यूरोपीय विचारों में वडा घोर मन्थन हुआ और मानवीय विचारो और क्रियाओं के मूल्यों में क्रान्ति-कारी परिवर्त्तन हुए। इन्ही दिनों समस्त जागतिक व्यापारों मे एक व्यापक नियम और सामंजस्य खोजने की दुर्दम जिज्ञासा-वृत्ति का जन्म हुआ। अन्त मे डार्विन ने जीवविज्ञान के क्षेत्र मे विकासवाद का प्रतिपादन किया, जिसे सच्चे अर्थों में आधु-निकता की नीव कहा जा सकता है। इसने हर क्षेत्र में मनुष्य को नयी दृष्टि दी। डार्विन के विचारों से ही सूत्र पाकर स्पेंसर ने समस्त जागतिक व्यापारों की विकास-परम्परा को स्पष्ट और प्रतिष्ठित करनेवाले तत्त्ववाद की स्थापना की। यहाँ से विज्ञान ने मनुष्य की सम्पूर्ण विचारधारा पर प्रभुत्व-स्थापन किया। आज शायद ही कोई ऐसा ज्ञान-विज्ञान हो जिसे इस विकासवाद के सहारे समझने का यत्न न किया जाता हो। सव प्रकार के आध्यात्मिक दर्शन, सव प्रकार की अलौकिक समझी जानेवाली सौन्दर्यभावना और रससंवेदना, सब प्रकार की कर्म-प्रणालियाँ इसकी लपेट में आ गयीं। साहित्य के विविध तत्त्व—छन्द, अलंकार, शैली, भाषा-प्रतिपादन—इस सिद्धान्त के सहारे अधीन और व्याख्यात हुए। यही से मनुष्यों ने विचारों के इतिहास की वात सोची, भावनाओं के क्रमविकास का अध्ययन शुरू किया और मानसग्रन्थियों की ऐतिहासिक विकास-परम्परा को समझने का प्रयत्न किया। यहाँ से साहित्य को नये रूप में देखा जाने लगा, उसके प्रगमन और प्रति-गमन के कारणों पर विचार किया जाने लगा और उसके सम्बन्ध में नयी दृष्टि

प्रतिष्ठित हुई। जिसे यह दृष्टि प्राप्त हो गयी है वह नहीं मानता कि किसी मुनि या आचार्य ने आज से सैकड़ों वर्ष पहले जो कुछ कहा था वह स्वयसिद्ध सत्य है और उसके प्रतिकूल जाना अनुचित है। वह प्रत्येक आचार्य की बात को पूर्ववर्ती विचारों की पृष्ठभूमि में और पार्श्ववर्त्ती विचारों के आलोक मे देखने का प्रयास करता है, सबकुछ क्रम-विकास की अवस्था से गुजरकर आया है, जीवित रहने की परिस्थितयो मे अन्तर आ जाने से केवल प्राणी को ही परिस्थितियों के अनुकूल नहीं बनना पड़ता, विचारो और भावनाओं को भी तदनुकूल बनना पड़ता है।

विकासवाद का सिद्धान्त आजकल प्रायः सर्वस्वीकृत सिद्धान्त है। इस सृष्टि-प्रक्रिया को इस दृष्टि से देखनेवाले को यह बात अत्यन्त स्पष्ट हो जायेगी कि मनुष्य के रूप में ही सृष्टि का सर्वोत्तम प्राणी विकसित हुआ है। मनुष्य-देह मे ही मन और बुद्धि का—भावावेग और तर्क-युक्ति के आश्रय इन्द्रिय-विशेष का—विकास हुआ है। यह संसार क्या है और कैसा है इसके जानने का एकमात्र साधन मनुष्य की बुद्धि है। हम जो कुछ समझ रहे हैं और जो कुछ समझ सकते हैं, सब मनुष्य का समझा हुआ सत्य है। मनुष्य-निरपेक्ष सत्य बात-की-बात है। इस जगत् में जो कुछ सत्य है वह मनुष्य-दृष्टि में देखा हुआ सत्य है, अतएव मानव-सत्य है। इसीलिए मनुष्य की मर्यादा, उसकी महिमा और उसके विचारों का मूल्य अपार है। इन्ही विचारो ने उस विचार-भंगिमा को जन्म दिया जिसे 'न्यू ह्यूमेनिज्म' या नव मानवतावाद नाम दिया गया है।

इस मानवतावाद के दो प्रधान लक्षण हैं—(1) मनुष्य की महिमा और मानवीय मूल्यों मे विश्वास, तथा (2) मनुष्य के मर्त्य जीवन को किसी प्रकार के पापफल भोगने का परिणाम न समझकर इसे इसी दुनिया मे दुःख-शोक से बचाना और इसी दुनिया मे सुख-समृद्धि से युक्त करना। यह दूसरी बात उन सब पुरानी वैरागी मनोभावनाओं का प्रत्याख्यान करती है जो शरीर को नाना कृच्छ्राचारों से तापित करके किसी अनन्त शाश्वत सुख की ओर मनुष्य को प्रवृत्त करती है और इस जीवन का सम्पूर्ण रूप से उपभोग करने की प्रवृत्ति को प्रश्रय देती है। परन्तु पहली भावना इस पर अंकुश का काम करती है; क्योंकि वह मनुष्य के द्वारा उद्भावित पशुसामान्य धरातल से उपरले स्तर के मानसिक संयम, बौद्धिक ईमानदारी और मनुष्यरूप को विकसित करनेवाले समस्त नैतिक आदर्शों को बहुत अधिक मूल्य देती है। इस प्रकार यह तो माना जाता है कि मनष्य का यह मर्त्य जीवन ही चरम और परम है, परन्तु साथ ही यह भी माना जाता है कि मनुष्य की मनुष्यता अपूर्व सम्भावनाओं से भरी है। वह सब प्रकार के नैतिक और आध्यात्मिक विकास का साधन है, उसकी महिमा अपार है।

भारतवर्ष की विशाल साहित्यिक परम्परा पर दृष्टिपात करें तो इसके साहित्यिक युगों मे सर्वत्र किसी विशेष मानवीय विश्वास को प्रेरणा देते पायेंगे। सर्वत्र ऐसा ही होता है। वैदिक साहित्य के केन्द्र में मूल प्रेरणास्रोत के रूप मे यज्ञ-याग का स्थान है। इन्हीं से वैदिक युग का कवि और विचारक प्रेरणा पाया करता था।

चाहे व्याकरण हो या ज्योतिष, छन्द हो या निरुक्त, ज्यामिति हो या अंकगणित, सभी विचारधाराएँ इस यज्ञ-याग की क्रियाओं को ठीक-ठीक सम्पादित करने के उद्देश्य से प्रवर्तित हुईं। बाद में इन्होंने स्वतन्त्र शास्त्रों का रूप लिया। परवर्ती काल में यद्यपि सभी शास्त्र किसी-न-किसी बहाने श्रुतिसम्मत यज्ञ-याग प्रक्रिया के साथ अपना सम्बन्ध बताते रहे, पर वस्तुतः वे उनसे विच्छिन्न हो गये थे। गुप्तकाल में एक बार पुनर्जागरण अवश्य हुआ और श्रुतिसम्मत क्रियाएँ अधिक दृढ़ता से याद की जाने लगीं, लेकिन तब तक गंगाजी का बहुत पानी समुद्र में ढरक चुका था और धर्म और विश्वास के क्षेत्र में मनुष्यरूप की प्रतिष्ठा स्वीकृत हो चुकी थी। इस युग के काव्य और शिल्प में देव-देवियाँ निखरे हुए मानव-सौन्दर्य के भीतर से प्रकट हुईं। देवता का मनुष्यरूप जिस मोहक और महनीय रूप में इस युग में प्रकट हुआ, वैसा पहले कभी नहीं हुआ था। शास्त्र और काव्य, दोनों में ही देवता का नाम लिया जाता रहा, पर मनुष्य ही वास्तविक प्रतिपाद्य था। श्रुति और आप्तवाक्य की महिमा बनी रही, पर मनुष्य की बुद्धि ही अधिक प्रामाण्य समझी गयी; क्योंकि श्रुतिवाक्यों में कौन-सा विधि-परक है और कौन-सा अर्थवाद, इन बातों के निर्णय की कसौटी मनुष्यबुद्धि को ही समझा जाता था। मनुष्यरूपी देवता का और भी व्यापक रूप मध्यकाल के अन्त में आया, जब भगवान् के नररूप की लीला ही सब प्रकार के साहित्य, शिल्प और नृत्यगीत का आश्रय बनी। भक्ति का पूरा साहित्य भगवान् के नररूप की लीला को आश्रय करके बना है, वहीं से वह प्रेरणा पाता रहा है। आगे चलकर हर देवता के अवतार की कल्पना की गयी। भगवद्भक्त महात्माओं को भी किसी-न-किसी पुराने आचार्य या भक्त का अवतार माना गया। कोई उद्धव का अवतार समझा गया, कोई वाल्मीकि का, कोई हनुमानजी का तो कोई भगवान् की मुरली का। शिव के भी एकाधिक अवतार स्वीकार किये गये और अवतार-विश्वास इस हद तक पहुँचा कि यह विश्वास किया जाने लगा कि भगवान् नररूप धारण करके नाना भाव से भक्त की सहायता करते रहे हैं। उसकी गाय चरा देते है, उसका हाथ पकड़कर रास्ता दिखा देते है, उसकी गलतबयानी को सुधार देते हैं, उसके घर का पहरा देते है और ऐसे ही अन्य अनेक कार्य करते है। इस युग की सम्पूर्ण मानवीय उच्च साधनाओं के मूल में इस अवतारवादी भक्ति की प्रेरणा है। इस प्रकार हम देखते हैं कि विभिन्न युगों में साहित्यिक साधनाओं के मूल में कोई-न-कोई व्यापक मानवीय विश्वास होता है। आधुनिक युग का यह व्यापक विश्वास मानवतावाद है। इसे मध्ययुग के उस मानवतावाद से घुला नहीं देना चाहिए जिसमे किसी-न-किसी रूप में यह स्वीकार किया गया था कि मनुष्य-जन्म दुर्लभ है और भगवान् अपनी सर्वोत्तम लीलाओं का विस्तार नररूप धारण करके ही करते हैं। इस विश्वास की सबसे बड़ी बात है इसकी ऐहिक दृष्टि और मनुष्य के मूल्य और महत्त्व की मर्यादा का बोध।

इस नवीन मानवतावाद को स्वीकार करने का युक्तिसंगत परिणाम हो सकता है मनुष्य की मुक्ति। सब प्रकार के सामाजिक और राजनीतिक और

आर्थिक शोषणों से मनुष्य को मुक्त किया जाय, क्योंकि मनुष्य के जीवन का बड़ा मूल्य है। मनुष्य पर अखण्ड विश्वास इसका प्रधान सम्बल है। जिन दिनों इंग्लैण्ड के साहित्य से भारतवर्ष का प्रथम परिचय हुआ, उन दिनों इस नव-मानवतावाद की प्रतिष्ठा हो चुकी थी। इस सिद्धान्त को स्वीकार कर लेने से कवि-चित्त उन रूढ़ियों से मुक्त हो जाता है जो दीर्घकालीन रीति-नीति से सरकती हुई मनुष्य के चित्त पर आ गिरी होती हैं और कल्पना के प्रवाह में और आवेगों की अभिव्यक्ति में बाधा देती हैं। इस सिद्धान्त को स्वीकार कर लेने के बाद कविचित्त में कल्पना के अविरल प्रवाह से घन-संश्लिष्ट निविड़ आवेगों की वह उर्वर भूमि प्रस्तुत होती है जो रोमाण्टिक या स्वच्छन्दतावादी साहित्य के लिए बहुत ही उपयोगी होती है। ऐसे अविरल कल्पना-प्रवाह का स्वाभाविक रूप है कविचित्त की उन्मुक्तता। जब यह एक बार साहित्य मे प्रकट होती है तो वह जीवन के सभी क्षेत्रों में अपना प्रभाव-विस्तार करती है। उस काल के अंग्रेजी साहित्य के मर्मज्ञों ने दिखाया है कि उन दिनो इंग्लैण्ड के सभी विचार-क्षेत्रो में यह चित्तगत उन्मुक्तता अपना प्रभाव-विस्तार कर रही थी। इस युग में मनुष्य ने धर्म पर सन्देह किया, ईश्वर पर सन्देह किया, परम्परा-समर्थित नैतिक दृष्टि-भंगी पर सन्देह किया, परिपाटी-विहित रसज्ञता पर सन्देह किया, परन्तु फिर भी यह युग अपूर्व विश्वास का युग है; क्योंकि मनुष्य ने अपने ऊपर अविश्वास नही किया। उसने मनुष्य की महिमा पर दृढतापूर्वक आस्था जमाये रखी। मनुष्य सब-कुछ कर सकता है, वह प्रकृति के दुर्ग पर अपनी विजय-पताका फहरा सकता है, वह सृष्टि-परम्परा की सबसे उत्तम परिणति है। नवीन साहित्य के मूल मे यही विश्वास काम कर रहा था। कितने ही कवियो में निराशा-वाद का स्वर अवश्य था, पर मनुष्य की महिमा पर और उन सब बातों की महिमा पर जो मनुष्य के विशाल चित्त मे स्नान करके निकली हैं, उनकी आस्था बनी रही।

स्वभावतः यह मानवतावाद शुरू-शुरू में व्यक्ति-मानव को शोषण और बन्धन से मुक्त करने के बड़े आदर्श से आन्दोलित हुआ। तत्त्वचिन्तकों और साहित्यिक मनीषियों के चित्त मे इस आदर्श का रूप बहुत ही उदार था, पर व्यवहार मे मनुष्य की समानता केवल एक राष्ट्र की मनुष्यता की मुक्ति तक ही सीमित रही। धीरे-धीरे राष्ट्रीयता नाम की नवीन देवी का जन्म हुआ, एक हद तक यह भी प्रगतिशील विचारों की उपज थी। हमारे देश के भी नये जीवन-साहित्य के स्पर्श से नवीन जीवन-आदर्श जाग पडे। मानवतावाद भी आया, दलितो और अध.पतितो के प्रति सहानुभूति का भाव भी आया और राष्ट्रीयता भी आयी। दोनों बातें एक साथ नही चल सकती। एक तरफ व्यक्ति-मानव की महिमा पर अखण्ड विश्वास ने एक ही राष्ट्र में सुविधाभोगी व्यक्ति-मानवों को बढावा दिया, दूसरी तरफ राष्ट्रीयता की देवी युवावस्था की देहली पर पहुँचकर ऐसी ईर्ष्यालु रमणी साबित हुई जो सारे परिवार को ही ले डूबती है। संसार में एक ओर राष्ट्रीयता ने सिर उठाया, दूसरी ओर मानवतावाद के विकृत चिन्तन ने उस विकृत मतवाद को जन्म दिया, जिसके

अनुसार मनुष्यों में भी दो श्रेणी के मनुष्य हैं—एक उत्तम, दूसरे निकृष्ट; एक में देवत्व की सम्भावनाएँ हैं और दूसरे में पशुता में कोई विशेष अन्तर नहीं है। इन विकृत विचारों ने ठाँय-ठाँय दो महायुद्धों को भूपृष्ठ पर उतार दिया। इस प्रकार मनुष्यता की महिमा भी विकृत रूप में भयंकर हो उठी।

आज संसार का संवेदनशील चित्त इस भयंकर दुष्परिणाम से व्याकुल हो गया है। सारे संसार के साहित्य के निष्ठावान मनीषियों के मन में आज एक ही प्रश्न है—यही क्या वास्तविक मानवतावाद है, जो मनुष्य को अकारण विनाश के गर्त में ढकेल रहा है? 19वीं शताब्दी के पश्चिमी स्वप्नदर्शियों ने और इस देश के पिछले खेवे के महान् साहित्यकारों ने क्या मानवता की इसी महिमा का प्रचार किया है? आज नाना स्वरों में वैचित्र्य-संवलित आकार धारण करके एक ही उत्तर मानवचित्त की गम्भीरतम भूमिका से निकल रहा है; मानवतावाद ठीक है, पर मुक्ति किसकी? क्या व्यक्ति-मानव की? नहीं, सामाजिक मानवतावाद ही उत्तम समाधान है। मनुष्य को, व्यक्ति-मनुष्य को नहीं, बल्कि समष्टि-मनुष्य को, आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक शोषण से मुक्त करना होगा—'नान्य:पन्था विद्यते अयनाय'!

यह गलत बात है कि मनुष्य कभी पीछे लौटकर ठीक हू-ब-हू उन्हीं विचारों को अपनायेगा जो पहले थे। जो लोग मध्ययुग की भाँति सोचने की आदत को इस भयंकर वात्याचक्र की उलझन से बच निकलने का साधन समझते हैं, वे गलती करते हैं। इतिहास चाहे और किसी क्षेत्र में अपने को दुहरा लेता हो, विचारों के क्षेत्र में वह जो गया सो गया। उसके लिए अफसोस करना बेकार है। पर इतिहास हमारी मदद अवश्य करता है। रह-रहकर प्राचीन काल के मानवीय अनुभव हमारे साहित्यकारों के चित्त को चंचल और वाणी को मुखर बनाते अवश्य हैं, पर वे व्यक्ति-साहित्यकार की विशेषता-रूप में ही जी सकते हैं। हमारे साहित्यकार ने निश्चित रूप से मनुष्य की महिमा स्वीकार कर ली है। अगला कदम सामूहिक मुक्ति का है—सब प्रकार के शोषणों से मुक्ति का। अगली मानवीय संस्कृति मनुष्य की समता और सामूहिक मुक्ति की भूमिका पर खड़ी होगी। इतिहास के अनुभव इसी की सिद्धि के साधन बनकर कल्याणकर और जीवनप्रद हो सकते हैं। इस प्रकार हमारी चित्तगत उन्मुक्तता पर एक नया अंकुश और बैठ रहा है—व्यक्ति-मानव के स्थान पर समष्टि-मानव का प्राधान्य। परन्तु साथ ही उसने मनुष्य को अधिक व्यापक आदर्श और अधिक प्रभावोत्पादक उत्साह दिया है। जब-जब ऐसे बड़े आदर्श के साथ मनुष्य का योग होता है तब-तब साहित्य नये काव्यरूपों की उद्भावना करता है, नये बाह्य आकारों को प्रकट करता है और जन-जीवन में नवीन आशा और विश्वास का संचार करता है। नया साहित्य भी इस ओर बढ़ रहा है।

[3-10-1951 को आकाशवाणी, इलाहाबाद से प्रसारित]

साहित्य में मौलिकता का प्रश्न

मौलिकता यद्यपि संस्कृत के 'मूल' शब्द से बनाये हुए विशेषण का भाववाचक रूप है, तथापि हिन्दी साहित्य में इसका प्रयोग नया ही है। वस्तुतः यह अंग्रेजी के 'ओरिजनेलिटी' शब्द के तौलपर गढ़ा हुआ नया शब्द है। अंग्रेजी के साहित्य मे 'ओरिजनेलिटी' शब्द का प्रयोग दीर्घकाल से होता आ रहा है। लैटिन मे 'ओरिरि' धातु है जो उदय होने के अर्थ में प्रयुक्त होती है, उसी से 'ओरिगो' और 'ओरिजिन' शब्द बने है, 'ओरिएन्स' और 'ओएन्स' शब्द भी उसी से आये हैं। लैटिन के 'ओरिगो' शब्द का अर्थ है आरम्भ। 'ओरिजनल' शब्द का अभिधेयार्थ आरम्भिक है और लक्ष्यार्थ वह रूप है जो पहले न रहा हो, नवीन हो। साहित्य में 'ओरिजनल' शब्द ऐसे साहित्य, रूप, शैली, भाव और विषय-वस्तु के अर्थ मे प्रयुक्त होता है जो नवीन उद्‌भावित हों और पूर्ववर्त्ती लेखको में पाये न जाते हो। अंग्रेजी के साहित्यिक ग्रन्थों मे इस बात को लेकर बड़ी चर्चा है कि मौलिकता है क्या वस्तु। कापीराइट एक्ट के सारे संसार में प्रचलित होने के कारण इस शब्द का व्यावसायिक क्षेत्र मे भी प्रवेश हुआ है और इसे कानूनी पण्डितों के विचार-विमर्श का भी विषय बनना पड़ा है।

आधुनिक युग में मौलिकता की इच्छा अर्थात् कुछ नया देने की लालसा बड़े प्रबल रूप मे दृष्टिगोचर हुई है। परन्तु आधुनिक हिन्दी साहित्य के आरम्भ होने के पहले बात ऐसी नहीं थी। मध्यकाल मे बहुत उच्चकोटि के ग्रन्थ प्राचीन ऋषियो और देवताओ के नाम से लिखे गये हैं। उनमें संस्कार भी हुए हैं, परिवर्तन भी हुए हैं, लेकिन लेखक सदा अपने-आपको छिपा लेने का प्रयत्न करता रहा है। रोमन काल मे लैटिन में लिखे हुए ग्रन्थों में अनेक कौशलों के द्वारा लेखक इस बात का प्रयत्न करते थे कि उनका नाम प्रच्छन्न रूप में ग्रन्थ में रहे और कोई दूसरा लेखक उसे चुरा न सके। ठीक उन्ही दिनों भारतवर्ष में प्राचीन आचार्यों, महर्षियों और देवताओं के नाम पर ग्रन्थ रचे जाते थे और लेखक का पूरा प्रयत्न होता था कि किसी को पता न लगने पाये कि वह पुराने ऋषि की रचना न होकर नये मनुष्य की बुद्धि का चमत्कार है। जब कोई लेखक किसी सर्वज्ञ या देवता के नाम पर ग्रन्थ की रचना करता है तो उसमें दो बातें प्रधान रूप से काम करती हैं। प्रथम तो यह कि उसके नस-नस में ऐसा विश्वास व्याप्त होता है कि उसने जो कुछ सोचा या समझा है वह नया नही है, बल्कि पुराकाल के पूर्वजों के ज्ञान का ही उसके चित्त मे प्रतिफलित रूप है। दूसरे, वह अधिक-से-अधिक सावधानी बरतता है और पूर्ण समाहित होकर ज्ञान को पवित्र-से-पवित्र ज्योति के रूप में उपस्थित करने का प्रयत्न करता है। इन दो बातों के कारण उसके द्वारा लिखित साहित्य में हल्कापन नही आने पाता। डॉ. केर्न ने 'वृहद् संहिता' की भूमिका मे भारतीय लेखको की इस विचित्र वृत्ति और इससे उत्पन्न संयम पर आश्चर्य प्रकट किया है। उन्ही दिनों

लैटिन ग्रन्थकारों से तुलना करने पर यह तथ्य और भी उज्ज्वल रूप में प्रकट होता है। और भी आगे बढ़ने पर भारतवर्ष मे ज्ञान के साधकों की टीका का युग आरम्भ होता है। इस काल में पूर्ववर्ती ग्रन्थों की टीकाएँ या भाष्य लिखे जाते रहे हैं। यद्यपि इन भाष्यों, टीकाओं आदि में प्रचुर मौलिक चिन्तन और बौद्धिक सूक्ष्मता प्राप्त होती है तथापि टीका करनेवाला उसे पूर्ववर्ती ज्ञान का ही साधारण रूप मानता है। उसका अपना कृतित्व पूर्ववर्ती ज्ञान को ठीक-ठीक समझने और उसे अधिक-से-अधिक अर्थप्रसू भाषा में व्यक्त करने में होता है। साहित्य के क्षेत्र में भी प्रख्यात चरित्र और प्रसिद्ध घटनाओं का विन्यास नये सिरे से किया जाता है। मौलिकता विषय के विन्यास और उसकी सीमित परिधि मे नवीन कल्पनाओं और नवीन अर्थ योजनाओं में निहित मानी जाती है। हिन्दी के रीतिकाल मे तो संस्कृत के साहित्य-शास्त्र में गृहीत सिद्धान्तों को मोटे-रूप में स्वीकार करके उन्हे लोक-गम्य भाषा में प्रकट करना ही कवि का कृतित्व माना जाने लगा।

हमारे देश की नवीन शिक्षा-प्रणाली उन्नीसवीं शताब्दी के मानवतावादी उदारमना यूरोपीय आदर्शों के अनुकरण पर चलायी गयी है। इंग्लैण्ड में व्यावसायिक क्रान्ति होने के बाद मनुष्य का मूल्यांकन पुरानी मर्यादाओं या शास्त्रविहित नियमों के आधार पर न होकर स्वतन्त्र रूप में किया जाने लगा। पहले के धार्मिक वृत्ति के शास्त्रवादी विचारकों ने स्वर्ग या मुक्ति पाने के उद्देश्य से जो व्यवस्था प्रवर्तित की थी, उसे सन्देह की दृष्टि से देखा जाने लगा, और मनुष्य को इसी मर्त्यकाया में सुख और सुविधा प्राप्त हो, उसका चित्त सुसंस्कृत हो, उसे आर्थिक और सामाजिक बन्धनों से मुक्ति मिले, इन बातों पर ज्यादा जोर दिया जाने लगा। भारतवर्ष को नवीन शिक्षा-प्रणाली इसी आधार पर गठित हुई और नये शिक्षित लोगों में यही विचार जड़ जमाने लगा। यह माना जाने लगा कि प्रत्येक व्यक्ति अपना विकास अपने ढंग से कर सकता है और उसका अपना व्यक्तित्व है। साहित्य में इस विचार ने अपने को नाना रूपों में प्रकट किया और नवीनता की माँग नित्य नवीन रूप में प्रकट होने लगी। प्रत्येक प्रकार के बन्धन और रूढ़ियों से विद्रोह किया गया और बहुत दिनों तक इस विद्रोह को ही मौलिकता समझा जाता रहा। कभी-कभी तो छापने की प्रक्रिया में नवीनता लाने को भी मौलिकता का नाम दिया गया। छापे की मशीन ने साहित्य को जहाँ सुलभ बनाया, वही साहित्यकारों के नये-नये प्रयोगों और नयी-नयी कलाबाजियों को भी मुखर बनाया।

परन्तु साहित्य की मौलिकता केवल बाह्य आकारो की सजावट में नही है। नये युग में मनुष्य की वैयक्तिकता को बहुत महत्त्व दिया गया है और समझा जाने लगा है कि प्रत्येक मनुष्य का व्यक्तित्व अलग है और साहित्य में उसके व्यक्तित्व के विशिष्ट अंश का प्रतिबिम्बित होना उसकी मौलिकता है। इस बात को अस्वीकार नही किया जा सकता कि साहित्य की मौलिकता लेखक के व्यक्तित्व के साथ घनिष्ठ भाव से सम्बद्ध है, परन्तु इसे भी नही अस्वीकार किया जा सकता कि अनियन्त्रित व्यक्तित्व जो सामाजिक और परम्परागत सामूहिक व्यक्तित्व से असम्बद्ध और

प्रतिकूलगामी होता है, वह दुनिया के किसी काम नहीं आ सकता (जिस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति का एक व्यक्तित्व है, उसी प्रकार सम्पूर्ण समाज का भी एक व्यक्तित्व है)। जो व्यक्तित्व इस सामाजिक व्यक्तित्व के प्रतिकूल जाता है, वह असामाजिक है और हानिकर है। इसी भाव को व्यक्त करने के लिए अंग्रेजी में 'अनसोशल' शब्द चला। और समाज का व्यक्तित्व क्या है? वह कुछ परम्परागत विचारों का निरन्तर विकसित होते रहनेवाला स्वरूप है। आधुनिक साहित्य के पूर्व उस सामाजिक व्यक्तित्व को जड़ और अचल मान लिया गया था। नवीन वैज्ञानिक युग के संचारकों ने उसे चेतन वस्तु स्वीकार किया, और इस विश्वास को बद्धमूल बनाया कि जिस प्रकार जीवन्त प्राणी परिस्थितियों के अनुसार अपने को मोड़ता है, पसारता है, उन्हें अनुकूल बनाने का प्रयत्न करता है और धीरे-धीरे अपने भीतर स्वतन्त्र व्यक्तित्व का विकास करता है, उसी प्रकार की प्रक्रिया सम्पूर्ण समाज मे भी होती है। यह सामाजिक व्यक्तित्व नवीन परिस्थितियों के सामने झुकता है, पीछे हटता है, मुड़ता है और उस पर विजय पाने की चेष्टा करता है। इसीलिए वह निरन्तर विकासमान है। जिस प्रकार व्यक्ति-मनुष्य के मन, बुद्धि, हृदय और अन्य इन्द्रिय उसके विकसित होने में सहायक होते हैं उसी प्रकार समाज के कारीगर, दार्शनिक, कवि और मजदूर इत्यादि उसके व्यक्तित्व को अग्रसर करने में सहायक होते हैं। जिस प्रकार व्यक्ति-मानव को पितृ-पितामहों से प्राप्त गुण-दोष उसे सबल या निर्बल बनाते हैं, उसी प्रकार सामाजिक व्यक्तित्व भी अपने पूर्ववर्ती आचार्यों, कवियों, दार्शनिकों और विचारकों से प्राप्त रीति के अनुसार सबल या निर्बल होता है। जिस प्रकार व्यक्ति-मानव बाह्य उपकरणों के सहारे अपने को आंशिक रूप मे सबल या दुर्बल बना सकता है, उसी प्रकार समाज-मानव भी अन्य संस्कृतियों, साहित्य और धर्म-परम्पराओं को उचित मात्रा में ग्रहण करके अपनी दुर्बलताओं को दूर कर सकता है या अनुचित मात्रा मे ग्रहण करके रोगी बन सकता है। इस प्रकार मनुष्य का व्यक्तित्व कई तत्त्वों से गठित है और वह समाज के परम्परा-प्राप्त और निरन्तर विकसित होते रहनेवाले रूप का अविरोधी रहकर ही सामाजिक मंगल का विधान कर सकता है। पिछले खेवे के व्यक्तित्ववादी साहित्यकारों में कितने ही इस तथ्य को ठीक-ठीक हृदयंगम नहीं कर सके हैं और व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति के जोश में असामाजिक मौलिकता का प्रदर्शन करने लगे हैं। ऐसी ही दशा में मौलिकता घासलेटी साहित्य के नाम से कुख्याति प्राप्त करती है। वस्तुतः सच्ची मौलिकता सामाजिक मौलिकता की अविरोधिनी होती है, इसलिए सामाजिक मंगल के अनुकूल व्यक्तित्व की उज्ज्वल अभिव्यक्ति वास्तविक मौलिकता है।

ऊपर के विवेचन से स्पष्ट है कि परम्परा के प्रति या समाज के विकासमान व्यक्तित्व के प्रति विद्रोह ही मौलिकता नहीं है और परम्परागत विषय-वस्तु का विन्यास मौलिकता का विरोधी भी नहीं है। लेखक का वही व्यक्तित्व सच्ची मौलिकता का अधिकारी हो सकता है जो सामाजिक मंगल के प्रतिकूल न हो।

अनेक प्राचीन और अर्वाचीन शास्त्रों के अनुशीलन से सामाजिक विकास की प्रक्रिया को समझनेवाला लेखक ही साहित्य में ऐसा कुछ दे सकता है जिसे मौलिक कहा जा सकता है। यह मौलिकता उसके व्यक्तिगत चिन्तन का और उसकी अपनी समंजस दृष्टि का परिचय साहित्य के माध्यम से देती है। मौलिकता परम्परा-प्राप्त विचारों की इस प्रकार की सजावट में है जो साधारण पाठक के लिए सामाजिक मंगल के स्वरूप को अधिक स्पष्ट और ग्रहणीय बना सके। इन्हीं बातों को ध्यान में रखकर कविवर रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने बँगला में 'ओरिजनेलिटी' के तौल पर चलनेवाले मौलिकता के लिए 'स्वकीयता' शब्द चलाया था। मौलिकता समंजसविधायिनी दृष्टि की स्वकीयता है। उसमें विद्रोह उन असामाजिक तत्त्वों के प्रति होता है जो मानव-समाज के विकास के प्रतिकूल जाते हैं। विद्रोह होना ही बड़ी बात नहीं है। विद्रोह का स्वरूप क्या है और वह सामाजिक अग्रगति में कितना सहायक है, यही बड़ी बात है। इसलिए सामाजिक मंगल के अनुकूल परम्परा-प्राप्त चिन्तन और विचार-धारा से परिष्कृत तथा नवीन परिस्थिति पर विजय की आकांक्षा से समृद्ध व्यक्तित्व को रसमय और ग्राह्य बनाकर अभिव्यक्त करने में भी साहित्यिक मौलिकता या साहित्यिकता हो सकती है। यह प्राचीन लेखकों से इस अर्थ में भिन्न होती है कि यह नवीन परिस्थिति के ऊपर मनुष्य की अग्रगति से विजय पाने की लालसा से समन्वित और विशिष्ट होती है और प्राचीन शक्तिशाली लेखकों के साथ एक पंक्ति में इसलिए बैठायी जा सकती है कि यह उन्हीं लेखकों के समान मंगल-बुद्धि से प्रेरित होती है और उनके विचारों को आत्मसात् करने के कारण उनसे एकदम विच्छिन्न नहीं है।

मेरी दृष्टि में साहित्य की मौलिकता का प्रतिमान यही समाज की मंगल-दृष्टि से अनुप्राणित, परम्परा-प्राप्त शास्त्रदृष्टि से सुसंस्कृत और लोक-चित्त में सहज ही सुचिन्तित तत्त्वों को सरस रूप में प्रतिफलित करने में समर्थ व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति है। यह व्यक्तित्व जितना उज्ज्वल और शक्तिशाली होगा, साहित्य की मौलिकता उतनी उज्ज्वल और दृप्त होगी।

मौलिकता अन्य शास्त्रों में भी है, रहती ही है। साहित्य का मुख्य उद्देश्य सहज भाषा में ऊँचे विचारों और श्रेष्ठ जीवनमूल्यों को अनायास ग्राह्य बनाना है। प्रेषण-धर्मिता उसका मुख्य गुण है। इसलिए जो व्यक्तित्व सहज होता है, अर्थात् जिसमें जटिल मानस-ग्रन्थियों और बाह्य आडम्बरों का प्राधान्य न होकर स्वाभाविक मनोरमता होती है, वही ऊँचे जीवन-मूल्यों को लोक-चित्त में अनायास संचारित कर सकता है। इसीलिए साहित्य में सहज होना (मैं सरल नहीं कहता) भी मौलिकता का श्रेष्ठ प्रतिमान है।

[विचार-प्रवाह से]

साहित्य में व्यक्ति और समष्टि

जब हम साहित्य में व्यक्ति और समूह के प्रश्न पर विचार करने के लिए प्रयत्नशील हैं, तो कुछ ऐसी भाषा तो अपने आप आ उपस्थित होगी, जो नित्य व्यवहार्य-भाषा से कुछ भिन्न श्रेणी की होगी। वस्तुतः ज्ञान दो-मुँहा पदार्थ है। उसके एक ओर तथ्य है, दूसरी ओर सत्य। सभी तथ्य सत्य नहीं होते। ऐसा कह सकते हैं कि तथ्यों के भीतर सत्य ओतप्रोत होकर वर्तमान रहता है।[1] प्रत्येक व्यक्ति अपने ज्ञानेन्द्रियों के सहारे कुछ तथ्यों की उपलब्धि करता है और कुछ बातों को उपलब्धियों के सहारे स्मरण करता है। इन्हीं उपलब्धियों और स्मृतियों के ताने-बाने से व्यक्ति की दुनिया बनती है। परन्तु यह दुनियां बदलती रहती है। वैयक्तिक तथ्य-जगत् निरन्तर दूसरे लोगों के उपलब्ध तथ्य-जगत् से टकराते हैं और सामान्य तत्त्व छंट-छंटकर हमारी ज्ञान-राशि के रूप में परिणत होते रहते हैं। इस प्रकार नित्य हमारे वैयक्तिक उपलब्ध ज्ञान में परिवर्तन और परिवर्धन होते रहते हैं। इससे दो बातें सिद्ध होती हैं—एक तो यह कि व्यक्ति के अन्तःकरण से गृहीत तथ्यात्मक ज्ञान-राशि सम्पूर्ण रूप से वैयक्तिक नहीं होती। वह दूसरों की उपलब्धि और स्मृति से बनी तथ्यात्मक ज्ञान-राशि से टकरा-टकराकर बना हुआ एक ऐसा पदार्थ है, जिसे हम 'अन्तर्वैयक्तिक तथ्य-जगत्' कह सकते हैं। यह कामचलाऊ नाम है। आगे हम इसका ठीक-ठीक नामकरण करने का प्रयत्न करेंगे। फिलहाल हमने इस कामचलाऊ नाम को इसलिए स्वीकार कर लिया है कि अधिक परिचित नाम से बिदककर हमारा चित्त मूल विचारधारा से बिदक न जाय। दूसरी बात यह मालूम होती है कि यह अन्तर्वैयक्तिक तथ्य-जगत् निरन्तर परिवर्धमान और परिवर्तमान पदार्थ है—वह गतिशील है। वह नाना वैयक्तिक तथ्य-जगतों के संघर्ष से स्थिरीकृत 'सामान्य जगत्' है। हमारी ज्ञान-राशि अधिकांश में वैयक्तिक न होकर अन्तर्वैयक्तिक है।

हमारी भाषा इन सामान्य तथ्यात्मक अनुभूतियों को एक व्यक्ति के चित्त से दूसरे के चित्त तक ढोने का साधन भी है और दीर्घकाल से अनेक अन्तर्वैयक्तिक तथ्य-जगत् के संघर्ष से विकसित होनेवाली और संचित होती रहनेवाली ज्ञान-राशि का वाहन भी है। यह भी गतिशील है। भाषा हमारी सामान्य अन्तर्वैयक्तिक उपलब्धियों के गाम्भीर्य और प्रसार का पता बताती है। जिस जाति का जितना ही अधिक विकास हुआ रहता है, वह उतना ही अधिक सूक्ष्म विचारों को प्रकट कर

1. शास्त्र में कहा है कि सत्य का मुँह हिरण्मय पात्र से—सोने के ढक्कन से—ढका हुआ है ('हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्')। सोने के ढक्कन को हटाकर नहीं खोलना चाहिए। उसे सावधानी से, दर्पविनाश के साथ, सरकाकर खोलना चाहिए। एकदम अनावृत सत्य का तेज असह्य होता है। गीता के अर्जुन उसे सह नहीं सके थे, 'सामर्थ्य-मार्ग' की अदर्शनीयता नहीं पहचानी थी उससे अभिभूत हो गये थे।—लेखक

सकती है। अन्ध-विश्वास में निमग्न जाति की भाषा मे वैज्ञानिक तथ्यो को प्रकट करने की शक्ति नही होती, और यह जानी हुई बात है कि वैज्ञानिक तथ्यों को प्रकट न कर सकनेवाली भाषा के बोलनेवालों का विकास अपेक्षाकृत कम हुआ रहता है। जहाँ विद्यालयो, सभा-मंचो और मुद्रण-यन्त्रों के द्वारा व्यक्ति की तथ्यात्मक अनुभूतियों की तरंगें दूसरो की विशाल ज्ञान-राशि से सदा टक्कर खाती रहती हैं, वहाँ विचार का स्रोत प्रबल वेग से बहता रहता है। जहाँ यह बात नही है, वहाँ के लोग स्तब्धवृत्तिक और आदिम भावापन्न बने रहते हैं। निरन्तर परिवर्त्तमान और परिवर्धमान इन उपलब्धियो के लिखित रूप को ही हम सामान्य रूप से 'साहित्य' कहते हैं। विशेप रूप में साहित्य उपलब्धियो के उस लिखित रूप को कहते हैं, जो हमारी सामान्य मनुष्यता को प्रभावित करती रहती है और भाव के आवेग से वेगवती होकर सामान्य मनुष्य के सुख-दुःख को विशेष मनुष्य—*श्रोता या पाठक*—के चित्त में संचारित कर देती है। भाषा साहित्य का वाहन है।

भाषा : सामाजिक सम्बन्धों का प्रतीक

आदिम मनुष्य के अन्तर्वैयक्तिक सम्बन्ध बहुत सहज थे; परन्तु धीरे-धीरे इन सम्बन्धों ने नवीन भावनाओ को उत्पन्न किया है, जो आगे चलकर नवीन सम्बन्धो *का कारण बनी है। नतीजा यह हुआ है कि मनुष्य की सामाजिक व्यवस्था नित्य* जटिलतर बनती जा रही है। मनुष्य का जीवन स्लेट पर लगाया जानेवाला हिसाब नही है कि गलती हुई, तो उसे मिटाकर फिर से ठीक-ठीक हिसाब लगा लिया गया। यहाँ तो जो गलती एक बार हुई, वह निश्चित रूप से जीवन को मोड़ने की क्रिया में अपना प्रभाव छोड़ जाया करती है। नाना प्रकार की गलत-सही कार्यवाहियो ने मनुष्य-जीवन को अनन्य-साधारण बनाया है; उसमे की उलझनो में से प्रत्येक ने सुलझने के बजाय नयी उलझनो को पैदा किया है। जीवन की जटिलतर प्रवृत्तियों को समझना आसान काम नही रह गया है। यद्यपि समाज-व्यवस्था बहुत जटिल हो गयी है, तथापि अद्‌भुत विरोधाभास यह है कि उनको प्रतीक-रूप मे उपस्थित करनेवाली बातें हमारे लिए अत्यन्त सहज हो गयी हैं। हम उनके जटिल रूप को एकदम भूल गये हैं। रुपये का नोट हमारे सामाजिक जटिल सम्बन्धों का प्रतिनिधित्व करता है। हमारे श्रम और तज्जन्य उत्पादन और इनके वितरण की व्यवस्था अत्यन्त जटिल हो गयी है। उसी को प्रतीक-रूप में यह रुपये का नोट उपस्थित करता है। प्रत्येक प्रकार के श्रम के लिए प्रत्येक प्रकार के उत्पादन को यदि श्रम-विनिमय का साधन माना जाता, तो हम इस अवस्था तक आये ही न होते। सभ्यता की यह शानदार सवारी निकल ही न पाती। सो, रुपये का यह कागजी नोट हमारी उलझी हुई सामाजिक व्यवस्था को प्रतीक रूप मे उपस्थित करता है। अतिपरिचयवश उसके इस रूप की हम उपेक्षा करते हैं। जिस प्रकार बाजार मे हमारे श्रम और उत्पादन के जटिल सम्बन्धों को रुपये का नोट प्रतीक रूप मे सामने ले आ देता है, ठीक उसी प्रकार शब्द हमारी सामाजिक भावनाओं

का प्रतिनिधित्व करते है। प्रत्येक शब्द किसी अर्थ का प्रतिनिधि होता है और इन विशेष अर्थों के लिए विशेष शब्दों का चुनना हमारी उस अन्तर्वैयक्तिक सामान्य सत्ता के प्रति निष्ठा का सबूत है, जिसके बिना व्यक्ति या समाज का विकास सम्भव ही न होता। इस प्रकार शब्द हमारे अन्तर्वैयक्तिक सम्बन्धों के प्रतीक हैं। इन सम्बन्धो को अधिक स्पष्ट भाषा में सामाजिक कह सकते है। वे इस उद्देश्य से बनाये गये है कि एक व्यक्ति की भावना दूसरे के चित्त में आसानी से उतार दी जा सके। व्यक्ति यदि अपने-आपमें ही परिपूर्ण होता, तो शब्द द्वारा अर्थ को प्रकट करनेवाली भाषा की आवश्यकता नही होती। यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण बात है। जो वन मे समाधि लगाया करता है, उसे शब्द की जरूरत नही होती। योगी भी जब भाषा का प्रयोग करता है, तो उसका अभिप्राय यह होता है कि दूसरे के चित्त में कुछ भावनाओं को उतार सके, फिर वे भावनाएँ समाधिकालीन एकान्त के अनुभव की ही क्यों न हों। शब्द द्वारा व्यक्त भाषा मनुष्य के सामाजिक सम्बन्धों का प्रतीक है।

प्रतिभा का प्रादुर्भाव

व्यक्ति जब दूसरे व्यक्तियों के उपलब्ध तथ्यों से अपने ज्ञान-भण्डार को बढ़ाता है, तो धीरे-धीरे उसमें अधिकाधिक उपलब्धि की योग्यता भी बढती रहती है। यह क्रिया वंश-परम्परा से भी चलती रहती है। कुछ व्यक्ति कुछ खास बातों को अधिक उपलब्ध कर लेते हैं, कुछ उपलब्ध ज्ञान को दूसरे के चित्त मे ज्यादा आसानी से उतार सकते हैं। इस प्रकार उस वस्तु का प्रादुर्भाव होता है, जिसे हम प्रतिभा कहते हैं। यह सम्पूर्ण रूप से वैयक्तिक नही है। भूत-प्रेत और ग्रह-नक्षत्रो के अन्ध-संस्कार में पली जाति मे आइन्स्टाइन नही पैदा हो सकते; वन्य कोल-किरातों के समाज मे कालिदास नही उत्पन्न हो सकते। समाज की सामूहिक पहुँच को ही व्यक्ति-विशेष की प्रतिभा सूचित करती है। यह निश्चित समझिए कि इस स्थूल जगत् को छोड़कर मनुष्य रह नही सकता, और वह काव्य लिखे या नाटक, अपने इर्द-गिर्द के वातावरण से अस्पृष्ट नही रह सकता। प्रतिभावान कवि अपने इर्द-गिर्द के जगत् से ही अपने काव्य का मसाला संग्रह करता है।

शब्द और अर्थ

यह तो निश्चित बात है कि स्थूल जगत् को छोड़कर मनुष्य नही रह सकता और न अपने देश और काल की सीमाओ से अस्पृष्ट रहकर ही कोई शिल्पसृष्टि कर सकता है। साहित्य भी स्थूल जगत् से विच्छिन्न होकर नही रह सकता; क्योंकि शब्द और अर्थ ही उसके शरीर हैं और अर्थ शब्दो द्वारा सूचित बाह्य सत्ता को प्रकट करते हैं। एक व्यक्ति के चित्त के उचित अर्थ को दूसरे के चित्त में प्रवेश कराके ही शब्द सार्थक होता है। भावावेग द्वारा कम्पित और आन्दोलित शब्दार्थ अपने सीमित अर्थ से अधिक को प्रकाशित करता है। शब्द के अभिधेय अर्थ से कहीं अधिक

को प्रकाशित करनेवाली शक्ति को प्राचीनों ने नाना नाम देकर स्पष्ट करना चाहा है। सबसे अधिक प्रचलित और मान्य शब्द 'व्यंजना' है। अनुरणन के साथ उसकी तुलना करके उसी भावावेगजन्य कम्पन की ओर इशारा किया गया है। छन्द उस आवेग का वाहन है। छन्दोहीन भाषा में कल्पना और सम्मूर्त्तन तो हो सकते हैं, पर आवेग का कम्पन नही होता। प्राचीन कथाओं की गद्य समझी जानेवाली भाषा में भी एक प्रकार का छन्द है, एक प्रकार की वक्र कम्पनशील नृत्य-भंगिमा है। वे कहानी की इस सीधी बात को कि 'एक था राजा' इतने सरल ढंग से नही कहेंगे। कहेंगे—'धनदर्प-कन्दर्प-सौन्दर्य-सोदर्य हृद्यनिरवद्यरूपो भूपो बभूव।' यह भाषा ही छन्दोमयी है। इसमे छन्द है, झंकार है, लोच है, वक्रता है; जो अर्थ मे आवेग भरने का प्रयत्न करते हैं। उपन्यास मे यह आवेग कम होते हैं, क्योंकि उसकी भाषा में गद्यात्मकता होती है; परन्तु जहाँ कही भी उसमे आवेग का कम्पन आता है, वही प्रच्छन्न छन्द भी रहता है। इसका यह मतलब नही कि आवेगकम्पित भाषा न होने के कारण उपन्यास कम महत्त्वपूर्ण साहित्यांग है। उपन्यास भी साहित्य के मुख्य उद्देश्य का उसी प्रकार पूरक है, जिस प्रकार काव्य। अनुप्रास भावावेग के वेग में नृत्य का छन्द जोड़ता है। जब एक ही ध्वनि बार-बार दुहरायी जाती है, तो श्रोता आवेग की वक्रिमता से सहज ही प्रभावित हो जाता है। यदि काव्य में से अर्थ-प्रकाशक शब्द हटा दिये जायँ तो वह ध्वनि-प्रवाह संगीत बन जायगा।

वस्तुतः अर्थहीन छन्द-प्रवाह संगीत ही है। संगीत में बाह्य जगत् की उस सत्ता से, जो शब्द द्वारा प्रकाशित होती है, कम-से-कम योग होता है; ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार गणित मे उस आन्तर सत्ता से, जो आवेग-कम्पित स्वर से प्रकाशित होती है, कम-से-कम योग होता है। चेतना के एक प्रान्त पर संगीत है, दूसरे पर गणित। सगीत मे जिसे स्वर कहते है, वह एक प्रकार का वेग ही है। बाह्य अर्थों से युक्त होने पर वह आवेग के रूप मे प्रकट होता है। परन्तु काव्य जिस प्रकार शब्द-प्रकाश्य अर्थ के द्वारा बाह्य विषय-सत्ता से बँधा रहता है, उस प्रकार संगीत नही बँधा रहता। वह अपने-आप ही स्पन्दित होता है। ताल उसमे उसी प्रकार की अनुभूति-क्षमता भरता है, जिस प्रकार छन्द आवेग में। काव्य द्वारा और संगीत द्वारा स्पन्दित मानव-चित्त के आवेगों में थोड़ा अन्तर होता है। काव्य में आवेग द्वारा जो स्पन्दन उत्पन्न होता है, वह बाह्य सत्ता से पूर्णतया सम्बद्ध होता है, हम बाह्य घटनाओं की अनुभूति से चालित होते रहते हैं। काव्य पाठक में सुख-दुःख का आवेग उत्पन्न करता है। दूसरो के सुख-दुःख के साथ मनुष्य की समवेदना होती है और अन्त तक वह उस सुख-दुःख को अनुभव करने लगता है। इस प्रकार काव्य मनुष्य-मनुष्य के भीतर वर्तमान एकत्व का प्रतिष्ठापक हो जाता है। काव्य प्रमाणित कर देता है कि व्यक्ति-मानव के ऊपरी विभेदों के नीचे एक अभेद है, एकता है।

आवेग और कम्पन

विभिन्न आवेगों से भिन्न-भिन्न जाति और आकृति के कम्पन उत्पन्न होते हैं। संगीत से भी उसी प्रकार के कम्पन उत्पन्न होते हैं, जिस प्रकार के कम्पन काव्य से उत्पन्न होते है; फिर भी संगीत से उत्पन्न कम्पनों का योग बाह्य सत्ता से कम होने के कारण श्रोता के चित्त मे उतनी गाढ़ अनुभूति नही होती, जितनी काव्य-जनित आवेग के कम्पन से होती है। टोड़ी के आलाप मे जो एक प्रकार की उदास और विरह-व्याकुल वेदना चित्त मे घुमड़ आती है, वह विश्वजनीन तो होती है; पर अविच्छिन्न या 'एब्सट्रैक्ट' होने के कारण अनुभूति में वह सान्द्रता नही ले आ पाती, जो काव्य के करुण रस से उत्पन्न होती है; क्योंकि संगीत की अनुभूति अहेतुक होती है। मनुष्य का चित्त सर्वत्र कार्य-कारण की शृंखला खोजता रहता है—अनुभूति और वेदना के क्षेत्र में भी। काव्यजन्य अनुभूति की सान्द्रता इस बात का पक्का प्रमाण है कि मनुष्य आवेग-चालित अवस्था में कार्य-कारण-शृंखला के प्रति आस्था बनाये ही रहता है। जहाँ वह उसे नहीं पाता, वहाँ देर तक जमना नही चाहता। यही कारण है कि भक्त कवि भगवान् के साथ व्यक्तिगत सम्बन्ध की कल्पना कर लेता है। जिस काव्य मे केवल शब्दालंकार ही झंकार उत्पन्न करता है, अर्थ का भार कम होता है, वह बहुत-कुछ उसी प्रकार का असान्द्र अनुभूतिजनक आवेग-कम्पन उत्पन्न करता है, जो संगीत करता है; पर उसमें संगीत की अबाध गति भी नही होती और अर्थ-जगत् से सम्पूर्ण विच्छेद भी नहीं होता, क्योंकि उसके शब्द बराबर बाह्य सत्ता से श्रोता का सम्बन्ध जोड़ते रहते हैं और स्वर के स्वच्छन्द प्रवाह मे बाधा उत्पन्न करते रहते है। अर्थ-भार-हीन शब्दालंकार न तो काव्य की गाढ़ अनुभूति ही पैदा करते है और न संगीत का प्रवाह ही। वे दोनों के केवल घटिया प्रभाव-भर उत्पन्न करते हैं। परन्तु जहाँ शब्दालंकार में अर्थ-भार बना रहता है, वहाँ वे काव्यगत प्रभाव में संगीत की सहज गति भर देते है। परन्तु अर्थालंकार शब्द के प्राणप्रद और विशेपाधान-हेतुक, दोनो ही धर्मो मे गाढ अनुभूति का रस ले आते है। हम उनकी सहायता से वक्तव्य के व्यक्तित्व को, गुणों को और क्रियाओं को गाढ भाव से अनुभव करते हैं। पदार्थ के विशेपाधान-हेतुक धर्म—चाहे वे सिद्ध हो या साध्य—सादृश्यमूलक अलंकारों से इस प्रकार सम्मूर्तित होते हैं कि पाठक के चित्त में अनुभूति सहज हो जाती है। वस्तुतः अर्थालंकार जब आवेग-सहचर होकर आते हैं, तो वाक्य में अधिक उर्जस्वल तेज भर देते है; पर जब आवेग-हीन होकर आते है, तो चमत्कारी उक्ति-भर रह जाते है। वे उस अवस्था मे बिजली की कौध के समान एक क्षणिक ज्योति विकीर्ण करके अन्तर्धान हो जाते है। यह क्षणिक ज्योति हमारे किसी बड़े काम की नही होती, केवल अन्तर की चेतना पर मृदुल आघात करके विलीन हो जाती है। मध्यकालीन कवि की अज्ञातयौवना नायिका ने जब अपनी दासी को ईख की दँतुअन ले आने के अपराध पर झिड़का था, तो उसकी सरलता ने ऐसी ही एक क्षणिक ज्योति उत्पन्न की थी।

[illegible]

[illegible]

लेकिन [illegible] नहीं [illegible] नहीं हो जाता। यह [illegible] एक [illegible] को आनन्द देती ही है, इसलिए इसे [illegible] की दृष्टि से नहीं देखा जा सकता।

सामाजिक मंगल का विधायक साहित्य

यह सच है कि दूसरे के चित्त में प्रभाव उत्पन्न करना ही काव्य का सबसे बड़ा कार्य है, अर्थात् काव्य सामाजिक वस्तु है। इसीलिए राजशेखर ने कहा है, 'आदमी बुद्धिमान् हो, तो काव्य तो जैसे-तैसे बना ही लेता है; परन्तु पढ़ना तो वही जानता है, जिसकी सरस्वती सिद्ध होती है':

करोति काव्यं प्रायेण संस्कृतात्मा यथातथा।
पठितुं वेत्ति स परं यस्य सिद्धा सरस्वती॥

क्योंकि अच्छे पढ़ने के ढंग का अर्थ छन्दोबन्ध आवेग-स्पन्दन का पूर्ण उपयोग है और इस उपयोग का अर्थ है सामाजिक को काव्यार्थ की पूर्ण उपलब्धि।

जो साहित्य हमारी वैयक्तिक क्षुद्र संकीर्णताओं से हमें ऊपर उठा ले जाय और सामान्य मनुष्यता के साथ एक कराके अनुभव कराये, वही उपादेय है। उसके भावपक्ष के लिए किसी देश-विशेष या काल-विशेष की नैतिक आचार-परम्परा का मुँह जोहना आवश्यक नहीं है। हमें दृढ़ता से केवल एक बात पर डटा रहना चाहिए, और वह यह कि जिसे काव्य, नाटक या उपन्यास साहित्य कहकर हमें दिया जा रहा है, वह हमें हमारी पशु-सामान्य मनोवृत्तियों से ऊपर उठाकर समस्त जगत् के सुख-दुःख को समझने की सहानुभूतिमय दृष्टि देता है या नहीं; हमें उस 'एक' की अनुभूति में सहायता पहुँचा रहा है या नहीं, जिसे व्यक्ति ने अपने अनेक स्वार्थों के बलिदान के बाद उपलब्धियोग्य बनाया है। जो भी साहित्य इसके बाहर पड़े—अर्थात् हमारी पशु-सामान्य वृत्तियों को बड़ी करके दिखाये—हमें स्वार्थी और खण्ड-विच्छिन्न बनाये, उसे हम साहित्य नहीं कह सकते -- चाहे जितने बड़े साहित्यिक दल या सम्प्रदाय का समर्थन उसे प्राप्त हो। साहित्य सामाजिक मंगल का विधायक है। यह सत्य है कि वह व्यक्ति-विशेष की प्रतिभा से ही रचित होता है; किन्तु और भी अधिक सत्य यह है कि प्रतिभा सामाजिक प्रगति की ही उपज है। एक ही मनोराग जब व्यक्तिगत सुख-दुःख के लिए नियोजित होता है, तो छोटा हो जाता है; परन्तु जब सामाजिक मंगल के लिए नियोजित होता है, तो महान् हो जाता है; क्योंकि वह सामाजिक कल्याण का जनक होता है। साहित्य

में यदि व्यक्ति की अपनी पृथक् सत्ता, उसकी संकीर्ण लालसा और मोह ही प्रबल हो उठें, तो वह साहित्य बेकार हो जाता है। भागवत में मनोरागों के इस सामाजिक उपयोग को उत्तम बताया गया है; क्योंकि इससे सबका मूल निषेचन होता है, इससे मनुष्यता की जड़ की सिंचाई होती है :

यद्युज्यतेऽसुवसुकर्ममनोवचोभि-
र्देहात्मजादिषु नृभिस्तदसत् पृथक्त्वात्
तैरेव सद्भवति चेत् क्रियतेऽपृथक्त्वात्
सर्वस्य तद्भवति मूलनिषेचनं यत्।

[विचार-प्रवाह से]

साहित्य की सम्प्रेषणीयता

आज हमारा राष्ट्र परिवर्तन के मोड़ पर है, हम सब प्रकार के सामाजिक, आर्थिक और वैज्ञानिक विकास के लिए कृतसंकल्प हैं। हम एक ऐसे समाज की रचना में संलग्न हैं जिसमें गरीबी और विषमताएँ नहीं रहेंगी और प्रत्येक व्यक्ति को अपनी योग्यता के अनुसार आगे बढ़ने के अवसर समान रूप से प्राप्त होंगे। यह एक महान् संकल्प है, इसके लिए बहुत बड़े पैमाने पर विचारगत क्रान्ति की आवश्यकता है। हमारे देश की समस्याएँ बहुत जटिल हैं और उनकी जड़ें दीर्घकाल से गहराई मे पैठी हुई हैं, उनके व्यापक होने में हमारे इतिहास ने और हमारी सामाजिक व्यवस्थाओं ने अपना योगदान किया है।

इनके स्वरूप की ठीक-ठीक जानकारी साहित्य के माध्यम से ही हो सकती है। उत्तम साहित्य के द्वारा ही हम उन बाधाओं का यथार्थ स्वरूप समझ सकते हैं जो नये युग में हमारे लिए अवरोधक सिद्ध हो रही हैं। साहित्य उस मानसिक भूमिका को तैयार करता है, जो नये वैज्ञानिक युग के प्रकाश के ग्रहण करने मे अत्यन्त आवश्यक है।

परन्तु हम साहित्य को ही इसके लिए अत्यधिक प्रभावशाली साधन क्यों स्वीकार करते हैं? क्या भाषा का ही उद्देश्य सम्प्रेषणीयता नहीं है? एक मन के भाव को दूसरे तक सम्प्रेषित करना ही वस्तुतः भाषा का उद्देश्य है। इसलिए भाषा मे हम जो कुछ कहेंगे या लिखेंगे वह सभी किसी-न-किसी विचार के सम्प्रेषण के उद्देश्य से ही होगा। ऐसी स्थिति मे साहित्य पर ही विशेष बल देने की क्या

आवश्यकता है ? आज सैकड़ों समाचारपत्र और सूचना देनेवाली पुस्तकें क्या सम्प्रेषण का कार्य नही कर रही हैं ?

यह ठीक है कि भाषा का मुख्य काम विचारों का सम्प्रेषण ही है और ऐसे सूचनात्मक ग्रन्थों को भी सामान्य रूप में साहित्य कह देने की प्रवृत्ति भी पायी जाती है; परन्तु भाषा द्वारा दो प्रकार के सम्प्रेषण होते है : एक तो सूचनात्मक सम्प्रेषण है जिसमें हम श्रोता के चित्त में किसी बात की सूचना का संचार करते हैं और दूसरा रचनात्मक सम्प्रेषण होता है जो श्रोता के चित्त मे गाढ़ अनुभूति द्वारा जगायी गयी संवेदनाओं को मूर्त्त और अनुभव योग्य बनाता है। वस्तुतः इस दूसरी श्रेणी के सम्प्रेषण को ही सही अर्थो में सम्प्रेषण कहा जा सकता है। इसी का नाम रचनात्मक सम्प्रेषण है। जब हम साहित्य की सम्प्रेषणीयता पर विचार करते हैं तब हम इस दूसरी श्रेणी के सम्प्रेषण पर ही बल देते है।

सूचनात्मक सम्प्रेषण उतना प्रभावशाली नही होता जितना रचनात्मक सम्प्रेषण। ऐसा क्यो होता है ? ऐसा इसलिए होता है कि भाषा साधारणतः शब्दों के सामान्य अर्थ का ही कारबार करती है। प्रत्येक शब्द जिस अर्थ को अभिव्यक्त करता है, वह सामान्य अर्थ होता है। परन्तु संवेदनशील रचनात्मक साहित्यकार, सामान्य अर्थों से सन्तुष्ट नही होता है। वह सामान्य अर्थो को व्यक्त करनेवाली भाषा के माध्यम से ही अपनी विशिष्ट अनुभूतियों को लोकचित्त में सम्प्रेषित करने के लिए व्याकुल रहता है। स्रष्टा और संवेदनशील साहित्यकार के मन मे प्रत्येक युग में नयी विशिष्ट चेतना उत्पन्न होती है, जिसे सामान्य भाषा व्यक्त नही कर पाती। *इसके लिए साहित्यकार को नये शब्द और नयी प्रकाशन-भंगिमा का सहारा* लेना पड़ता है। नयी प्रकाशन-भंगिमा मे भाषा का स्वरूप बदल जाता है और पुराने शब्दो में भी नये अर्थ आरोपित होने लगते हैं। अपनी विशिष्ट अनुभूति को लोकचित्त की सामान्य अनुभूति बना देना ही वह कौशल है जिसे काव्यशास्त्र में 'साधारणीकरण' कहते है। रचनात्मक साहित्य लोकचित्त को नये सन्दर्भ में नयी ग्राहिका शक्ति देता है, इसलिए वह सामान्य भाषा की अपेक्षा अधिक शक्तिशाली साधन होता है। वह नये सन्दर्भ में उपलब्ध विशिष्ट संवेदनशील चित्त की विशिष्ट *अनुभूतियों को सर्वसाधारण के चित्त की अनुभूति बना सके—साहित्य के नाम पर* चलनेवाली रचनाएँ यदि इस उद्देश्य को पूरा नही करतीं तो वे साहित्य कहलाने के योग्य ही नहीं हैं।

सच्चा साहित्य चित्तगत उन्मुक्तता को जन्म देता है। वह सहृदय के चित्त को रूढ और निर्जीव संस्कारो से मुक्त करके नये सन्दर्भ में नयी ग्राहिका शक्ति से सम्पन्न करता है।

साहित्य में सम्प्रेषणीयता किसी-न-किसी मानवीय विश्वास के आधार पर होती है। *आधुनिक साहित्यकार का मानवीय विश्वास अनेक ऐतिहासिक कारणो* से प्राचीनतर विश्वासों से भिन्न कोटि का है। परन्तु सच पूछिए तो किसी भी दो युगों के मानवीय विश्वास हू-ब-हू एक ही तरह के नहीं होते। नये सन्दर्भों मे वे

में यदि व्यक्ति की अपनी पृथक् सत्ता, उसकी संकीर्ण लालसा
हो उठें, तो वह साहित्य बेकार हो जाता है। भागवत
सामाजिक उपयोग को उत्तम बताया गया है; क्योंकि इससे
होता है, इससे मनुष्यता की जड़ की सिंचाई होती है :

यद्युज्यतेऽसुवसुकर्ममनोवचोभि-
देहात्मजादिषु नृभिस्तदसत् पृथक्त्वात्
तैरेव सद्भवति चेत् क्रियतेऽपृथक्त्वात्
सर्वस्य तद्भवति मूलनिषेचनं यत्।

साहित्य की सम्प्रेषणीयता

आज हमारा राष्ट्र परिवर्तन के मोड़ पर है, हम सब प्रकार
और वैज्ञानिक विकास के लिए कृतसंकल्प हैं। हम एक ऐ
संलग्न हैं जिसमें गरीबी और विषमताएँ नहीं रहेंगी और
योग्यता के अनुसार आगे बढ़ने के अवसर समान रूप
महान् संकल्प है, इसके लिए बहुत बड़े पैमाने पर विचारग
है। हमारे देश की समस्याएँ बहुत जटिल हैं और उनकी
में पैठी हुई हैं, उनके व्यापक होने में हमारे इतिहास
व्यवस्थाओं ने अपना योगदान किया है।

इनके स्वरूप की ठीक-ठीक जानकारी साहित्य के मा
उत्तम साहित्य के द्वारा ही हम उन बाधाओं का यथार्थ
नये युग मे हमारे लिए अवरोधक सिद्ध हो रही हैं। साहि
को तैयार करता है, जो नये वैज्ञानिक युग के प्रकाश में
आवश्यक है।

परन्तु हम साहित्य को ही इसके लिए अत्यधिक म
स्वीकार करते हैं? क्या भाषा का ही उद्देश्य सम्प्रेषणीयता
भाव को दूसरे तक सम्प्रेषित करना ही वस्तुतः भाषा का उद्देश्य
में हम जो कुछ कहेंगे या लिखेंगे वह सभी किसी-न-किसी वि
उद्देश्य से ही होगा। ऐसी स्थिति में साहित्य पर ही विशेष

आस्थावान हैं। वे केवल उसे अमल करने के लिए जिम्मेदार व्यक्तियों और उनके तौर-तरीकों के प्रति आस्थावान नही हैं। सारे व्यंग्य और कटूक्तियों के मूल मे उस जड-निर्जीव यन्त्र के प्रति क्षोभ का भाव है, जो नयी प्रगतिमूलक नीतियाँ कुण्ठित मनोवृत्ति और जीर्ण-शीर्ण विधानो द्वारा लागू करने का प्रयास करता है।

आज भिन्न-भिन्न विचारोंवाले समाचारपत्र प्रतिदिन कुछ-न-कुछ विचारों का सम्प्रेषण अपने पाठकों के चित्त मे अवश्य करते है। परन्तु चूँकि वे ऐसी भाषा का सहारा लेते है जो सामान्य अर्थो को वहन करनेवाली भाषा है, इसलिए उनका सम्प्रेषण प्रभावशाली नही होता। हम गोष्ठियों में बैठे-बैठे, चाय पीते-पीते इस खबर पर चर्चा कर सकते है कि बाग्ला देश मे 10 लाख आदमी मारे गये या 90 लाख आदमी शरणार्थी के रूप मे हमारे देश में भाग आये हैं। यह सामान्य अर्थ देनेवाली भाषा द्वारा सम्प्रेषित सूचनामात्र है, जो हमारे चित्त के उपरले सतह को छूकर विगत हो जाती है। उसमे गाढ अनुभूति संचरित करने की क्षमता बहुत कम होती है। परन्तु यदि इसको विशिष्ट बनाकर कहना है तो किसी एक विशिष्ट परिवार के कष्टों का; निर्वसन, निरन्न भागते हुए रुग्ण वृद्धों तथा बच्चो और अपमानित बहुओं के भारी कष्टो का मार्मिक चित्रण करना होगा। कष्ट भोगते समय उन्हें जो अनुभव हुआ उसको यदि कोई संवेदनशील कथाकार या कवि प्रत्यक्ष करके रख दे तो सवेदनशील मनुष्य का हृदय मथित हो जायेगा और उसके चित्त में इन अभागों का दुःख कही अधिक गाढ भाव से अनुभवगम्य हो सकेगा। भूखा बालक मरी हुई माँ का स्तनपान करने के लिए व्यर्थ प्रसास कर रहा है और चारों ओर स्यारों और गिद्धो की जमातें उसे घेरे हुए हैं—इस एक दृश्य से ही कोई कलाकार जिस भयंकर कष्ट और दुःख की अनुभूति दे सकता है वह लम्बी-चौड़ी संख्याओं से कदापि सम्प्रेषित नही हो सकता।

इस प्रसंग में यह प्रश्न उठता है कि सम्प्रेषणीयता की क्षमता किन लोगो मे होती है। आज के महान् युग में प्रत्येक देश सैकड़ों पत्र-पत्रिकाएँ निकाल रहा है। उन्हे पढ़ पाने के लिए सैकड़ों लोग प्रतिदिन ही लिखा करते है। क्या ये सारी रचनाएँ सम्प्रेषणीयता की क्षमता रखती हैं? स्पष्ट ही है कि सबमें न तो समान रूप से संवेदनशीलता ही होती है, न ही समान रूप से सबसे यह आशा की जा सकती है कि वे किसी गाढ अनुभूति को सबके चित्त में प्रविष्ट करा सकेंगी। परन्तु सभी किसी-न-किसी रूप में और किसी-न-किसी मात्रा मे थोड़ी-बहुत नयी सवेदना तो सम्प्रेषित करती ही रहती है। इसी प्रकार जितने लोग व्यग्य और विद्रूपों का सहारा लेते है, वे सब सही अर्थ मे ही आलोचना कर रहे हैं यह नही कहा जा सकता, परन्तु ऐसी भाषा में वह तीक्ष्णता अवश्य वे ले आते हैं जो किसी समर्थ कलाकार का साधन बनकर अधिक तेजी से भोथे हृदयो में चुभ सकने की शक्ति रखती है। हिन्दी के आधुनिक साहित्य के नये कवियो और लेखकों के हृदयो मे एक ऐसी धारणा बहुत अधिक बद्धमूल जान पड़ती है कि जो कुछ हो रहा है वह सन्तोष-जनक नही। मानवीय धरातल पर मनुष्य के दु.ख-दर्द को सहलाने के लिए जैसी

नया रूप धारण करते रहते है।

चित्तगत्त उन्मुक्तता का अर्थ यह नहीं होता कि मनुष्य अपने पूर्वजों की विशाल अनुभव-सम्पद की उपेक्षा करे। यह बिल्कुल गलत धारणा है। जिन दिनों यूरोप मे मानवतावाद की नयी लहर आयी थी, उन दिनों देश-विदेश के शास्त्रो का जैसा गहरा और गम्भीर अध्ययन हुआ वैसा पहले कभी नही हुआ। उससे नुकसान तो हुआ ही नही, वरन् लाभ ही हुआ।

प्रकृत यह है कि नये सन्दर्भ में नये संकल्पों और आदर्शों को लोकचित्त मे सम्प्रेपित करने के लिए नये साहित्यकार को पुरानी भाषा में बहुत-कुछ परिवर्त्तन करना पड रहा है। बहुत-से पुराने शब्द नये अर्थो मे प्रयुक्त होने लगे है। नये शब्द भी गढे जा रहे हैं। पुराने-से-पुराने शब्द अब अपने पुराने अर्थों को छोड़ नया बाना धारण कर रहे हैं। यद्यपि राजा, सेठ, मन्त्री आदि शब्द बहुत पुराने है, परन्तु नयी परिस्थिति मे उनके अर्थों मे और उनके प्रयोग मे बहुत अन्तर आ गया है। इसी प्रकार जाति, कुल, सम्पत्ति, विद्वत्ता आदि शब्दों के अर्थो में सूक्ष्म अन्तर आ गया है। अनेक प्रकार की साहित्यिक रचनाओं के--जिनमे उपन्यास, कहानी, कविता, नाटक, व्यंग्य, हास्य आदि है—पुराने शब्दो को नये अर्थ मे संस्कृत करने का कार्य निरन्तर चल रहा है। आधुनिक हिन्दी साहित्य इस विपय में काफी जागरूक है। देखते-देखते सम्प्रेपण के मुख्य साधन--शब्द, छन्द, अलंकरण, लय आदि—में भारी परिवर्त्तन हुआ है और आधुनिक युग की समस्याओं के विपय में साहित्यकारों की प्रतिक्रियाओं में भी जबर्दस्त अन्तर आ गया है।

इन दिनो देश नये परिवर्त्तन के दौर से गुजर रहा है। सरकारी तौर पर अनेक प्रकार के समाधान सोचे और सुझाये जा रहे हैं। आर्थिक-सामाजिक पक्षों पर अनेक प्रकार के नये विचार प्रस्तुत किये जा रहे है और ऐसा समझा जा रहा है कि इन विचारों को कार्यरूप में परिणत करने से देश मे समृद्धि का नया युग उत्पन्न हो सकेगा। यह विशेप रूप से उल्लेख्य है कि हिन्दी का नया साहित्यकार इन सभी सुझावों का स्वागत नही करता। कई बार तो वह व्यंग्यों और कटाक्षो के द्वारा उनकी उपादेयता पर सन्देह प्रकट करता है और कभी-कभी उनकी खिल्ली भी उड़ाता है। जो लोग सरकार के द्वारा प्रचारित समाधानो को ज्यो-का-त्यों स्वीकार कर उसे अपने साहित्य का विषय बनाते है, उन्हे सब समय अच्छा साहित्यकार भी नही माना जाता; क्योंकि हिन्दी के नये साहित्यिको के मन मे साहित्य को प्रोपेगैण्डा की मशीन बनाने के विचार के प्रति ही विद्रोह की भावना जड़ जमा चुकी है।

नयी कहानी, कविता, अकविता, चुटकुले आदि को देखने से भी लगता है कि हिन्दी का नया साहित्यकार विद्रोही हो गया है, जो विद्रोही नही है उसके प्रति वह निष्ठुर भी है। इसीलिए स्वभावतः यह प्रश्न उठता है कि आज के युग मे वैज्ञानिक या सामाजिक प्रगति के प्रति उत्साह और उल्लास का भाव सम्प्रेपित करने मे हमारे साहित्यकार अपने उत्तरदायित्व का अनुभव कर रहे है या नही। मैं समझता हूँ कि नये साहित्यकार विशेप सामाजिक प्रगति और वैज्ञानिक उपलब्धियों के प्रति

आस्थावान हैं। वे केवल उसे अमल करने के लिए जिम्मेदार व्यक्तियों और उनके तौर-तरीकों के प्रति आस्थावान नहीं है। सारे व्यंग्य और कटूक्तियों के मूल में उस जड़-निर्जीव यन्त्र के प्रति क्षोभ का भाव है, जो नयी प्रगतिमूलक नीतियाँ कुण्ठित मनोवृत्ति और जीर्ण-शीर्ण विधानों द्वारा लागू करने का प्रयास करता है।

आज भिन्न-भिन्न विचारोंवाले समाचारपत्र प्रतिदिन कुछ-न-कुछ विचारों का सम्प्रेषण अपने पाठकों के चित्त में अवश्य करते हैं। परन्तु चूँकि वे ऐसी भाषा का सहारा लेते हैं जो सामान्य अर्थों को वहन करनेवाली भाषा है, इसलिए उनका सम्प्रेषण प्रभावशाली नहीं होता। हम गोष्ठियों में बैठे-बैठे, चाय पीते-पीते इस खबर पर चर्चा कर सकते हैं कि बांग्ला देश में 10 लाख आदमी मारे गये या 90 लाख आदमी शरणार्थी के रूप में हमारे देश में भाग आये हैं। यह सामान्य अर्थ देनेवाली भाषा द्वारा सम्प्रेषित सूचनामात्र है, जो हमारे चित्त के उपरले सतह को छूकर विगत हो जाती है। उसमें गाढ़ अनुभूति संचरित करने की क्षमता बहुत कम होती है। परन्तु यदि इसको विशिष्ट बनाकर कहना है तो किसी एक विशिष्ट परिवार के कष्टों का; निर्वसन, निरन्न भागते हुए रुग्ण वृद्धों तथा बच्चों और अपमानित बहुओं के भारी कष्टों का मार्मिक चित्रण करना होगा। कष्ट भोगते समय उन्हें जो अनुभव हुआ उसको यदि कोई संवेदनशील कथाकार या कवि प्रत्यक्ष करके रख दे तो संवेदनशील मनुष्य का हृदय मथित हो जायेगा और उसके चित्त में इन *अभागों का दुःख कहीं अधिक गाढ भाव से अनुभवगम्य हो सकेगा।* भूखा बालक मरी हुई माँ का स्तनपान करने के लिए व्यर्थ प्रयास कर रहा है और चारों ओर स्यारों और गिद्धों की जमातें उसे घेरे हुए हैं—इस एक दृश्य से ही कोई कलाकार जिस भयंकर कष्ट और दुःख की अनुभूति दे सकता है वह लम्बी-चौड़ी संख्याओं से कदापि सम्प्रेषित नहीं हो सकता।

इस प्रसंग में यह प्रश्न उठता है कि सम्प्रेषणीयता की क्षमता किन लोगों में होती है। आज के महान् युग में प्रत्येक देश सैकड़ों पत्र-पत्रिकाएँ निकाल रहा है। उन्हें पढ़ पाने के लिए सैकड़ों लोग प्रतिदिन ही लिखा करते हैं। क्या ये सारी रचनाएँ सम्प्रेषणीयता की क्षमता रखती हैं? स्पष्ट ही है कि सबमें न तो समान रूप से संवेदनशीलता ही होती है, न ही समान रूप से सबसे यह आशा की जा सकती है कि वे किसी गाढ़ अनुभूति को सबके चित्त में प्रविष्ट करा सकेंगी। परन्तु सभी किसी-न-किसी रूप में और किसी-न-किसी मात्रा में थोड़ी-बहुत नयी संवेदना तो सम्प्रेषित करती ही रहती हैं। इसी प्रकार जितने लोग व्यंग्य और विद्रूपों का सहारा लेते हैं, वे सब सही अर्थ में ही आलोचना कर रहे हैं यह नहीं कहा जा सकता, परन्तु ऐसी भाषा में वह तीक्ष्णता अवश्य वे ले आते हैं जो किसी समर्थ कलाकार का साधन बनकर अधिक तेजी से भोथे हृदयों में चुभ सकने की शक्ति रखती है। हिन्दी के आधुनिक साहित्य के नये कवियों और लेखकों के हृदयों में एक ऐसी धारणा बहुत अधिक बद्धमूल जान पड़ती है कि जो कुछ हो रहा है वह सन्तोष-जनक नहीं। मानवीय धरातल पर मनुष्य के दुःख-दर्द को सहलाने के लिए जैसी

व्यवस्था होनी चाहिए वैसी व्यवस्था हो नहीं रही है। विज्ञान के साधनों के सदुपयोग को जिस सन्दर्भ की आवश्यकता है वैसा प्राप्त नहीं हो रहा है। सारा देश गरीबी, रोग, अशिक्षा और कुसंस्कार से मुक्त हो, इस बात के लिए जैसा प्रयत्न होना चाहिए, वैसा हो नहीं रहा है। इसलिए हमारे नये साहित्य में बड़े जबर्दस्त व्यंग्य और भर्त्सना का आधिक्य है।

यह और भी शक्तिशाली होता यदि साहित्यकार इस विषय में भी सजग होते कि जो बाधाएँ हैं वे कितनी मनुष्य की शक्ति के वश में हैं और कितनी ऐसी हैं जो दीर्घकाल तक धैर्य और सतत प्रयत्न द्वारा साध्य हैं। मुझे कभी-कभी लगता है कि हमारे नये साहित्यकार के मन में देश की दुर्गतियों के बारे में तीव्र अनुभूति तो है, पर उनकी विशालता और व्यापकता का पूरा चित्र नहीं है। इसीलिए उनके व्यंग्य अधूरे और एकांगी हो जाते हैं। मुझे इस बात से खुशी होती है कि नये साहित्यकार मनुष्य के दुःख के प्रति जागरूक हैं और इस बात से व्याकुल हैं कि कहीं-न-कहीं ऐसी कोई गलती अवश्य है जो इसको दूर करने की हमारी सारी आकांक्षाओं के बावजूद सारे प्रयत्नों को विफल बना रही है। बाधा मुख्य रूप से हमारे सामाजिक संघटन में है, और जिस व्यवस्था के ऊपर इसको दूर करने की जिम्मेदारी है उस व्यवस्था के ढाँचे की संरचना में है। यह एकदम असम्भव है कि सारी बातें रातों-रात जादू की छड़ी से ठीक कर दी जायें। हमारी गरीबी और हमारे कुसंस्कार कुछ एक दिन में तो पैदा नहीं हुए हैं। वे इतिहास की देन हैं और उनके समूल उत्पाटन के लिए प्रयत्न करना पड़ेगा। फिर भी यह सन्तोष की बात है कि नये साहित्यकार लक्ष्य के प्रति सचेत हैं, हालाँकि वे बाधक तत्त्वों के बारे में कुछ उदासीन भी लगते हैं। जो हो, साहित्यिक सम्प्रेषणीयता तभी जाकर पूर्ण रूप से सफल होगी, जब हम अपने लक्ष्य और उसके बाधक तत्त्वों की ठीक-ठीक जानकारी रखकर सर्वसाधारण के चित्त में वैज्ञानिक, सामाजिक और मानवीय आदर्श को सम्प्रेषित करने में समर्थ हो।

साहित्यकारों का दायित्व

भारतवर्ष पराधीनता के जाल से मुक्त हो गया है। हमें इस पुराने राष्ट्र के अनेक पुर्जे दुरुस्त करने पड़ेंगे, अनेक जंजाल साफ करने होंगे, प्रत्येक क्षेत्र में नव-निर्माण का व्रत लेना होगा। हम जो कुछ भी करने जायेंगे, उसके लिए हमें साहित्य चाहिए। हमारे कई विश्वविद्यालयों ने हिन्दी को उच्चतर शिक्षा का माध्यम मान

लिया है, बाकी विश्वविद्यालय बहुत शीघ्र ही मानेंगे। इनमें अध्ययन-अध्यापन करनेवालों के लिए साहित्य चाहिए। हमारी राजनीति और अर्थनीति अब सिर्फ घरेलू झगड़ों तक सीमाबद्ध नही रहेंगी, उन्हे विदेशों के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित करना होगा। इसीलिए हमें अपने निकट और दूर के सहयोगी राष्ट्रों की भीतरी और बाहरी अवस्था की जानकारी आवश्यक होगी। इसके लिए भी हमे साहित्य चाहिए। बहुत शीघ्र ही देश के बड़े-बड़े न्यायालयों और व्यवस्थापिका सभाओं की बहसें और उनके निर्णय देशी भाषा में होंगे। इसके लिए भी हमें साहित्य चाहिए। अगर हमे संसार में महान् राष्ट्र बनकर रहना है, तो हमें अपनी समूची जनता को ज्ञान-विज्ञान के प्रति उत्सुक और मनुष्य के न्याय-अधिकारो के प्रति जागरूक बना देना होगा। कल तक हम बात बनाकर काम चला सकते थे, आज नही चला सकते। हमे जीवन के हर क्षेत्र में अग्रसर होने के लिए साहित्य चाहिए—साहित्य, जो मनुष्य-मात्र की मंगल-भावना से लिखा गया हो और जीवन के प्रति एक सुप्रतिष्ठित दृष्टि पर आधारित हो।

राजनैतिक पराधीनता बड़ी बुरी वस्तु है। वह मनुष्य को जीवन-यात्रा में अग्रसर होनेवाली सुविधाओं से वंचित कर देती है। हमने उस पराधीनता की जंजीरें तोड़ दी हैं। लेकिन सुविधाओं का पा लेना ही बड़ी बात नही है, प्राप्त सुविधाओं को मनुष्य-मात्र के मंगल के लिए नियोजित कर सकना ही बड़ी बात है। हमारी राजनीति, हमारी अर्थनीति और हमारी नव-निर्माण की योजनाएँ तभी सर्व-मंगलीय-विधायिनी बन सकेंगी जब कि हमारा हृदय उदार और संवेदनशील होगा, बुद्धि सूक्ष्म और सारग्राहिणी होगी और संकल्प महान् और शुभ होगा। यह काम केवल उपयोगी और व्यावहारिक साहित्य के निर्माण से ही नही हो सकेगा। इसके लिए साहित्य के उन सुकुमार अंगो के व्यापक प्रचार की आवश्यकता होगी, जो मनुष्य को मनुष्य के सुख-दुःख के प्रति संवेदनशील बनाते हैं। हमारा काव्य-साहित्य, कथा, आख्यायिका और नाटक-साहित्य ही हमें ऐसी सहृदयता दे सकते हैं। साहित्य का यह अंग केवल वाग्विलास का साधन नही होना चाहिए, उसे मनुष्यता का उन्नायक होना चाहिए। जब तक मानव-मात्र के मंगल के लिए इन्हें नही लिखा जाता, तब तक ये अपना उद्देश्य सिद्ध नही कर सकेंगे। इस बात के लिए यह भी आवश्यक है कि जीवन के प्रति हमारी जो परम्परालब्ध दृष्टि है, वह स्पष्ट और सतेज हो। हमारे पास प्रचीन आचार्यों का छोड़ा हुआ दीर्घकाल का आजमाया हुआ ज्ञान-भण्डार है। दुर्भाग्यवश अभी तक वह साहित्य हमारी भाषा में नहीं आ सका है। परिणाम यह हुआ है कि अभी तक हम अपनी ही जीवन-दृष्टि के बारे में अस्पष्ट भाव से सोचने के अभ्यस्त हो गये हैं। आये दिन तरह-तरह की बातें 'हमारे यहाँ' की लिखी हुई बतायी जाती हैं। आज जब हम नये सिरे से इस पुराने देश को गढने का प्रयत्न करने जा रहे हैं, तो दीर्घकाल की साधना के फल इस विशाल ज्ञान-भण्डार की उपेक्षा नही होनी चाहिए। जो लोग साहित्य-निर्माण के कार्य में लगे हुए हैं, उन्हें आलस्य और चिचिकित्सा का भाव त्यागकर इस नये और पुराने

ज्ञान-भण्डार को अपनी भाषा में ले आने के महान् कार्य का आरम्भ जल्दी ही कर देना चाहिए। यदि हम ऐसा नहीं करते तो हम देश की अग्रगति में सहायता तो नहीं ही पहुँचायेंगे, अपने प्रति देशवासियों की उपेक्षा और अवज्ञा के भाव को दृढ़ बना देंगे। इस प्रकार साहित्यसेवियों के सामने इस समय बहुत विशाल कार्य है।

यदि आप ध्यान से मनुष्य की अग्रगति का अध्ययन करें तो आपको मालूम होगा कि बहुत काल तक मनुष्य के हाथ में बाधाओं पर विजय पानेवाले साधन संयोगवश मिलते गये हैं। केवल पदार्थ-विद्या, रसायन-शास्त्र और प्राणितत्त्व के क्षेत्र में ही संयोग और दैव ने मनुष्य की सहायता नहीं की है, गणित और ज्योतिष के क्षेत्र में भी उसने सहायता पहुँचायी है। संयोगलभ्य ज्ञान को लेकर मनुष्य ने अँधेरे में और टटोला है और थोड़ा-थोड़ा आगे बढ़ता गया है। यह अवस्था अब कट गयी है। अब मनुष्य सुचिन्तित योजनाओं के आधार पर आगे बढ़ रहा है, परन्तु सुचिन्तित योजनाओं के भीतर भी इतिहास-विधाता का वरदहस्त उसे प्राप्त है। वह अधिक विश्वास और अधिक दृढ़ता के साथ बढ़ने का अवसर पा रहा है। नये-नये ज्ञान-विज्ञान ने मानवचित्त को अधिक उदार, अधिक संयमी और अधिक शिष्ट होने को मजबूर किया है। यह और बात है कि वह उतना शिष्ट और उदार नहीं हो सका है, जितना होना चाहिए; क्यों नहीं हुआ है, यह विचारणीय प्रश्न है। विज्ञान बहुत बड़ी शक्ति है। शक्तिशाली के पास उदार और शुभानुध्यायी बुद्धि होनी चाहिए, नहीं तो शक्ति सत्यानाश की ओर घसीट ले जायेगी। ज्यों-ज्यों मनुष्य वैज्ञानिक साधनों को हथियाता गया है, त्यों-त्यों वह बड़े-बड़े राज्यों का और विशाल उत्पादन-यन्त्रों का संघटन करता गया है और संसार के सुदूर प्रान्त में स्थित देशों को सहज-सम्य बनाता गया है। आज इन सबकी सम्मिलित शक्ति इतनी विकट दानवाकार बन गयी है कि आश्चर्य होता है। इन बड़े-बड़े राष्ट्रों के पास नये-नये वैज्ञानिक आविष्कारों के लिए सुचिन्तित योजनाएँ हैं। उनकी पोषक और विरोधी शक्तियों का पूरा ब्यौरा जानकर ये काम किये जा रहे हैं। इन प्रयत्नों का प्रभाव हमारे ऊपर नाना भाव से पड़ता है। हमारी राजनीति, अर्थनीति, यहाँ तक कि शिक्षणनीति भी इनसे प्रभावित होती है; परन्तु परिणाम देखकर निस्सन्दिग्ध रूप से कहा जा सकता है कि इन महान् साधनों के मालिकों में उदार हृदय नहीं है, चरित्र-बल नहीं है और शुभानुध्यायी बुद्धि नहीं है। अत्यन्त घिनौने युद्ध, बुद्धिमत्तापूर्ण मिथ्या प्रचार और राग-द्वेष से विपायित प्रतिस्पर्द्धा यही सिद्ध कर रही है। जितनी दूर तक देखने की दृष्टि पा सका हूँ, उतनी दूर तक मुझे स्पष्ट दिखायी दे रहा है कि नियमित प्रयत्नों और सुचिन्तित योजनाओं के बल पर विज्ञान की सर्वग्रासिनी शक्ति और भी शक्तिशाली होती जायगी, उसे रोकना अब सम्भव नहीं है। नदी की धारा को मोड़ना दुष्कर है। इसलिए मैं बराबर सोचता हूँ कि यह ऐसे ही छोड़ दिया जाना चाहिए। क्या ऐसा कोई उपाय नहीं है जिससे शक्तिशाली को सहृदय और सच्चरित्र बनाया जा सके? मेरे पास इसका एक ही उत्तर है। यह उपाय है उदार और सरस साहित्य।

मेरा मन बार-बार ग्लानि और क्षोभ के साथ जानना चाहता है कि साहित्यिक कहे जानेवाले लोग, जिनका काम ही विश्व को सरस, स्निग्ध और उदार बनाना है, जो संवेदनशीलता को इतना बहुमान देते है, विज्ञान की इस बढ़ती हुई शक्ति के साथ क्या ताल मिलाकर चल सके हैं ? बाधाएँ है, मैं उन्हें स्वीकार करता हूँ। मैं यह भी जानता हूँ कि संसार के अनेक साहित्यकार बार-बार सचेत करते आये हैं कि विज्ञान द्वारा प्राप्त शक्ति के साथ मनुष्य की भीतरी शक्तियों के उद्बोधन का सामंजस्य होना चाहिए। संकीर्ण राष्ट्रीयता, मोहग्रस्त जाति-प्रेम और पथभ्रान्त व्यापार-वाणिज्य के साथ विज्ञान के सार्वभौम सत्यों का कोई मेल नही है, अन्धाधुन्ध बढ़ानेवाली अनियन्त्रित उत्पादन-व्यवस्था के साथ मनुष्य के सार्वजनीन रागात्मक सम्बन्धों का विरोध अवश्यम्भावी है, परन्तु मुझे यह भी मालूम है कि ऊँचे सिंहासनो तक इन साहित्यिकों की वाणी नही पहुँची है। शक्ति-मद से मत्त लोगों ने इन चेतावनियो का उपहास किया है। हमारे देश के श्रेष्ठ साहित्यकार कविवर रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने नाना भाव से यह सन्देश मदगर्वित राष्ट्रनायकों तक पहुँचाना चाहा, परन्तु सन्देशा या तो सुना ही नही गया या सुनकर भी उपेक्षित हुआ। मुझे स्पष्ट दिखायी दे रहा है कि झूठी, विद्वेष-प्रचारिणी और विषैली बातों का जितनी तेजी से प्रचार किया गया है, उतनी ही निर्दयतापूर्वक इन शुभ-विधायी वाणियों की अवहेलना की गयी है। साहित्यिको के विचारने के लिए यह बड़ा भारी प्रश्न है। हार तो माननी ही नहीं है। हमे आज सावधानी से बाधक तत्त्वों का अध्ययन करना है और देखना है कि हमारे मगल-प्रयत्न अरण्य-रोदन सिद्ध न हों; अगर संसार को महानाश से बचाना है तो साहित्यिकों को विराट् प्रयत्न करने होगे। इन बाधक तत्त्वों से जूझना होगा। यह मत सोचिए कि हम दुनिया के एक कोने में पड़े हुए ऐसी भाषा के साहित्यिक है, जो भारतवर्ष की चहारदीवारी के बाहर समझी ही नही जाती, इसलिए हमारे प्रयत्न से दुनिया की मदगर्वित राष्ट्रनीति में कोई अन्तर नही पडेगा। मैं कहना चाहता हूँ कि आज हम यह भूल जायँ कि हिन्दी दुर्बलो की दुर्बल भाषा है। वह संसार की अत्यन्त शक्तिशाली भाषाओं मे से एक है।

मैं अपने व्यक्तिगत अनुभव के आधार पर कह सकता हूँ कि चीन, थाईलैण्ड, जावा, सुमात्रा आदि एशियाई देशों में हिन्दी सीखने की उत्सुकता बहुत बढ़ गयी है। यह निश्चित मानिए कि इन देशो के लोग केवल अक्षरबोध के लिए हिन्दी सीखना नही चाहते। वह बडी चीजो के पाने की आशा मे इधर झुके हैं और अगर आपने बड़ी बातें देने और लेने का प्रयत्न किया तो आपके प्रयत्न उपेक्षित नहीं होगे। मनुष्य-जाति का अधिकांश इन्ही देशों मे बसा है। इन देशों के मनुष्यों की चिन्तन-धारा अगर मंगल-विधायिनी होगी तो समूची मनुष्यता के लिए वह हितकर होगी। साहित्य-सेवा का अवसर पाना बड़े सौभाग्य की बात है और हिन्दी साहित्य की सेवा किसी प्रकार कम सौभाग्य नहीं है। यदि हममें दृढ़ निश्चय होगा तो हम निश्चय ही संसार को उदार और चरित्रवान बना सकेंगे और संसार

को महानाश के गर्त में गिरने से उबार सकेंगे। इस समय हमें धीर भाव से अपने लक्ष्य की ओर बढ़ना है!

यह लक्ष्य क्या है? देश के स्वतन्त्र हो जाने पर हमें राष्ट्र-निर्माण के लिए अनेक प्रयत्न करने होंगे। हमारे साहित्यिक नेताओं ने इस मंच से अनेक उपाय सुझा रखे हैं। इस प्रकार हमारे पास न तो काम की कमी है, न उपाय की। परन्तु ये काम और ये उपाय, हमारे अन्तिम लक्ष्य नहीं हैं। हमारे नेताओं की सुझायी हुई योजनाओं के कार्यान्वित होने में कई बाधाएँ हैं। बड़ी भारी बाधा हमारी सामाजिक व्यवस्था ही है। मनुष्य की आदिम वृत्तियों को प्रलुब्ध करने से वह लाभ-हानि की चिन्ता छोड़ देता है। यदि इन वृत्तियों को ही प्रधान उपजीव्य बनाकर आदमी कारबार शुरू करने की छूट पा जाय तो वह निश्चय ही सफलता पा जायगा। फिर वह यह परवा नहीं करता कि इससे उसकी दीर्घकाल की प्राप्त की हुई साधना म्लान हो जाती है या नहीं, त्याग और बलिदान से प्राप्त की हुई मनुष्यता म्लान होती है या नहीं। दुर्भाग्यवश इस समय जो व्यवस्था हमारे सिर पर है, उसमें इस बात की छूट है। मनुष्य के पशु-सामान्य मनोभावों को सहलाकर रुपया कमाना इस व्यवस्था में एक हद तक विहित है। साहित्य के द्वारा, रंगमंच के द्वारा और सवाक्पट के द्वारा बहुत-से व्यवसायी उस ओर लग गये। जिन विषयों के गम्भीर अध्ययन से मनुष्य का मस्तिष्क परिष्कृत और हृदय सुसंस्कृत होता है, उसमें श्रम लगता है, और उसके लिए बाजार आसानी से नहीं मिलता। इसीलिए कितनी भी अच्छी योजना बनाइए और कितना भी सुन्दर उपदेश सुना जाइए, सात्विक साहित्य की ओर प्रवृत्ति नहीं जाती और हल्के ढंग का साहित्यिक बाजी मार ले जाता है। यह सचाई है। फिर भी इस समूची विरोधिता के होते हुए भी हिन्दी में गम्भीर और अध्ययनशील साहित्य का सर्जन हुआ है; क्योंकि मनुष्य का इतिहास ही सद्वृत्तियों की विजय का इतिहास है; असामाजिक मनोवृत्तियों को दबाकर समाज की मंगलविधायिनी प्रचेष्टाओं के उत्कर्ष का इतिहास है। हर्ष की बात है कि इस देश के विश्वविद्यालय हिन्दी को शिक्षा का माध्यम स्वीकार करते जा रहे हैं। इनके लिए पाठ्य-पुस्तकों की आवश्यकता भी जरूर होगी। इनके लिए बाजार भी मिलेगा और इनसे रुपया भी कमाया जा सकेगा। गम्भीर साहित्य भी इस बहाने कुछ-न-कुछ अवश्य लिखा जायगा। इस कार्य में आप हाथ-पर-हाथ धरे बैठ नहीं सकते, और 'क' नहीं तो 'ख' इस काम को कर ही लेगा। जिसके लिए बाजार में माँग होगी, उसका उत्पादन होकर ही रहेगा। उसके लिए आपको संगठन और सुनिश्चित योजना बनाने की चिन्ता नहीं करनी होगी। हिन्दी को माध्यम स्वीकार कर लेने से ही हमें सन्तुष्ट नहीं हो जाना चाहिए। कारण कि पोथियों की संख्या बढ़ाना या ज्ञान की दुकान चलाना साहित्य का लक्ष्य नहीं है। मेरे मन में हिन्दी भाषा और साहित्य का एक विशिष्ट रूप है। हमारे देश में जो स्थान कभी संस्कृत का था और जो स्थान अंग्रेजी ने ले लिया है, उससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण और उत्तरदायित्वपूर्ण पद पर हिन्दी को बैठाना है। मैंने यह बात पहले भी

कही है और फिर भी दुहरा रहा हूँ। हिन्दी को संसार के समूचे ज्ञान-विज्ञान का वाहन बनना है। उसका कर्त्तव्य बहुत विशाल है। उसे अपने को महान् उत्तरदायित्व के योग्य सिद्ध करना है। मनुष्य को अज्ञान, मोह, कुसंस्कार और परमुखापेक्षिता से बचाना ही साहित्य का वास्तविक लक्ष्य है। इससे छोटे लक्ष्य की बात मुझे अच्छी नही लगती। इस महान् उद्देश्य की हिन्दी पूर्त्ति कर सके तभी वह उस महान् उत्तरदायित्व के योग्य सिद्ध होगी, जो इतिहास-विधाता की ओर से उसे मिला है। हिन्दी भारतवर्ष के हृदय-देश में स्थित करोड़ो नर-नारियों के हृदय और मस्तिष्क को खुराक देनेवाली भाषा है। हिन्दी के ऊपर महान् उत्तरदायित्व की बात जब मैं कहता हूँ तो मेरा मतलब यही होता है कि भारतवर्ष की राजभाषा चाहे जो हो और जैसी भी हो, पर इतना निश्चित है कि भारतवर्ष की केन्द्रीय भाषा हिन्दी है। लगभग आधा भारतवर्ष उसे अपनी साहित्यिक भाषा मानता है, साहित्यिक भाषा अर्थात् उसके हृदय और मस्तिष्क की भूख मिटानेवाली भाषा, करोड़ो की आशा-आकाक्षा, अनुराग-विराग, रुदन-हास्य की भाषा। उसमे साहित्य लिखने का अर्थ है करोड़ों के मानसिक स्तर को ऊँचा करना; करोड़ो मनुष्यो को मनुष्य के सुख-दुःख के प्रति संवेदनशील बनाना; करोडो को अज्ञान, मोह और कुसंस्कार से मुक्त कराना। केवल शिक्षित और पण्डित बना देने से यह काम नही हो सकता। वह शिक्षा किस काम की, जो दूसरों के शोषण मे, और अपने स्वार्थ-साधन में ही अपनी चरम सार्थकता समझती हो! इसीलिए आज जब हमारे सामने गम्भीर साहित्य लिखने का बहाना आ उपस्थित हुआ है, तो हम जो कुछ भी लिखें उसे अपने महान् उद्देश्य के अनुकूल बनाकर लिखें। संसार के अन्यान्य राष्ट्रो ने अपने साहित्य को जिस दृष्टि से लिखा है, उसकी प्रतिक्रिया और अनुकरण नही होना चाहिए। जिस प्रकार विज्ञान के क्षेत्र में मनुष्य ने संयोग का सहारा लिया है, उसी प्रकार साहित्य और शिक्षण के क्षेत्र में भी अटकल का सहारा लिया है। उसका फल अच्छा नही हुआ है। हमे सौभाग्यवश नये सिरे से सब-कुछ करना है। इसीलिए हमारे पाठ्य-ग्रन्थों तथा रसात्मक साहित्य की रचना भी किसी खण्ड-सत्य के लिए नही होनी चाहिए। समूची मनुष्यता जिससे लाभान्वित हो, एक जाति दूसरी जाति से घृणा न करके प्रेम करे, एक समूह दूसरे समूह को दूर रखने की इच्छा न करके पास लाने का प्रयत्न करे, कोई किसी का आश्रित न हो, कोई किसी से वंचित न हो, इस महान् उद्देश्य से ही हमारा साहित्य प्रणोदित होना चाहिए। संसार के कई देशों ने अपनी जातीय श्रेष्ठता का प्रतिपादन करने के उद्देश्य से साहित्य लिखा है और कोमल मस्तिष्कवाले युवकों की बुद्धि विषाक्त बना दी है। उसका परिणाम संसार को भोगना पड़ा है। घृणा और द्वेष से कोई बढ़ नही सकता। घृणा और द्वेष से जो बढ़ता है, वह शीघ्र ही पतन के गह्वर में गिर पड़ता है। यही प्रकृति का विधान है। लोभ-वश, मोह-वश और क्रोध-वश जो कर्त्तव्य निश्चित किया जायगा, वह हानिकारक होगा। बड़ी साधना और तपस्या के बाद मनुष्य ने इन आदिम मनोवृत्तियों पर विजय पायी है। ये वृत्तियाँ दबी हैं, किन्तु वर्त्तमान हैं। उन पर

आधारित प्रयत्न मनुष्यता के विरोधी हैं। प्रेम बड़ी वस्तु है, त्याग बड़ी वस्तु है और मनुष्य-मात्र को वास्तविक 'मनुष्य' बनानेवाला ज्ञान भी बड़ी वस्तु है। हमारा साहित्य इन बातों पर आधारित होगा, तभी वह संसार को नया प्रकाश दे सकेगा।

हमारे देश में बहुत शुरू से ही काम करना है। यहाँ की समूची जनता अभी साक्षर भी नहीं हो सकी है। अनेक जातियाँ अभी अत्यन्त आदिम काल की जिन्दगी बिता रही है। रोग और दारिद्र्य के अभिशाप से समूची जनता जर्जर है। इस निरक्षर देश के साहित्यकार की जिम्मेदारी भी बहुत है। दूसरे देशों ने जो कुछ किया है या जो कुछ कर रहे है, वे ही उपाय हमारे यहाँ सब समय नहीं चल सकते। हमें सबकुछ नये सिरे से गढ़ना है। हमारे साहित्य में अभी तक कविता, कहानियों और अन्यान्य रसात्मक साहित्य की ही धूम है; परन्तु रसात्मक साहित्य के पोषण के लिए जिस प्रकार के शक्तिशाली वैज्ञानिक और दार्शनिक साहित्य की आवश्यकता है, वह हमारे पास नही है। इसीलिए साहित्य को अशिक्षित जनता का चित्त जागरूक करने के लिए जितना कुछ करना चाहिए था, उतना वह नही कर सका है। कविवर रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने एक बार कहा था, "कहानी, कविता और नाटक इन्ही से हमारे साहित्य की पन्द्रह आने तैयारियाँ हो रही हैं; अर्थात् दावत का आयोजन हो रहा है, शक्ति का आयोजन बिल्कुल नहीं। यह सबकुछ हो रहा है पाश्चात्य देशों की चित्ताकर्षक विचित्र चित्तशक्ति के प्रबल सहयोग से। वहाँ मनुष्यत्व देह, मन और प्राण सभी दिशाओं से व्याप्त है; इसीलिए वहाँ अगर त्रुटियाँ भी है, तो साथ-ही-साथ उनकी पूर्ति भी है। मान लो, वटवृक्ष की कोई डाली आँधी से टूट रही है, कही पर कीड़े खा-खाकर उसे खोखला कर रहे हैं, किसी साल वर्षा ही कम हुई है; परन्तु फिर भी सब मिलाकर वनस्पति ने अपने स्वास्थ्य और शक्ति को बनाये रखा है; उसी तरह पाश्चात्य देशो ने मन और प्राणो को क्रियाशील बना रखा है। वहाँ की अपनी विद्या ने, अपनी शिक्षा ने, अपने साहित्य ने, इन सबने मिलकर वाक्-शक्ति की अथक उन्नति की। इन सबके उत्कर्ष से ही वहाँ का उत्कर्ष है।" हमे भी अपने रसात्मक साहित्य को अगर स्वस्थ और सबल बनाना है, तो हमे अपनी आवश्यकताओं के अनुकूल अपने ढंग की शिक्षा और विद्या की आवश्यकता पड़ेगी। दूसरो की नकल करके हम अपना हित नही कर सकते। हमारी समस्याएँ अनेक है, परिस्थिति जटिल है। सभ्यता की नाना सीढ़ियो पर हमारी जनता के नाना समूह खड़े है। सबका मुँह भी एक ही तरफ नही है। सबको उन्नति की ओर ले जाने के लिए हमे नाना प्रकार के प्रयोग करने पड़ेंगे। उद्देश्य की एकता के सिवा इन प्रयोगों में और किसी एकता का आरोप करना भूल होगी। कठिनाइयाँ चाहे कितनी भी क्यों न हों, रास्ता निकालना ही पड़ेगा। हम अपने प्राचीन और महान् देश को अन्धकार मे भटकने के लिए नही छोड़ सकते और काम हमें कितना भी आरम्भिक अवस्था से क्यो न शुरू करना हो, हम अपने लक्ष्य को छोटा नही होने दे सकते।

हिन्दी की अनेक प्रकाशन-संस्थाएँ उपयोगी काम कर रही है। इनमे से कुछ का उद्देश्य रुपया कमाना भी हो सकता है; परन्तु जब तक रुपया है और वह कमाया जा सकता है, तब तक रुपया कमाने को आप निषिद्ध-कर्म नही कह सकते। आप केवल इतनी ही आशा कर सकते है कि साहित्य-जैसी पवित्र वस्तु का निर्माण करने का संकल्प रखनेवाली ये संस्थाएँ रुपया कमाने को समाजनिर्माण के कार्य से बड़ा न समझें। इनमें कुछ संस्थाएँ तो अपना निश्चित उद्देश्य लेकर काम करने लगी है। उदाहरणार्थ, कुछ समाज-विज्ञान और समाजवादी व्यवस्था के अध्ययन और प्रचार का प्रयत्न कर रही है, कुछ हिन्दी-साहित्य के प्राचीन और अर्वाचीन अंगों का अध्ययन और प्रचार कर रही हैं और कुछ हिन्दू-धर्म के नये और पुराने रूपों का ही प्रचार कर रही है। मेरे मन मे बार-बार यह प्रश्न उठता है कि हिन्दी में जो सैकडो पत्रिकाएँ और पुस्तकें निकल रही है, उनको एक निश्चित योजना के अनुसार क्या नहीं निकाला जा सकता? कभी-कभी एक ही विषय की बार-बार पुनरावृत्ति हो जाती है। मै इन सभी संचालकों से प्रार्थना करना चाहता हूँ कि वे एकत्र होकर अपना-अपना कार्य-क्षेत्र बाँट लें। मैं अपने व्यक्तिगत अनुभव के बल पर कह सकता हूँ कि हमारे यहाँ उच्चकोटि के लेखकों की कमी है और यदि प्रत्येक सस्था कुछ गिने-चुने व्यक्तियो से अपना काम चलाना चाहे तो न तो साहित्य ही उत्तम कोटि का बन पायेगा, न उक्त संस्थाएँ ही लाभान्वित होगी। विद्वानों की हमारे यहाँ कमी नही है। यह साहित्यिक संस्थाओ का कर्त्तव्य होना चाहिए कि वे विद्वानों को लिखने की ओर प्रवृत्त करायें। हिन्दी मे न जाने कितनी बेमतलब की पुस्तकें और पत्रिकाएँ छप रही हैं। सभी प्रकाशकों से मेरा नम्र अनुरोध है कि वे इस प्रकार राष्ट्र के धन का अपव्यय न करके सुचिन्तित योजना के अनुसार पुस्तकें प्रकाशित करें।

वस्तुतः हिन्दी में अभी किसी भी साहित्यांग पर सन्तोषजनक कार्य नही हुआ। मेरे नौजवान मित्र जब कभी पूछ बैठते है कि क्या लिखें, तो मुझे झुंझलाहट होती है। हमारे पास है ही क्या? हमारा इतिहास विदेशी भाषाओ में थोड़ा-बहुत लिखा गया है। हमारी जनता के आचार-विचार, रीति-नीति, भाषा-भाव, नवीन-प्राचीन, धर्म-ईमान के बारे मे विदेशियो ने ही थोड़ा-बहुत लिखा है। उनका उद्देश्य सब समय अच्छा ही नहीं होता। उनकी दृष्टि से जो अच्छा है, वह हमारी दृष्टि से भी अच्छा होगा, ऐसा जोर देकर नही कहा जा सकता। हमारे कीड़े-मकोड़े, पेड़-पौधे, नदी-पहाड़, जगल-झाड, मरु-मालव के बारे में भी विदेशी भाषा में थोड़ा-बहुत मिल जाता है। विदेशों के लोग-बाग, जीव-जन्तु, नदी-पर्वत और व्यवसाय-वाणिज्य आदि का तो कहना ही क्या! जिन विदेशी पण्डितो ने हमारे देश के जड़-चेतन के बारे में परिश्रमपूर्वक और ईमानदारी के साथ बहुत-कुछ लिख रखा है, उनके हम अवश्य कृतज्ञ होगे, पर उतने से ही हमे सन्तुष्ट नही होना है। हमें अपने देश को अपनी आँखो से देखना है। जब तक हम इस विशाल और महान् देश को उसकी समूची खूबियों के साथ नही चाहते, तब तक इसके प्रति हमारा प्रेम मौखिक और

क्षणस्थायी होगा। फिर जिस भाषा से करोड़ों जनता अपनी मानसिक भूख मिटाने की आशा करती हो, उसमे इतना भी न हो तो कोई कैसे समझे कि सचमुच ही हम इस भाषा से प्रेम करते हैं? इसीलिए अगर निश्चित योजना के अनुसार कार्य किया जाये तो अच्छा और उपयोगी साहित्य बन सकता है।

हिन्दी-साहित्य के अध्ययन के लिए कई संस्थाएँ काम कर रही है, और अच्छा काम कर रही हैं। परन्तु अब आवश्यकता है कि हम इसके मूल उत्सो तक पहुँचें। केवल सुयोग और सौभाग्यवश पायी हुई पुस्तको के आधार पर हिन्दी-साहित्य का इतिहास और उसका स्वरूप नही समझा जा सकता। हिन्दी-साहित्य, लोक-साहित्य था। आज भारतीय जन-समाज की जो अवस्था है, वह सदा से नही रही है। नये-नये जन-समूह इस देश में आते रहे और पुराने विचारों को बदलते रहे है। लोक-कथाओ, लोकोक्तियों और जनता के प्रचलित आचार-विचारों से ऐसी अनेक महत्त्वपूर्ण बातो का पता लग सकता है, जो पुस्तकों से प्राप्त नही हो सकती। साहित्य का इतिहास पुस्तकों, उनके लेखकों और कवियों के उद्भव और विकास की कहानी नहीं है। वह वस्तुतः अनादि काल-प्रवाह मे निरन्तर प्रवहमान जीवन्त मानव-समाज की ही विकास-कथा है। ग्रन्थ और ग्रन्थकार तो उस धारा की ओर अंगुलि-निर्देश करते हैं। हमारे विश्वविद्यालयों के स्नातक आजकल आचार्यत्व (डाक्टरेट) प्राप्त करने के लिए उद्ग्रीव दिखते है। विश्वविद्यालयों के अधिकारी इन स्नातकों को यदि लोक-साहित्य की ओर मोड़ सकें तो वे अनेक महार्घ रत्नों को जुटा ले आयेंगे। पुस्तक-साहित्य का अध्ययन भी तब तक अपूर्ण ही रहेगा, जब तक नाथ-मत, शाक्त-सम्प्रदाय, वैष्णव-संहिताओ और बौद्ध और जैन अपभ्रंश साहित्य का अच्छा अध्ययन न प्रस्तुत किया जाय। इन विषयों का अध्ययन अभी तक उपेक्षित है। हिन्दी के साहित्य-शोधक इनका भी अध्ययन आरम्भ करें तो बहुत-कुछ दे सकते है। हमारे प्राचीनतर साहित्य का तो कुछ भी अध्ययन हिन्दी में नही हुआ। बहुत थोड़ी-सी धार्मिक पुस्तकें जैसे-तैसे अनुवाद कर ली गयी हैं। हमें नाना शास्त्रों की पुस्तको के सम्पादन और अनुवाद की ओर यथाशीघ्र ध्यान देना चाहिए। राहुलजी और उनके मित्रों ने पाली-साहित्य का अच्छा अंश हिन्दी में अनुवादित कर लिया है; परन्तु महायान के विपुल साहित्य को अभी छुआ भी नही गया है। यद्यपि देश में जैन विद्वानों और जैन-संस्थाओ का अभाव नही है, तथापि अभी तक जैन ग्रन्थ सर्वजन-आस्वाद्य बनाकर नही लिखे गये। श्री नाथूरामजी 'प्रेमी', मुनि जिनविजयजी और पं. सुखलालजी आदि विद्वानो ने इस दिशा में महत्त्वपूर्ण कार्य किया है, परन्तु विशाल जैन-साहित्य को देखते हुए यह कार्य बहुत मामूली जान पड़ता है और ब्राह्मण साहित्य को तो हिन्दी में पूरा-पूरा आ जाना चाहिए था; पर सच पूछिए तो यह साहित्य बिल्कुल ही अस्पृश्य रह गया। वेद, ब्राह्मण, आरण्यकों और उपनिषदो का ही आधुनिक ढंग से सम्पादन और विवेचन नही हुआ तो औरों की तो बात ही क्या! विदेशी विद्वानों ने इस क्षेत्र मे भी हमें पराजित किया है। हमें अपने समूचे साहित्य को, विविध भाषाओं को, विविध

रीति-नीतियों को और सम्पूर्ण जनता को अनासक्त और अनाविल दृष्टि से देखने का अब व्रत लेना है।

बालकों के योग्य पुस्तकों का तो हमारे साहित्य में नितान्त अभाव है। यह काम जल्दी ही हो जाना चाहिए। हमें साहित्य के प्रत्येक अंग पर बालको के लिए साहित्य लिखना ही होगा। हमारे पड़ोसी बँगला साहित्य मे इस विषय में उल्लेखनीय कार्य हुआ है। मेरे बच्चे बँगला माध्यम से स्कूल की पढ़ाई पढते है। आये दिन वे जो पुस्तकें पढने को ले आते हैं, उन्हें देखकर मुझे आश्चर्य और आनन्द होता है। ऐसे उल्लेखनीय स्वदेशी-विदेशी नाटक, काव्य और उपन्यास कम है, जिनका सार-मर्म बच्चो की भाषा में बंगाली लेखक ने न लिख दिया हो। नाना विषयों पर उन्होने लेखनी चलायी है। सभ्य जाति अपने बच्चों और स्त्रियो का ज्यादा ध्यान रखती है। हमने इन दोनों ही क्षेत्रों में लापरवाही का परिचय दिया है। बहुत-से प्रकाशक बालकों का साहित्य छापने का कारबार करते हैं, परन्तु दुर्भाग्यवश बहुतों की शक्ति रीडरबाजी में बरबाद हो जाती है। बालकों और स्त्रियों के लिए साहित्य की हमें विशेष रूप से आवश्यकता है। शान्तिनिकेतन के हिन्दी-भवन के लिए जब हम योजना बना रहे थे, तो महामना भारत-भक्त दीनबन्धु एण्ड्रयूज ने बालकों के साहित्य को उसी योजना का अंग बनाना चाहा था। हम लोगों ने जब आना-कानी की, तो उन्होंने जोर देकर कहा, "और कुछ करो या न करो, बालकों के लिए साहित्य लिखने का काम अवश्य करो।" नाना कारणों से हम वैसा नहीं कर सके, पर एण्ड्रयूज की वह गम्भीर मुद्रा और अत्यन्त जोर के साथ कही हुई बात मुझको कभी नही भूलती। उस महापुरुष ने साहित्य की नीव को ही मजबूत करना चाहा था।

हमारे इस निरक्षर देश में प्रौढ़-शिक्षा का काम शुरू करना पड़ेगा। बालको के लिए यदि कुछ पुस्तकें मिल भी जायेंगी तो प्रौढ़ों के लिए न ी मिलेंगी। उत्साही और साहसी साहित्यिकों को इस दिशा में दृढ़ता के साथ बढ़ना चाहिए। वैसे तो प्रौढ़-शिक्षा स्वयमेव बहुत महत्त्वपूर्ण वस्तु है, पर हमारे देश में एक और महत्त्व का कार्य इसके साथ जुड़ा हुआ है। इस देश मे आदिम जातियाँ हैं, जिनकी, कहा जाता है, अपनी लिपि नही है अर्थात् वे अब तक लिखने-पढ़ने से वंचित थीं। चूँकि ये जातियाँ पढना-लिखना नहीं जानती थीं, इसलिए मतलबी प्रचारकों ने कहना शुरू किया कि इनकी कोई लिपि नही है। इनकी लिपि वही लिपि है, जो हजारों वर्षों से इस देश की लिपि बनी हुई है। स्थान और काल के हिसाब से वह बदलती रही है, फिर भी वह लिपि सारे भारतवर्ष की अपनी जातीय लिपि है। प्रौढ़-शिक्षा के लिए हमें अनेक आदिमभाषी मित्रों की भाषाओं का अध्ययन करना होगा और उनके लिए उपयोगी और स्वस्थ साहित्य देवनागरी लिपि के द्वारा देना होगा। इस कार्य मे विलम्ब नही होना चाहिए।

फिर विज्ञान है, दर्शन है, ललित कला है, इनके परिचायक शास्त्र हैं, इनकी पुरानी परम्परा और नयी परिणतियों का हमें अध्ययन करना है। हमारे देश का

एतद्विषयक साहित्य गम्भीर और महत्त्वपूर्ण है। उन ग्रन्थों का सम्पादन, शोधन और अनुवाद हमें करना है। विदेशी साहित्य और दर्शन तथा अन्य विषयों की पुस्तकें और उनका सार-मर्म बतलानेवाली पुस्तकें भी आवश्यक हैं। पूर्व और पश्चिम का सम्पूर्ण रस निचोड़कर ही हिन्दी साहित्य अपने को पुष्ट और सबल बना सकता है।

हमें हिन्दी को एक ऐसी भाषा नहीं बना देना है, जो सर्व-साधारण के निकट अंग्रेजी की भाँति दुर्बोध बनी रहे या संस्कृत की ही भाँति कुछ चुने हुए लोगों के शास्त्रार्थ-विचार की भाषा बन जाय। ऐसा करके तो हम निश्चित रूप से हिन्दी का अहित करेंगे। हमारी भाषा ऐसी होनी चाहिए जो मामूली-से-मामूली जनचित्त को ऊपर उठा सके। हमें तो इस भाषा को इस योग्य बना देना है कि वह साधारण-से-साधारण मजदूर से लेकर अत्यन्त विकसित मस्तिष्क के बुद्धिजीवी के दिमाग में समान भाव से विहार कर सके।

[कराची हिन्दी साहित्य सम्मेलन की साहित्यिक परिषद् का अध्यक्षीय भाषण—अशोक के फूल से]

साहित्य का इतिहास

विभिन्न विचारों, भाषाओं, उनके साहित्यों और ज्ञान-विज्ञान की शाखाओं के कालानुक्रम से धारावाहिक विकास दिखाने के प्रयत्न आधुनिक युग की देन हैं। पश्चिमी देशों में ये प्रयत्न कुछ पहले हुए, अपने देश में थोड़ा बाद में। साहित्य का इतिहास अब हर सभ्य देश में लिखा जाने लगा है। पश्चिम में भी इसकी परम्परा दो-सवा दो सौ साल से अधिक पुरानी नहीं है। पर इसी बीच कुछ पश्चिमी विचारक यह कहने लगे हैं कि साहित्य का इतिहास लिखा ही नहीं जा सकता। साहित्य के इतिहास के नाम पर जो कुछ लिखा जाता है, वह या तो सामाजिक इतिहास होता है या फिर साहित्य में प्रतिफलित विचारों का इतिहास होता है। बड़े-बड़े मान्य विद्वान् उपलब्ध ग्रन्थों को काल-क्रम से सजाकर उनका मूल्यांकन कर देते हैं; ऐसा भी होता है कि वे पूर्ववर्ती लेखकों का प्रभाव परवर्ती लेखकों पर दिखा देते हैं और कभी-कभी तो आलोच्य ग्रन्थों से स्वयं प्रभावित होकर भावुकता में बह जाते हैं। इन विचारकों का कहना है कि 'साहित्य का इतिहास' बताये जानेवाले अधिकतर ग्रन्थ सभ्यता का इतिहास बनकर रह जाते हैं। ये लोग कुछ निराश होकर ही कहते हैं कि साहित्य का कला-रूप में विकास दिखाना सम्भव ही नहीं है।

इस प्रकार की आलोचनाओं के होते हुए भी साहित्य का इतिहास लिखना बन्द नही हुआ है। आये-दिन बड़े-बड़े विद्वान् साहित्य के धारावाहिक विकास की कहानी लिखते ही जा रहे हैं। अगर कोई चीज कमजोर सिद्ध हुई है तो ऐसी आलोचनाएँ ही, साहित्य का इतिहास-लेखन एकदम नही।

जिन लोगों ने ऐसी बातें कही हैं उनके मूल ग्रन्थों के पढ़ने का अवसर मुझे नही मिला और सन्दर्भ-विरहित उद्धरण बहुत ही विश्वसनीय नही होते। पर लगता है कि वे लोग ऐसा मानते हैं कि साहित्य का इतिहास लिखनेवाले मनीषियो के सामने कई कठिनाइयाँ बराबर बनी रही हैं और कदाचित् भविष्य मे भी बनी रहेंगी। एक तो इतिहास-लेखक के मानसिक संस्कार हैं। रसायन-शास्त्र या भौतिकी के पण्डित के सामने बड़े स्पष्ट संकेत रहते हैं जिनसे वह विकास-क्रम को आसानी से समझ सकता है। साहित्य के पास ऐसे संकेत नही है: चित्रकला या मूर्तिकला के लिए भी काम इतना कठिन नही होता। किसी आर्ट-गैलरी में सरसरी निगाह से देखकर भी कुछ परिवर्त्तनो का जायजा आसानी से लिया जा सकता है; पर साहित्य की ऐसी कोई गैलरी भी नही है। साहित्य का इतिहास-लेखक या तो परिपाटी-विहित छन्द, अलंकार, रस आदि से प्रभावित होकर लिखता है या फिर जिस कवि या कथाकार के बारे मे लिख रहा है उसी से प्रभावित होकर भावावेग का शिकार हो जाता है। दोनों दशाओं मे वह उस असंग भाव से युक्त नही हो पाता जो इतिहास के लिए परम आवश्यक है। यह भी कहा गया है कि इतिहास के बारे में भी एक पूर्वनिर्णीत आग्रह लेखक के मन मे रहता है कि जब तक अन्यान्य सामाजिक क्रिया-कलापो के साथ जोड़कर न देखा जाये, तब तक इतिहास लिखा ही नही जा सकता। इस बात को पूर्वग्रह क्यों कहा जाता है, यह बात बहुत स्पष्ट नही है। शायद साहित्य को शुद्ध साहित्य मानने का असन्तुलित आग्रह इसका कारण है। साहित्य के शुद्ध सत्त्व का क्रम-विकास कैसे दिखाया जा सकता है? इसी-लिए कुछ लोग कह गये हैं कि साहित्य का इतिहास सिर्फ बात-की-बात है। वह लिखा ही नही जा सकता। इनके विचार से इतिहास के नाम पर लिखा वही जा सकता है जो साहित्य नही है।

ऊपर-ऊपर से ऐसा विचार अपस्वरद लगता है, अर्थात् वक्तव्य वस्तु को गलत स्वर देने का दोषी है। साहित्य का इतिहास, अन्ततोगत्वा इतिहास ही होगा, साहित्य नही। इसमें जो 'साहित्य का' व्यावर्त्तक विशेषण है, वह 'इतिहास' को अन्य विषयों के इतिहास से व्यावृत करता है। है वह इतिहास ही, पर अन्य विषयों का नही, केवल साहित्य का ही है। ऐसे विचारक कहना चाहते हैं कि यह व्यावर्त्तन ठीक-ठीक होना चाहिए, अर्थात् उन तत्त्वो के विकास का लेखा-जोखा होना चाहिए जिनके कारण भाषा की अन्य प्रकार की अभिव्यक्तियों से अलग करके एक विशेष प्रकार की अभिव्यक्ति को 'साहित्य' कहते है। कठिनाई यह है कि कोई भी साहित्यकार—चाहे वह कवि हो, नाटककार हो, उपन्यास-लेखक हो—भाषा को छोड़कर नही चल सकता। और, भाषा सामाजिक साधन है। वह 'साहित्य' को

कला बननेवाले तत्त्व से अलग नही रहती। सामाजिक परिवर्त्तन भाषा को भी प्रभावित करते हैं और जो कोई भी साहित्य लिखेगा वह भाषा के सामाजिक रूप की उपेक्षा नही कर सकता। जब साहित्य ही भाषा के उड़ते-पड़ते रूपों की उपेक्षा नहीं कर सकता, तब साहित्य का विचारक कैसे उसकी उपेक्षा कर सकता है? नयी-नयी जातियों के सम्पर्क से, नये-नये आविष्कारों के कार्यान्वित होने से साहित्य में केवल भाषा, छन्द और अलंकरण ही नही बदलते, साहित्यकार की दृष्टि-भंगी मे भी परिवर्त्तन होते हैं। इसलिए साहित्य का इतिहास-लेखक इन बातों की उपेक्षा नही कर सकता।

समाज में जो परिवर्त्तन होते हैं उनके प्रभाव केवल साहित्यकार के वक्तव्य को ही नया रूप नही देते बल्कि विभिन्न नयी विधाओं को भी जन्म देते हैं। जब तक व्यावसायिक क्रान्ति से उत्पन्न नये मध्य-वित्त वर्ग के विकास, छापे की मशीन और संचार-व्यवस्था के आधुनिकीकरण को आप न समझ लें, तब तक यह भी समझना कठिन ही होगा कि उपन्यास नाम का इतना शक्तिशाली साहित्यांग देखते-देखते कैसे साहित्य के रंग-मंच पर छा गया! इतिहास-लेखक इस नयी विधा को समझने के लिए यदि सामाजिक व्यवस्था, उसके एक-एक परिवर्त्तन और साधनों के विकास के परिप्रेक्ष्य में साहित्य के विकास की जाँच करता है, तो यह उसका दोष नही, गुण ही है। उससे ऐसी आशा अवश्य की जानी चाहिए कि साहित्य के अन्तरतर को समझाने के बदले वह इन्हीं बातों में अधिक न उलझ जाये। इतिहास किसी एक अनुशासन से नही नियन्त्रित होता, उसे समग्र दृष्टि की जरूरत होती है। लक्ष्य उसका अवश्य ही यह होना चाहिए कि शब्द और अर्थ की परम्परा-चारुता की होड़ से सामान्य व्यवहार से भिन्न जो लोकोत्तर साहित्य-तत्त्व अभिव्यक्त होता है, वह उपेक्षित न हो जाये। एक तर्क यह भी दिया जाता है कि सच्ची साहित्य-कृति में परिवृत्ति-सहत्व नही होता, अर्थात् उसके शब्द, पद-संघट्टना, छन्द, वाक्य-विन्यास जरा भी परिवर्त्तन नही सह सकते। जो परिवर्त्तनीय नही है उसका विकास कैसे दिखाया जा सकता है? यह भी एक तर्काभास ही है। साहित्य की किसी एक कृति को इस दृष्टि से सोचा जा सकता है। एक पक्षी या पौधे में परिवृत्ति-सहत्व और भी कम होता है, फिर भी उनकी प्रजातियों का वर्गीकरण होता ही है और काल की वृहत्तर पट-भूमि पर रखने पर प्रजातियों मे परिवर्त्तन भी देखा जाता है। अगर ऐसा न होता तो प्रजातियों का वर्गीकरण भी न हो सकता और अन्ततोगत्वा उनके विकास की विशेषताएँ भी निर्धारित नही हो सकती। जब से 'साहित्य' नामक वस्तु का अस्तित्व है तभी से उसका वर्गीकरण भी होता आया है और आलोचक-गण वर्गीकरण को बार-बार सुधारते भी आ रहे हैं। जीवन की एक अविभाज्य इकाई का रचना-विन्यास अपरिवर्त्य अवश्य है। हालाँकि इसमे भी बाल्य, यौवन, वार्द्धक्य में कुछ-न-कुछ परिवर्त्तन होता ही है। पर पूरे विन्यास या 'स्ट्रक्चर' का परिवर्त्तन दीर्घ काल मे होता ही है। साहित्य का इतिहास इस विन्यास-गत परिवर्त्तन का लेखा-जोखा उपस्थित करता है। वह दीर्घ

काल के पटवास पर रखकर इन विन्यासों को प्रजाति, वर्ग, टाइप आदि में विभक्त करके उनके क्रमिक विकास की रूप-रेखा तैयार करता है।

यह और बात है कि सारे परिवर्त्तनों को विकास नहीं कहा जा सकता। यह 'विकास' शब्द प्राणि-विज्ञान के 'इवोल्यूशन' शब्द का समशील है। हिन्दी में यह दो अर्थों में प्रयुक्त होता है—(1) इवोल्यूशन, और (2) डेवेलपमेंट। पूर्णतः निःसंग बुद्धि से वैज्ञानिक जिस प्रकार हर परिवर्त्तन को विकास मानता है, उस प्रकार साहित्यिक आलोचक नहीं मान सकता। साहित्य का इतिहास-लेखक आलोचक भी होता है। *वस्तुतः जिसमें साहित्यिक आलोचना की क्षमता नहीं है* वह साहित्य का इतिहास नहीं लिख सकेगा। वह साहित्य के परिवर्त्तनों को निःसंग वैज्ञानिक दृष्टि से नहीं देखता है। यही कारण है कि कुछ मनीषी विद्वानों ने अब 'इवोल्यूशन' शब्द के स्थान पर 'डेवेलपमेंट' शब्द का प्रयोग करना शुरू किया है। अब 'साहित्य का इतिहास' न कहकर उसे 'ओरिजिन ऐंड डेवेलपमेंट' कहा जाने लगा है, हिन्दी रूपान्तर किया गया है 'उद्भव और विकास'। परन्तु जिस दोष से बचने के लिए अंग्रेजी लेखकों ने इस नये नाम का व्यवहार शुरू किया था, वह दोष हिन्दी में गढ़े गये नाम में रह ही गया है। क्योंकि हमने 'इवोल्यूशन' और 'डेवेलपमेंट' दोनों शब्दों के लिए एक ही शब्द चला दिया है। 'इवोल्यूशन' वस्तुतः आन्तरिक शक्ति के विवर्त्त की प्रक्रिया है जबकि 'डेवेलपमेंट' प्रयत्न-पूर्वक आयोजित संवर्त्त (संकल्पित परिवर्त्तन) की प्रक्रिया। पहले के आचार्यों ने परिवर्त्तन को विवर्त्तन से से भिन्न मानकर बुद्धिमत्ता का परिचय दिया है। मनुष्य की इच्छा से होनेवाले परिवर्त्तनों को 'विकास' शब्द से संकेतित करना रूढ प्रयोग मान लिया जा सकता है।

साहित्य क्योंकि मनुष्य की इच्छा-शक्ति की देन है, इसलिए साहित्य का इतिहास-लेखक प्राणि-विज्ञान के इतिहास-लेखक की तरह निःसंग नहीं हो सकता। जो बातें प्रकृति की देन हैं, उनके सौन्दर्य *की हम आलोचना नहीं कर सकते*, क्योंकि जिस अभिकरण (प्रकृति) ने उन्हें बनाया है उसी ने मनुष्य को भी बनाया है। परन्तु मनुष्य की बनायी चीजों के सौन्दर्य की, बनावट की, विन्यास की हम आलोचना करते हैं। क्यों करते हैं? इसलिए कि उनमें हम कोई अभिमूल्य खोजते हैं।

इस अभिमूल्य के आधार पर ही साहित्य का समीक्षक गुणगत उत्कर्ष या अपकर्ष, विकास या ह्रास का आकलन करता है, साहित्यिक कृतियों का वर्गीकरण करता है और अन्य कृतियों के सन्दर्भ में उसका मूल्यांकन भी करता है और उन कारणों की खोज भी करता है जो किसी नये साहित्यिक प्रतिमान का उत्स होते हैं। परन्तु एक विसंगति इसमें यह है कि अभिमूल्य स्वयं इतिहास से बनता रहता है। वह स्थिर नहीं, चल है। यही कारण है कि एक युग का लेखक जिन्हें अत्यन्त अभ्यर्हित या बहुमूल्य समझता है, उसे ही दूसरे युग का लेखक अल्पार्ह या अनर्ह भी मान लेता है। हिन्दी साहित्य में कभी कबीर को कवि-कोटि में स्वीकार करना भी कठिन था, आज वह श्रेष्ठ कवि माने जाते हैं। बिहारी और देव की अभ्यर्हता घटी है,

भूषण की समाप्तप्राय है। जिन मानदण्डों से किसी जमाने में बिहारी और देव की अभ्यर्हता मापी जाती थी वे अब मान्य नही है। इतिहास ने काव्य की अभ्यर्हता के मूल्यांकन का पुराना रास्ता छुड़वा दिया है। यह होता रहेगा। साहित्य का इतिहास इन सीमाओं को स्वीकार करके ही लिखा जायेगा। वस्तुतः इतिहास-मात्र इस सीमा मे बँधे है। इतिहास-लेखन निरन्तर चलमान प्रक्रिया है।

पश्चिम के कई विचारकों ने साहित्य के इतिहास और साहित्यिक आलोचना मे भेद बताने के लिए ऐसा भी कहा है कि इतिहास बताता है कि क ने ख से क्या लिया, जबकि आलोचना बताती है कि क और ख मे कौन अच्छा है और कौन नही। यह भी अविचारित-स्मरणीय है, क्योंकि इसमें इतिहास को अभ्यर्ह से एकदम असंयुक्त मान लिया है।

काल, गतिमात्र है। अगर कोई स्थिति न होती तो हम काल की धारणा ही नही कर सकते। स्थिति देश में होती है। गति और स्थिति के योग में ही घटना बनती है और घटित होने की क्रिया का भान होता है। इसी भान से इतिहास बनता है। इस प्रकार वह स्थिति-परक स्थूल घटनाओं का आधार चाहता है। यह विचित्र बात है कि जिन विचारकों ने साहित्य का इतिहास लिखना सम्भव नही माना, व भी यह तो मानते ही हैं कि साहित्य में आनन्द और उपयोगिता का योग रहता है; क्योंकि उपयोगिता ही वस्तुतः साहित्य में गम्भीरता ले आती है। उपयोगिता बाह्य जगत् की तथाकथित साहित्येतर वस्तुओं का आश्रयण करती ही है। इतिहास-लेखक को इन बाह्य सामाजिक परिस्थितियों की छान-बीन करनी पड़ती है। कई बार किसी कवि या ग्रन्थकार का काल-निर्धारण भी बाह्य सामाजिक परिस्थितियो के विश्लेषण से करना पड़ता है। काल-निर्धारण किये बिना इतिहास-लेखक प्रभाव और मूल उत्स की चर्चा ही नहीं कर सकता। इसके बिना साहित्य का इतिहास लिखा ही नहीं जा सकता। अश्वघोष और कालिदास के काल को लेकर कई विद्वानों मे मतभेद है। अगर अश्वघोष पूर्ववर्त्ती हैं तो कालिदास पर उनका प्रभाव था; पर अगर वह कालिदास के परवर्त्ती हैं तो बिलकुल उलटी बात होगी। कैसे निश्चित हो कि कौन पूर्ववर्त्ती है, कौन परवर्त्ती? एक ही उपाय है कि दोनों के साहित्य में प्रतिफलित समाज-व्यवस्था, भाषा, रीति-नीति आदि के अध्ययन के अन्तःसाक्ष्य से और शिला-लेखों, मूर्तियों, भित्ति-चित्रों तथा अन्य प्रमाणों के बाह्य साक्ष्य से समस्या सुलझायी जाये। ऐसा ही किया जाता है। साहित्य के इतिहास मे साहित्येतर बाह्य प्रमाणों का सहारा लेना ही पड़ता है। उसके बिना केवल ग्रन्थों और ग्रन्थकारो के आधार पर पूर्वापर क्रम का निर्णय करना कठिन होता है, बल्कि कई बार यह निर्णय करने में कठिनाई होती है कि कोई ग्रन्थ सचमुच उसी समय लिखा गया या नही, जिस समय उसके लिखे जाने का दावा किया जाता है। ग्रन्थों की प्रामाणिकता बहुत विचार के बाद सिद्ध होती है। उसमें अनेक प्रकार के साक्ष्यो की आवश्यकता होती है। एक बार पाँच पण्डितों ने शम्भु-कृत रामायण का कुछ भाग प्रकाशित कराया और यह दावा किया कि तुलसीदास ने इसी रामायण का अक्षरशः अनुवाद किया है।

अपने ग्रन्थ के अन्त में उन्होने (तुलसी ने) स्वीकार भी किया है कि 'यत्पूर्वं कविना स्वयं सुकृतिना श्रीशम्भुना निर्मितम्'। यह दावा अगर मान लिया जाता तो तुलसीदास की महत्ता ही समाप्त हो जाती। पर सुप्रसिद्ध भाषा-शास्त्री जार्ज ग्रियर्सन ने रायल एशियाटिक सोसायटी के जर्नल में अनेक भाषा-शास्त्रीय और ऐतिहासिक प्रमाणो से सिद्ध कर दिया कि यह जाल है और वस्तुतः गोसाईंजी के रामचरितमानस का ही अनुवाद है—कही-कही तो अशुद्ध अनुवाद! ग्रियर्सन की परीक्षा का परिणाम ठीक साबित हुआ। पण्डितों को मानना पड़ा कि यह उनका जाल था! 'मूल गोसाईं-चरित' की कहानी अब सभी जान गये है। साहित्य के इतिहास-लेखक को बहुत सावधान रहना पड़ता है। ज़रा भी गफलत से कुछ-का-कुछ हो जाने की आशंका रहती है।

इस प्रसंग मे तुलनात्मक अध्ययन का महत्त्व भी समझा जाना चाहिए। तुलनात्मक अध्ययन साहित्यिक-समीक्षकों का प्रिय विषय रहा है। हिन्दी मे तो वह माला से कुछ अधिक ही हो रहा है, परन्तु अध-कचरे लेखकों के हाथ पड़ने से इसकी दुर्दशा भी हुई है। एक-एक उक्ति लेकर तुलना बहुत दूर तक ले जानेवाली बात नही है। तुलना समग्रता में होनी चाहिए। यह कठिन कार्य है। जिसका साहित्यिक ज्ञान बहुत विस्तीर्ण नही है, वह गलत निष्कर्षों पर पहुँच सकता है। इस प्रसंग मे कई पश्चिमी विचारको का 'तद्वृत्तिवाद' या 'हिस्टीरिसिज़्म' भी विचारणीय है। इस मत के अनुसार हर युग के लेखक या ग्रन्थ के सम्बन्ध में विचार करते समय उसी युग और उसी श्रेणी की मान्यताओं के अनुसार ही विचार किया जाना चाहिए, आधुनिक दृष्टि से नही। यह भी अन्तःग्राह्य सिद्धान्त है, पूर्णतः नही।

तद्वृत्तिवादियों का यह कहना तो ठीक है कि किसी कवि या ग्रन्थ को उसकी मान्यताओं के आलोक में देखने से उसे ठीक से समझा जा सकता है। पर यह नही भूलना चाहिए कि साहित्य की समग्रता को समझने के लिए इतिहास-लेखक की अपनी दृष्टि होनी चाहिए। आधुनिक युग का लेखक आधुनिक विचारों से एकदम अछूता नही रह सकता। उसे उन मान्यताओं की अभ्यर्हता को भी एक समग्र दृष्टि से देखने का अधिकार मिलना चाहिए। अगर ऐसा नही होगा तो साहित्य का इतिहास भी पश्चिम मे बहु-समादृत 'विचारों का इतिहास' या 'हिस्टरी आफ आइडियाज़' के समान विभिन्न विचारों के अलग मनकों की माला ही बन जायेगा। साहित्यिक उपलब्धियों का अभेद्य प्रवाह नहीं बन पायेगा।

किसी राष्ट्र के साहित्यिक जीवन में एक ही अभ्यर्हता निरन्तर मुख्य स्थान नहीं अधिकार करती। इतिहास की यात्रा के साथ-साथ अभ्यर्हता और आदर्शों में भी परिवर्त्तन होता रहता है। साहित्य मे भी इन अभ्यर्हताओ और आदर्शों का प्रतिफलन होता रहता है। इस आधार पर काल-विभाजन किया जाता है। कई बार राजनीतिक काल-विभाजन भी होता है जो बहुत उचित नही कहा जा सकता। अंग्रेजी में 'एलिज़ाबेथन', 'विक्टोरियन' जैसे काल-खण्ड माने गये हैं। हिन्दी साहित्य के ऐसे खण्ड नही किये गये, पर 'स्वातन्त्र्योत्तर' जैसे शब्दों में उसकी गन्ध मिलती

है। यह शब्द राजनीतिक-जैसा दिखने पर भी वस्तुतः ऐसा नही है, क्योंकि इसमें एक समूचे राष्ट्र के मन को ढकनेवाले एक काले पर्दे के हट जाने का इंगित है, जो केवल राजनीतिक नही कहा जा सकता। इतिहास-लेखक प्रवृत्तियों के अनुसार काल-खण्डो का नामकरण करता है। वस्तुतः काल अविभाज्य है। उसका विभाजन केवल बाह्य जगत् में घटी घटनाओं के आधार पर किया जाता है। साहित्य-विभाजन का उद्देश्य यह है कि विभाजन इस आधार पर हो कि बाह्य जगत् की हलचलों के कारण जो साहित्यकार के अन्तःकरण मे नवीन अभ्यर्हताओं का जन्म हो रहा था, उसने कहाँ आकर मुख्य अभ्यर्हता (अभिमूल्य) का रूप ग्रहण किया और सामाजिक चित्त में उसके प्रति आस्था कब तक बनी रही। बड़ी-बड़ी राजनीतिक घटनाएँ भी इसके रूप लेने में कारण बन सकती हैं। इसलिए किसी के मन मे यदि उन राजनीतिक परिस्थितियो या व्यक्तियों की बात उठनी है तो यह अस्वाभाविक नही है; पर इसका दोष यही है कि साहित्य की समग्रता का बोध इससे नही होता। इतना स्पष्ट रूप से समझ लेना चाहिए कि काल-खण्ड की सीमा-रेखा कोई पत्थर की लीक नही है। साहित्य मे जिन जीवन्त अभ्यर्हताओं की अभिव्यक्ति होती है, वे भी धीरे-धीरे दाना बाँधती हैं। उनका भी उन्मेष आकस्मिक नहीं होता।

प्रवृत्तियो के अनुसार काल-खण्डो का नाम देना विवादास्पद होता है और राजनीतिक घटनाओ और व्यक्तियों के अनुसार नाम देना यह गलत धारणा उत्पन्न करता है कि साहित्य बाह्य जगत् की घटनाओं की अवश्यम्भावी छाया मात्र है, कोई क्रियात्मक प्रक्रिया नही है। इन दोनो से बचने के 'लिए 'अठारहवी शती का साहित्य', 'उन्नीसवी शती का साहित्य', 'साठोत्तरी कहानी' आदि नाम दिये जाने लगे हैं। कभी तो '1857-1947' जैसे सांवत्सरिक अंको से ही काम निकाल लिया जाता है, यद्यपि इसके मूल में भी राजनीतिक घटनाएँ ही रहती हैं। यद्यपि ये झगड़ों से बचने की दृष्टि से अच्छे उपाय है, पर साहित्य की उपलब्धियो की दृष्टि से ये विभाजन बहुत अच्छे नही कहे जा सकते। इस प्रकार के विभाजन मे और भी अधिक सावधानी की आवश्यकता है। सांवत्सरिक विधान व्यवहार-जगत् की सुविधामात्र के लिए है। उसका साहित्य की गति से कोई सम्बन्ध नहीं है। प्रवृत्तियों के अनुसार या महत्त्वपूर्ण सामाजिक घटनाओ के अनुसार या सावत्सरिक अंकों के अनुसार विभाजित काल-खण्ड साहित्य की समग्रता को समझने के साधन-मात्र हैं; चरम भी नही, परम भी नही।

वस्तुत. साहित्य का इतिहास मानव-मस्तिष्क के सबसे सुकुमार और गतिशील पहलू का इतिहास है। उसके द्वारा मनुष्य की आशा-आकांक्षा, आनन्द-अवसाद और जीवन की निरन्तर विवर्त्तमान अभ्यर्हताओं की प्रवहमान धारा को प्रत्यक्ष देखना सम्भव हो तभी उसकी सार्थकता है। उसके लिए अनेक स्थूल नीरस वस्तुओं की सहायता अपेक्षित है, पर है वह जीवन्त मनुष्य की सुकुमार चेतना की विकासोन्मुखी यात्रा की धारावाहिक कहानी ही। वर्गों, प्रवृत्तियों, प्रजातियो मे विभाजित करके हम उसके समग्र रूप को देखने का ही प्रयास करते हैं। भर्तृहरि

ने व्याकरण-शास्त्र के प्रकृति-प्रत्यय के काल्पनिक विभागों को असत्य कहा था और बताया था कि हम असत्य-मार्ग से चलकर सत्य को ही पाने का प्रयास करते हैं— असत्ये वर्त्मनि स्थित्वा सत्यमेवानुचिन्तयन्। यह भी वैसा ही कुछ है। विभाजन असत्य मार्ग है। साहित्य की समग्रता ही सत्य लक्ष्य है।

[प्रतीक, जून 1974]

आलोचना का स्वतन्त्र मान

एक पत्र के लिए लेख लिखने बैठा हूँ। चाहता हूँ कि काव्य के रस-लोक की अनिर्वचनीयता के सम्बन्ध में पाठकों को नयी बात सुनाऊँ, परन्तु हृदय भीतर से विद्रोह कर रहा है। बार-बार मन का बहुत दिनों का अन्तःसंचित पाप बाहर निकल आना चाहता है। वर्षों से अध्यापन का कार्य कर रहा हूँ, हिन्दी और संस्कृत के रस-सिद्ध महाकवियों की वाणी पढ़ता-पढ़ाता आया हूँ, विद्यार्थियों को और अपने-आपको समझाता रहा हूँ कि इन काव्य-रस के रसिकों को एक अलौकिक अनिर्वचनीय आनन्द मिलता है, जो ब्रह्मानन्द का सहोदर है। कहता रहा हूँ कि दुनिया के छोटे-मोटे प्रयोजन इस गुणमय शरीर और मन की परितृप्ति के लिए हैं। आत्मा की परितृप्ति किसी अलौकिक रस नामक वस्तु से होती है—अर्थात् अपने को और अपने श्रोताओं को दो परस्पर-विरोधी दुनियाओं की बात बता रहा हूँ; एक जड़-जगत् है, दूसरा रस-जगत्। परन्तु ऐसा कभी नहीं हुआ है कि भीतर से एक आवाज नहीं आती हो कि आखिर प्रमाण क्या है। क्यों इस रस-जगत् के साथ जड़-जगत् की निरन्तर लड़ाई चल रही है, क्यों जब एक दो-दुगन्ने-चार कहता है तो दूसरा पाँच कहने के लिए कटिबद्ध है, क्यों एक स्वर्गलोक की ओर उठता है तो दूसरा पैर पकड़कर अस्वर्ग्यलोक की ओर खींच लेता है? मैंने अपने श्रोताओं को धोखा नहीं दिया है, उन्हें भी इस प्रश्न की ओर उन्मुख किया है; परन्तु अपने-आपको मैंने धोखा दिया है। मैं रस-लोक की अनिर्वचनीयता पर विश्वास न करके भी विश्वास करता रहा हूँ। आज मेरे मन की अवस्था ठीक ऐसी ही नहीं है। आज मुझे ऐसा लग रहा है कि रस-जगत् और जड़-जगत् का भेद कल्पना करके हमने बिस्मिल्ला ही गलत बोल दिया है। मैं पाठकों का समय व्यर्थ में नष्ट नहीं करूँगा—विश्वास रखें। परन्तु हृदय के भीतर जो विद्रोह आज घनीभूत हो बरसना चाह रहा है, उसके उत्तेजक कारणों को कहे बिना मैं अपनी बात ठीक-ठीक नहीं समझा सकूँगा।

गढ़ा सेर लेकर पहुँचा है। जब हम समालोचक की रुचि की बात कहते हैं, तो उसके उसी आत्म-निर्धारित सेर की बात करते हैं। 'क' नामक समालोचक जिसको तीन सेर कहता है, 'ख' उसे पौन सेर मानने को भी तैयार नहीं। एक पुरस्कार के लिए एक निर्णायक ने एक पुस्तक पर 85 नम्बर दिये थे, दूसरे ने 20, तीसरे ने शून्य! और फिर भी समालोचक यह आशा करने से बाज नहीं आते कि उनकी बातें लोग उत्कर्ण होकर सुनेंगे। आप आलोचकों से बातें कीजिए तो देखिए, वे अपनी लिखी हुई प्रत्येक पंक्ति को कितना महत्त्वपूर्ण समझ बैठे हैं। पर सही बात यह है कि अधिकांश ऊपर से ऐसा दिखाते रहने पर भी भीतर-ही-भीतर अपनी आलोचनाओं को उतना महत्त्व नहीं देते। अगर वे अपनी-अपनी सम्मतियों को सचमुच स्वीकरणीय मानते, तो दो-तीन साहित्यिक पुलिस-केस हर शहर में होते रहते।

यह तय है कि अपनी-अपनी रुचि और अपने-अपने संस्कार लेकर वस्तु का यथार्थ स्वरूप-निर्णय नहीं हो सकता। कोई एक सामान्य मान-दण्ड होना चाहिए। वह मान-दण्ड बुद्धि है अर्थात् किसी वस्तु, धर्म या क्रिया के वास्तविक रहस्य का पता लगाने के लिए उसे अपने अनुराग-विराग या इच्छा-द्वेष के साथ नहीं सान देना चाहिए, बल्कि देखना चाहिए कि देखनेवाले के बिना भी वस्तु अपने-आपमे क्या है। गीता मे इसी बात को नाना भाव से कहा गया है। कभी द्वन्द्वों से अपरिचालित होने को, कभी बुद्धि की शरण लेने को, कभी 'अफलाशी' होकर कर्म करने को कहा गया है। समालोचना का जो ढर्रा चल रहा है, उसमें द्वन्द्वों द्वारा परिचालित होने को दोष का कारण तो माना नहीं जाता, उलटे कभी-कभी उसके लिए गर्व किया जाता है। अनुराग-विराग, इच्छा-द्वेष आदि के द्वारा निर्णय पर पहुँचने को समालोचक गर्व की वस्तु समझता है।

सम्मतियों की इस बहुमुखी विरोधिता का कारण है वस्तु को मानसिक संस्कारों के चश्मे से देखना और बुद्धि के द्वारा न देखना। अत्यधिक आधुनिक भाषा में कहे तो subjectively देखना, और objectively देखने का प्रयत्न न करना। पर समालोचक को अपनी लज्जा तो छिपानी ही चाहिए। कुछ समालोचक तो लज्जित होना जानते ही नहीं। वे हर गली-कूचे मे अपनी विशेष राय और अपने सौ प्रतिद्वन्द्वियों की बात गर्व के साथ सुनाते रहते हैं। पर कुछ जो शीलवान है, इस बात से शर्मिन्दा भी होते है और इसी लज्जा से बचने के लिए वेदान्त से लेकर कामशास्त्र तक का हवाला दिया करते हैं। इन शर्मिन्दा होनेवाले शीलवानों के कारण समालोचना की समस्या और भी जटिल हो रही है। इन्होंने इतने बहुविध शास्त्रीय दृष्टिकोण और लोक-शास्त्रादि पक्षो का आविष्कार किया है—कि पाठक का चित्त विभ्रान्त हो जाता है। ऐसे ही एक प्रकार के समालोचकों ने एक स्वतन्त्र रस-लोक की कल्पना की है। इनके पास दर्शन-शास्त्र की व्युत्पत्ति है और इसीलिए दर्शन की गम्भीरता से आतंकित सहृदय-समाज पर इनका सिक्का भी बहुत जम गया है। ये छूटते ही शरीर के दो हिस्से कर डालते हैं—शरीर और आत्मा, जड़ और चेतन। दोनों

परस्पर-विरोधी। फिर जगत् दो, जड़ और चेतन। अब चेतन में आइए तो चेतन भी दो, लोक-पक्षात्मक और भाव-पक्षात्मक। और लोकपक्ष भी दो, आदर्शवादी और यथार्थवादी'''इत्यादि। इस प्रकार समालोचना का मेघ-मल्हार शुरू होता है और अनभ्र वज्रपात प्रायः ही होता दिख जाता है। लेकिन यही होता तो कोई बात नहीं थी। यह तो हजार-दो हजार सिस्टमों में से एक है। अब बताइए, साधारण पाठक क्या समझे? इस प्रकार शुरू में ही अपनी रुचि-अरुचि के जाल से आलोच्य को आच्छादित करनेवाली समालोचना की भी शास्त्रीय विवेचना हो गयी है और उसको नाम दिया है judicial criticism या निर्णयात्मक समालोचना। यदि समालोचना को निर्णयात्मक मान लें तो इस पर से अनुमान हो सकता है कि आलोचक जज है। अब यह तो आप मानेंगे ही कि जज को यथासम्भव अपने मनोभावों से प्रभावित न होकर किसी ऐसे मानदण्ड से फैसला करना चाहिए जो सबके लिए एक हो।

परन्तु कहते हैं, समालोचना की दुनिया निराली होती है। अन्य वैज्ञानिक ठोस वस्तुओं की नाप-जोख करते रहते हैं, पर समालोचक अनिन्द्रिय-ग्राह्य अलौकिक रस-वस्तु की जाँच करता है। इसलिए पहले उसे अपने मनोभावों को ही प्रधानता देनी चाहिए। अर्थात् छूटते ही उसे जो काव्यादि अपील कर जायें, 'पदझंकार मात्रेण' उसका मन हर जायें, उन्हीं को उसे बुद्धि-परक विवेचना का रूप देना चाहिए। मुझे इस बात की शिकायत नहीं है। ऐसी हालत में आप समालोचक को जज या द्रष्टा या और कुछ कहें तो मुझे जरूर शिकायत होगी; क्योंकि ऐसा करके आलोचक वस्तुतः कवि बनता है। अन्तर यही होता है कि कवि फूल-पत्तों को देखकर भावोन्मत्त होता है और आलोचक उसकी कविता को। मैं इस बात को स्वीकार करता हूँ कि कवि के चित्त के अन्तस्तल में या उसके subconscious mind में ऐसी बहुत-सी चीजें होती हैं, जो अनजान में उसकी कविता में आ जाती हैं, और आलोचक का दावा बिलकुल ठीक है कि वह उन अनजान प्रवृत्तियों से सहृदयों को परिचित कराता है। परन्तु जब वह कहता है कि उससे किसी अनिर्वचनीय हेतु या फल का सन्धान उसे मिलता है, तो मुझे ऐसा लगता है कि वह मानव-बुद्धि का अपमान करता है। कोई चीज हमें सौ-दो सौ कारणों से प्रभावित करती है। वैज्ञानिक को आज शायद दस-पाँच का ही ज्ञान है। बाकी अज्ञात है। किन्तु वैज्ञानिक का यह धर्म है कि उसे जितना मालूम है उतना कहकर बाकी के लिए भावी पीढ़ियों में कुतूहल और उत्सुकता का भाव जगा जाय, यह नहीं कि वह दे कि बाकी किसी अज्ञात और अज्ञेय उत्स से आ रही हैं। समालोचक से हमारी यह भी शिकायत है।

लेकिन मुझमें केवल इन्हीं दो कारणों से आलोचना-कार्य के प्रति संशय का भाव नहीं उदित हुआ है। यह जो बात मैं अब तक कहता आया हूँ, वह इस दृष्टि से कि काव्य या नाटक अथवा अन्य किसी साहित्यांग को साध्य मान लिया गया है। आदिकाल से अब तक हम इसी दृष्टि से इसे देखते रहे हैं। पर अगर साध्य रूप

में ही साहित्य को पढ़ना-पढ़ाना हो तो कम-से-कम हिन्दी के प्राचीन साहित्य का 9/10 हमें यथाशीघ्र फेंक देना चाहिए और भविष्य में पाण्डुलिपियों के पीछे भागते फिरने के श्रम से भी छुट्टी ले लेनी चाहिए। वस्तुतः साहित्यिक अध्ययन—तथापि साहित्य के अध्ययन— साध्य रूप में नहीं, बल्कि साधन रूप में ही अधिक लेना चाहिए। उसे अपनी आधुनिक समस्याओं के वर्तमान जटिल रूप के समझने में सहायक के रूप में ही अधिक देखना चाहिए। प्रधान बात है हमारी आधुनिक समस्याएँ। साहित्य अगर उसके लिए उपयुक्त अध्ययन-सामग्री नहीं उपस्थित करता तो वह बेकार है। और इतना तो आप भी मानेंगे कि केवल बिहारी, भूषण और देव को घोटकर कण्ठाग्र कर रखनेवाले पण्डित भी आधुनिक युग में केवल निकम्मे ही नहीं, समाज के भार हो जायेंगे। मैं आशा करता हूँ कि पाठक मुझे गलत नहीं समझेंगे। आखिर बिहारी या मतिराम हमारी कौन-सी राष्ट्रीय, अन्त-र्राष्ट्रीय सामाजिक या वैयक्तिक समस्याओं का जवाब है? उनके अध्ययन से हम केवल एक ही फायदा उठा सकते हैं, वह यह कि इनको पढ़कर, इनका क्रमबद्ध विकास देखकर हम अपनी नित्यप्रति की उन समस्याओं का असली कारण और स्वरूप समझ सकते हैं जो हमें रोज ही जूझने को ललकारती रहती हैं। इसी को मैं साधन-रूप में साहित्य का अध्ययन कहता हूँ। मैं जानता हूँ कि आप मेरे साथ निश्चय ही सहमत होंगे कि हिन्दी-साहित्य को इस रूप में अध्ययन करने की चेष्टा बहुत कम हुई है।

[अशोक के फूल से]

सावधानी की आवश्यकता

साहित्य में नित्य जीवन-प्रयोग हो रहे हैं। जिस समय हमारा देश स्वाधीन हो रहा है, उस समय इन नवीन प्रयोगों के विषय में कुछ सावधानी बरतने की आवश्यकता जान पड़ती है। इस समय देश के शिक्षित समझे जानेवाले जनसमुदाय में एक विचित्र प्रकार की सन्देहशीलता और अविश्वास का भाव दिखायी दे रहा है। सैकड़ों वर्ष की गुलामी से कुचला हुआ मनोभाव उत्तरदायित्व का भार देखकर ही बिदक गया है। मलेरिया का बुखार आदमी को कमजोर पाकर बीस वर्ष बाद भी चढ़ दौड़ता है। हमारे भीतर संघर्ष-काल में जितना आत्मविश्वास था, उतना भी नहीं दिखायी देता। शत्रुओं की कूट-बुद्धि पर, प्रतिद्वन्द्वियों की चालबाजियों

पर और मूर्खता पर हमें बहुत ज्यादा विश्वास है और अपनी दृढ़ता पर, अपनी नीति पर और अपने अधिकार पर बहुत कम। इस अवस्था में साहित्य यदि जनता के भीतर आत्मविश्वास और अधिकार-चेतना की संजीवनी शक्ति नहीं संचारित करता तो परिणाम बड़े भयंकर होंगे। हमें इस समय कठोर आत्मसंयम, अदम्य इच्छा-शक्ति और दुर्जेय आत्मविश्वास की जरूरत है। हमारे साहित्य में आज ऐसे दृढ़चेता चरित्रों की कमी महसूस हो रही है, जो विपत्तियों की झंझा मे पहाड़ के समान अटल बने रहते है, जूझने का अवसर पाने पर सौ गुना उत्साहित हो जाते हैं और प्रलोभनों के विशाल व्यूह में भी अपने कर्त्तव्य-पथ से तिल-मात्र विचलित नही होते। आज हमें ऐसे साहित्य की आवश्यकता है, जो हमारे युवकों मे मनुष्यता के लिए बलि होने की उमंग पैदा करे, अन्याय से जूझने का उन्माद पैदा करे और अपने अधिकारों के लिए मिट जाने के लिए अकुण्ठ साहस का संचार करे।

क्या साहित्यिक अपना कर्त्तव्य पालन कर रहे है? कहना व्यर्थ है कि हिन्दी के साहित्यिक चुप नही बैठे हैं। कागज की कमी और छपाई की दिक्कतों के होते हुए भी दर्जनो पत्रिकाएँ और पुस्तकें प्रतिमास निकल रही है। फिर आज यह शंका क्या उचित है कि साहित्यकार कर्तव्य-पालन में सावधान हैं या नही?

हमारे युवा साहित्यकारो में से अधिकांश अपने को 'प्रगतिशील' कहते और समझते है। इनकी 'प्रगतिशील' कही जानेवाली रचनाओं में कई श्रेणी की चीजें हैं। यह एक बिल्कुल गलत धारणा है कि सभी प्रगतिवादी रचनाएँ मार्क्सवादी विचार-धारा का समर्थन या प्रचार करती है। वस्तुतः कई प्रकार की आधुनिक मनोभावों के प्रचार के उद्देश्य से लिखी गयी समस्त रचनाएँ 'प्रगतिशील' कही जाने लगी हैं। आज समय आ गया है कि इन रचनाओं का विश्लेषण करके ठीक-ठीक समझ लिया जाय कि 'प्रगतिशील' वस्तुतः कौन-सी हैं और केवल अधकचरे आधुनिक विचारों की हवा में से पकड़कर उन पर से अपना कारबार करनेवाली रचनाएँ कौन हैं? बिना किसी झिझक के यहाँ कह दूँ कि मैं उन रचनाओं को किसी प्रकार प्रगतिवादी मानने को तैयार नहीं हूँ, जिनमे संसार को नये सिरे से उत्तम रूप में ढालने का दृढ़ संकल्प न हो। जो रचना केवल हमारी मानसिक चिन्ताओ का विश्लेषण करने का दावा करके हमें जहाँ-का-तहाँ छोड़ देती है, उसमें गति ही नही है। उसे प्रगतिशील तो कहा ही नहीं जा सकता।

इस युग के युवक-चित्त को जिस नयी विद्या ने सबसे अधिक प्रभावित किया है, वह है मनोविज्ञान और मनोविश्लेषण-शास्त्र। निस्सन्देह ये शास्त्र पठनीय हैं। इन्होंने हमारे सामने अपने ही भीतर चलनेवाली अनेक अज्ञात धाराओं से हमारा परिचय कराया है, परन्तु यह बात सदा ध्यान में रखनी चाहिए कि "सब साँच मिलै सो साँचे हैं, ना मिलै सो झूठ"। सत्य सार्वदेशिक होता है। मनोविश्लेषण-शास्त्र मनुष्य की उद्भावित विचार-निधियों का एक अकिंचन अंश-मात्र है। जीव-शास्त्र और पदार्थ-विज्ञान के क्षेत्र में हमे जो नये तथ्य मालूम हुए हैं, उनके साथ इस शास्त्र के अनुसन्धानों का सामंजस्य नही स्थापित किया जा सका है। फिर भी

इतना तो निश्चित है कि मानस-विश्लेषण-शास्त्र के आचार्यों के प्रचारित तत्त्ववाद मे से कुछ विचार इन दिनों वायुमण्डल मे व्याप्त है। नवीन साहित्यकार उन्हे अनायास पा जाता है, परन्तु उन विचारों को संयमित और नियन्त्रित करनेवाले प्रतिकूलगामी शास्त्रीय परिमाण उसे इतनी आसानी से नही मिलते। इसका परिणाम यह हुआ है कि हमारा नवीन साहित्यकार इन विचारो के मायाजाल को आसानी से काट नही पाता। वह कुछ इस प्रकार सोचता है : अवचेतन चित्त की शक्तिशाली सत्ता ही हमारे चेतन चित्त के विचारो और कार्यो को रूप दे रही है। हम जो कुछ सोच और समझ रहे हैं, वस्तुतः वैसा ही सोचने या समझने का हेतु हमारे अनजान मे हमारे ही अवचेतन चित्त मे वर्त्तमान है। और यह जो हम सोच रहे हैं, समझ रहे हैं और सोच-समझकर कर रहे हैं, इन बातों का 'अभिमान' करनेवाला हमारा चेतन चित्त कितना नगण्य है। अदृश्य में वर्त्तमान हमारी अवदमित *वासनाओं और प्रसुप्त कामनाओ* के महासमुद्र में यह दृश्य-चेतन चित्त बोतल के कार्क के समान उतरा रहा है। अदृश्य महासमुद्र की तरंगें उसे अभिभूत कर जाती हैं। हम जिसे तर्कसंगत विचार समझ रहे है, वह वस्तुत: संगति लगाने का ही प्रकारान्तर है। मनुष्य में स्वतन्त्र इच्छा-शक्ति नाम की कोई चीज नहीं है। स्वतन्त्र इच्छा-शक्ति पुराने दकियानूसी विचारों की अर्द्धविकसित बुद्धि की अधकचरी कल्पनामात्र है। कुछ और विश्लेषकों ने आगे बढ़कर कहा है कि जब कोई व्यक्ति जानबूझकर कोई काम करता है, जिसे वह अपनी इच्छा-शक्ति का कार्य समझता है, तो वस्तुतः वह इसलिए कि शिशुकाल से ही वह नाना भाव से अपने को असहाय मानता रहता है और इस प्रकार उसके मन में हीनता की गाँठ पैदा हो जाती है। उसी हीनता की क्षतिपूर्ति के उद्देश्य से वह आगे चलकर बड़े-बड़े काम करता है। असल मे हीनता की भावना जितनी ही तीव्र होती है, भविष्य-जीवन में मनुष्य उतना ही कर्मठ होता है ! ये हू-ब-हू वही विचार नही है, जिनका प्रतिपादन फ्रायड या एडलर जैसे आचार्यो ने किया है। ये उन विचारों का अत्यधिक प्रचलित रूप हैं, जिन्हे आज का नया साहित्यकार आसानी से हवा में से पकड़ लेता है।

इन विचारो का बड़ा घातक असर हमारे साहित्य पर हो रहा है। जिसे देखो, वही कुछ मनोविश्लेषण के प्रयोग कर रहा है। कुछ लिबिडो, कुछ प्रसुप्त वासना, कुछ अवदमित कामना किस रूप मे चेतन दिमाग मे रूप-परिग्रह कर रही है, यह बताने के उद्देश्य से जो साहित्य लिखा जायगा, उसमे वह चरित्रगत दृढ़ता आ ही नही सकती, जो आज के सकट-काल में हमे धीर और कर्मठ बना सके। यदि मनुष्य कुछ पूर्ववर्त्ती अज्ञात वासनाओ का ही मूर्त्त रूप है, यदि अनजान मे बँधी हुई हीनता की गाँठ ही हमारे चरित्र का निर्माण कर रही है, तो फिर दृढचित्तता और आत्मनिर्माण का स्थान कहाँ है ?

लेकिन केवल इन्ही विचारों को लेकर साहित्यिक प्रयोग हो रहे हैं, ऐसा कहना अन्याय होगा। एक प्रकार के हमारे युवक साहित्यकार ऐसे भी हैं, जो बड़ी

सावधानी से ऐसे चरित्रों का निर्माण कर रहे हैं, जिनमें दुनिया को अपने आदर्श के अनुरूप ढाल लेने का संकल्प है। मार्क्सवादी साहित्य कितने भी दुर्धर्ष जड़-विज्ञान के तत्त्व-वाद पर आधारित क्यों न हो, वह मनुष्य को केवल नियति का गुलाम नहीं मानता। सिद्धान्त-रूप में वह चाहे जो भी स्वीकार क्यो न करता हो, साहित्य में वह मनुष्य को दृढचित्त बनाने का कार्य करता है। मुझे इस श्रेणी के साहित्य मे यह बात सबसे अच्छी लगती है। खेद है कि सभी मार्क्सवादी इस बात मे पूरे नहीं उतरते। कभी-कभी एक ही स्थान पर एक तरफ तो वे ऐसे चरित्र का निर्माण करते हैं, जो कठिनाइयों से जूझता है और दूसरे ही क्षण मानस-विश्लेषण करके उसे प्रसुप्त वासनाओं का प्रतिफलन मात्र बना देते हैं। मुझे ऐसा लगता है कि इस श्रेणी के साहित्यिक अभी भी अपना कर्तव्य साफ-साफ नहीं समझ रहे हैं।

उन्नीसवीं शताब्दी यूरोप में जड़ विज्ञान लेकर आयी थी; परन्तु उस युग के साहित्य में संसार को आदर्श रूप में गढ़ने की जैसी उत्कट और शक्तिशाली भावना प्रकट हुई, उसकी तुलना किसी युग से नहीं की जा सकती। बीसवीं शताब्दी प्राणि-विज्ञान और मनोविज्ञान का युग कहा जाता है। पस्तहिम्मती, पलायन और नियति-दासता को क्या इस युग के साहित्य में बड़ा हो जाना चाहिए था? युद्धों और राजनैतिक कचकचाहटों ने इस युग के साहित्यकार को निराशावादी और मनो-विश्लेषक बना दिया है। वह देख रहा है कि दुनिया के नख और दन्त चाहे जितने तेज हो गये हों, उनका मन परिवर्तित नहीं हुआ है। मनुष्य सब मिलाकर आज भी पशु ही बना हुआ है। डारविन ने उन्नीसवीं शताब्दी मे कहा था कि मनुष्य वस्तुतः पशु का ही विकसित रूप है। वर्तमान युग के मनोविज्ञानियों ने आज भुजा उठाकर घोषणा की है कि मनुष्य पशु का विकसित रूप केवल शरीर से है, मन की ओर से वह आज भी प्रायः पशु ही है। वही आदिम मनोवृत्तियाँ जो चूहे में हैं, बकरी में हैं, वनमानुष में है, मनुष्य में भी है। उन मनोवृत्तियों में एकदम परिवर्तन नहीं हुआ है, केवल रूप बदल गया है। परिस्थिति के कारण जिस प्रकार ऊँट की गर्दन एक प्रकार की बन गयी है, हाथी की सूँड दूसरी प्रकार की हो गयी है, उसी प्रकार बदली हुई परिस्थितियों ने मानव-चित्त को कुछ नया रूप दिया है, नहीं तो है वही पुरानी चीज।

प्रश्न यह है कि आज का साहित्यकार क्या इसी प्रकार के विचारों को चुपचाप स्वीकार कर नया-नया प्रयोग करता जायेगा? समूची जाति का भाग्य अधर मे लटका हुआ है, अविश्वास और संशयालुता ने हमारे विचारशील चित्त के लोगों मे भय और सन्देह को भर दिया है, भीतर और बाहर की विकट समस्याओं के सम्मुखीन होने मे देश के समझदार लोग दुविधा का अनुभव कर रहे हैं। हमारे सामने देश को स्वाधीन बनाये रखने की समस्या ही मुख्य नहीं है। स्वाधीनता भी एक साधन है। सारे संसार को अविश्वास और पारस्परिक घृणा और विद्वेष के दल-दल से उबारने का हमें अवसर मिलने जा रहा है। हम क्या आज निराश और हतोत्साह होकर यह कार्य कर सकते हैं? मनोविज्ञान, प्राणि-विद्या और पदार्थ-

विज्ञान का अध्ययन हम अवश्य करें, परन्तु निश्चित समझें कि ये शास्त्र मनुष्य की अद्भुत बुद्धि के कण-मात्र हैं। ये ही सबकुछ नही हैं। मनुष्य इनसे बड़ा है। ये शास्त्र केवल सामने पडी हुई विशाल ज्ञानराशि की ओर संकेत कर रहे हैं। भारतवर्ष के साहित्यकारों को आज सुवर्ण संयोग प्राप्त है। अगर इस अवसर पर हम चूक गये तो सम्भवतः दुनिया एक नये दलदल में फँस जायगी। यह मत समझिए कि भारतवर्ष उपेक्षित-अवमानित बना रहेगा। ससार को नयी ज्योति देने की जिम्मेदारी आज हमारे तरुण साहित्यकारों के कन्धों पर आ पड़ी है। आज हमें स्मरणीय और अविस्मरणीय आदर्शों का निर्माण करना है। हमारे महान् देश का भविष्य हमारे हाथों मे है।

निस्सन्देह मनुष्य मे पशु-सामान्य आदिम मनोवृत्तियाँ जीवित है। उनके अस्तित्व को अस्वीकार नही किया जा सकता। थोड़ी-सी भी उत्तेजना पाकर वे झनझना उठती हैं। साहित्यकार को इनकी उत्तेजना जगाने में विशेप परिश्रम नही करना पड़ता। अगर इन आदिम मनोवृत्तियों को ही उपजीव्य बनाकर मनुष्य अपना कारबार आरम्भ कर दे, तो उसे बहुत आयास नही करना पड़ेगा; परन्तु संयम और निष्ठा, धैर्य और दृढ़चित्तता साधन से प्राप्त होती है। उनके लिए श्रम की कम जरूरत नही होती है।

साहित्यकार से मेरा निवेदन है कि इन श्रमसाध्य गुणो को पाने के लिए समूची मनुष्य जाति को उद्बुद्ध करे। इस युग-सन्धिकाल में साहित्यकार को अविचलित चित्त से उन गुणो की महिमा समाज मे प्रतिष्ठित करनी है, जिन्हें मनुष्य ने वर्षों की साधना और तपस्या से पाया है। जिस स्वाधीनता के लिए हम दीर्घकाल से तड़प रहे थे, वह आ गयी है। साहित्यकार ने इसके आवाहन मे पूरी शक्ति लगा दी थी। आज उसे अपने को महान् उत्तरदायित्व के योग्य सिद्ध करना है। कराची सम्मेलन मे कही हुई अपनी बात को मैं फिर दुहराता हूँ—मनुष्य को अज्ञान, मोह, कुसंस्कार और परमुखापेक्षिता से बचाना ही साहित्य का वास्तविक लक्ष्य है। इससे छोटे लक्ष्य की बात मुझे अच्छी नही लगती। इस महान् उद्देश्य की यदि हिन्दी पूर्ति कर सके, तभी वह उस महान् उत्तरदायित्व के योग्य होगी, जो इतिहास-विधाता की ओर से उसे मिला है। मेरे लिए हिन्दी-भाषा और हिन्दी-साहित्य कोई देव-प्रतिमा नही है, जिसका नाम जपकर और आरती उतारकर हम सन्तुष्ट हो जायेंगे। हिन्दी भारतवर्ष के हृदय-देश मे स्थित करोड़ो नर-नारियो के हृदय और मस्तिष्क को खुराक देनेवाली भाषा है। यदि वह यह काम नही कर सकती तो श्रद्धा और भक्ति का विषय भी नही बनी रह सकती। हिन्दी के ऊपर महान् उत्तरदायित्व की बात जब मैं कहता हूँ तो मेरा मतलब यही होता है। भारतवर्ष की राजभाषा चाहे जो हो और जैसे भी हो, पर इतना निश्चित है कि भारतवर्ष की केन्द्रीय भाषा हिन्दी है। लगभग आधा भारतवर्ष उसे अपनी साहित्यिक भाषा मानता है; साहित्यिक भाषा अर्थात् उसके हृदय और मस्तिष्क की भूख मिटानेवाली भाषा, करोड़ों की आशा-आकांक्षा, अनुराग-विराग, रुदन-हास्य की भाषा। उसमें

साहित्य लिखने का अर्थ है करोड़ों के मानसिक स्तर को ऊँचा करना, करोड़ों मनुष्यों को मनुष्य के सुख-दु:ख के प्रति संवेदनशील बनाना, करोड़ों को अज्ञान, मोह और कुसंस्कार से मुक्त करना। केवल शिक्षित और पण्डित बना देने से ही काम नहीं हो सकता। वह शिक्षा किस काम की जो दूसरों के शोषण में, अपने स्वार्थ-साधन में ही अपनी चरम सार्थकता समझती हो? इसीलिए आज जब हमारे सामने गम्भीर साहित्य लिखने का बहाना आ उपस्थित हुआ है, मैं अपने सहकर्मियों से विनयपूर्वक अनुरोध कर रहा हूँ कि जो कुछ भी लिखो, उसे अपने महान् उद्देश्य के अनुकूल बनाकर लिखो। संसार के अन्य राष्ट्रों ने अपने साहित्य को जिस दृष्टि से लिखा है, उसकी प्रतिक्रिया और अनुसरण नहीं होना चाहिए। जिस प्रकार विज्ञान के क्षेत्र में मनुष्य ने संयोग का सहारा लिया है, उसी प्रकार साहित्य और शिक्षण के क्षेत्र में अटकल का सहारा लिया है। उसका फल अच्छा नहीं हुआ है। हमें सौभाग्यवश नये सिरे से सबकुछ करना है। इसीलिए हमारे पाठ्यग्रन्थों तथा रसात्मक साहित्य की रचना भी किसी खण्डसत्य के लिए नहीं होनी चाहिए। समूची मनुष्यता जिससे लाभान्वित हो, एक जाति दूसरी जाति से घृणा न करके प्रेम करे, एक समूह दूसरे समूह को दूर रखने की इच्छा न करके पास लाने का प्रयत्न करे, कोई किसी का आश्रित न हो, कोई किसी से वंचित न हो, इस महान् उद्देश्य से ही हमारा साहित्य प्रणोदित होना चाहिए। संसार के कई देशों ने अपनी जातीय श्रेष्ठता प्रतिपादित करने के उद्देश्य से साहित्य लिखा है और कोमल मस्तिष्क-वाले युवकों की बुद्धि विषाक्त बना दी है। उसका परिणाम संसार को भोगना पड़ता है। घृणा और द्वेष से जो बढ़ता है, वह शीघ्र ही पतन के गह्वर में गिर पड़ता है। यही प्रकृति का विधान है। लोभवश, मोहवश, और क्रोधवश जो कर्त्तव्य निश्चित किया जायगा, वह हानिकारक होगा। बड़ी साधना और तपस्या के बाद मनुष्य ने इन आदिम मनोवृत्तियों पर विजय पायी है। वे वृत्तियाँ दबी हैं; किन्तु फिर भी वर्त्तमान हैं। उन पर आधारित प्रयत्न मनुष्यता के विरोधी हैं। प्रेम बड़ी वस्तु है, त्याग बड़ी वस्तु है, और मनुष्य-मात्र को वास्तविक 'मनुष्य' बनानेवाला ज्ञान भी बड़ी वस्तु है। हमारा साहित्य इन बातों पर आधारित होगा, तभी वह संसार को नया प्रकाश दे सकेगा।

एक आदरणीय साहित्यिक ने मुझे अपना यह अनुमान बताया कि प्रगतिशील समझे जानेवाले नये लेखकों की रचनाओं में पचास फीसदी से अधिक कहानियों का विषय मानसिक विपथगामिता है। अपने आदरणीय साहित्यिक की बात मैंने ज्यों-की-त्यों स्वीकार नहीं कर ली। मैंने एक प्रगतिशील पत्र में प्रकाशित कुछ कहानियों की छानबीन की। मुझे यह घोषणा करते हुए प्रसन्नता हो रही है कि उसकी अधिकांश प्रकाशित कहानियों से उक्त बात की पुष्टि नहीं होती। परन्तु अपने को 'प्रगतिवादी' कहकर विज्ञापित नहीं करनेवाले पत्रों की कहानियों में यह बात बहुत दूर तक ठीक है। शायद ही ऐसा कोई समझदार आदमी हो, जो यह न स्वीकार करता हो। एक-न-एक प्रकार की मानसिक विपथगामिता हर युग में

साहित्य की प्रधान समस्या रही है। परन्तु इन दिनों जो बात चिन्त्य हो उठी है, वह उसका यौन-भावनामूलक ग्रन्यगृहीत रूप है। कुछ रचनाओ से यह आसानी से सिद्ध किया जा सकता है कि लेखक सुनी-सुनायी बातो की नीव पर अपना भवन निर्माण कर रहा है; परन्तु मैं यहां इस बात को व्यर्थ ही बढ़ाना नही चाहता। मेरा वक्तव्य यहाँ सिर्फ इतना ही है कि इन दिनों हमारी प्रधान समस्या व्यक्तिगत यौन-भावनामूलक मानसिक विपथगामिता नही है। हमारे देश मे कुछ रीति-रस्म ऐसे हैं, जो मनुष्य को सामाजिक रूप में अस्वस्थ-चेता बनाये हुए है। इनमें कुछ नितान्त सामयिक हैं, कुछ दीर्घकाल की जमी हुई मिट्टी की तरह हमारे मन पर सवार हैं। दोनो का अध्ययन और नियमन होना चाहिए।

हमारे देश मे जाति-भेद और छुआछूत की विचित्र प्रथाएँ हैं। इसने देश को नाना स्तरों में बांट दिया है। केवल जातिगत हीनता और कुलीनता ही इस देश के समूहजात चित्त को विचित्र और जटिल बनाने के लिए काफी थी; परन्तु इतना ही भर नही है। इन जातियों में पारस्परिक ब्याह-शादी नहीं होती और नाना भाँति की ऐतिहासिक और सामाजिक मर्यादाओ के भीतर से विकसित होने के कारण अधिकांश की रीति-नीति, पूजा-उपासना, आचार-विचार, विश्वास नाना भाव से स्वतन्त्र होने के कारण समाज की जटिलता और भी बढ गयी है। हमारे पुराने लेखकों ने इस समस्या पर जितना जमकर विचार किया है, उतना नये लेखक नही कर रहे है। क्रान्ति कह देने मात्र से नही आती। यदि मानसिक गुत्थियों को सुलझाना ही हमारे नये साहित्यकारो को अभीप्ट है, तो इस देश के जन-समूह से बड़ा और मनोरंजक प्रयोग-क्षेत्र दूसरा नही मिलेगा। क्यो नही हमारे साहित्यिक इस ओर झुकते? पुरातत्त्व और नृतत्त्वशास्त्र के अध्येताओं ने जिन तथ्यों का उद्घाटन किया है, उनके प्रकाश में क्यो नहीं वे अपने देश की मानसिक गाँठों को खोलने का प्रयत्न करते? इस विशाल देश मे न तो आदिम मानवीय विश्वासों की ही कमी है, न अत्यन्त आधुनिक जटिलताओं की। साहित्यिक प्रयोग यदि करना ही है तो क्यो नही हमारे युवक अपने देश की ओर नजर फिराते? नाना जातियों और उप-जातियो से अध्युषित, सभ्यता की लगभग प्रत्येक सीढी पर अवस्थित और फिर भी सबसे विचित्र और सबसे जटिल इस देश की सामाजिक मनोभावना सचमुच साहित्य-कारो को प्रलुब्ध करनेवाली वस्तु है।

अपने देश के तरुण साहित्यकारो से मेरा अनुरोध है कि वे अपने देश को उसके समस्त गुण-दोषों के साथ देखें और ऐसे साहित्य की सृष्टि करें, जो इस जीर्ण देश मे ऐसे नवीन अमृत का संचार करे कि वह एक दृढ़चेता व्यक्ति की भाँति संसार से घृणा और अन्याय को मिटा देने के लिए उठ खड़ा हो! हमारे युवकों और युवतियों मे भविष्य को अपने अनुकूल बना लेने का दृढ संकल्प होना चाहिए। भय कहीं से नही है, अपने ऊपर अश्रद्धा ही हमारा सबसे बड़ा भय का हेतु है। आत्म-विश्वास से बढ़कर हमारे पास दूसरा अस्त्र नही है और भारतवर्ष यदि आत्म-विश्वासी बनता है तो यह कोई निरा स्वप्न नही है। सचमुच ही भारतवर्ष की परम्परा महान् है,

इसके निवासियों में शौर्य है, यहाँ की भूमि रत्नप्रसू है, यहाँ का ज्ञान-विज्ञान अतुलनीय है। केवल इस देश को अपने प्रति आस्थावान बनाना है। तरुण साहित्यकार के लिए आज स्वर्ण-संयोग प्राप्त है। ऐसे ही स्वर्ण अवसर पर रूस के लेखकों ने ऐसा साहित्य पैदा किया था, जो संसार में श्रेष्ठ साहित्य के रूप में अनायास ही स्वीकार कर लिया गया। हमारा देश महान् है और हमे महान् संयोग मिल गया है। इस समय दुविधा और झिझक की जरूरत नही है। दूसरों के दिखाये रास्ते पर चलकर प्रयोग करने की जरूरत नही है। अपनी आँखों से अपने वृद्ध और जर्जर देश को देखना है और दृढ-चरित्रता के अमृत से सींचकर इसे महत्तर बनाना है। साहित्यिक प्रयोग करते समय हमे बार-बार यह बात सोच लेनी चाहिए।

मुझे रंच-मात्र भी सन्देह नही है कि हमारे तरुण साहित्यकारो में यह शक्ति है। केवल उन्हें अपने उत्तरदायित्व को समझना है। उन्हे बराबर याद रखना चाहिए कि उनके लिखे प्रत्येक शब्द का मूल्य है। वह शब्द लाख-लाख को प्रभावित करने के उद्देश्य से लिखा गया है। प्रभाव शुभ भी हो सकता है, अशुभ भी हो सकता है। शुभ प्रभाव का होना ही वांछनीय है।

[अशोक के फूल से]

आपने मेरी रचना पढ़ी ?

हमारे साहित्यिकों की भारी विशेषता यह है कि जिसे देखो वही गम्भीर बना है, गम्भीर तत्त्ववाद पर बहस कर रहा है और जो कुछ भी वह लिखता है, उसके विषय में निश्चित धारणा बनाये बैठा है कि वह एक क्रान्तिकारी लेख है। जब आये दिन ऐसे ख्यात-अख्यात साहित्यिक मिल जाते हैं, जो छूटते ही पूछ बैठते हैं, "आपने मेरी अमुक रचना तो पढ़ी होगी ?" तो उनकी नीरस प्रवृत्ति या विनोद-प्रियता का अभाव बुरी तरह प्रकट हो जाता है। एक फिलासफर ने कहा है कि विनोद का प्रभाव कुछ रासायनिक-सा होता है। आप दुर्दान्त डाकू के दिल में विनोद-प्रियता भर दीजिए, वह लोकतन्त्र का लीडर हो जायगा; आप समाजसुधार के उत्साही कार्यकर्त्ता के हृदय में किसी प्रकार विनोद का इंजेक्शन दे दीजिए, वह अखबारनवीस हो जायगा। और यद्यपि कठिन है, फिर भी किसी युक्ति से उदीयमान छायावादी कवि की नाड़ी मे थोड़ा विनोद भर दीजिए; वह किसी फिल्म कम्पनी का अभिनेता हो जायगा।

एक आधुनिक चीनी फिलासफर को दिन-रात यह चिन्ता परेशान करती रहती है कि आखिर लोकतन्त्र के नेताओं और डिक्टेटरों में अन्तर क्या है। यदि आप सचमुच गम्भीरतापूर्वक छान-बीन करें तो रूजवेल्ट और स्तालिन में कोई मौलिक अन्तर नही मिलेगा। या दूर की बात छोड़िए। गांधी और जिन्ना में कोई अन्तर नहीं है—जहाँ तक शक्ति-प्रयोग का प्रश्न है। गांधी की बात भी कांग्रेस के लिए कानून है और जिन्ना की बात भी मुस्लिम लीग के लिए वेद-वाक्य है। फिर भी एक डेमोक्रेट है और दूसरा डिक्टेटर। क्यों ? चीनी फिलासफर ने चार वर्ष की निरन्तर साधना के बाद आविष्कार किया कि डेमोक्रेट हँसना और मुस्कराना जानता है, पर डिक्टेटर हँसने की बात सोचते भी नही। उनको आप जहाँ भी देखें और जब भी देखें, उनकी भृकुटियाँ तनी हुई हैं, मुट्ठियाँ बँधी हुई है, ललाट कुंचित हैं, अधरोष्ठ दाँतों की उपान्तरेख के समानान्तर जमा हुआ है—मानो ये अभी दुनिया को भस्म कर देना चाहते हैं। अगर इन शक्तिशाली डिक्टेटरों मे हँसने का थोड़ा-सा माद्दा होता तो दुनिया आज कुछ और हो गयी होती।

जब-जब मैं कलकत्ते के चिड़ियाघर में गया हूँ, तब-तब मुझे ऐसा लगा है कि संसार के जीवों में सबसे अधिक गम्भीर और चिन्तामग्न चेहरा उस चिड़ियाघर में रखे हुए एक वनमानुष का है। उसको देखते ही जान पड़ता है कि संसार की समस्त वेदना को वह हस्तामलक की भाँति देख रहा है और अपनी सुदूरपातिनी दृष्टि से इन आने-जानेवाले दर्शकों के करुण भविष्य को वह प्रत्यक्ष देख रहा है। मैंने बाद में पढ़ा है कि अफ्रीका के हब्शियों में यह विश्वास है कि वनमानुष मनुष्य की बोली बोल भी सकते हैं और संसार के रहस्य को भली-भाँति समझ भी सकते हैं, परन्तु इस डर से बोलते नही कि कहीं लोग पकड़कर उन्हें गुलाम न बना लें। यह बात जब तक मुझे नहीं मालूम थी, तब तक मैं समझता था कि यह कलकत्तेवाला वन-मानुष ही बहुत गम्भीर और तत्त्वचिन्तक लगता है। अब मैंने अपनी राय में संशोधन कर लिया है। वस्तुतः संसार के सभी वनमानुष गम्भीर तत्त्वदर्शी दिखायी देते हैं।

मैं कभी-कभी सोचता हूँ कि आदिम युग का मनुष्य—जबकि वह वानरी योनि से मानवी योनि मे नया-नया आया था—कुछ इस कलकतिये वनमानुष की ही भाँति गम्भीर रहा होगा। मगर यह भी कैसे कहूँ ? जेब्रा और गैंडा भी मुझे कम गम्भीर नही लगते तथा गधे और ऊँट भी इस सूची से अलग नही किये जा सकते। फिर भी इनकी तुलना वनमानुष से नहीं की जा सकती। अन्ततः गधे और वन-मानुष की गम्भीरता में मौलिक भेद है। गधा उदास होता है और इसलिए नका-रात्मक है; पर वनमानुष सोचता हुआ-सा रहता है और इसीलिए उसकी गम्भीरता में कुछ तत्त्व है, कुछ सार है। गधे की गम्भीरता प्रोलितारियत की उदासी है और वनमानुष की गम्भीरता वर्गवादी मनीषी की। दोनों को एक श्रेणी मे नही कहा जा सकता।

परन्तु इसे अस्वीकार नही किया जा सकता कि आदि-मानव कुछ गम्भीर, कुछ

तत्त्वचिन्तक और कुछ उदास जरूर था और उसकी उदासी वर्गवादी विचारक की उदासी की जाति की ही रही हो, ऐसा भी हो सकता है। सच पूछिए तो शुरू-शुरू में मनुष्य कुछ साम्यवादी ही था। हँसना-हँसाना तब शुरू हुआ होगा जब उसने कुछ पूँजी इकट्ठी कर ली होगी और संचय के साधन जुटा लिये होंगे। मेरा निश्चित मत है कि हँसना-हँसाना पूँजीवादी मनोवृत्ति की उपज है। इस युग के हिन्दी साहित्यिक जो हँसना नापसन्द करते है, उसका कारण शायद यह है कि वे पूँजी-वादी बुर्जुआ मनोवृत्ति को मन-ही-मन घृणा करने लगे हैं। उनकी युक्ति शायद इस प्रकार है—चूँकि संसार के सभी लोग हँस नहीं सकते, इसलिए हँसी एक गुनाह है और चूँकि संसार के सभी लोग थोड़ा-बहुत रो सकते हैं, इसलिए रोना ही वास्तविक धर्म है। फिर भी अधिकांश साहित्यिक रोते नही, केवल रोनी सूरत बनाये रहते हैं। जिसे थोड़ा-सा भी गणित सिखाया गया हो, वह बहुत आसानी से इस आचरण की युक्तियुक्तता समझ सकता है। मैं समझ रहा हूँ।

यह तो स्वयंसिद्ध बात है कि दुनिया मे सुख की अपेक्षा दु:ख अधिक है, अर्थात् रोदन हास्य से अधिक है। अब सारी दुनिया के रोदन को बराबर-बराबर बाँट दीजिए और हँसी को भी बराबर-बराबर बाँट दीजिए। स्पष्ट है कि सबको रोदन हास्य से ज्यादा मिलेगा। अब रोदन में से हास्य घटा दीजिए। कुछ रोदन ही बचा रहेगा। इसका मतलब यह हुआ कि जो कुछ मिलेगा, उससे फूट-फूटकर तो नही रोया जा सकता, पर चेहरा जरूर रुआँसा बना रहेगा। यह युक्ति मुझे तो ठीक जँचती है।

लेकिन युक्ति का ठीक जँचना साहित्य की आलोचना के क्षेत्र मे सब समय प्रमाणस्वरूप ग्रहण नही किया जाता। रहस्यवादी आलोचक यह नही मानते कि युक्ति और तर्क मे ही सबकुछ है। मैंने आलोचक शब्द के विशेषण के लिए रहस्य-वादी शब्द किसी को चौंका देने की मंशा से व्यवहार नही किया है। बहुत परिश्रम के बाद मैंने यह निष्कर्ष निकाला है कि हिन्दी मे वस्तुतः रहस्यवादी कवि हैं ही नहीं। यदि कोई रहस्यवादी कहा जा सकता है तो वह निश्चय ही एक श्रेणी का आलोचक है। जहाँ तक हिन्दी बोलनेवालो का सम्बन्ध है, रहस्यवादी साधु और फकीर तो बहुत हैं, पर वे सब साधना की दुनिया के जीव हैं, साहित्य की दुनिया मे रहस्यवादी जीव यदि कोई है तो वे निश्चय ही एक तरह के आलोचक हैं और जब कभी मैं रहस्यवादी शब्द की बात सोचता हूँ तो काशी के भदैनी मुहल्ले की सड़क पर साधना करनेवाला रहमतअली फकीर मेरे सामने जरूर आ जाता है। यह फकीर मन, वचन और कर्म तीनो से विशुद्ध रहस्यवादी था। 'अनिकेत' वह जरूर था; पर उसके बड़े-से-बडे निन्दक को भी यह कहने में जरूर संकोच होगा कि वह 'स्थिरमति' भी था।

सो, मैंने एक दिन देखा कि यह रहमतअली शून्य की ओर आँखें उठाये हुए किसी अदृश्य वस्तु पर निरन्तर प्रहार कर रहा है। लात, मुक्के, घूँसे—एक, दो, तीन···लगातार। दर्शक तो वहाँ बहुत थे, कुछ सहमे हुए, कुछ भक्तियुक्त, कुछ

'यों ही-से' और कुछ गम्भीर। एकाध मुस्करा भी रहे थे। इन्हें देखकर ही मुझे रहस्यवादी आलोचकों की याद आयी। सारा काण्ड कुछ ऐसा अजीब था कि विनोद की एक हल्की रेखा के सिवा तत्त्वज्ञान तक पहुँचा देने का और साधन ही नहीं था। तब से जब देखता हूँ कि कोई शून्य की ओर आँखें उठाये है और किसी अदृश्य वस्तु पर निरन्तर प्रहार कर रहा है, तब मुझे रहस्यवाद की याद आये बिना नहीं रहती। सो, यह रहस्यवादी दल युक्ति नहीं माना करता। 'युक्ति' शब्द में ही (युज्+ति) किसी वस्तु से योग का सम्बन्ध है। और यह मान लिया गया है कि योग दृश्य-वस्तु से ही स्थापित किया जा सकता है। अदृश्य के साथ योग कैसा ?

आसमान में निरन्तर मुक्का मारने में कम परिश्रम नहीं है और मैं निश्चित जानता हूँ कि रहस्यवादी आलोचना लिखना कुछ हँसी-खेल नहीं है। पुस्तक को छुआ तक नहीं, और आलोचना ऐसी लिखी कि त्रैलोक्य विकम्पित ! यह क्या कम साधना है ? आये दिन साहित्यिकों के विषय में विचार होता ही रहता है और इन विचारों पर विचार लिखनेवाले बुद्धिमान लोग गम्भीर भाव से सिर हिलाकर कहते हैं—आखिर साहित्यिक कहे किसे ? बहसें होती हैं, अखबार रँगे जाते है, मेरे जैसे आलसी आदमी भी चिन्तित हो जाते हैं, और अन्त में सोचता हूँ कि 'साहित्यिक' तो साहित्य के सम्बन्धी को ही कहते है न ? सो, सम्बन्ध तो कई तरह के हैं ! बादरायण एक है। आपके घर अगर बेर के फल हैं, मेरे घर बेर के पेड़, तो इस सम्बन्ध को पुराने पण्डित 'बादरायण' सम्बन्ध कहेंगे। साहित्य से सम्बन्ध रखनेवाले जीव पाँच प्रकार के हैं—लेखक, पाठक, सम्पादक, प्रकाशक और आलोचक। सबके क्षेत्र अलग-अलग हैं। पढनेवाला आलोचना नहीं करता, आलोचना करनेवाला पढ़ता नहीं—यही तो उचित नाता है। एक ही आदमी पढ़े भी और लिखे भी, या पढे भी और आलोचना भी करे या लिखे भी इत्यादि-इत्यादि, तो साहित्य में अराजकता फैल जाय। इसीलिए कोई जब एक लेखक से पूछता है कि आपने मेरी अमुक रचना पढ़ी, तब जी में आता है कि कह दूँ, "डाक्टर के पास जाओ। तुम्हारे दिमाग मे कुछ दोष है।" पर डाक्टर क्या करेगा ? विनोद का इंजेक्शन किसी फैक्टरी ने अभी तक तैयार नहीं किया। इसलिए मुस्कराकर चुप लगा जाता हूँ। मेरे एक होमियोपैथ मित्र का दृढ़ मत है कि विनोद की कमी दूर करने के लिए कोई इजेक्शन तैयार किया जा सकता है। वे इस बात का प्रयत्न भी कर रहे हैं कि किसी हँसोड़ की छाया किसी तरह अलकोहल मे घुलाकर उस पर से विनोद की दवा तैयार करें और चिकित्सा की और साहित्य की दुनिया में एक ही साथ क्रान्ति कर दें। पर वह अभी प्रयोगावस्था मे ही हैं। तब तक मुझे भी सब सहना पड़ेगा और सहे भी जा रहा हूँ।

[अशोक के फूल से]

समालोचक की डाक

नौ बज गये है। विद्याभवन के एक कोने में समालोचक बैठा हुआ है। सामने पुराने बंगाक्षरों में लिखा हुआ तीन सौ वर्ष पुराना महाभारत और तंजौर से भेजे हुए 'शीट्स' पड़े हुए हैं। ताड़ के पत्तों में न जाने कीड़ों को क्या रस मिलता है, सारी प्रति चलनी-सी बना डाली है। समालोचक सावधानी से एक-एक अक्षर मिला-मिलाकर पाठान्तर संग्रह करता जा रहा है। सावधानी इसलिए कि उसके बगल में ही 'चेक' करनेवाले पण्डित का आसन है। उसे अपना सम्मान तो बचाना ही है, लेकिन समालोचक का चित्त चञ्चल है। लो, यह गलती हो गयी। पाठान्तर शायद छूट गया। पीछे से आवाज आयी—"पण्डितजी !" यही समालोचक का नाम है, उपाधि है, गुण है, दोष है।

हरिहर शान्तिनिकेतन का डाकिया है, मस्त, हँसमुख और शालीन। समालोचक उसकी ओर भय से, आशा से, आशंका से और उत्सुकता से देखता है।

"मनीआर्डर है क्या ?"

यह नहीं कि समालोचक के पास रोज ही मनीआर्डर आते हों। न आते हों सो भी नहीं। परन्तु,

"ते कि सदा सब दिन मिलहिं ?
समय-समय अनुकूल !"

फिर भी वह डाकिये से रोज पूछता है और डाकिया भी इस विनोद से परिचित है। मुस्कराकर जवाब देता है—"कोइ, टाका कोथाय ?" मालूम हुआ कि रजिस्टर्ड बुकपोस्ट है और चिट्ठियाँ है और मुफ्त ही मिल जानेवाली कुछ पत्रिकाएँ हैं।

चिट्ठियों में 75 फीसदी साहित्यिक होती है; कभी-कभी बधाई, कभी-कभी डाँट; कभी-कभी अनुनय, कभी-कभी प्रलोभन। समालोचक एक-एक करके उन्हें पढता है। उत्फुल्ल होता है और आगे बढता है। महाभारत की पोथी खुली हुई है। वह रजिस्टर्ड बुकपोस्टों को देखकर सोचता है कि बाद में देख लेगा। पैकेट पड़े हुए हैं। खूब सँवरकर आये हैं, रेशमी धागों से बँधे हैं, सुन्दर अक्षरो में पता लिखा हुआ है।

ये निश्चय ही कविता की पुस्तकें है। ऊपरवाली इतनी सावधानी से बाँधी हुई है कि कवि के कान्शस आर्टिस्ट होने में कोई सन्देह नही रह जाता। समालोचक लिफाफा देखकर खत का मजमून भाँपने लगता है। लाल और नीले रेशमी फीतों से बँधे हुए पैकेट में किसी युवक कवि की प्रेम-कथा बँधी हुई है। उसकी कल्पना-जगत् की प्रेयसी निश्चय ही अप-टू-डेट फैशन की परिपाटीविहित सज्जा से सज्जित होगी, उसका मुख चाँद-सा गोल और आँखें आम की फाँक-सी बड़ी होंगी। काजल वह जरूर लगाती होगी, केश में एकाध फूल निश्चय ही रहते होगे —वे काल्पनिक रजनी-गन्धा के भी हो सकते हैं, जूही-चमेली के भी हो सकते हैं—और पुस्तक का

शिरोभाग जो साफ खुला हुआ दिख रहा है और उस सुन्दर बँधाई के भीतर से लापरवाही से फटे हुए जो पन्ने दीख रहे है, वे इस बात के सबूत है कि उस कल्पित प्रेयसी के गुलाबी कपोलो पर उसके अस्त-व्यस्त चिकुर भी हिल रहे होगे। कवि के प्रेम मे उतावलापन नही है, धीरता से भरी हुई व्याकुलता है—यह बात तो सारा पैकेट ही कह रहा है। खोलकर देख ही क्यों न लिया जाय! पर अब भी महाभारत के पन्ने खुले हुए है। सम्हालकर बांध नही दिये गये तो स्वतन्त्र होकर निकल पड़ेंगे। फिर उनको सकुशल फिरा ले आना असम्भव है। मगर समालोचक उस सफेद धागोंवाली पुस्तक को भी छोड़ना नही चाहता। इस कवि की प्रेयसी सुन्दर जरूर होगी, पर अप-टू-डेट भी होगी, ऐसा नहीं कह सकते। प्रिय की ओर देखकर लजा जाती होगी, मुस्काती जरूर होगी, पर प्रिय को मालूम भी नही होने पाता होगा। जब वह झुंझलाकर उठ पड़ता होगा तो टप्-टप् दो बड़ी-बड़ी बूंदें उसकी आँखो से झड़ पडती होगी। कवि बेचैन हो जाता होगा, सोचने लगता होगा—इन आंसुओ की उपमा जगत् मे है? कोई रूपक? कोई उत्प्रेक्षा? सारे पैकेट को देखकर यह कह सकना मुश्किल है कि कवि अपनी प्रेयसी को सजाकर देखने मे आनन्द पाता है। निश्चय ही वह जितना प्रेम दान करता है उससे अधिक पाने की आशा रखता है!

पहली पुस्तक अंचलजी की 'मधूलिका' है, दूसरी गिरीशजी की 'मन्दार'। समालोचक अब पाठान्तर-संग्रह नहीं करेगा। वह अपने भांपे हुए मजमून को जांच के ही कोई और काम करेगा। और प्रश्न-पत्रों को भी वह बाद में देख लेगा।

'मधूलिका' और 'मन्दार' दोनो ही प्रेम-काव्य हैं। दोनो ही कल्पना के खेत में उपजे है; पर दोनों मे एक मौलिक अन्तर है। 'मधूलिका' के कवि की इच्छा केवल प्रेमी बनने की है; पर 'मन्दार' का कवि प्रेमी भी बनना चाहता है और प्रिय भी। इमीलिए एक प्रेम-पात्र की ओर से लापरवा होने के कारण अबाध भाव से अपना गान गाये जाता है, उसे अपनी मस्ती का ही भरोसा है, सुननेवाले ने सुन लिया तो ठीक है, न सुना तो उसी का नुकसान है, कवि निश्चिन्त है:

> अरे जरा सुन लो इनकी तृष्णातुर कसक कहानी;
> फिर न मिलेंगे ये मस्ताने दीवाने दीवानी!

पर 'मन्दार' का कवि केवल लालसा की धारा में बह जाना नही चाहता। वह प्रतिदान भी चाहता है:

> जीवन का आधार प्यार है, प्यार पिला दो प्यार।
> प्यार विना मैं ठुकरा दूंगा सोने का संसार।

प्रेमी कवियों के प्रसंग में समालोचक को बहुत दिन पहले मिली, किन्तु अब तक अनालोचित एक पुस्तक का स्मरण आता है। उसके एक बंगाली मित्र को उस कवि की मस्ती इतनी अच्छी लगी थी कि वे अर्थशास्त्र का नोट लिखना छोड़-कर काव्य-चर्चा मे निमग्न हो गये थे। पुस्तक श्री भगवतीचरण वर्मा का 'प्रेम-संगीत' है। अगर शुरू मे ही कवि ने हिन्दी के आलोचको को डाँट न दिया होता,

तो इस आलोचक को भी इस पुस्तक के बारे में कुछ कहना था। पर कवि की बातों मे वह आ गया। कौन जाने उसने कवि को जैसा समझा है, वह कवि का मन पूत रूप न हो और कवि उसकी समझ का प्रतिवाद कर बैठे। 'जीवित कवेराशयो न वक्तव्य', यह पुराने दुनियादार आलोचकों का सिद्धान्त था। वे कविता को भी समझते थे और दुनियादारी को भी। यह समालोचक इतना अदूरदर्शी होने का दावा नहीं रखता। उसे कहने की स्वाधीनता होती, तो कहता कि 'प्रेम-संगीत' के कवि की मस्ती सचमुच की मस्ती है! वह दुनिया के किसी पदार्थ को स्थिर नही मानता, प्रेम को भी नही, घृणा को भी नही। इस क्षण-भंगुरता के अटूट प्रवाह में वह केवल एक वस्तु को स्थिर समझता है—जैसे नदी की प्रत्येक चञ्चल बूंद के भीतर से उसका प्रवाह अव्याहत रहता है, उसी प्रकार। यह वस्तु जीवन नही है, जैसा कि वह समझना चाहता है। यह वस्तु है उसका अपना व्यक्तित्व। अनन्त प्रवाह के भीतर बहती हुई भी उसकी सत्ता शाश्वत है। प्रेम-पात्र आते हैं और चले जाते हैं; कुछ हँस जाते है, कुछ हँसा जाते है; कुछ रो जाते हैं, कुछ रुला जाते हैं; और मस्त व्यक्तित्व आगे बढ़ता है :

है हमें बहाने को आयी यह रस की एक हिलोर प्रिये!
शाश्वत असीम में चलना है निज सीमा के उस ओर प्रिये!

इसी को वह जीवन कहता है। असल में यह घटनाओं का प्रवाह है, जो उसको आगे ठेल देता है; सब-कुछ को भुलाकर भी, हटाकर भी वह अपने को भुला नही सकता, सब-कुछ को मिटाकर भी वह अपने को मिटा नहीं सकता :

किस तरह मिटा दूँ आज हाय अपनेपन की भी याद प्रिये!

और,

मिट-मिट कर मैंने देखा है मिट जानेवाला प्यार यहाँ।

और,

हम दीवानों की क्या हस्ती है आज यहाँ कल वहाँ चले!
मस्ती का आलम साथ चला हम धूल उड़ाते जहाँ चले!
सब कहते ही रह गये अरे तुम कैसे आये कहाँ चले?

अपने व्यक्तित्व के प्रति वह सचेतन है कि वह प्रेमोन्माद की अवस्था में भी अपने को नही भूल सकता, बल्कि उसका प्रियतम व्यक्ति भी उसकी सत्ता के प्रति उदासीनता दिखलाये, तो वह तुनक जा सकता है :

यह न समझना देवि कि मुझमें निज ममत्व का ज्ञान नही!

उसकी दृष्टि में सब नश्वर हो सकते हैं; पर वह अविनश्वर है :

जग नश्वर है तुम नश्वर हो बस मैं हूँ केवल एक अमर!

परन्तु समालोचक को अपना वक्तव्य कहने का मौका न मिला और पुस्तक पुरानी हो गयी! आज 'मधूलिका' और 'मन्दार' ... मे विष...
भी जब उसके दिमाग में बरबस उस पुस्तक की...
सँभालना मुश्किल हो गया। वह सोचता है, पु...

पाँच लम्बे-लम्बे महीने बीत गये हैं। कवियों की कई रचनाएँ आयी हैं। समालोचक ने झूम-झूमकर पढा है। प्रयाग के श्री देवराज के प्रणय-गीतों का रसास्वाद किया है। 'प्रणय-गीत' की प्रणयिनी के सौभाग्य की दाद दी है, जिस 'नवल सहचरी के लज्जित मुख-चन्द्र' से कवि की कविता भी ईर्ष्या करती है—उसकी खुशामद के लिए उसने भी कविता देवी से प्रार्थना की है कि,

छोड़ो आलि अधीर आज छोडो कवि को[1]
कुछ घड़ियो का विरह, कुपित होना नही;
आज किसी को नव चितवन से विद्ध हो,
बँध जाने दो नवल प्रणय की पाश में।

उसके हृदय ने कहा है कि ये गान स्वर्गीय हैं, मन ने कहा है कि मोहक हैं, बुद्धि ने कहा है कि जीवन-संघर्ष की प्रतिक्रिया हैं, स्वयं कवि ने कहा है कि "बढ़ते हुए सन्देहवाद और *जड़वाद के विरुद्ध एक धीमी आवाज़*" हैं। वह आगे बढा है। दिल्ली के श्री नगेन्द्रजी की 'वनवाला' के सरस गानों को गुनगुनाया है, कल्पनालोक में घूमा है, वन और वनबाला के कल्पना-मञ्जुल सौन्दर्य को मुग्धभाव से देखा है, और कवि की कविता के साथ ही वह भी 'पागल-सा पढ़ता विश्व सुकवि की कविता' अपनी सौन्दर्य-विस्तारिणी बुद्धि पर तरस खाकर इस मधुर दृश्य को तद्‌गतप्राण होकर देखता रहा है :

इन्दुवदनी बाल रजनी सुन्दरी
राजती थी मञ्जु मरकत पीठ पर
शुभ्रवसना उडुगनो की अवलियाँ
चँवर चाँदी की डुलाती थी विहँस
वह चला संगीत मञ्जुल गगन मे
(सिहर उठती थी निशा की किंकिणी)
विमल निर्झर ताल-सा देता हुआ
मुग्ध मोती की हँसी हँसने लगा।

'वनवाला' का कवि निराला प्रेमी है। प्रेम उसकी दृष्टि है, द्रष्टव्य भी नही, द्रष्टा भी नही। इसलिए उसकी दृष्टि संसार को इतना कोमल, इतना मञ्जुल देख सकी है। पर शायद कवि को अब भी टकराना बाकी है। कहते हैं, प्रेम अन्धा होता है। 'वनवाला' के कवि का प्रेम अन्धा नही है, पर श्री नगेन्द्र की तरह वह 'क्रिटिक' नही है, इतना तो निश्चित है। संसार की युद्धस्थल की कल्पना करके क्रिटिक लोग जिस मतवाद-महासमर का मजा लिया करते है, वह 'वनवाला' में स्पष्ट नही हुआ है। कवि जितना ही सामंजस्यप्रवण होता है, क्रिटिक उतना ही विश्लेषणप्रवण। नगेन्द्र दोनो हैं। समालोचक ने चाहा है कि इन दो विरुद्धाभासित रूपो मे से सामञ्जस्य खोज निकाले। पर यह क्या आसान काम है ? वह फिर कभी सोच

1. मूलपाठ 'मुझको' है। समालोचक ने परिवर्तित करके ढिठाई की है।—समालोचक

देखेगा। वह और आगे बढ़ता है। लाहौर के श्री उपेन्द्रनाथ 'अश्क' ने, जिनकी कई कहानियों का आनन्द समालोचक पहले पा चुका है, कविता की पुस्तक भी लिखी है। नाम है 'प्रात-प्रदीप'। कविवर श्री रामकुमार वर्मा ने लिखा है कि "अश्क की रचनाओं में आँसू की बूँदों में भी वाणी आ गयी है।" अश्कजी उर्दू से शुरू करके हिन्दी के क्षेत्र में आये है। उनकी भाषा और भाव में वह प्रभाव वर्तमान है। आधुनिक प्रेम-कविता की लचकीली कोमलता उसमें नही है। अत्यधिक अभ्यस्त मादकता का भी उसमे अभाव है; पर समालोचक इससे निराश होने के बदले उत्साहित हुआ है। यहाँ उसे एक ऐसा भी आदमी मिला है, जो लापरवाही से अपनी बात अपने ढंग पर कह जाता है, जो संस्कृत और फारसी के गुरुचण्डाली योग से घबराता नही :

हँस लेता हूँ यह भी सच है पर अदम्य अवसाद !
हो उठता हूँ झूठे संयम से सहसा आजाद !

काव्य के एक पारखी ने इन कविताओं में शैली की तीव्रानुभूति देखी है; पर समालोचक को उसमें एक ही बात बार-बार आकृष्ट करती रही,—कवि की मस्ती है उसकी लापरवाही, उसकी साहसिकता। जीवन में अनुभूत सत्य को कवि इसी गुण के कारण सहज भाव से, पाठक को बेहोश किये बिना ही, कह गया है :

पल ही भर की एक भूल पर जीवन-भर अनुताप !
एक गयी-बीती आशा का करता रहता जाप !
नभ मे नित प्रासाद बनाना
दिल की दुनिया अलग बनाना
लोगों मे उन्मत्त कहाना
सदा बनाते-ढाते रहना आशा का संसार !
समझाता हूँ अपने दिल को, माँग न पागल प्यार !

अभी इस पुरअसर कविता में समालोचक डूबा ही हुआ है कि डाकिया ने फिर धावा बोल दिया है। अब की बार पटने के श्री आरसीप्रसादजी का 'कलापी' है। यह कवि भी कुछ वैसा ही मस्त जान पड़ा; पर इसे पाठक को मदमत्त बनाने में कुछ मजा आता है। समालोचक बिना कसम खाये उसकी अज्ञात प्रेयसी के मद-विह्वल सौन्दर्य की मनोहारिता को अस्वीकार नही कर सकता—

रजत के अश्रु
स्वर्ण का हास
दिवा में दूर
स्वप्न मे पास !
अपरिचित-सी परिचित, सविलास
स्पर्शी मलयज-वन का श्वास !
दृगों में कोमलाभ आकाश
रश्मि-सुकुमार अकूल विकास !

सचमुच ही यह कवि मस्त है। सौन्दर्य को देख लेने पर यह बिना कहे रह नहीं सकता, भाषा पर वह सवारी करता है। इस बात की उसे बिल्कुल परवा नहीं कि उसके कहे हुए भावों को लोग अनुकरण कह सकते है, अनुभूतिमूलक कह सकते हैं, कल्पना-प्रसूत समझ सकते हैं। उसे अपनी कहनी है। कहे बिना उसे चैन नहीं। उपस्थापन में अबाध प्रवाह है, भाषा में सहज सरकाव। जुही की कली को देखकर वह एक सुर में बोलता चला जायगा :

एक कलिका बन छबीली विश्व-वन में फूल,
सरस झोंके खा पवन के तू रही है झूल;
पँखड़ियाँ फूटी नहीं, छूटे न तुतले बोल,
मृग-चरण-चापल्य शैशव-सुलभ कौतुक लोल;
और, पायी वह न मादकतामयी मुसकान;
सुन सजनि, तू अधखिली नादान!

और इसी प्रकार बहुत-कुछ। समालोचक कवि की व्यास शैली पर हैरान है, उसके भाव-सागर के उद्वेलन से दंग! पर उसे चिरकाल तक यह आनन्द लेने का मौका कौन देता है! मेरठ की श्री होमवती देवी ने 'अर्घ' नामक संग्रह पठाया है। समालोचक को साँस लेने का अवसर मिला है। यहाँ उसे शायद प्रेम के सरस सरोवर का दर्शन होगा। यहाँ आकांक्षाएँ शान्त हैं; उन्मत्त भी नहीं, मृत भी नहीं—

सखि, वह मुझको क्यों भरमाते?
निष्ठुर अपने विस्तृत जग में, बरबस खींच मुझे उस मग में,
चिरपरिचित-सा पन्थ भुलाकर इधर-उधर भटकाते॥
किससे क्या लेना देना है, दूर मुझे जग से रहना है,
टिसते घावों को मल-मल कर नाहक व्यथा बढ़ाते॥
इनकी सच मानूँ मैं सजनी! या अलसायी-सी वह रजनी,
जब प्राणों के सूनेपन में चुपके वह आ जाते॥

इस शान्त-स्निग्ध प्रेम के बाद समालोचक और कुछ नहीं पढ़ेगा।

प्रेम का यह बीहड़ अब भी पार नहीं हुआ। 'मधूलिका' के अपरिग्रहेप्सु प्रेमिक, 'मन्दार' के प्रिय बनने में सयत्न प्रेमिक, 'वनबाला' के प्रेम की आँखों से देखनेवाले प्रेमिक, 'प्रात-प्रदीप' के अनुभवी और लापरवा प्रेमिक, 'कलापी' के अज्ञात लोक के मादक और अज्ञेय प्रेमिक और 'अर्घ' के शान्ताकांक्ष प्रेमिक की चर्चा करने के बाद कोई समालोचक विराम ग्रहण करने की सोच सकता है। केवल प्रेम की बातों का कोई कहाँ तक विवेचन करे! प्रत्येक व्यक्ति अपनी स्थिति के अनुसार प्रेम का दाँव-पेंच बदलता रहता है। समालोचक विश्लेषण करके कहाँ तक सिर खपाये! वह अब से इस उत्तरदायित्वपूर्ण पद से इस्तीफा दे देगा। कानपुर के एक साहित्यिक ने उसे डाँटकर लिखा है कि उसने अमुक पुस्तक की झूठी प्रशंसा

लिखके उक्त साहित्यिक का डेढ़ रुपया बर्बाद कर दिया है। ना बाबा, यह समालोचक ऐसे टण्टे में नही पड़ेगा। दुनिया अपने प्रेम का गान गाये और मुफ्त में फटकार सुननी पड़े इस समालोचक को ! ऐसे दुमदार से तो लंडेर ही भले !

क्षण-भर निराश भाव से आसमान की ओर देखने के बाद समालोचक फिर सँभल जाता है। उसका यौवन पर का अखण्ड विश्वास फिर लौट आता है। प्रेम का बीहड़ ! ठीक है, प्रेम के ये काव्य अनन्त शक्ति के प्रतीक हैं, जिसे मानव अपनी युवावस्था में संचित कर रहा है। प्रौढ़ होते ही जवानी का यह खेल काम में, कल्पना बुद्धि मे, कला उद्योग मे, आशावाद समत्ववाद मे, साहस दूरदर्शिता में, उद्दामता मर्यादा में बदल जायेंगे—यह निश्चित है। ऐसा ही होता है। जहाँ ऐसा नही होता, वही सोचने की बात है। 'मधूलिका', 'मन्दार' और 'कलापी' में जो खेल है, जो कल्पना है, जो वाग्मिता है; 'प्रणय-गीत' मे जो चिन्तनात्मक आशावाद है; 'वनबाला' मे जो मंजुल कल्पना है; 'प्रात-प्रदीप' में जो साहस और स्पष्टता है, वह दुर्दमनीय युवाशक्ति का परिचायक है। वे भविष्य मे केवल कल्पना के शून्य में नही घूम सकेंगे। जब वे धरती पर जमकर खड़े होगे, जब वे समाज की समस्याओं के आमने-सामने खड़े होगे, तो समालोचक को कुछ भी पछताना नही पड़ेगा। युक्त-प्रान्त (उत्तर प्रदेश) के एक अंग्रेजी दैनिक ने मजाक किया है कि 50 फीसदी हिन्दी-पुस्तकें कविता की है, तो क्या युक्तप्रान्त कवि हो जायेगा ! समालोचक इस सूचना से उत्फुल्ल हुआ है। जिस देश के युवकों मे कल्पना, आशावाद, साहस और उद्दामता है, उसी देश के युवक असीम साहसिक कार्यों को कर सकते हैं। इन युवको को केवल इतना स्मरण रखना चाहिए कि कल्पना और आशावादिता साध्य नही, साधन है; प्रिय और प्रेयसी लक्ष्य नही, उपलक्ष्य हैं; क्रीड़ा और कला प्राप्य नही, प्रापक है।

समालोचक को अपनी झक पर गर्व है।

[कल्पलता से]

काव्य-कला

काव्य भी एक कला है। यह बात बहुत तरह मे कही जाती है, पर इसके अन्तर्निहित अर्थ पर विचार नही किया जाता। नीचे की पंक्तियों मे यही प्रयास किया जा रहा है।

यह तो नही कहा जा सकता कि कलाओ की गणना बौद्धपूर्व काल में प्रचलित थी ही, पर अनुमान से ऐसा निश्चय किया जा सकता है कि बुद्धकाल और उसके पूर्व भी कला-मर्मज्ञता एक आवश्यक गुण मानी जाने लगी थी। 'ललित-विस्तर' मे केवल कुमार सिद्धार्थ को सिखायी हुई पुरुषकलाओ की गणना ही नही है, 64 काम-कलाओ का भी उल्लेख है।[1] यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि बुद्ध के समय मे कलाएँ नागरिक जीवन का आवश्यक अग हो गयी थी। प्राचीन ग्रन्थो में कलाओ के नाम पर ऐसी कोई विद्या नही जिसका उल्लेख न हो। बौद्ध-ग्रन्थो मे इनकी सख्या निश्चित नही है; पर चौरासी शायद अधिक प्रचलित सख्या थी। जैन-ग्रन्थो मे 72 कलाओ की चर्चा है; पर बौद्ध और जैन दोनो ही सम्प्रदाय के ग्रन्थो मे 64 कलाओं की चर्चा प्राय: मिल जाया करती है। जैन-ग्रन्थो मे इन्हे 64 महिला-गुण कहा गया है। 'कालिकापुराण' एक अर्वाचीन उपपुराण है। सम्भवत: इसकी रचना विक्रम की दसवी-ग्यारहवी शताब्दी मे असम प्रदेश में हुई थी। इस पुराण मे कला की उत्पत्ति के विषय मे यह कथा दी हुई है : ब्रह्मा ने पहले प्रजापति को और मानसोत्पन्न ऋषियो को पैदा किया और उसके बाद सन्ध्या नामक एक कन्या को जन्म दिया। इन लोगो के बाद ब्रह्मा ने सुप्रसिद्ध मदन देवता को उत्पन्न किया, जिसे ऋषियो ने मन्मथ नाम दिया। इस देवता को ब्रह्मा ने वर दिया कि 'तुम्हारे बाँके लक्ष्य से कोई बच नही सकेगा, इसलिए तुम अपनी इस त्रिभुवन-विजयी शक्ति से सृष्टि-रचना मे मेरी मदद करो।' मदन देवता ने वरदान और कर्त्तव्य-भार दोनो को शिरस: स्वीकार किया। प्रथम प्रयोग उन्होने ब्रह्मा और सन्ध्या पर ही किया। परिणाम यह हुआ कि वे दोनों प्रेम-पीड़ा से अधीर हो उठे। उन्ही के प्रथम समागम के समय ब्रह्मा के 49 भाव तथा सन्ध्या के विब्वोक आदि हाव और 64 कलाएँ उत्पन्न हुई।[2] कला की उत्पत्ति का यही इतिहास है। 'कालिका-पुराण' के अतिरिक्त किसी अन्य पुराण से भी यह कथा समर्थित है या नही, यह मुझे ठीक-ठीक नही मालूम, परन्तु इतना स्पष्ट है कि उक्त पुराण स्त्रियों की चौंसठ कलाओ का जानकार है।

श्रीयुत ए. वेंकट सुब्बैया ने भिन्न-भिन्न ग्रन्थो से सग्रह करके कलाओ पर एक पुस्तिका प्रकाशित करायी है, जो इस विषय के जिज्ञासुओ के बड़े काम की है। उक्त पुस्तिका मे संगृहीत कला-सूचियों को ध्यान से देखने से पता चलता है कि

1. चतु:षष्टि कामकलितानि चानुभाविया।
नूपुरमेखलाभिहतो विगलितवसना॥
कामशराहतास्मिदना: प्रहसितवदना:।
किन्तव आर्यपुत्र विकृति यदि न भजसे॥—'ललितविस्तर', पृ. 417
2. उदीरितेन्द्रियो धाता वीक्षाचक्रे यदाथ ताम्।
तदैव ह्येकपञ्चाशद् भावा जाता: शरीरत:॥
विब्बोकाद्यास्तथा हावाश्चतुःषष्टिकलास्तथा।
कंदर्पशरविद्धाया: सन्ध्याया अभवन् द्विजा:॥—'कालिकापुराण', 2. 28-29

कला उन सब प्रकार की जानकारियों को कहते हैं जिनमें थोड़ी चतुराई की आवश्यकता हो। व्याकरण, छन्द, न्याय, ज्योतिष और राजनीति भी कला है; उचकना, कूदना, तलवार चलाना और घोड़े पर चढ़ना आदि भी कला है; काव्य, नाटक, आख्यायिका, समस्यापूर्ति, बिन्दुमती, प्रहेलिका भी कला है; स्त्रियों का शृंगार करना, कपड़ा रँगना, चोली सीना और सेज बिछाना भी कला है; रत्न और मणियों को पहचानना; घोड़ा, हाथी, पुरुष, स्त्री, छाग, मेष, कुक्कुट का लक्षण जानना; चिड़ियों की बोली से शुभाशुभ का ज्ञान करना इत्यादि भी कला है और तीतर बटेर का लड़ाना, तोते का पढ़ाना, जुआ खेलना वगैरह भी कला ही है। प्राचीन ग्रन्थों से जान पड़ता है कि कई कलाएँ पुरुष के योग्य समझी जाती थीं। यद्यपि कभी-कभी गणिकाएँ भी उन कलाओं में पारंगत पायी जाती थीं। गणित, दर्शन, युद्ध, घुड़सवारी आदि ऐसी ही कलाएँ हैं। कुछ कलाएँ विशुद्ध कामशास्त्रीय हैं, परन्तु सब मिलाकर ऐसा जान पड़ता है कि 64 कोमल कलाएँ स्त्रियों के सीखने की हैं और चूंकि पुरुष भी उसकी जानकारी रखकर ही स्त्रियों को आकृष्ट कर सकते हैं, इसलिए स्त्री-प्रसादन के निमित्त उन्हें भी इन कलाओं की जानकारी होनी चाहिए। 'कामसूत्र' (1-3) में पंचाल की कलाएँ विशुद्ध कामशास्त्रीय हैं, परन्तु वात्स्यायन की अपनी सूची में काम-कलाओं के अतिरिक्त अन्यान्य सुकुमार जानकारियों का भी स्थान है। उनमें लगभग एक-तिहाई तो विशुद्ध साहित्यिक हैं, बाकी कुछ नायक-नायिकाओं की विलास-क्रीड़ा में सहायक हैं, कुछ मनोविनोद के साधन हैं और कुछ दैनिक प्रयोजनों के पूरक हैं। श्री वेंकट सुब्बैया ने अपनी पुस्तिका में दस पुस्तकों से दस सूचियाँ संग्रह की हैं। इनमें यदि पंचाल और यशोधर की सूचियों को छोड़ दिया जाय तो बाकी सभी में काव्य, आख्यायिका, समस्यापूर्ति आदि को विशिष्ट कला समझा गया है। श्री सुब्बैया की गिनायी हुई सूचियों के अतिरिक्त भी ऐसी सूचियाँ हैं, जिनमें 64 कलाओं की चर्चा है। सर्वत्र काव्यादि का स्थान है।

परन्तु ऐसा जान पड़ता है कि आगे चलकर कला का अर्थ कौशल हो गया और भिन्न-भिन्न ग्रन्थकार अपनी रुचि, वक्तव्य-वस्तु और संस्कार के अनुसार 64 भेद कर लिया करते थे। सुप्रसिद्ध कश्मीरी पण्डित क्षेमेन्द्र ने 'कलाविलास' नामक एक छोटी-सी पुस्तक लिखी थी, जो काव्य-माला सिरीज (प्रथम गुच्छक) में छप चुकी है। इस पुस्तक में वेश्याओं की 64 कलाएँ हैं, जिनमें अधिकांश लोकाकर्षण और धनापहरण के कौशल हैं; कायस्थों की 16 कलाएँ हैं, जिनमें लिखने के कौशल से लोगों को धोखा देने की बात ही प्रमुख है। गानेवालों की अनेक प्रकार की धनापहरण की कौशलमयी कलाएँ हैं; सोना चुरानेवाले सुनारों की 64 कलाएँ गिनायी गयी हैं; गणकों की बहुविध धूर्तताएँ भी कला-प्रसंग में ही गिनायी गयी हैं और अन्तिम अध्याय में उन चौंसठ कलाओं की गणना की गयी है, जिन्हें सहृदयों को जानना चाहिए। इसमें धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष की बत्तीस तथा मात्सर्य-शील-प्रभाव-मान की बत्तीस कलाएँ हैं। दस भेषज कलाएँ हैं, जो मनुष्य के भीतरी जीवन को

नीरोग और निर्बाध बनाती हैं, और अन्त में कला-कलाप में श्रेष्ठ सौ सार-कलाओं की चर्चा है। क्षेमेन्द्र की गिनायी हुई इन शताधिक कलाओं में काव्य, समस्यापूर्ति आदि की चर्चा भी नहीं है। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि अपने-अपने वक्तव्य को चौंसठ या अधिकतम भागों में विभक्त करके 'कला' नाम दे देना बाद में साधारण नियम हो गया था, परन्तु इसका मतलब यह नहीं कि कोई अनुश्रुति इस विषय में थी ही नहीं। चौंसठ की संख्या का घूम-फिरकर आ जाना ही यह सूचित करता है कि चौंसठ कलाओं की अनुश्रुति रही अवश्य होगी। जैन लोगों में 72 की अनुश्रुति प्रसिद्ध है। साधारणतः वे पुरुषकलाएँ हैं। ऐसा लगता है कि चौंसठ की संख्या के अन्दर प्राचीन अनुश्रुति में साधारणतः वे ही कलाएँ रही होंगी जो वात्स्यायन की सूची में है। कला का साधारण अर्थ उसमें स्त्री-प्रसादन और वशीकरण है और उद्देश्य विनोद तथा रसानुभूति। निश्चय ही उसमें काव्य का स्थान था। राजसभाओं में काव्य, आख्यायिका आदि के द्वारा सम्मान प्राप्त किया जाता था और यह भी निश्चित है कि अन्यान्य कलाओं की अपेक्षा साहित्यिक कलाएँ अधिक श्रेष्ठ मानी जाती थीं। सभाओं, गोष्ठियों और समाजों में, उद्यान-यात्राओं में, क्रीड़ाशालाओं में और युद्ध-क्षेत्र में काव्य-कला अपने रचयिता को सम्मान के आसन पर बैठा देती थी।

स्वभावतः ही यह प्रश्न उठता है कि वह काव्य कैसा होता था, जो राजसभाओं में सम्मान दिला सकता था या गोष्ठी-समाज में कीर्तिशाली बना सकता था ? सम्भवतः वह 'मेघदूत' या 'कुमारसम्भव' जैसे बड़े-बड़े काव्य नहीं होते थे। वस्तुतः जो काव्य समाजों और सभाओं में मनोविनोद के साधन हुआ करते थे, वे उक्ति-वैचित्र्य ही थे। दण्डी जैसे आलंकारिकों ने स्वीकार किया है कि कवित्व-शक्ति यदि क्षीण भी हो तो भी कोई बुद्धिमान व्यक्ति यदि काव्य-शास्त्रों का अभ्यास करे तो वह राजसभाओं में सम्मान पा सकता है।[1] राजशेखर ने उक्ति-विशेष को ही काव्य कहा है। यहाँ यह स्पष्ट रूप से कह देना उचित है कि मेरे कहने का तात्पर्य यह नहीं है कि रसमूलक प्रबन्ध-काव्यों की उन दिनों काव्य नहीं माना जाता था या उनके कर्ता सम्मान नहीं पाते थे। मेरा वक्तव्य यह है कि काव्य नामक वह कला जो कवियों को गोष्ठियों, समाजों और राजसभाओं में तत्काल सम्मान देती थी, वह उक्ति-वैचित्र्य मात्र थी। दुर्भाग्यवश ऐसे सम्मानों के वे सब विवरण हमें उपलब्ध नहीं है, जिनका ऐतिहासिक मूल्य हो सकता था; पर आनुश्रुतिक परम्परा से जो कुछ प्राप्त हुआ है, उससे हमारे वक्तव्य का समर्थन हो जाता है। यही कारण है कि पुराने अलंकार-शास्त्रों में रस की उतनी परवा नहीं

1. न विद्यते यद्यपि पूर्ववासना गुणानुबन्धि प्रतिभानमद्भुतम्।
श्रुतेन यत्नेन च वागुपासिता ध्रुवं करोत्येव कमप्यनुग्रहम्॥
तदस्ततन्द्रैरनिशं सरस्वती श्रमादुपास्या खलु कीर्तिमीप्सुभिः।
कृशे कवित्वेऽपि जनाः कृतश्रमा विदग्धगोष्ठीषु विहर्तुमीशते॥

—'काव्यादर्श', 1, 104-5

कला उन सब प्रकार की जानकारियों को कहते हैं जिनमे थोड़ी चतुराई की आवश्यकता हो। व्याकरण, छन्द, न्याय, ज्योतिष और राजनीति भी कला है; उचकना, कूदना, तलवार चलाना और घोड़े पर चढ़ना आदि भी कला है; काव्य, नाटक, आख्यायिका, समस्यापूर्त्ति, बिन्दुमती, प्रहेलिका भी कला है; स्त्रियो का शृंगार करना, कपड़ा रँगना, चोली सीना और सेज बिछाना भी कला है; रत्न और मणियों को पहचानना; घोड़ा, हाथी, पुरुष, स्त्री, छाग, मेष, कुक्कुट का लक्षण जानना; चिड़ियो की बोली से शुभाशुभ का ज्ञान करना इत्यादि भी कला है और तीतर बटेर का लड़ाना, तोते का पढाना, जुआ खेलना वगैरह भी कला ही हैं। प्राचीन ग्रन्थों से जान पड़ता है कि कई कलाएँ पुरुष के योग्य समझी जाती थीं। यद्यपि कभी-कभी गणिकाएँ भी उन कलाओ मे पारंगत पायी जाती थीं। गणित, दर्शन, युद्ध, घुड़सवारी आदि ऐसी ही कलाएँ हैं। कुछ कलाएँ विशुद्ध कामशास्त्रीय है, परन्तु सब मिलाकर ऐसा जान पड़ता है कि 64 कोमल कलाएँ स्त्रियों के सीखने की हैं और चूंकि पुरुष भी उसकी जानकारी रखकर ही स्त्रियों को आकृष्ट कर सकते है, इसलिए स्त्री-प्रसादन के निमित्त उन्हे भी इन कलाओं की जानकारी होनी चाहिए। 'कामसूत्र' (1-3) मे पंचाल की कलाएँ विशुद्ध कामशास्त्रीय हैं, परन्तु वात्स्यायन की अपनी सूची मे काम-कलाओं के अतिरिक्त अन्यान्य सुकुमार जानकारियों का भी स्थान है। उनमे लगभग एक-तिहाई तो विशुद्ध साहित्यिक हैं, बाकी कुछ नायक-नायिकाओ की विलास-क्रीड़ा मे सहायक है, कुछ मनोविनोद के साधन हैं और कुछ दैनिक प्रयोजनो के पूरक है। श्री वेंकट सुब्बैया ने अपनी पुस्तिका मे दस पुस्तको से दस सूचियाँ संग्रह की है। इनमे यदि पंचाल और यशोधर की सूचियो को छोड़ दिया जाय तो बाकी सभी में काव्य, आख्यायिका, समस्यापूर्ति आदि को विशिष्ट कला समझा गया है। श्री सुब्बैया की गिनायी हुई सूचियों के अतिरिक्त भी ऐसी सूचियाँ हैं, जिनमे 64 कलाओं की चर्चा है। सर्वत्र काव्यादि का स्थान है।

परन्तु ऐसा जान पड़ता है कि आगे चलकर कला का अर्थ कौशल हो गया और भिन्न-भिन्न ग्रन्थकार अपनी रुचि, वक्तव्य-वस्तु और संस्कार के अनुसार 64 भेद कर लिया करते थे। सुप्रसिद्ध कश्मीरी पण्डित क्षेमेन्द्र ने 'कलाविलास' नामक एक छोटी-सी पुस्तक लिखी थी, जो काव्य-माला सिरीज (प्रथम गुच्छक) मे छप चुकी है। इस पुस्तक मे वेश्याओं की 64 कलाएँ है, जिनमे अधिकांश लोकाकर्षण और धनापहरण के कौशल है; कायस्थो की 16 कलाएँ हैं, जिनमे लिखने के कौशल से लोगों को धोखा देने की बात ही प्रमुख है। गानेवालो की अनेक प्रकार की धनापहरण की कौशलमयी कलाएँ हैं; सोना चुरानेवाले सुनारों की 64 कलाएँ गिनायी गयी हैं; गणकों की बहुविध धूर्तताएँ भी कला-प्रसंग में ही गिनायी गयी हैं और अन्तिम अध्याय मे उन चौंसठ कलाओ की गणना की गयी है, जिन्हें सहृदयों को जानना चाहिए। इसमे धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष की बत्तीस तथा मात्सर्य-शील-प्रभावमान की बत्तीस कलाएँ हैं। दस भेषज कलाएँ हैं, जो मनुष्य के भीतरी जीवन को

नीरोग और निर्वाध बनाती है, और अन्त में कला-कलाप मे श्रेष्ठ सौ सार-कलाओं की चर्चा है। क्षेमेन्द्र की गिनायी हुई इन शताधिक कलाओं में काव्य, समस्यापूर्ति आदि की चर्चा भी नही है। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि अपने-अपने वक्तव्य को चौंसठ या अधिकतम भागों मे विभक्त करके 'कला' नाम दे देना बाद में साधारण नियम हो गया था, परन्तु इसका मतलब यह नही कि कोई अनुश्रुति इस विषय में थी ही नही। चौंसठ की संख्या का घूम-फिरकर आ जाना ही यह सूचित करता है कि चौंसठ कलाओ की अनुश्रुति रही अवश्य होगी। जैन लोगों मे 72 की अनुश्रुति प्रसिद्ध है। साधारणत वे पुरुषकलाएँ है। ऐसा लगता है कि चौंसठ की संख्या के अन्दर प्राचीन अनुश्रुति में साधारणतः वे ही कलाएँ रही होंगी जो वात्स्यायन की सूची मे है। कला का साधारण अर्थ उसमे स्त्री-प्रसादन और वशीकरण है और उद्देश्य विनोद तथा रसानुभूति। निश्चय ही उसमे काव्य का स्थान था। राजसभाओं में काव्य, आख्यायिका आदि के द्वारा सम्मान प्राप्त किया जाता था और यह भी निश्चित है कि अन्यान्य कलाओ की अपेक्षा साहित्यिक कलाएँ अधिक श्रेष्ठ मानी जाती थी। सभाओं, गोष्ठियों और समाजों मे, उद्यान-यात्राओं में, क्रीड़ाशालाओं में और युद्ध-क्षेत्र मे काव्य-कला अपने रचयिता को सम्मान के आसन पर बैठा देती थी।

स्वभावतः ही यह प्रश्न उठता है कि वह काव्य कैसा होता था, जो राजसभाओं मे सम्मान दिला सकता था या गोष्ठी-समाज में कीर्त्तिशाली बना सकता था ? सम्भवतः वह 'मेघदूत' या 'कुमारसम्भव' जैसे बड़े-बड़े काव्य नहीं होते थे। वस्तुतः जो काव्य समाजों और सभाओं में मनोविनोद के साधन हुआ करते थे, वे उक्ति-वैचित्र्य ही थे। दण्डी जैसे आलंकारिको ने स्वीकार किया है कि कवित्व-शक्ति यदि क्षीण भी हो तो भी कोई बुद्धिमान व्यक्ति यदि काव्य-शास्त्रो का अभ्यास करे तो वह राजसभाओं में सम्मान पा सकता है।[1] राजशेखर ने उक्ति-विशेष को ही काव्य कहा है। यहाँ यह स्पष्ट रूप से कह देना उचित है कि मेरे कहने का तात्पर्य यह नही है कि रसमूलक प्रबन्ध-काव्यों को उन दिनों काव्य नही माना जाता था या उनके कर्त्ता सम्मान नही पाते थे। मेरा वक्तव्य यह है कि काव्य नामक वह कला जो कवियों को गोष्ठियों, समाजों और राजसभाओं में तत्काल सम्मान देती थी, वह उक्ति-वैचित्र्य मात्र थी। दुर्भाग्यवश ऐसे सम्मानो के वे सब विवरण हमे उपलब्ध नही है, जिनका ऐतिहासिक मूल्य हो सकता था; पर आनुश्रुतिक परम्परा से जो कुछ प्राप्त हुआ है, उससे हमारे वक्तव्य का समर्थन हो जाता है। यही कारण है कि पुराने अलंकार-शास्त्रों में रस की उतनी परवा नही

1. न विद्यते यद्यपि पूर्ववासना गुणानुबन्धि प्रतिभानमद्भुतम्।
श्रुतेन यत्नेन च वागुपासिता ध्रुवं करोत्येव कमप्यनुग्रहम्॥
तदस्ततन्द्रैरनिशं सरस्वती श्रमादुपास्या खलु कीर्त्तिमीप्सुभिः।
कृशे कवित्वेऽपि जनः कृतश्रमा विदग्धगोष्ठीषु विहर्त्तुमीशते॥

—'काव्यादर्श', 1, 104-5

की गयी जितनी अलंकारों, गुणों और दोषों की। गुण-दोष का ज्ञान वादी को पराजित करने में सहायक होता था और अलंकारों का ज्ञान उक्ति-वैचित्र्य को अधिकाधिक आकर्षक बनाने में सहायक होता था। काव्य करना केवल प्रतिभा का विषय नहीं माना जाता था, अभ्यास को भी विशेष स्थान दिया जाता था। राजशेखर ने काव्य की उत्पत्ति के दो कारण बताये हैं—(1) समाधि, अर्थात् मन की एकाग्रता, और (2) अभ्यास अर्थात् बारम्बार परिशीलन करना। इन्हीं दोनों के द्वारा शक्ति उत्पन्न होती है। यह स्वीकार किया गया है कि प्रतिभा न होने से काव्य सिखाया नहीं जा सकता। विशेषकर उस आदमी को तो किसी प्रकार कवि नहीं बनाया जा सकता, जो स्वभाव से पत्थर के समान है, किसी कष्टवश या व्याकरण के निरन्तर अभ्यासवश नष्ट हो चुका है या तर्क की आग से झुलस चुका है या सुकविजन के प्रबन्धों को सुनने का मौका ही नहीं पा सका है। ऐसे व्यक्ति को तो कितना भी सिखाया जाय, कवि नहीं बनाया जा सकता; क्योंकि कितना भी सिखाओ, गधा गान नहीं कर सकेगा और कितना भी दिखाओ, अन्धा सूर्य को नहीं देख सकेगा।[1] पहला उदाहरण प्रकृत्या जड़ का है, दूसरा नष्ट-साधन का। यह और बात है कि पूर्व-जन्म के पुण्य से या मन्त्र-सिद्धि से कवित्व प्राप्त हो जाय या फिर इसी जन्म में साधना से प्रसन्न होकर सरस्वती कवित्व-शक्ति का वरदान दें ('कविकण्ठाभरण', 1-24)। परन्तु प्रतिभा थोड़ी-बहुत आवश्यक है अवश्य। कवित्व सिखानेवाले ग्रन्थों का यह दावा तो नहीं है कि वे गधे को गाना सिखा देंगे; परन्तु वे यह दावा अवश्य करते हैं कि जिस व्यक्ति में थोड़ी-सी भी शक्ति हो, उसे इस योग्य बना देंगे कि वह सभाओं और समाजों में कीर्त्ति पा ले।

यदि हम इस बात को ध्यान में रखें तो सहज ही समझ में आ जाता है कि उक्ति-वैचित्र्य को आलंकारिक आचार्यों ने इतना महत्त्व क्यों दिया है। उक्ति-वैचित्र्य वाद-विजय और मनोविनोद की कला है। भामह ने बताया है कि वक्रोक्ति ही समस्त अलंकारों का मूल है और वक्रोक्ति न हो तो काव्य हो ही नहीं सकता। भामह की पुस्तक पढ़ने से यही धारणा होती है कि वक्रोक्ति का अर्थ उन्होंने कहने के विशेष ढंग को ही समझा था। वह स्पष्ट रूप से ही कह गये हैं कि "सूर्य अस्त हुआ, चन्द्रमा प्रकाशित हो रहा है, पक्षी अपने-अपने घोंसलों को जा रहे हैं"—इत्यादि वाक्य काव्य नहीं हो सकते, क्योंकि इन कथनों में कहीं भी वक्र भंगिमा नहीं है। दोष उनके मत से उस जगह होता है, जहाँ वाक्य की वक्रता अर्थ-प्रकाश में बाधक होती है। भामह के बाद के आलंकारिकों ने वक्रोक्ति को एक अलंकारमात्र माना है; किन्तु भामह ने उसे काव्य का मूल समझा था। दण्डी भी भामह के मत

1. यस्तु प्रकृत्याश्मसमान एव कष्टेन वा व्याकरणेन नष्ट.।
तर्केण दग्धोऽनलधूमिना वाऽप्यविद्धकर्णः सुकवि प्रबंधैः॥
न तस्य वक्तृत्वसमुद्भव. स्याच्छिक्षाविधैरपि सुप्रयुक्तै.।
न गर्दभो गायति शिक्षितोऽपि सदर्शित पश्यति नार्कमध.॥

—'कविकण्ठाभरण', 1-23

हृदय का व्यक्ति होता था, और जो वस्तु उसे ही प्रमाण मानकर उत्कृष्ट समझी जायेगी, उसमें उन सभी गुणों का होना परम आवश्यक होगा, जिन्हें वात्स्यायन उत्तम नागरिक या रसिक के लिए आवश्यक समझते हैं। कोई आश्चर्य नहीं यदि ऐसा काव्य वात्स्यायन की कलाओं में एक कला मान लिया गया। 'सहृदयलीला' के अनुसार गुण दस होते हैं :

रूपं वर्णः प्रभा रागः आभिजात्यं विलासिता।
लावण्यं लक्षणं छाया सौभाग्यं चेत्यमी गुणाः॥

शरीर के अवयवों की रेखाओं की स्पष्टता को रूप कहते हैं; गौरता-श्यामता आदि को वर्ण कहते हैं; सूर्य की भाँति चमकवाली कान्ति को प्रभा कहते है; अधरों पर स्वाभाविक हँसी खेलते रहने के कारण सबकी दृष्टि को आकर्षित करनेवाले धर्म-विशेष को राग कहते हैं; फल के समान मृदुता और स्पर्श-सुकुमारता को आभिजात्य कहते है; अंगों और उपांगों से युवावस्था के कारण फूट पड़नेवाली विभ्रम-विलास नामक चेष्टाएँ जिनमें कटाक्ष, भुजक्षेप आदि का समुचित योग रहता है, विलासिता कहलाती है; चन्द्रमा की भाँति आह्लादकारक वह सौन्दर्य का उत्कर्षभूत स्निग्ध मधुर धर्म, जो अवयवों के उचित सन्निवेश-जन्य मुग्धिमा से व्यंजित होता है, लावण्य कहा जाता है; अंगोपांगों की असाधारण शोभा और प्रशस्तता का कारणभूत औचित्यमय स्थायी धर्म लक्षण कहा जाता है; वह सूक्ष्म भंगिमा जो अग्राम्यता के कारण वक्रिमत्वव्यापिनी होती है, अर्थात् बाह्य शिष्टाचार, विभ्रम-विलास और परिपाटी को प्रकट करती है, जिससे ताम्बूल-सेवन, वस्त्र-परिधान, नृत्तसुभाषित आदि में वक्ता का उत्कर्ष प्रकट होता है, छाया कहलाती है। सुभग उस व्यक्ति को कहते हैं जिसमें स्वभावतः वह रंजक गुण होता है, जिससे सहृदयजन उसी प्रकार स्वयमेव आकृष्ट होते है, जिस प्रकार पुष्प के परिमल से भ्रमर आकृष्ट होते हैं। इस प्रकार सुभग के आन्तरिक वशीकरण धर्म-विशेष को सौभाग्य कहते है। ये दस गुण विधाता की ओर से प्राप्त होते हैं, ये जन्मान्तर के पुण्य-फल से मिलते हैं। अलंकार सात ही है :

रत्नं हेमांशुके माल्यं मंडनं द्रव्य योजने।
प्रकीर्णचेत्यलंकाराः सप्तवैते मया मताः॥

वज्र, मुक्ता, पद्मराग, मरकत, इन्द्रनील, वैदूर्य, पुष्पराग, कर्केतन, पुलक, रुधिराक्ष, भीष्म, स्फटिक, प्रवाल—ये तेरह रत्न होते है। वराहमिहिर की 'बृहत्संहिता' मे इनके लक्षण दिये हुए हैं। भीष्म के स्थान में उसमें विषमक पाठ है। 'शब्दार्थ-चिन्तामणि' के अनुसार यह रत्न हिमालय के उत्तर प्रान्त मे पाया जानेवाला कोई सफेद पत्थर है। बाकी के बारे में 'बृहत्संहिता' (अध्याय 80) देखनी चाहिए। हेम सोने को कहते हैं। प्राचीन ग्रन्थ मे यह नौ प्रकार का बताया गया है : जाम्बूनद, शातकौम्भ, हाटक, वैष्णव, शृंगी, शुक्तिज, जातरूप, रसबृद्धि और आकरोद्गत। इन तेरह प्रकार के रत्नों और नौ प्रकार के सोनों से नाना प्रकार

के अलंकार बनते हैं। ये चार श्रेणियों के होते हैं--(1) आवेध्य,(2) निबन्धनीय, (3) प्रक्षेप्य, और (4) आरोप्य। ताड़ी, कुण्डल, कान के बाले आदि अलंकार अंगों को छेदकर पहना जाते है, इसलिए आवेध्य कहलाते है; अगद (वाहु-मूल में पहना जानेवाला अलंकार), श्रोणी-सूत्र (करधनी आदि), चूड़ामणि प्रभृति बाँधकर पहने जाते हैं, इसलिए उन्हें निबन्धनीय कहते हैं; अभिका, कटक, मंजीर आदि अंग में प्रक्षेपपूर्वक पहने जाते हैं, इसलिए उन्हें प्रक्षेप्य कहा जाता है; झूलती हुई माला, हार, नक्षत्रमालिका आदि अलंकार आरोपित किये जाने के कारण आरोप्य कहे जाते हैं। वस्त्र चार प्रकार के होते है, कुछ छाल से (क्षौम), कुछ फल से (कार्पास), कुछ रोओं से (राकव) और कुछ कीटो के कोश से (कौशेय) वनते हैं। इन्हें भी तीन प्रकार से पहनने की प्रथा है—पगड़ी, साडी आदि निबन्धनीय हैं, चोली आदि प्रक्षेप्य हैं, उत्तरीय (चादर) आदि आरोप्य हैं। वर्ण और सजावट के भेद से ये नाना भाँति के होते हैं। सोने और रत्न से बने हुए अलंकारों की भाँति माल्य के आवेध्य, निबन्धनीय, प्रक्षेप्य, आरोप्य—ये चार भेद होते है। प्रत्येक भेद में ग्रथित और अग्रथित रूप से दो-दो उपभेद हो सकते है। इस प्रकार कुल मिलाकर माल्य के आठ भेद होते है : वेष्टित, विस्तारित, सन्धास्य, ग्रन्थिमत्, उद्वर्तित, अवलम्बित, मुक्तक और स्वतक। कस्तूरी, कुंकुम, चन्दन, कपूर, कुलक, दन्तसम, पटवास, सहकार तैल, ताम्बूल, अलक्तक, अजन, गोरोचना आदि से मण्डन द्रव्य वनते हैं। भ्रू घटना, केशरचना, चूड़ा बाँधना आदि योजनामय अलंकार है। प्रकीर्ण अलंकार दो प्रकार के होते है : (1) जन्य और (2) निवेश्य। श्रमजल, मदिरामद आदि जन्य है और दूर्वा, अशोक, पल्लव, यवांकुर, रजत, त्रपु, शंख, तालदल, दन्तपत्रिका, मृणालवलय, करक्रीड़नादिक निवेश्य है। इन सबके समवाय को वेश कहते हैं। यह वेश देश-काल की प्रकृति और अवस्था के सामंजस्य के अनुसार शोभनीय होता है। इनके उचित सन्निवेश से रमणीयता की वृद्धि होती है। परन्तु अलंकार इतने ही नही हैं। ये यत्नज अलंकार हैं। अंगज, अयत्नज और स्वभावज—तीन अलकार और होते है। भाव, हाव और हेला अंगज अलंकार है; शोभा, कान्ति, माधुर्य, दीप्ति, प्रगल्भता, औदार्य और धैर्य—ये अयत्नज अलंकार हैं; और लीला, विलास, विच्छित्ति, विभ्रम, किलकिंचित, मोट्टायित, कुट्टमित, विव्वोक, ललित और विहृत---ये दस स्वभावज अलंकार है। इनके लक्षण दशरूपक आदि ग्रन्थों में देखना चाहिए। शोभा का जीवित या प्राण यौवन है और निकट से उपकार परिकर। इनका विस्तार रीति-ग्रन्थों में मिलेगा।

इस प्रकार के सहृदय के चित्त को जो कविता तन्मय कर सके, वह अवश्य ही वात्स्यायन की स्त्री-प्रसादिनी और वशीकारिणी कला में स्थान प्राप्त करेगी। वस्तुतः जिस काव्य को कला कहा गया था, उसमें उन दिनों इन्ही दो गुणों का प्राधान्य लक्ष्य किया गया था : (1) उक्ति-वैचित्र्य और (2) सहृदय-हृदय-रंजन। ज्यों-ज्यों अनुभव का क्षेत्र और विचार का क्षेत्र विस्तीर्ण होता गया, त्यों-त्यों कला

हृदय का व्यक्ति होता था, और जो वस्तु उसे ही प्रमाण मानकर उत्कृष्ट समझी जायेगी, उसमें उन सभी गुणों का होना परम आवश्यक होगा, जिन्हें वात्स्यायन उत्तम नागरिक या रसिक के लिए आवश्यक समझते हैं। कोई आश्चर्य नहीं यदि ऐसा काव्य वात्स्यायन की कलाओं में एक कला मान लिया गया। 'सहृदयलीला' के अनुसार गुण दस होते हैं :

रूपं वर्णः प्रभा रागः आभिजात्यं विलासिता।
लावण्यं लक्षणं छाया सौभाग्यं चेत्यमी गुणाः॥

शरीर के अवयवों की रेखाओं की स्पष्टता को रूप कहते हैं; गौरता-श्यामता आदि को वर्ण कहते हैं; सूर्य की भाँति चमकवाली कान्ति को प्रभा कहते हैं; अधरों पर स्वाभाविक हँसी खेलते रहने के कारण सबकी दृष्टि को आकर्षित करनेवाले धर्म-विशेष को राग कहते है; फल के समान मृदुता और स्पर्श-सुकुमारता को आभिजात्य कहते हैं; अंगो और उपांगो से युवावस्था के कारण फूट पड़नेवाली विभ्रम-विलास नामक चेष्टाएँ जिनमे कटाक्ष, भुजक्षेप आदि का समुचित योग रहता है, विलासिता कहलाती है; चन्द्रमा की भाँति आह्लादकारक वह सौन्दर्य का उत्कर्षभूत स्निग्ध मधुर धर्म, जो अवयवों के उचित सन्निवेश-जन्य मुग्धिमा से व्यंजित होता है, लावण्य कहा जाता है; अंगोपांगों की असाधारण शोभा औ प्रशस्तता का कारणभूत औचित्यमय स्थायी धर्म लक्षण कहा जाता है; वह भंगिमा जो अग्राम्यता के कारण वक्रिमत्वख्यापिनी होती है, अर्थात् बाह्य चार, विभ्रम-विलास और परिपाटी को प्रकट करती है, जिससे ताम्बू वस्त्र-परिधान, नृत्तसुभाषित आदि में वक्ता का उत्कर्ष प्रकट होत कहलाती है। सुभग उस व्यक्ति को कहते हैं जिसमे स्वभावतः वह है, जिससे सहृदयजन उसी प्रकार स्वयमेव आकृष्ट होते है, जिस परिमल से भ्रमर आकृष्ट होते हैं। इस प्रकार सुभग के आन्तरि विशेष को सौभाग्य कहते हैं। ये दस गुण विधाता की ओर से जन्मान्तर के पुण्य-फल से मिलते है। अलंकार सात ही हैं :

रत्नं हेमांशुके माल्यं मंडनं द्रव्य योजने।
प्रकीर्णचेत्यलंकाराः सप्तवैते मया मताः।

वज्र, मुक्ता, पद्मराग, मरकत, इन्द्रनील, वैदूर्य, पुष्प रुधिराक्ष, भीष्म, स्फटिक, प्रवाल—ये तेरह रत्न होते 'बृहत्संहिता' मे इनके लक्षण दिये हुए है। भीष्म के स्था है। 'शब्दार्थ-चिन्तामणि' के अनुसार यह रत्न हिमालय जानेवाला कोई सफेद पत्थर है। बाकी के बारे में 'बृ देखनी चाहिए। हेम सोने को कहते है। प्राचीन ग्रन्थ में गया है : जाम्बूनद, शातकौम्भ, हाटक, वैष्णव, शृंगी, और आकरोद्गत। इन तेरह प्रकार के रत्नों और नौ

अवश्य रहता है। सब समय यह तत्त्ववाद स्पष्ट नही होता। कभी-कभी हम उसे ठीक-ठीक जानते भी नही होते। परन्तु हर भले-बुरे कार्य के पीछे रहनेवाली मनोवृत्ति का विश्लेषण किया जाय तो स्पष्ट हो जायेगा कि करनेवाले ने अपने मन मे किसी विशेष ढंग से सोचकर ही कार्य किया है। उसके मन मे कुछ बातों का मूल्य दुनिया की अन्यान्य बातों से अधिक होता है और जानकर या अनजान मे वह इन्ही मूल्यों की बात सोचकर कोई कार्य कर डालता है। जाने मे या अनजाने मे हमारा तत्त्व-वाद हमेशा हमारे क्रिया-कलाप का नियन्त्रण करता रहता है। विचार के क्षेत्र मे वह अधिक स्पष्ट और सुचिन्तित रूप मे आता है। साहित्य पर जब हम विचार करते हैं, तो भी हमारा अपना दृष्टिकोण उसमे अवश्य प्रधान हो उठता है।

यदि आप इस बात को स्वीकार करते है, तो एक बात और भी स्पष्ट हो जाती है। हमारे मन के अज्ञात कोने में जो हलचल होती रहती है और जो हमारे प्रत्यक्ष जीवन के मूल्यों को नियन्त्रित और निर्धारित करती रहती है, उस पर तत्कालीन चिन्तन-प्रणाली का बड़ा जोर होता है। इसी बात को दूसरे शब्दों में युग-सत्य कहते हैं। एक देश और एक काल का मनुष्य जिस प्रकार सोचता है, उसी प्रकार से दूसरे देश और काल का मनुष्य नही सोचता। प्रत्येक युग मे मनुष्य के कुछ सामान्य निश्चित विश्वास होते है। उनके सोचने का ढंग कुछ अलग होता है। विचित्र सामाजिक परिस्थितियाँ कुछ-न-कुछ सामान्य विश्वासों को उत्पन्न करती हैं। हमारे देश के पुराने साहित्यकारों ने भिन्न-भिन्न दृष्टियों से साहित्य को देखने का प्रयास किया है। परन्तु अन्तिम विश्लेषण से स्पष्ट हो जायेगा कि यद्यपि प्रत्येक विचारक की बातें कुछ अंशो में मिलती-जुलती है और कुछ ने खुले रूप मे पूर्ववर्त्ती विचारक की बात के प्रचार करने का ही दावा किया है, तथापि युग और काल का प्रभाव उन पर पड़ा अवश्य है।

जिस युग में हम वास कर रहे हैं, वह विज्ञान और टेकनालोजी की अभूतपूर्व उन्नति के कारण अन्यान्य युगों से भिन्न हो गया है। ज्ञान के प्रसार का जैसा साधन हम लोगों के पास है, वैसा हमारे पूर्वजो के पास नही था। आज के विद्यार्थी को देश-विदेश के कवियो, विचारकों और शिल्पियों को समझने का जैसा अवसर मिला है, वैसा पहले नही मिलता था। इन दिनों तरलमति विद्यार्थी के बहकने के भी जितने साधन विद्यमान हैं, उतने साधन पहले नही थे और आज के युग मे विचारों के प्रचार के भी इतने साधन बन गये है जो सब प्रकार से विपुल और विचित्र हैं। कोई आश्चर्य नही कि आजकल एकांगी, अधकचरा और अविचारित रमणीय विचारों का अम्बार लग गया हो, इसलिए आज सन्तुलित दृष्टिकोण दुर्लभ हो गया है। सर्वत्र ले उड़ने की प्रवृत्ति बल पकड़ रही है। जीवन को देखने की एकागी दृष्टियों का जितना जोर इन दिनों है, उतना कभी नही था।

परन्तु फिर भी, इस युग मे मनुष्य एक सामान्य सत्य को पकड़ने के लिए प्रयत्नशील अवश्य है। वह सत्य यदि उसकी पकड़ में आ जाय तो साहित्य को देखने की उसकी दृष्टि भी सन्तुलित हो जाय। इस समय साहित्य के क्षेत्र मे दिखायी

की परिभाषा भी विस्तीर्ण होती गयी और काव्य का क्षेत्र भी विस्तीर्ण होता गया।

[अशोक के फूल से]

समीक्षा में सन्तुलन का प्रश्न

दो या कई अतिवादिताओं से बचकर कोई मध्यम मार्ग निकालने को सन्तुलित दृष्टिकोण नहीं कहते; क्योंकि ऐसी व्याख्या में एक प्रकार की समझौतावाली मनोवृत्ति का आभास मिलता है, जो सत्य-निर्णय मे सब जगह सहायक नहीं होती। सन्तुलित दृष्टिकोण का मतलब बिल्कुल दूसरा है। भावावेगवश या पक्षपातवश या मोहवश कभी-कभी मनुष्य जीवन के किसी एक पक्ष पर आवश्यकता से अधिक बल देने लगता है और इस प्रकार जीवन को देखने और समझने की एकागी दृष्टि का विकास होता है। यदि इस प्रकार की दृष्टिवाला व्यक्ति बौद्धिक शक्ति से सम्पन्न हुआ तो वह साहित्य मे इस दृष्टि की प्रतिष्ठा बढ़ा देता है। इस प्रकार समय-समय पर जीवन को देखने की एकांगी दृष्टियों का प्रादुर्भाव होता रहता है। इन दृष्टियों में सचाई के एक-एक पार्श्व को जरूरत से ज्यादा महत्त्व दे दिया जाता है। सन्तुलित दृष्टिकोण इन्हीं एकांगी दृष्टियों की अतिवादिता से विनिर्मुक्त और इन सबमें पायी जानेवाली सचाई पर आधारित समग्र दृष्टि है। वह किसी पक्ष को आवश्यकता से अधिक महत्त्व नहीं देती और किसी पक्ष की सचाई की उपेक्षा नहीं करती। जो शक्तिशाली विचारकों के आवेग-तरल विचार-प्रवाह में अपने को वह जाने देने से रोक सकता है और यथासम्भव अधिक-से-अधिक सावधानी से सत्य की खोज कर सकता है, वही सन्तुलित दृष्टि भी पा सकता है। इसलिए मेरा मत है कि सन्तुलित दृष्टि वह नहीं है जो अतिवादिताओं के बीच एक मध्यम मार्ग खोजती फिरती है, बल्कि वह है जो अतिवादियों की आवेग-तरल विचारधारा का शिकार नहीं हो जाती और किसी पक्ष के उस मूल सत्य को पकड़ सकती है जिस पर बहुत बल देने और अन्य पक्षों की उपेक्षा करने के कारण उक्त अतिवादी दृष्टि का प्रभाव बढ़ा है। सन्तुलित दृष्टि सत्यान्वेषी की दृष्टि है। एक ओर जहाँ वह सत्य की समग्र मूर्ति को देखने का प्रयास करती है, वहीं दूसरी ओर वह सदा अपने को सुधारने और शुद्ध करते रहने को प्रस्तुत रहती है। वह सभी प्रकार के दुराग्रह और पूर्वाग्रह से मुक्त रहने की और सब तरह के सही विचारों को ग्रहण करने की दृष्टि है। हम लोग जो भी कार्य करते हैं, उसके मूल में हमारे जीवन का कोई-न-कोई तत्त्ववाद

अवश्य रहता है। सब समय यह तत्त्ववाद स्पष्ट नहीं होता। कभी-कभी हम उसे ठीक-ठीक जानते भी नही होते। परन्तु हर भले-बुरे कार्य के पीछे रहनेवाली मनोवृत्ति का विश्लेषण किया जाय तो स्पष्ट हो जायेगा कि करनेवाले ने अपने मन मे किसी विशेष ढंग से सोचकर ही कार्य किया है। उसके मन मे कुछ बातो का मूल्य दुनिया की अन्यान्य बातो मे अधिक होता है और जानकर या अनजान मे वह इन्ही मूल्यों की बात सोचकर कोई कार्य कर डालता है। जाने मे या अनजाने मे हमारा तत्त्ववाद हमेशा हमारे क्रिया-कलाप का नियन्त्रण करता रहता है। विचार के क्षेत्र में वह अधिक स्पष्ट और सुचिन्तित रूप मे आता है। साहित्य पर जब हम विचार करते हैं, तो भी हमारा अपना दृष्टिकोण उसमें अवश्य प्रधान हो उठता है।

यदि आप इस बात को स्वीकार करते हैं, तो एक बात और भी स्पष्ट हो जाती है। हमारे मन के अज्ञात कोने में जो हलचल होती रहती है और जो हमारे प्रत्यक्ष जीवन के मूल्यों को नियन्त्रित और निर्धारित करती रहती है, उस पर तत्कालीन चिन्तन-प्रणाली का बड़ा जोर होता है। इसी बात को दूसरे शब्दो में युग-सत्य कहते हैं। एक देश और एक काल का मनुष्य जिस प्रकार सोचता है, उसी प्रकार से दूसरे देश और काल का मनुष्य नही सोचता। प्रत्येक युग मे मनुष्य के कुछ सामान्य निश्चित विश्वास होते है। उनके सोचने का ढंग कुछ अलग होता है। विचित्र सामाजिक परिस्थितियाँ कुछ-न-कुछ सामान्य विश्वासों को उत्पन्न करती हैं। हमारे देश के पुराने साहित्यकारों ने भिन्न-भिन्न दृष्टियों से साहित्य को देखने का प्रयास किया है। परन्तु अन्तिम विश्लेषण से स्पष्ट हो जायेगा कि यद्यपि प्रत्येक विचारक की बातें कुछ अंशों में मिलती-जुलती है और कुछ ने खुले रूप में पूर्ववर्ती विचारक की बात के प्रचार करने का ही दावा किया है, तथापि युग और काल का प्रभाव उन पर पड़ा अवश्य है।

जिस युग में हम वास कर रहे हैं, वह विज्ञान और टेकनालोजी की अभूतपूर्व उन्नति के कारण अन्यान्य युगों से भिन्न हो गया है। ज्ञान के प्रसार का जैसा साधन हम लोगों के पास है, वैसा हमारे पूर्वजों के पास नहीं था। आज के विद्यार्थी को देश-विदेश के कवियों, विचारकों और शिल्पियों को समझने का जैसा अवसर मिला है, वैसा पहले नहीं मिलता था। इन दिनो तरलमति विद्यार्थी के बहकने के भी जितने साधन विद्यमान है, उतने साधन पहले नही थे और आज के युग मे विचारों के प्रचार के भी इतने साधन बन गये हैं जो सब प्रकार से विपुल और विचित्र हैं। कोई आश्चर्य नही कि आजकल एकांगी, अधकचरा और अविचारित रमणीय विचारों का अम्बार लग गया हो, इसलिए आज सन्तुलित दृष्टिकोण दुर्लभ हो गया है। सर्वत्र ले उड़ने की प्रवृत्ति बल पकड़ रही है। जीवन को देखने की एकांगी दृष्टियों का जितना जोर इन दिनों है, उतना कभी नही था।

परन्तु फिर भी, इस युग में मनुष्य एक सामान्य सत्य को पकड़ने के लिए प्रयत्नशील अवश्य है। वह सत्य यदि उसकी पकड़ मे आ जाय तो साहित्य को देखने की उसकी दृष्टि भी सन्तुलित हो जाय। इस समय साहित्य के क्षेत्र मे दिखायी

देनेवाले 'वाद' नामधारी अनेक दृष्टिकोण इसी सर्वमान्य सत्य को ढूँढ निकालने के प्रयत्न हैं। मेरी दृष्टि में इनमें से कई सत्य के एक-एक पहलू पर अत्यधिक जोर देने के कारण अलग दीखते हैं। कोई जीवन के मानसिक पक्ष पर अधिक बल देता है, कोई आर्थिक पक्ष पर, कोई सामाजिक पक्ष पर, कोई वैयक्तिक पक्ष पर और कोई आध्यात्मिक पक्ष पर। ऊपर-ऊपर से ये एक-दूसरे से बहुत भिन्न प्रतीत होते हैं। इनकी व्याप्तियों-अतिव्याप्तियों से चिन्तित होकर कुछ लोग बहुत व्यग्र हो उठे हैं और घबड़ाकर यह नारा लगाने लगे हैं कि यह सब गलत है। साहित्य की मीमांसा की एक अपनी दृष्टि होनी चाहिए, जिस पर इन एकपक्षीय विचारों का कोई असर न हो। परन्तु अन्त तक व्याकुलता कुछ कार्य नहीं कर पाती, क्योंकि असर आजकल पड़ ही जाता है। मैं इनसे बिल्कुल चिन्तित नहीं हूँ, क्योंकि मैं जानता हूँ कि ये सब प्रयत्न सत्य को ढूँढने के प्रयत्न हैं। एक उदाहरण से इसे समझने का प्रयत्न किया जाय।

इन दिनों साहित्य की सबसे नयी प्रवृत्ति 'प्रगतिवाद' की है। 'प्रगतिवाद' वैसे तो सामान्य शब्द है और जिस-किसी आगे बढनेवाली प्रवृत्ति को इस नाम से पुकारा जा सकता है। किन्तु फिर भी इसका प्रयोग एक निश्चित अर्थ में होने लगा है। 'प्रगतिवादी साहित्य' मार्क्स के प्रचारित तत्त्वदर्शन पर आधारित है। इस मत को माननेवाला साहित्यिक रहस्यवाद में विश्वास नहीं कर सकता, प्रकृति या ईश्वर के निष्ठुर परिहास की बात नहीं सोच सकता, भाग्यवाद के ढकोसले को बर्दाश्त नहीं कर सकता। इस मत में समाज निरन्तर विकासशील संस्था है। आर्थिक विधानों के साथ-साथ समाज में भी परिवर्त्तन होता है। इस मत को स्वीकार करने वाला साहित्यिक समाज की रूढियों को सनातन से आया हुआ या ईश्वर की निर्भ्रान्त आज्ञाओं पर बना हुआ और उच्च-नीच मर्यादा को अपरिवर्त्तनीय सनातन विधान नहीं मान सकता। इस प्रकार प्रगतिवादी साहित्यिक समाज की किसी व्यवस्था को सनातन नहीं मानता, किसी भी वस्तु को रहस्य और अज्ञेय नहीं समझता तथा किसी अज्ञेय-अलक्ष्य चिरन्तन प्रियतम की लीला को साहित्य का लक्ष्य नहीं मानता। वह समाज को बदल देने में विश्वास करता है। उसका विश्वास है कि मनुष्य प्रयत्न करके इस समाज को ऐसा बना सकता है जिसमें शोषकों और शोषितों के वर्ग न हों और मनुष्य शान्तिपूर्वक जीवन बिता सके। इसलिए उसके अनुसार साहित्य वर्गहीन समाज की स्थापना का एक साधन है। साहित्यकार को इसकी साधना इसी महान् संकल्प के लिए करनी चाहिए। आज के समाज का अगर विश्लेषण किया जाय तो स्पष्ट होगा कि इसमें एक समूह उन लोगों का है जो आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न है। उत्पादन के समस्त साधन उन्हीं लोगों के पास हैं। इन साधनों पर अधिकार होने के कारण उनके हाथ में धन पुंजित होता जा रहा है। पूंजीवाद इस वर्त्तमान सामाजिक अवस्था में 'निगेटिव' या प्रतिगामी शक्ति है। यह असंख्य जनता के शोषण पर आधारित है और इस व्यवस्था को चालू रखने के लिए हर प्रकार का काम करना चाहता है। इन लोगों के मत से 'समाजवाद'

प्रगतिशील विचारधारा है, क्योंकि वह वर्त्तमान समाज को वर्गहीन समाज में बदलने को कृतसंकल्प है।

साधारणतः समझा जाता है कि यह विचार-पद्धति आर्थिक दृष्टि की उपज है। परन्तु एक बार इसके महान् संकल्प और तितिक्षा की वृत्ति पर ध्यान दें तो स्पष्ट हो जायगा कि इसमें एक बहुत बड़ी बात है जो केवल आर्थिक दृष्टि की उपज नही कही जा सकती। यह मनुष्य-जीवन को कल्याण-मार्ग की ओर ले जाने के जीवन-दर्शन से अनुप्राणित है। मैं ऐसे संकल्प को जड़वादी या भौतिक कहने मे हिचकता हूँ। साहित्य को महान् बनाने के मूल में साहित्यकार का महान् संकल्प होता है। वह संकल्प इस विचार-पद्धति के साथ है। मेरा विचार है कि अपने देश की विशाल आध्यात्मिक परम्परा मूलतः इसकी भावधारा से विरुद्ध नही पड़ती। यह और बात है कि इसका विनियोग सब समय ठीक रास्ते नही होता। मैं समझौते की दृष्टि से यह नहीं कह रहा हूँ। मैं शुरू में ही इसका प्रत्याख्यान कर चुका हूँ। नये और पुराने विचारों का अन्तर मै जानता हूँ। संक्षेप में उस अन्तर को इस प्रकार समझाया जा सकता है :

इस युग मे धीरे-धीरे शिक्षित जनता का चित्त मनुष्य पर केन्द्रित हुआ है। पहले सारे संसार के धर्म-कर्म, साहित्य-शिल्प आदि का उच्चतम उद्देश्य मनुष्य की मुक्ति और स्वर्ग आदि प्राप्त करने की प्रेरणा थी। इस संसार में जो कुछ त्याग, तप और कष्ट सहन किया जाता है, उसका उच्चतम उद्देश्य इस दुनिया से सम्बद्ध नही था, बल्कि इस दुनिया से परे के किसी बड़े उद्देश्य (मोक्ष, स्वर्ग, देवत्वप्राप्ति) के लिए होता था। बाद में वैज्ञानिक उन्नति और नयी शिक्षा के प्रवर्त्तन के साथ इस युग के शिक्षित मनुष्य के सोचने का ढंग बदला है। वह अब परलोक में मनुष्य के सुखी होने की बात नही सोचता, बल्कि इसी लोक में, इसी मर्त्यकाया मे मनुष्य को सब प्रकार की दुरवस्थाओं और विपत्तियों से मुक्त करके सुखी बनाने की बात सोचता है। वह भी केवल व्यक्ति-मानव को दुरवस्थामुक्त करना ही उसका लक्ष्य नही है, बल्कि सामूहिक रूप से या समाज-मानव को सुखी और स्वतन्त्र बनाने का प्रयत्न करना है। इस प्रकार जीवन के प्रति दृष्टिकोण बदलने के साथ ही साहित्य की आलोचना की भी दृष्टि बदली है। कला और शिल्प विधान में आप्त वाक्यो को और मंगल-अमंगल विधान को, नान्दी-सूत्रधार को, मंगलाचरण-भरतवाक्य को अब उतना आवश्यक नही माना जाता। साहित्य-विचार के समय आप इस बदली मनोवृत्ति को भुला नही सकते। किन्तु मनुष्य के सामूहिक कल्याण की दृष्टि प्रधान अवश्य हो गयी है। परन्तु यह नहीं समझना चाहिए कि यह कोई एकदम नवीन बात है। हमारी पुरानी काव्यालोचन-परम्परा में भी यह दृष्टि कुछ भिन्न ढंग से पायी जाती है। उस पुरानी परम्परा को एकदम भुलाना अत्यन्त भयंकर भूल है। मुझे यह समझ में नहीं आता कि आधुनिक समालोचना-पद्धति क्यों नही पुराने अनुभवो से अपने को समृद्ध कर सकती। नवीन परिस्थितियों के अनुसार

पुराने अनुभवों का प्रयोग सर्वत्र हितकर होगा— जीवन में भी और साहित्य मे भी।

[विचार और वितर्क से]

हिन्दी उपन्यासों में यथार्थवाद का आतंक

उपन्यास पढने का अवसर मुझे कम मिलता है। कुछ वर्षों से मैंने हिन्दी के लब्ध-प्रतिष्ठ लेखकों के लिखे उपन्यास देखे ही नही थे। परन्तु इधर प्रयत्न करके मैंने कुछ अच्छे उपन्यास-लेखकों की रचनाएँ पढ़ी हैं। पढ़कर बहुत उल्लसित नही हुआ हूँ। कुल ग्यारह उपन्यास पढ़ने के बाद जब मैं सोचता हूँ कि किसी ऐसे पात्र से परिचय हुआ या नही जिसे अविस्मरणीय कह सकूँ तो बड़ी निराशा होती है। मुश्किल से दो या तीन पात्र ऐसे मिले हैं जिनके मानसिक संघर्ष हृदय पर कुछ छाप छोड़ गये है, परन्तु उन पात्रों में भारतीय सहानुभूति जगा देने की शक्ति तो मिली हैं, पर ऐसा वीर्य या उत्साह नहीं दिखा है जो संघर्षों मे विजयी होने की प्रेरणा दे सके और जो 'जैसा-कुछ मिल गया है' उसे 'जैसा-कुछ मिलना चाहिए था' में बदल देने की उमंग में मर मिटने का उल्लास पैदा कर सके। सर्वत्र एक प्रकार की ढुल-मुल नीति, मेरुदण्डहीन व्यक्तित्व, मनोविज्ञान के भय से बच-बचकर चलने की भीरुजनोचित सावधानी और व्यर्थ की उकता देनेवाली बहसों का अनावश्यक विस्तार पाठक को थका देते हैं।

यथार्थवाद क्या है ?

मैंने कारण खोजने का प्रयत्न किया है। क्या यूरोप या अमरीका में लिखे जानेवाले उपन्यास कुछ इसी दिशा में मुड़ रहे हैं और हमारे लेखक उधर से प्रेरणा बटोर रहे है ? मुझे ठीक मालूम नही, परन्तु इन उपन्यासों के भीतरी विश्लेषण से मुझे लगा है कि हमारे उपन्यास-लेखकों को यथार्थवाद ने बहुत अधिक आतंकित कर रखा है। यथार्थवाद को जैसे हमारे लेखकों ने विश्वास के रूप में नहीं, बल्कि आजकल के आवश्यक साधन के रूप में ग्रहण कर लिया है; मानो हर व्यक्ति मे कुछ ढुलमुल-पन और कुछ पतन-स्खलन दिखा देने का नाम ही यथार्थवाद हो और आधुनिक बनने के लिए यह अत्यन्त आवश्यक मसाला छोड़ ही न जा सकता हो !

मैं शुरू में ही स्पष्ट कर दूँ कि मैं यथार्थवाद का विरोधी नहीं हूँ। उलटे, जैसा कि मैं आगे स्पष्ट करने जा रहा हूँ, उपन्यास नामक साहित्यांग के यथार्थवादी होने

में ही उसकी सफलता मानता हूँ। कविता यथार्थ की उपेक्षा कर सकती है, संगीत यथार्थ को छोड़कर भी जी सकता है, पर उपन्यास और कहानी के लिए यथार्थ प्राण है। उसके न रहने से उपन्यास और कहानी भी प्राणहीन वस्तु बन जाती है। परन्तु मुझे ऐसा लगता है कि यथार्थवाद को हमारे लेखकों ने उस अर्थ में नहीं लिया जिस अर्थ में वह मुझे प्रिय है। कैसे कहूँ कि जिस रूप मे यथार्थवाद को मैं ग्रहण करता हूँ वही ठीक है और, और लोग जिस रूप में लेते दिखायी देते हैं वह गलत है? परन्तु इस समय तो मैं अपनी ही बात कहने का संकल्प लेकर चला हूँ। अपनी बात कहने मे संकोच भी नही होना चाहिए। इसलिए भी यह बात आवश्यक है कि इन पंक्तियों के पाठकों को स्पष्ट हो जाये, क्योंकि अपने लब्ध-प्रतिष्ठ उपन्यास-लेखकों की अच्छी-अच्छी मानी जानेवाली कृतियों को पढ़कर भी मैं उल्लसित नही हो सका हूँ और यदि मेरी मान्यता ही गलत हो तो वे समझ लें कि इस आदमी का नसीब ही खराब है, आधुनिक युग के महार्घ धातुओं की परीक्षा करने के लिए सोना परखने की पुरानी कसौटी लिये घूम रहा है।

यथार्थवाद बुरी चीज नही है। परन्तु मुझे यह देखकर हैरानी हो रही है कि हमारे मँजे हुए लेखक भी उस व्यापक मनोभाव के शिकार बने हुए है, जो 'सेक्स-प्रोब्लेम' (यौन समस्या) का महिमामण्डित नाम धारण करके शिक्षित युवकों को उलझाने में समर्थ हुआ है। इस 'सेक्स-प्रोब्लेम' से उत्तान शृंगार-भावना का सम्बन्ध बहुत कम रह गया है। यह बहुत-कुछ कृत्रिम-घिरौंदों को तोड़कर किला फतह करने की बहादुरी का रूप धारण करता जा रहा है। इससे मनुष्य के स्वस्थ और यथार्थ जीवन का कम तथा अस्वस्थ और विकृत जीवन का अधिक सम्बन्ध है। कभी-कभी तो मैंने आश्चर्य के साथ देखा है कि मनुष्य में प्रच्छन्न रूप से विराजमान पशु ही प्रधान नियामक बना हुआ है।

यथार्थ जीवन के अंकन की आवश्यकता

कला के क्षेत्र में यथार्थवाद किसी विशेष प्रकार की प्रकाशन-भंगिमा का नाम नही है, बल्कि वह ऐसी एक मानसिक प्रवृत्ति है जो निरन्तर अवस्था के अनुकूल परि-वर्तित और रूपायित होती रहती है और इसलिए नाना प्रकार के कला-रूपों को अपनाने की अद्भुत क्षमता रखती है। यह स्वयं कारण भी है और कार्य भी है। वस्तुतः यह मनोवृत्ति उन सिद्धान्तों, मान्यताओं और भाव-प्रवण उद्देश्यों की अनु-गामिनी होती है जो अवसर के अनुकूल विविध रूपों मे अपने को प्रकाशित कर सकते हैं। मुश्किल से सौन्दर्य-निर्माण की कोई ऐसी आकांक्षा मिलेगी जो युक्ति-संगत परिणति तक ले जाने पर यथार्थवादी प्रवृत्ति के आसपास न पहुँच जाती हो। फिर उपन्यास का तो जन्म ही समाज की यथार्थ परिस्थितियों के भीतर से हुआ है। उपन्यास किसी देश की साहित्यिक विचारों की प्रगति को समझने के उत्तम साधन माने जाते हैं, क्योंकि जीवन की यथार्थताएँ ही उपन्यास को आगे बढ़ाती हैं। मनुष्य के पिछड़े हुए आचार-विचारों और बढ़ती हुई यथार्थताओं के बीच

निरन्तर उत्पन्न होती रहनेवाली खाई को पाटना ही उपन्यास का कर्तव्य है। इसीलिए उपन्यास के अध्ययन का मतलब होना चाहिए किसी जाति या समाज के बढ़ते हुए विचारों और निरन्तर उत्पन्न होती रहनेवाली जीवन की यथार्थ परिस्थितियों से सम्पर्क स्थापित करते रहने के प्रयत्नों का अध्ययन। जन्म से ही उपन्यास यथार्थ जीवन की ओर उन्मुख रहा है। पुरानी कथा-आख्यायिकाओं से वह इसी बात में भिन्न है। वे जीवन के खटकनेवाले यथार्थ के संघर्षों से बचकर स्वप्न-लोक की मादक कल्पनाओं से मानव को उलझाने, बहकाने और फुसलाने का प्रयत्न करती थी, जबकि उपन्यास जीवन की यथार्थताओं से रस खींचकर चित्त-विनोदन के साथ-ही-साथ मनुष्य की समस्याओं के सम्मुखीन होने का आह्वान लेकर साहित्य-क्षेत्र में आया था। उसके पैर ठोस धरती पर जमे हैं और यथार्थ जीवन की कठिनाइयों और संघर्षों से छनकर आनेवाला 'अव्याज-मनोहर' मानवीय रस ही उसका प्रधान आकर्षण है। जो उपन्यास इस रस से शून्य है वह अपनी मृत्यु का परवाना साथ लेकर साहित्य-क्षेत्र में आया है। वह केवल पाठक का समय नष्ट करता है और समाज की अनियन्त्रित उत्पादन-व्यवस्था पर काला प्रश्नचिह्न-मात्र है।

पोथी में पढ़े हुए वादों के आधार पर उपन्यास लिखे गये हैं, पर वे टिक नहीं सके हैं। बड़े-बड़े विदेशी उपन्यासकारों के अनुकरण पर उपन्यास लिखे गये हैं, पर ये उसी श्रेणी का प्रभाव उत्पन्न नहीं कर सके हैं। क्यों? क्योंकि उन्होंने अपने देश की यथार्थ परिस्थितियों को नहीं समझा और इसीलिए वे उस खाई की भी ठीक-ठीक जानकारी नहीं पा सके, जिसे पाटने का प्रयत्न ही उपन्यास को सच्चे अर्थों में यथार्थवादी बनाता है और जो नित्य बदलती हुई परिस्थितियों से और बढ़ते हुए ज्ञान से पिछड़ी हुई आचार-परम्परा और पुरानी मान्यताओं के व्यवधान के कारण निरन्तर नये आकार-प्रकार में प्रकट होती रहती है।

मेरे पढ़े हुए ग्यारह उपन्यासों में मुश्किल से एक या दो ऐसे हैं जिनमें इस प्रकार के प्रयत्न का आभास मिलता है। अधिकांश में, पुस्तकीय विद्या की और कल्पित-यथार्थता की गन्ध है। हिन्दी-उपन्यासों के अध्ययन का अर्थ यदि यह हो कि पाठक हिन्दी-भाषी जनता के यथार्थ के सम्मुखीन होने या उससे भागने के प्रयासों की वास्तविक जानकारी प्राप्त करे, तो मेरे ही समान हर पाठक को थोड़ी हैरानी होगी। हमारे ये उपन्यास जीवन के अत्यन्त संकीर्ण क्षेत्र में चक्कर काटते हैं। कभी-कभी तो ये विश्वविद्यालयों के छात्रावासों से अधिक विस्तृत जगत् का पता ही नहीं रखते। जो पोथियाँ हमारे लेखकों को विचारों की सामग्री दे रही हैं वे भी हमारे पुस्तकालय के बहुत ही संकीर्ण स्थानों में रखी हुई हैं। इन प्रयत्नों का यथार्थवादी होने का दावा स्वयं अपना प्रतिवाद लेकर उपस्थित होता है। खैर!

विज्ञान के प्रभावशाली रूप धारण करने के बाद क्रमशः मनुष्य की सोचने-विचारने की प्रणाली में परिवर्तन होते गये हैं। कभी भौतिक विज्ञान ने मानव बुद्धि को अभिभूत किया था, फिर जीव-विज्ञान ने उसे चकित कर दिया और

कुछ दिनों मे मनोविज्ञान का प्रभाव प्रबल होता जा रहा है। उपन्यास मे ये तीनो अभिभूतकारी तत्त्व यथासमय प्रकट हुए है। परन्तु हिन्दी-उपन्यासो में यह क्रम स्वाभाविक रूप से प्रकट नही हुआ। जिन दिनों पश्चिम मनोविज्ञान की ओर झुकने लगा था, उन दिनो हमारा उपन्यास-साहित्य आरम्भ हुआ। हिन्दी मे ज्ञान-विज्ञान पर आधारित प्रकृतिवादी सिद्धान्त कभी भी घासलेटी साहित्य की मर्यादा के ऊपर नही उठा सका, क्योकि जब साहित्य मे मनोविज्ञान की बढती हुई मर्यादा का प्रभाव पड़ा, तब प्रकृतिवादी क्रमशः मद्धिम पड़ता गया और मनोविज्ञान की गुत्थियों का प्रभाव प्रबल हो गया। उस समय खाई जीव-विज्ञान द्वारा निश्चित सिद्धान्तों द्वारा नही निश्चित होती थी।

पश्चिम का उदाहरण

हिन्दी में जब उपन्यास-साहित्य का प्रादुर्भाव हुआ, तब इस देश की वही अवस्था नही थी जो इंग्लैण्ड की, अन्य पश्चिमी देशो की थी। हिंदी का पिछला साहित्य बहुत सीमित क्षेत्रों में आवद्ध रह गया था। यथार्थ की उसमें उपेक्षा तो नही थी; किन्तु यथार्थ को मादक बनाकर प्रकट करने की प्रवृत्ति जोरो पर थी। रीति-कालीन कविता से यह मादक बनाने की प्रक्रिया उन दिनों विरासत में प्राप्त हुई थी। वह समय न तो यथार्थवाद के अनुकूल था और न प्रकृतिवादी सिद्धान्तों के। फिर भी पश्चिमी शिक्षा के प्रभाव से क्रमश. इहलौकिक और मानवतावादी दृष्टि प्रतिष्ठित होती जा रही थी। प्रथम धक्के में इस देश के उपन्यासों की दृष्टि सामाजिक कुरीतियों पर पड़ी। प्रकृतिवादी सिद्धान्तो का जोर कभी भी इस देश में बढ नही पाया, क्योकि न तो यहाँ के लोगो के विचार इसके अनुकूल पड़ते थे, और न विज्ञान का और उससे उत्पन्न युक्तिवाद का विकास ही वैसा हुआ जैसा पश्चिमी देशों में हुआ था। जिन दिनों हिन्दी के उपन्यास कुछ-कुछ प्रकृतिवादी सिद्धान्तों से प्रभावित होने लगे, उन दिनो विज्ञान बहुत आगे निकल गया था और यूरोपीय साहित्य मे प्राणि-विज्ञान की मर्यादा चढ़ाव पर नही थी। हिन्दी के प्रकृतिवादी साहित्यिक यूरोप के पिछड़े जमाने के साहित्य से प्रभावित थे। वे नवीन विचारधाराओं से अनभिज्ञ ही बने रहे। यही कारण है कि हिन्दी के प्रकृतिवादी साहित्यिक साहित्य मे कभी महत्त्वपूर्ण स्थान नही प्राप्त कर सके और घासलेटी साहित्य से उच्चतर मर्यादा भी नही प्राप्त कर सके।

साहित्य और कला के विविध क्षेत्रों में नये दर्शन (फिलासफी) द्वारा सुझाये हुए युक्ति-तर्को से प्रभावित अनुसन्धान-पद्धति का आश्रय लिया गया। परिणाम यह हुआ कि कला और साहित्य के क्षेत्र का विस्तार होता गया और ऐसी बहुत-सी बातें साहित्य में प्रवेश करने लगीं, जो पहले निषिद्ध मानी जाती थीं। ज्ञान अधिकाधिक अवितथ होने का प्रयत्न करता जा रहा था, और गणित-शास्त्र की पद्धतियों का आश्रय लेता जा रहा था। साहित्य में भी उन पद्धतियों का प्रवेश किसी-न-किसी तरह हो ही गया। इतिहास और नैतिक विज्ञान के क्षेत्र में इन

निरन्तर उत्पन्न होती रहनेवाली खाई को पाटना ही उपन्यास का कर्तव्य है। इसीलिए उपन्यास के अध्ययन का मतलब होना चाहिए किसी जाति या समाज के बढ़ते हुए विचारों और निरन्तर उत्पन्न होती रहनेवाली जीवन की यथार्थ परिस्थितियों से सम्पर्क स्थापित करते रहने के प्रयत्नों का अध्ययन। जन्म से ही उपन्यास यथार्थ जीवन की ओर उन्मुख रहा है। पुरानी कथा-आख्यायिकाओं से वह इसी बात में भिन्न है। वे जीवन के खटकनेवाले यथार्थ के संघर्षों से बचकर स्वप्न-लोक की मादक कल्पनाओं से मानव को उलझाने, बहकाने और फुसलाने का प्रयत्न करती थी, जबकि उपन्यास जीवन की-यथार्थताओ से रस खीचकर चित्त-विनोदन के साथ-ही-साथ मनुष्य की समस्याओं के सम्मुखीन होने का आह्वान लेकर साहित्य-क्षेत्र में आया था। उसके पैर ठोस धरती पर जमे हैं और यथार्थ जीवन की कठिनाइयों और संघर्षों से छनकर आनेवाला 'अव्याज़-मनोहर' मानवीय रस ही उसका प्रधान आकर्षण है। जो उपन्यास इस रस से शून्य है वह अपनी मृत्यु का परवाना साथ लेकर साहित्य-क्षेत्र में आया है। वह केवल पाठक का समय नष्ट करता है और समाज की अनियन्त्रित उत्पादन-व्यवस्था पर काला प्रश्नचिह्न-मात्र है।

पोथी में पढ़े हुए वादों के आधार पर उपन्यास लिखे गये है, पर वे टिक नही सके है। बड़े-बड़े विदेशी उपन्यासकारों के अनुकरण पर उपन्यास लिखे गये हैं, पर ये उसी श्रेणी का प्रभाव उत्पन्न नही कर सके है। क्यो ? क्योंकि उन्होने अपने देश की यथार्थ परिस्थितियों को नही समझा और इसीलिए वे उस खाई की भी ठीक-ठीक जानकारी नही पा सके, जिसे पाटने का प्रयत्न ही उपन्यास को सच्चे अर्थों मे यथार्थवादी बनाता है और जो नित्य बदलती हुई परिस्थितियों से और बढते हुए ज्ञान से पिछड़ी हुई आचार-परम्परा और पुरानी मान्यताओं के व्यवधान के कारण निरन्तर नये आकार-प्रकार में प्रकट होती रहती है।

मेरे पढे हुए ग्यारह उपन्यासों मे मुश्किल से एक या दो ऐसे हैं जिनमे इस प्रकार के प्रयत्न का आभास मिलता है। अधिकांश में पुस्तकीय विद्या की ओर कल्पित-यथार्थता की गन्ध है। हिन्दी-उपन्यासों के अध्ययन का अर्थ यदि यह हो कि पाठक हिन्दी-भाषी जनता के यथार्थ के सम्मुखीन होने या उसमे भागने के प्रयासो की वास्तविक जानकारी प्राप्त करे, तो मेरे ही समान हर पाठक को थोडी हैरानी होगी। हमारे ये उपन्यास जीवन के अत्यन्त संकीर्ण क्षेत्र में चक्कर काटते हैं। कभी-कभी तो ये विश्वविद्यालयों के छात्रावासों से अधिक विस्तृत जगत् का पता ही नहीं रखते। जो पोथियाँ हमारे लेखकों को विचारो की सामग्री दे रही हैं वे भी हमारे पुस्तकालय के बहुत ही संकीर्ण स्थानों में रखी हुई हैं। इन प्रयत्नों का यथार्थवादी होने का दावा स्वयं अपना प्रतिवाद लेकर उपस्थित होता है। खैर!

विज्ञान के प्रभावशाली रूप धारण करने के बाद क्रमशः मनुष्य की सोचने-विचारने की प्रणाली में परिवर्तन होते गये हैं। कभी भौतिक विज्ञान ने मानव बुद्धि को अभिभूत किया था, फिर जीव-विज्ञान ने उसे चकित कर दिया और

कुछ दिनों से मनोविज्ञान का प्रभाव प्रबल होता जा रहा है। उपन्यास में ये तीनों अभिभूतकारी तत्त्व यथासमय प्रकट हुए हैं। परन्तु हिन्दी-उपन्यासों में यह क्रम स्वाभाविक रूप से प्रकट नहीं हुआ। जिन दिनों पश्चिम मनोविज्ञान की ओर झुकने लगा था, उन दिनों हमारा उपन्यास-साहित्य आरम्भ हुआ। हिन्दी में ज्ञान-विज्ञान पर आधारित प्रकृतिवादी सिद्धान्त कभी भी घासलेटी साहित्य की मर्यादा के ऊपर नहीं उठा सका, क्योंकि जब साहित्य में मनोविज्ञान की बढ़ती हुई मर्यादा का प्रभाव पड़ा, तब प्रकृतिवादी क्रमशः मद्धिम पड़ता गया और मनोविज्ञान की गुत्थियों का प्रभाव प्रबल हो गया। उस समय सांई जीव-विज्ञान द्वारा निश्चित सिद्धान्तों द्वारा नहीं निश्चित होती थी।

पश्चिम का उदाहरण

हिन्दी में जब उपन्यास-साहित्य का प्रादुर्भाव हुआ, तब इस देश की वही अवस्था नहीं थी जो इंग्लैण्ड की, अन्य पश्चिमी देशों की थी। हिन्दी का पिछला साहित्य बहुत सीमित क्षेत्रों में आबद्ध रह गया था। यथार्थ की उसमें उपेक्षा तो नहीं थी; किन्तु यथार्थ को मादक बनाकर प्रकट करने की प्रवृत्ति जोरों पर थी। रीति-कालीन कविता से यह मादक बनाने की प्रक्रिया उन दिनों विरासत में प्राप्त हुई थी। वह समय न तो यथार्थवाद के अनुकूल था और न प्रकृतिवादी सिद्धान्तों के। फिर भी पश्चिमी शिक्षा के प्रभाव से क्रमशः इहलौकिक और मानवतावादी दृष्टि प्रतिष्ठित होती जा रही थी। प्रथम धक्के में इस देश के उपन्यासों की दृष्टि सामाजिक कुरीतियों पर पड़ी। प्रकृतिवादी सिद्धान्तों का जोर कभी भी इस देश में बढ़ नहीं पाया, क्योंकि न तो यहाँ के लोगों के विचार इसके अनुकूल पड़ते थे, और न विज्ञान का और उससे उत्पन्न युक्तिवाद का विकास ही वैसा हुआ जैसा पश्चिमी देशों में हुआ था। जिन दिनों हिन्दी के उपन्यास कुछ-कुछ प्रकृतिवादी सिद्धान्तों से प्रभावित होने लगे, उन दिनों विज्ञान बहुत आगे निकल गया था और यूरोपीय साहित्य में प्राणि-विज्ञान की मर्यादा चढ़ाव पर नहीं थी। हिन्दी के प्रकृति-वादी साहित्यिक यूरोप के पिछड़े जमाने के साहित्य से प्रभावित थे। वे नवीन विचारधाराओं से अनभिज्ञ ही बने रहे। यही कारण है कि हिन्दी के प्रकृतिवादी साहित्यिक साहित्य में कभी महत्त्वपूर्ण स्थान नहीं प्राप्त कर सके और घासलेटी साहित्य से उच्चतर मर्यादा भी नहीं प्राप्त कर सके।

साहित्य और कला के विविध क्षेत्रों में नये दर्शन (फिलासफी) द्वारा सुझाये हुए युक्ति-तर्कों से प्रभावित अनुसन्धान-पद्धति का आश्रय लिया गया। परिणाम यह हुआ कि कला और साहित्य के क्षेत्र का विस्तार होता गया और ऐसी बहुत-सी बातें साहित्य में प्रवेश करने लगीं, जो पहले निषिद्ध मानी जाती थीं। ज्ञान अधिकाधिक अवितथ होने का प्रयत्न करता जा रहा था, और गणित-शास्त्र की पद्धतियों का आश्रय लेता जा रहा था। साहित्य में भी उन पद्धतियों का प्रवेश किसी-न-किसी तरह हो ही गया। इतिहास और नैतिक विज्ञान के क्षेत्र में इन

गाणतिक पद्धतियों का प्रयोग होने लगा और उनकी देखादेखी उपन्यास-साहित्य मे दलील और सनद उपस्थित करनेवाली मनोवृत्ति क्रमशः शक्तिशाली होती गयी।

यही साम्प्रदायिक यथार्थवादी की ओर जानेवाली मनोवृत्ति है। ऐसा यथार्थ-वादी साहित्यकार बाहरी दलीलों और सनदों का इस प्रकार प्रयोग करता है जिससे पाठक के ऊपर यह प्रभाव पड़े कि वह यथार्थ जीवन में घटनेवाली सच्ची बात कह रहा है। परम्परा-प्रथित धार्मिक, आध्यात्मिक और नैतिक विश्वासों के कारण मानव-जीवन के जो तत्त्व साहित्य मे जुगुप्सित, निषिद्ध और अमंगलकारी माने जाते थे उनका साहित्य में धीरे-धीरे प्रवेश होने लगा और यथार्थवाद के उस रूप का प्रचलन हुआ, जो मनुष्य की बाह्य प्रकृति को प्रधानता देनेवाले विज्ञान से—विशेषकर प्राणि-विज्ञान से—प्रभावित था।

इस प्रकार उस समय प्रकृतिवादी सिद्धान्त साहित्य मे गृहीत हुआ। वस्तुतः प्रकृतिवादी सिद्धान्त जो मनुष्य की शारीरिक भूख के विविध रूपों पर ही आश्रित है, प्राणि-विज्ञान की बढ़ती हुई मर्यादा के साथ ही बढ़ा है और घटती हुई मर्यादा के साथ घटा है।

उपन्यास-लेखक कभी भी वर्त्तमान प्रगति से पिछड़ा रहकर सफल नही हो सकता। हिन्दी के घासलेटी उपन्यासकार इस तथ्य के प्रबल प्रमाण हैं।

व्यवधान को पाटिए

कहा जाता है कि इंग्लैण्ड मे भी प्रकृतिवाद उस प्रकार का महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त नही कर सका, जैसा कि उसने फ्रांस मे किया था। इंग्लैण्ड की जनता अधिक रक्षण-शील (कंजर्वेटिव) थी, और वह मानव-शरीर की उच्छृंखल बुभुक्षा को सहज ही नही बरदाश्त कर सकती थी। यही कारण है कि उन्नीसवी शताब्दी के अन्तिम भाग तक इंग्लैण्ड के साहित्य में यथार्थवादी उपन्यासकार तो हुए, किन्तु उल्लेख-योग्य प्रकृतिवादी उपन्यासकार नही हुए। भारतवर्ष में तो उनके प्रधान होने की नौबत कभी आयी ही नही। उन्नीसवी शताब्दी के यथार्थवादी उपन्यासकारो की भी कई श्रेणियाँ हैं। थैकरे, रीड, जार्ज इलियट, जेन ऑस्टिन आदि उपन्यासकारो की रचनाएँ इस देश के उपन्यासकार बराबर पढ़ते रहे और उनकी रचनाओ से प्रेरणा पाते रहे। इसलिए हमारे देश के उपन्यासों में यथार्थवादी झुकाव तो पाया जाता है, किन्तु यथार्थवाद का जो वास्तविक मर्म है—अर्थात् आगे बढ़े हुए ज्ञान और पीछे के आदर्शों से चिपटी हुई आचार-परम्परा, इन दोनों के व्यवधान को पाटते रहने का निरन्तर प्रयत्न—वह कम उपन्यासकारों के पल्ले पड़ा। आगे बढ़ा हुआ ज्ञान तो सारे संसार के लिए एक होता है, किन्तु पीछे के आदर्शों से चिपटी हुई आचार-परम्परा विभिन्न देशों-समाजो में भिन्न-भिन्न होती है; इसीलिए यथार्थवादी लेखक के सामने व्यवधान की मात्रा देश-विशेष और समाज-विशेष के अनुसार बदलती रहती है और उसी के अनुपात में उसके प्रयत्नों में तारतम्य आता

है। दुर्भाग्यवश अपने देश के कम लेखकों ने इस व्यवधान के स्वरूप को समझने का प्रयास किया है।

इस दृष्टि से देखा जाये तो हमारे नये उपन्यासकार सच्चे अर्थों मे यथार्थवादी नहीं हैं। वे यथार्थवाद को उसके वास्तविक अर्थ में नहीं ग्रहण कर सके है, परन्तु उन पर यथार्थवाद का आतंक अवश्य है। वे कोई अविस्मरणीय चरित्र नही पैदा कर सकते और जिन सिद्धान्तो के प्रचार के उद्देश्य से उपन्यास लिखे जाते हैं, उनकी अमिट छाप भी नहीं छोड़ पाते। इसीलिए मुझे इन उपन्यासों को पढ़कर कोई उल्लास नही हुआ है। आज भी प्रेमचन्द हमें जहाँ छोड़ गये थे, वहाँ से आगे हम नही बढ़ पाये। मुझे निराशा हुई है, परन्तु मुझे यह विश्वास भी हुआ है कि हमारा महान् उपन्यासकार अब अवश्य उत्पन्न होगा। क्षेत्र तो प्रस्तुत हो ही रहा है। आशा करनी चाहिए कि शीघ्र ही वह औपन्यासिक हिन्दी-जगत् में अवतीर्ण होगा, जो जीवन के व्यापक अनुभवों के भीतर से 'अव्याज-मनोहर' मानवीय रस को खीच लायेगा।

कविता का भविष्य

काशी के हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के अवसर पर कवि-सम्मेलन हुआ था। उसकी बैठक एकाधिक दिन तक चलती रही। एक बैठक में उपस्थित होने का अवसर मुझे भी मिला था। मैं श्रोताओ मे बैठा था और उनकी मुखाकृति देख रहा था। कवियो मे ऐसे सज्जन बहुत ही कम मंच पर आये जिनका नाम प्रतिमास छापे के अक्षरो में उठा करता है। अधिकाश कवि श्रोताओं के लिए मजाक के पात्र थे और अधिकांश श्रोता इसीलिए सभा मे आये हुए जान पड़ते थे कि ज़रा उनका दिल बहल जायेगा और ज़रा मजा आ जायेगा। जो साहित्यिक श्रोता वहाँ उपस्थित थे वे निराश थे और एकाध तो अन्य साहित्यिको को देखकर इस प्रकार शरमाकर कैफियत देने लगते थे, मानो किसी लज्जाजनक जगह पर अचानक पकड़े गये हो! संक्षेप में कवि-सम्मेलन उत्साह, मजाक, मौज, निराशा और लज्जा का मिलाजुला रूप था। मैं नौ वर्ष से हिन्दी-क्षेत्र से बाहर रहता हूँ और अपने साहित्य की स्तुति गाने का व्यवसाय करता हूँ। मैं इस व्यवसाय के कारण भूल गया था कि हिन्दी-कविता का एक बहुत बड़ा जीवित रूप वर्तमान है, जो आधुनिक युग में मध्ययुग का साहित्यिक भग्नावशेष कहा जा सकता है। मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई कि मेरा भ्रम दूर हो गया। मैं निराश बिल्कुल नही हुआ। मुझे वास्तविक हिन्दी-भाषा की

शक्ति और प्रकृति का प्रत्यक्ष साक्षात्कार हुआ। इस गद्य-युग में भी इस भाषा के पेट में कितने कवि पड़े हुए हैं! एक आशु-कवि भी आ जुटे थे। भले आदमी ने ललकारकर कहा कि 'जिस विषय पर कहो कविता बना देता हूँ।' सदस्यों ने विषय भी दिये। पुराने युग में एक ऐसा ही आशु-'शास्त्रार्थ-कवि' कश्मीर में पहुँचा था। वाद के लिए बैठे हुए दरबारी पण्डित गद्य में जवाब दे रहे थे और वह पण्डित पद्य में। गद्यवाले को ही लड़खड़ाना पड़ा। आशुकवि ने कहा, 'मेरे अनवद्य पद्यों के सामने आप गद्य में भी जो लड़खड़ा रहे हैं, सो जान पड़ता है, आपने तारादेवी की आराधना नहीं की':

> अनवद्ये यदि पद्ये गद्ये शैथिल्यमावहसि—
>
> तत्किं त्रिभुवनसारा तारा नाराधिता भवता ?

विडम्बना देखिए कि काशीवाले कवि को देखकर श्रोता मन-ही-मन—अनजान में गुनगुना रहे थे—अनवद्य गद्य के होते हुए भी आप जो पद्य में ज़रा भी शैथिल्य नहीं आने देते तो क्या आपने गद्याकारा वाक्यधारा की आराधना नहीं की ?

> अनवद्ये यदि गद्ये पद्येऽशैथिल्यमावहसि—
>
> तत्किं गद्याकारा धारा नाराधिता भवता ?

जमाना ऐसा आ गया है कि कल तक जो बात सोलह आने निर्विवाद समझी जाती थी वह भी आज सन्देह का विषय बन गयी है। हम मानें या न मानें, काल-प्रवाह हमें ज़बर्दस्ती एक विशेष दिशा की ओर ठेले लिये जा रहा है। मुँह फेर या आँख मूँदकर बैठ रहने से वह धारा रुकेगी नहीं। कवि-सम्मेलन के कवि यह बात जानते तो उसका रूप कुछ और होता।

लेकिन आज भी शायद निर्विवाद बात यह है कि कविता का क्षेत्र संकुचित हो गया है, परन्तु कवि का महत्त्व बढ़ गया है। इस शताब्दी के आरम्भ तक लोकप्रिय साहित्य के क्षेत्र में कवि का प्रतिद्वन्द्वी कोई नहीं था। भारतवर्ष के हज़ारों वर्ष के इतिहास में कविता-जैसा लोकप्रिय साहित्य कुछ भी नहीं था। वैद्यक और ज्योतिष के आचार्य भी इसके शरणापन्न होते थे, बीजगणित और अंकगणित के ग्रन्थ भी कविता की ही शैली में और उसी के फैशन में लिखे जाते थे। भगवान् के भजन से लेकर सूम की छीछालेदर तक सभी विषय कविता के प्रतिपाद्य थे। अलख जगानेवालों से लेकर कोकशास्त्री तक कविता के माध्यम का व्यवहार करते थे। नाटक मे कविता का बोलबाला होता था, संगीत मे कविता मुखरित होती थी, विवाह और श्राद्ध मे कविता पढ़ी जाती थी, और जीवन का ऐसा कोई भी अंग नहीं था जहाँ उसका कुछ-न-कुछ उपयोग और उपभोग न होता हो। और जैसा कि मम्मटाचार्य ने कहा है, काव्य यश के लिए, [illegible] न के लिए, कल्याण-प्राप्ति के लिए, मोक्ष के [illegible] कान्[illegible] लिए, अर्थात् जीवन की प्रायः समस्त आव[illegible] फिर भी अद्भुत विरोधाभास यह है [illegible]

ग्रहण करते थे, तो भी सभी लोग कवि नही माने जाते थे। राजशेखर ने काव्य की उत्पत्ति के दो कारण बताये है—समाधि अर्थात् मानसिक एकाग्रता और अभ्यास या परिशीलन। इन दोनो के योग का नाम शक्ति है। परन्तु शक्ति ही एकमात्र काव्य का कारण नही है। लोक-निरीक्षण, काव्य-निरीक्षण, शास्त्राभ्यास और काव्य-शिक्षा भी नितान्त आवश्यक है। दण्डी यहाँ तक कहते है कि प्रतिभा न भी हो तो भी आदमी शास्त्राभ्यास के द्वारा कवि हो सकता है। स्पष्ट ही भारतीय समीक्षकों ने काव्य-शास्त्र के अभ्यास को बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है। यह विचार कि बिना शास्त्र पढे लोग भी प्रतिभा के बल पर कवि हो सकते हैं, संस्कृत के आलंकारिकों को एकदम मान्य नहीं था।

किन्तु अब मशीनों के उत्पात ने दुनिया बदल दी है। कवि-सम्मेलन के अखाड़े-बाज कवि ऐसी बहुत-सी बातें अब भी कविता के माध्यम से बोलते जा रहे है जिनमे से बहुत-सी किसानसभा या हिन्दूसभा के मंच पर गद्य में बोली जा सकती थी; कुछ काग्रेसवादी अखबारों की सम्पादकीय टिप्पणियों मे अधिक सफलतापूर्वक कही जा सकती थी; कुछ मसखरे अखबारों को अच्छी सामग्री दे सकती थी; कुछ कहानी के रूप मे लिखने पर ज्यादा पुर-असर हो सकती थी; और, कुछ का उपयोग निश्चयपूर्वक फेरीवालों की बिक्री बढाने में किया जा सकता था। छापे की कल ने कविता के व्यापक क्षेत्र को कई हिस्सो मे बाँट दिया है। कहानियो ने बहुत हिस्सा पाया है। उपन्यासों ने बहुत-कुछ हथिया लिया है, निबन्धों ने भी कम नही पाया है। समाचार-पत्रों ने—और विशेष रूप से मासिक पत्रो ने—कवि-सम्मेलनों की कमर तोड़ दी है। कविता कान का विषय न होकर आँख का विषय हो गयी है। सुनना अब उतना महत्त्व नही रखता, पढ़ना अधिक महत्त्वपूर्ण हो गया है और इन्द्रिय-परिवर्तन के साथ-ही-साथ कविता के आस्वाद्य वस्तु मे भी परिवर्त्तन हुआ है। कविता अब भावावेग का विषय न होकर बुद्धि का विषय हो गयी है। कवि के मुख से कविता सुनते समय हम उसकी पठनभंगी पर ज्यादा ध्यान देते हैं, उसके काकु को—या जैसा कि राजशेखर ने इस शब्द की व्याख्या की है, 'अभिप्रायवान्' पाठधर्म को—अधिक महत्त्व देते है। पर छापे के अक्षर में छपी हुई कविता को पढते समय न हमारे सामने कवि का कण्ठ होता है और न काकु या अभिप्रायवान् पाठ-धर्म। उस समय केवल कविता के विचार हमारे सामने होते है। इस प्रकार हम चाहें या न चाहें, कविता का अर्थ हमारे लिए निश्चित रूप से विचार्य हो उठता है। हम अनजान में बुद्धिवृत्तिक हो जाते है। छापे की कल ने हमे भावावेश पर से धकियाकर बुद्धि-प्रवाह मे फेंक दिया है।

इस कथन का अर्थ बहुत बड़ा है। हमारे निकट अब कवि यश, अर्थ या व्यवहार से कमाने की मशीन नही है; 'कान्तासम्मित' उपदेश की भी हम उससे उम्मीद नही रखते, कहानियो ने जबर्दस्ती कविता से यह विभाग छीन लिया है। हम उससे कुछ अधिक की उम्मीद रखने लगे हैं। वह उम्मीद क्या है? जीवन की व्याख्या? बताया गया है कि यही कवि का परमधर्म है। परन्तु फिर उपन्यास-

लेखक और नाटककार और चिन्ताशील निबन्ध-लेखक—और सबके ऊपर ऐतिहासिक क्या करते है ? जीवन की व्याख्या क्या कवि की मौरूसी सम्पत्ति है ? इतिहास यदि मानव-जीवन का प्रवाह नही तो और क्या है ? ईंट-पत्थरों के इतिहास में अब भी कोई विश्वास करता है, यह बात कुछ अद्भुत सुनायी देती है। और, मोक्ष की चिन्ता तो आज के युग में शायद ही किसी चिन्ताशील पाठक को हो। फिर कवि से हम क्या आशा करने लगे हैं ?

सवाल का जवाब खोजने के पहले हमें यह साफ समझ लेना चाहिए कि कविता हम आजकल समझते किसे हैं। मासिक पत्रिकाओं के सम्पादक खाली पड़े स्थान को भरने के लिए प्रतिमास जो असंख्य कविताएँ छापते जा रहे हैं (छापे का यन्त्र यहाँ भी कविता के क्षेत्र में दखल दे रहा है), क्या हम उन सबको कविता मानते हैं ? निश्चय ही नही। किसानों और मजदूरो के दुःख से सभा-भवन को गुजारित करनेवाली रचनाओं में सबको हम कविता मानते हैं ?—सन्दिग्ध विषय है। प्रेयसी के अंचल मे मुँह छिपाकर सिसकी भरनेवाले कवियों की रचना हमे पसन्द है—थोड़ी-सी। जो कविताएं हमारे दिल को नरम कर दें, हमे सोचने को मजबूर करें, समझने की आँख दें, उन्हें हम कविता मानते हैं—जरूर। वस्तुतः अनादिकाल से अब तक कवि ने जो सबसे बड़ा कार्य किया है, जिसे कोई शास्त्रकार नही कर सका, जिसे कोई तत्त्ववेत्ता नहीं सुलझा सका, वह कार्य हृदय को मुलायम बनाना है, संवेदनशील बनाना है, दूसरे के सुख-दुःख के अनुभव की योग्यता ला देना है। कवि ने यह कार्य नाना भाव से किया है। मध्ययुग के कवि, जो अपनी मनोवृत्ति के कारण हर राह चलते समालोचक के वाक्यबाणों के निशाना बने हैं, केवल इस एक कारण से कवि की गद्दी के अधिकारी बने रह सकते हैं कि उन्होंने अपने श्रोताओं को संवेदना दी है, उनका हृदय मुलायम बनाया है। उन कविताओ के अभाव में आदर्श-भ्रष्ट मानवता कितनी बर्बर हो उठती, यह केवल अनुमान का विषय है। हम कवि से यही आशा रखते है कि वह हमारे दिल को मुलायम बना दे। हम उससे यह आशा हरगिज नही रखते कि वह हमें वेदान्तवाद समझा दे या समाजवाद के तत्त्व रटा दे या राणा प्रताप के घोड़े के खुरों से उड़ी हुई धूलिराशि का खाका खींच दे। इन बातों को हम अन्यत्र पा सकते हैं।

और भी स्पष्ट रूप से इस प्रकार कह सकते हैं। पिछले खेवे के आलंकारिक आचार्यों ने काव्य की जिस ध्वनि-प्राणता का इतना प्रचार किया था वह चाहे जितना बड़ा भी सिद्धान्त क्यो न रहा हो, आज के काव्य का उपयुक्त आदर्श नही हो सकता। इसलिए नही कि आज के युग में वह खोखला हो गया है, या उसमें कोई शाश्वत सत्य नही रहा, बल्कि इसलिए कि कविता का विषय ही बदल गया है। पहले काव्य सुनाने के लिए और झूम-झूमकर पढ़ने के लिए लिखे जाते थे, इसीलिए कवि को ऐसे वचन-विन्यास की आयोजना करनी पड़ती थी जो सुननेवालों को शीघ्र ही और आसानी से व्यंग्य-अर्थ की ओर प्रवृत्त करे। उसे शब्द और अर्थ में एक प्रकार की वक्रता का आश्रय लेना पड़ता था, जिससे पाठक आसानी से

वक्तव्य की ओर उत्सुक हो सके। यह पाठक को एक प्रकार की घूस दी जाती थी। शब्दों और अर्थों के अलंकार इसीलिए काव्य में प्रधान स्थान अधिकृत करते थे। इसीलिए इनको जाने बिना न तो कोई कवि ही हो सकता था और न भावुक ही। इसीलिए संस्कृत के आलंकारिक शास्त्राभ्यास को इतना महत्त्व देते थे। आज शब्दालंकार और अर्थालंकार उपदेशकों के काम की चीज हो गये हैं। इनके बल पर आज कवि-सम्मेलन में नहीं, व्यवस्थापिका-सभा में प्रधानता प्राप्त की जा सकती है। ध्वनि-सम्प्रदाय आज भी अपने समस्त अंग-प्रत्यंग के साथ उपयोगी है, पर उसका अधिकांश कविता से बाहर चला गया है। वस्तु से वस्तु या अलंकार, और अलंकार से वस्तु या अलंकार, आज कविता के विषय नहीं रहे। ये सुननेवालों को ज्यादा आकृष्ट करते हैं। परन्तु ध्वनि का सर्वोत्तम अंग 'रस' अब भी काव्य का विषय है। इस रस की अनुभूति को तीव्र करने के लिए ही जो अलंकार प्रयुक्त होंगे वे काव्य में चल सकेंगे। वे नहीं, जो अन्य अलंकार को या अन्य वस्तु को ध्वनित करें। यह स्मरण रखने की बात है कि 'रस-सिद्धान्त' का मूल उद्भव स्थान नाटक है, काव्य नहीं। काव्य में इसकी आमदनी बाद में हुई है। जिन अनुभाव, विभाव, संचारी आदि भावों के संयोग से इसकी निष्पत्ति होती है वे नाटक में ही होते हैं। इसके सभी बड़े-बड़े व्याख्याकार—लोल्लट, शंकुक, भट्टनायक और अभिनवगुप्त—नाट्यशास्त्र के व्याख्याता थे। काव्य के आलोचकों ने रस की अपेक्षा अलंकारों की ही विवेचना अधिक की थी। कारण स्पष्ट है। काव्य सुनाने के लिए लिखे जाते थे, वे कानों के विषय होते थे, इसलिए उनमें अलंकारों की ही प्रधानता होती थी। सभा में काव्य का पाठ बहुत ही महत्त्वपूर्ण माना जाता था। राजशेखर ने लिखा है कि काव्य करते तो वैसे बहुत लोग हैं, पर पढ़ने का ढंग वही जानता है जिस पर सरस्वती की कृपा होती है। यह अनेक जगह [illegible] नाटक दृष्टि और श्रवण दोनों का विषय है; उसमें श्रोता [illegible] नहीं रहता, प्रत्यक्ष अनुभव-जैसा करता रहता है। [illegible] हो सकता है। महाकाव्यों में ऐसा सम्भव है, [illegible] कार्यों को देखता रहता है। वह विभाव-अनुभाव [illegible] रहता है। यह विचारपूर्वक देखने की बात है कि [illegible] को विकृत करनेवाले दण्डी और भामह [illegible]

केवल बुद्धि द्वारा समझने का प्रयत्न करते रहते हैं। इसीलिए केवल 'रस' का आदर्श भी आज के कवि और भावक को सन्तुष्ट नही कर सकता। केवल 'रस' के आदर्श को स्वीकार करने से हम ऐसी बहुतेरी कविताओं को त्यागने को वाध्य होंगे जो हमारे हृदय को नर्म बना रही है, हमें सोचने को मजबूर कर रही है और हमे समझने की आँखें दे रही हैं—अर्थात् मन-ही-मन जिन्हें हम कविता समझ रहे हैं। हमारे कवि-सम्मेलन के कवि इस बात का खयाल रखें तो अच्छा हो।

तो क्या कविता केवल देखने और समझने की चीज रह गयी है? पढ़ने और अनुभव करने की नही? क्या पूर्ववर्ती आलोचना का यही अर्थ है? निश्चय ही नही। पूर्ववर्ती आलोचना मे केवल इस बात को स्पष्ट करने की कोशिश की गयी है कि (1) छापे की मशीन ने कविता को मन-ही-मन पढ़ने की चीज बना दिया है, (2) उसमें की आलंकारिकता का आकर्षण शिथिल कर दिया है, और (3) सहृदय को श्रोता की अपेक्षा द्रष्टा अधिक बना दिया है। सहृदय की रुचि बदल गयी है। वह कवि-सम्मेलनों के मूसीफोर कवियों को तमाशबीन की दृष्टि से देखता है, कवित्व के प्रति उसके हृदय मे जो सम्मान है उसकी दृष्टि से नही। सम्मान वह छपी कविता को पढते समय देता है। इसका अर्थ यह बिलकुल ही नही कि कविता अब पढी नही जायगी या जो लोग कविता को सुन्दर ढंग से पढ सकते हैं, वे अब यह कार्य छोड़ दें। ऐसे शक्तिशाली लोगों को जरूर कविता पढकर श्रोताओं का मनोरंजन करना चाहिए। वस्तुतः ये ही लोग कवि-सम्मेलनो में 'हीरो' हो सकते हैं। परन्तु उन्हे साफ-साफ समझ लेना चाहिए कि उनका कार्य कवित्व करना नहीं है। वे कवि नही, कविता के आवृत्तिकारी हैं। हमारे कवि-सम्मेलनों की समस्या यही है कि पाठक और कवि मे कोई भेद नही किया जा सकता। जो वस्तुतः कवि हैं वे अच्छे आवृत्तिकारी भी हों, यह सदा सम्भव नही हो सकता। साथ ही, यह भी स्पष्ट रूप से साफ हो जाना चाहिए कि कविता और संगीत दोनों अलग चीजें हैं। आज के युग मे कविता के आवृत्तिकारी को जो बात सबसे अधिक ध्यान मे रखनी निहायत आवश्यक है वह कविता को सुर देना नही, बल्कि उसमें उपयुक्त 'काकु' का देना है ताकि काव्यार्थ पाठक को अधिक-से-अधिक बुद्धिग्राह्य हो सके। यहाँ भी छापे की मशीन ने काव्यास्वादन में दखल दिया है। अगर आवृत्तिकारी छापे की मशीन को परास्त करने की क्षमता न रखता हो, तो उसे प्रयत्न नही करना चाहिए।

गान मे जो स्थान सुर को प्राप्त है, काव्य मे वही स्थान झंकार को प्राप्त है। पद्य के निश्चित बन्धनों को बार-बार दुहराने से पद और वाक्य में एक प्रकार की विशेष झंकार पैदा होती है, जो श्रोता के भावावेग को अधिक गतिशील बनाती है और शब्द और अर्थ से अतीत तत्त्व को सहज ही श्रोत-गम्य बना देती है। मामूली राजनैतिक वक्ता भी जब मंच पर भावाविष्ट होकर बोलने लगता है तब अपने गद्य मे भी एक विशेष प्रकार का जोर देकर, एक विशेष की प्रकार यति देकर बोलना है। ऐसे स्थान पर वह काव्य के प्रधान हथियार का सहारा लेता है। सहृदय पाठक

छपे हुए काव्य को पढ़ते समय मन-ही-मन इसी प्रकार का जोर देता रहता है और इसी प्रकार अपने-आपके लिए भावावेश की अवस्था का निर्माण करता रहता है। छापे में विविध विराम-चिह्न उसकी सहायता करते हैं। वह कवि की बतायी हुई कुंजी पाता है। विराम-चिह्न कवि द्वारा बतायी हुई वह कुंजी है जो पाठक को कवि के ढंग पर ही पढ़ने का नियम बताती है। आवृत्तिकारी जब कविता-पाठ करता होता है तब सहृदय पाठक चुपचाप उसकी परीक्षा लेता रहता है। यदि छापे के विराम-चिह्नों ने उसको भावाविष्ट बनाने मे जितनी सहायता की है उतनी सहायता आवृत्तिकारी का पाठ नही करता या गलत ढंग से उसे गुमराह करता है, तो सहृदय की दृष्टि में फिर वह तमाशा हो जाता है। मशीन ने जीवित मनुष्य के साथ कितनी बड़ी प्रतिद्वन्द्विता खड़ी कर रखी है!

यह बात, फिर, एक बड़े भारी परिवर्तन की ओर इशारा कर रही है, जिससे कविता के भविष्य पर बड़ा सुन्दर प्रकाश पड़ता है। कवि और पाठक, दोनों छापे-खाने की मशीन को अपना अच्छा सहायक समझने लगे है।

जब तक दुनिया में छापे की मशीन नही थी तब तक मुक्त-छन्द भी नही थे। भारतवर्ष मे गद्य-काव्य था, गद्य को कवियों की निकषा भी कहा जाता था, पर मुक्त-छन्द और गद्य-काव्य निश्चित ही एक वस्तु नही है। समस्त संसार में मुक्त-छन्द के प्रचार का कारण मशीनें है। जब तक इनका आविर्भाव नही हुआ था तब तक यदि किसी के मन मे भूले-भटके इस प्रकार के मुक्त-छन्द की रचना का कोई संकल्प भी रहा हो तो वह उसके साथ ही लोप हो गया। उचित विराम-चिह्नो के के साथ, उचित पंक्तिभंग देकर, जब तक छापने की सुविधा न हो तब तक यह समझना मुश्किल ही रहेगा कि कवि किस बात पर जोर देना चाहता है। छापे की *सुविधा के साथ मुक्त-छन्द का प्रचार सभी देशो मे बढ़ा है। परन्तु अभी उस दिन* तक मुक्त-छन्दों को प्राचीन पद्यशैली की सुकुमारता से अलग नही किया जा सका था। कवि यद्यपि गद्य लिखता था, फिर भी एक खास झंकार के साथ। दिनेश-नन्दिनीजी ने जो गद्य-काव्य लिखे है उनमे वही सुकुमारता वर्तमान है। वे पद्य-काव्य से केवल इतनी ही बात मे भिन्न है कि उनमें नियमित वर्णो या मात्राओं की पुनरावृत्ति नही है। भावों का 'ससज्ज और सलज्ज' अवगुण्ठन ज्यो-का-त्यो है। और, इसमें कोई सन्देह नही कि इन कविताओं को *पढ़ते समय पाठक निश्चय ही* कवि-वांछित भावावेश की अवस्था में पहुँच जाता है। हाल ही मे इस अवगुण्ठन को हटा देने का भी प्रयास किया गया है; क्योंकि जैसा कि पहले बताया गया है, कविता अब नेत्रों का और उसके जरिये बुद्धि का विषय बन गयी है। वह उस रसात्मकता को आदर्श नही मानती जो 'मरहट्टवधू' के अंग की भाँति वायुविकम्पित अंचल से कुछ-कुछ ढँकी हुई और कुछ-कुछ खुली हुई हो! इसीलिए हाल ही मे रवीन्द्रनाथ ने जब गद्यछन्द मे प्रयोग शुरू *किया, तब उन्होंने लिखा था :* "गद्य-छन्द में अति निरूपित छन्द का बन्धन तोड़ना ही पर्याप्त नही है, पद्यकाव्य की भाषा और प्रकाशरीति मे जो ससज्ज और सलज्ज अवगुण्ठन की प्रथा है उसे भी जब

केवल बुद्धि द्वारा समझने का प्रयत्न करते रहते है। इसीलिए केवल 'रस' का आदर्श भी आज के कवि और भावक को सन्तुष्ट नही कर सकता। केवल 'रस' के आदर्श को स्वीकार करने से हम ऐसी बहुतेरी कविताओं को त्यागने को बाध्य होगे जो हमारे हृदय को नर्म बना रही हैं, हमे सोचने को मजबूर कर रही हैं और हमे समझने की आँखें दे रही हैं—अर्थात् मन-ही-मन जिन्हें हम कविता समझ रहे हैं। हमारे कवि-सम्मेलन के कवि इस बात का खयाल रखें तो अच्छा हो।

तो क्या कविता केवल देखने और समझने की चीज रह गयी है ? पढ़ने और अनुभव करने की नही ? क्या पूर्ववर्त्ती आलोचना का यही अर्थ है ? निश्चय ही नहीं। पूर्ववर्त्ती आलोचना मे केवल इस बात को स्पष्ट करने की कोशिश की गयी है कि (1) छापे की मशीन ने कविता को मन-ही-मन पढ़ने की चीज बना दिया है, (2) उसमें की आलंकारिकता का आकर्षण शिथिल कर दिया है, और (3) सहृदय को श्रोता की अपेक्षा द्रष्टा अधिक बना दिया है। सहृदय की रुचि बदल गयी है। वह कवि-सम्मेलनो के भूसीफोर कवियो को तमाशबीन की दृष्टि से देखता है, कवित्व के प्रति उसके हृदय में जो सम्मान है उसकी दृष्टि से नहीं। सम्मान वह छपी कविता को पढते समय देता है। इसका अर्थ यह बिल्कुल ही नही कि कविता अब पढ़ी नही जायगी या जो लोग कविता को सुन्दर ढंग से पढ़ सकते हैं, वे अब यह कार्य छोड़ दें। ऐसे शक्तिशाली लोगों को जरूर कविता पढ़कर श्रोताओं का मनो-रंजन करना चाहिए। वस्तुतः ये ही लोग कवि-सम्मेलनों में 'हीरो' हो सकते हैं। परन्तु उन्हे साफ-साफ समझ लेना चाहिए कि उनका कार्य कवित्व करना नही है। वे कवि नही, कविता के आवृत्तिकारी हैं। हमारे कवि-सम्मेलनों की समस्या यही है कि पाठक और कवि मे कोई भेद नही किया जा सकता। जो वस्तुतः कवि हैं वे अच्छे आवृत्तिकारी भी हों, यह सदा सम्भव नहीं हो सकता। साथ ही, यह भी स्पष्ट रूप से साफ हो जाना चाहिए कि कविता और संगीत दोनों अलग चीजें हैं। आज के युग मे कविता के आवृत्तिकारी को जो बात सबसे अधिक ध्यान में रखनी निहायत आवश्यक है वह कविता को सुर देना नही, बल्कि उसमें उपयुक्त 'काकु' का देना है ताकि काव्यार्थ पाठक को अधिक-से-अधिक बुद्धिग्राह्य हो सके। यहाँ भी छापे की मशीन ने काव्यास्वादन मे दखल दिया है। अगर आवृत्तिकारी छापे की मशीन को परास्त करने की क्षमता न रखता हो, तो उसे प्रयत्न नही करना चाहिए।

गान मे जो स्थान सुर को प्राप्त है, काव्य में वही स्थान झंकार को प्राप्त है। पद्य के निश्चित बन्धनो को बार-बार दुहराने से पद और वाक्य में एक प्रकार की विशेष झकार पैदा होती है, जो श्रोता के भावावेग को अधिक गतिशील बनाती है और शब्द और अर्थ से अतीत तत्त्व को सहज ही श्रोत-गम्य बना देती है। मामूली राजनैतिक वक्ता भी जब मंच पर भावाविष्ट होकर बोलने लगता है तब अपने गद्य में भी एक विशेष प्रकार का जोर देकर, एक विशेष की प्रकार यति देकर बोलता है। ऐसे स्थान पर वह काव्य के प्रधान हथियार का सहारा लेता है। सहृदय पाठक

छपे हुए काव्य को पढ़ते समय मन-ही-मन इसी प्रकार का जोर देता रहता है और इसी प्रकार अपने-आपके लिए भावावेश की अवस्था का निर्माण करता रहता है। छापे में विविध विराम-चिह्न उसकी सहायता करते हैं। वह कवि की बतायी हुई कुंजी पाता है। विराम-चिह्न कवि द्वारा बतायी हुई वह कुंजी है जो पाठक को कवि के ढंग पर ही पढ़ने का नियम बताती है। आवृत्तिकारी जब कविता-पाठ करता होता है तब सहृदय पाठक चुपचाप उसकी परीक्षा लेता रहता है। यदि छापे के विराम-चिह्नों ने उसको भावाविष्ट बनाने में जितनी सहायता की है उतनी सहायता आवृत्तिकारी का पाठ नहीं करता या गलत ढंग से उसे गुमराह करता है, तो सहृदय की दृष्टि में फिर वह तमाशा हो जाता है। मशीन ने जीवित मनुष्य के साथ कितनी बड़ी प्रतिद्वन्द्विता खड़ी कर रखी है!

यह बात, फिर, एक बड़े भारी परिवर्तन की ओर इशारा कर रही है, जिससे कविता के भविष्य पर बड़ा सुन्दर प्रकाश पड़ता है। कवि और पाठक, दोनों छापेखाने की मशीन को अपना अच्छा सहायक समझने लगे हैं।

जब तक दुनिया में छापे की मशीन नहीं थी तब तक मुक्त-छन्द भी नहीं थे। भारतवर्ष में गद्य-काव्य था, गद्य को कवियों की निकषा भी कहा जाता था, पर मुक्त-छन्द और गद्य-काव्य निश्चित ही एक वस्तु नहीं है। समस्त संसार में मुक्त-छन्द के प्रचार का कारण मशीनें है। जब तक इनका आविर्भाव नहीं हुआ था तब तक यदि किसी के मन मे भूले-भटके इस प्रकार के मुक्त-छन्द की रचना का कोई संकल्प भी रहा हो तो वह उसके साथ ही लोप हो गया। उचित विराम-चिह्नों के के साथ, उचित पंक्तिभंग देकर, जब तक छापने की सुविधा न हो तब तक यह समझना मुश्किल ही रहेगा कि कवि किस बात पर जोर देना चाहता है। छापे की सुविधा के साथ मुक्त-छन्द का प्रचार सभी देशों में बढा है। परन्तु अभी उस दिन तक मुक्त-छन्दो को प्रचीन पद्यशैली की सुकुमारता से अलग नहीं किया जा सका था। कवि यद्यपि गद्य लिखता था, फिर भी एक खास झंकार के साथ। दिनेशनन्दिनीजी ने जो गद्य-काव्य लिखे हैं उनमें वही सुकुमारता वर्तमान है। वे पद्य-काव्य से केवल इतनी ही बात में भिन्न है कि उनमें नियमित वर्णो या मात्राओं की पुनरावृत्ति नहीं है। भावों का 'ससज्ज और सलज्ज' अवगुण्ठन ज्यों-का-त्यों है। और, इसमे कोई सन्देह नहीं कि इन कविताओ को पढ़ते समय पाठक निश्चय ही कवि-वांछित भावावेश की अवस्था मे पहुँच जाता है। हाल ही मे इस अवगुण्ठन को हटा देने का भी प्रयास किया गया है; क्योंकि जैसा कि पहले बताया गया है, कविता अब नेत्रों का और उसके जरिये बुद्धि का विषय बन गयी है। वह उस रसात्मकता को आदर्श नहीं मानती जो 'मरहट्टवधू' के अंग की भाँति वायुविकम्पित अंचल से कुछ-कुछ ढँकी हुई और कुछ-कुछ खुली हुई हो! इसीलिए हाल ही में रवीन्द्रनाथ ने जब गद्यछन्द में प्रयोग शुरू किया, तब उन्होंने लिखा था : "गद्य-छन्द में अति निरूपित छन्द का बन्धन तोड़ना ही पर्याप्त नहीं है, पद्यकाव्य की भाषा और प्रकाशरीति में जो ससज्ज और सलज्ज अवगुण्ठन की प्रथा है उसे भी जब

दूर कर दिया जायगा, तभी गद्य के स्वाधीन क्षेत्र में उसका संचरण स्वाभाविक हो सकता है। मेरा विश्वास है कि असंकुचित गद्यरीति से काव्य का अधिकार बहुत दूर तक बढ़ा देना सम्भव है, और उसी ओर लक्ष्य रखकर मैंने ये कविताएँ लिखी हैं। इनमें कई कविताएँ ऐसी हैं जिनमें तुक नहीं है; पद्य-छन्द हैं, किन्तु उनमें भी मैंने पद्य की विशेष प्रकार की भाषा-रीति के त्याग करने की चेष्टा की है।" ('पुनश्च' की भूमिका)।

एक अंग्रेज समालोचक ने लिखा है कि जब-जब किसी भाषा के साहित्य में छन्दों का परिवर्त्तन होता है, तब-तब उस साहित्य की ऐसी रचना का जन्म होता है जो पीढ़ियों तक जीवित रहती है और जिस पर उस भाषा वालों को गर्व रहता है। भारतवर्ष में इस मत के समर्थक वाल्मीकि और अश्वघोष और प्राकृत तथा हिन्दी के अनेकानेक कवियों का नाम ले सकते हैं। आधुनिक हिन्दी में मैथिलीशरण गुप्त, निराला और पन्त भी इसके उदाहरणस्वरूप पेश किये जा सकते हैं, पर इस मत की पुष्टि करने का मुझे कोई आग्रह नहीं है। यह मत ठीक हो या गलत, मुक्त-छन्दों की कल्पना ने काव्य की प्रकृति बदलने में जो क्रान्तिकारी भाग लिया है उसे भुलाया नहीं जा सकता। कविता इन छन्दों में आकर अपने अन्तिम बन्धन से छुटकारा पा गयी है। एक-एक करके वह सुर से, अलंकार से, ध्वन्यात्मकता से, झंकार से छूटती हुई पद्यबन्ध से भी छूट गयी है। अतियथार्थवादी सम्प्रदाय के कवियों की रचनाएँ, पढ़ने के रहे-सहे सम्बन्ध को भी तोड़ रही हैं। इन कविताओं में गणितशास्त्रीय तथा अन्य शास्त्रीय इतने तरह के चिह्न व्यवहृत होने लगे हैं कि उनका पढ़ा जाना असम्भव ही है। वे केवल देखने और समझने की चीज हो गयी हैं! जो लोग काव्यगत पुराने संस्कारों से मुक्त नहीं हैं—इन पंक्तियों का लिखनेवाला ऐसा ही अभागा है—वे काव्य की इस प्रगति को निराशा के साथ देख सकते हैं; पर यही वह मार्ग है जिस पर से कविता आगे बढ रही है, यह सत्य है। वह कुएँ में गिरने जा रही है या पहाड़ पर चढ़ने, यह विवाद का विषय है। कविता की इस भावी गति को सहृदय पाठक खूब समझता है, यद्यपि अनेक समय वह अपनी समझी हुई बात को साफ-साफ अनुभव नहीं करता होता। यही पाठक कवि-सम्मेलनों को देखने जाता है। कवि-सम्मेलनों के कवियों को इसका पता शायद नहीं होता।

से अपने सिर पर लदी हुई सौन्दर्य-भावना को ढोते आ रहे थे। उन्नीसवीं शताब्दी के अंग्रेजी कवि ने इस बोझ को सिर से उतार फेंका। उसने अपनी आँखों से दुनिया को देखा। अर्थात् अपनी व्यक्तिगत आकांक्षाओं की पूर्ति जहाँ से हो सकती थी वहीं सौन्दर्य देखा। यह हवा हिन्दुस्तान में भी बही, हिन्दी में अब भी वह रही है, यद्यपि यूरोपीय कवि इसके विरुद्ध होता जा रहा है। यूरोपीय कवि जब इसके विरुद्ध होता जा रहा है तब वह फिर लौटकर टिपिकल सौन्दर्य के आदर्श की ओर नहीं फिर रहा। यह सम्भव नहीं। 'टाइप' की भावना सदियों की बद्धमूल परम्परा से आती है। आधुनिक युग का कवि ऐसी किसी परम्परा की प्रामाणिकता को स्वीकार नहीं करना चाहता। उसने नया प्रयोग शुरू किया है। उसने अनासक्त और निर्वैयक्तिक दृष्टि से वस्तु के सौन्दर्य को देखना चाहा है। वह प्रिया को यह कहकर पुकारने में गौरव का अनुभव करता है कि 'हे प्रिये, तुम सूर्य से भी बड़ी हो, समुद्र से भी और मेढक से भी।' क्योंकि उसकी दृष्टि में अपनी व्यक्तिगत आसक्ति नहीं है। सूर्य और समुद्र अपने आपमें जितने महान् हैं, मेढक भी अपने-आपमें उतना ही महान् सत्य है। हम मेढक को छोटा या कुत्सित इसलिए देखते हैं कि उसे अपनी रुचि-अरुचि और अनुरक्ति-विरक्ति में सान देते हैं। निरासक्त भाव से देखने पर मेढक में कहीं भी लघुता और कुत्सितता नहीं है। आज का पाठक पुराना पाठक नहीं है जो अपनी रुचि-अरुचि को या अपनी पुरानी परम्परा की रुचि-अरुचि को इस बुद्धिगम्य सौन्दर्य के मार्ग में बाधा खड़ी करने को प्रोत्साहित करे। वह पत्नी-भक्त पति की भाँति इस कविता के प्रत्येक शृंगार को प्रशंसा की दृष्टि से देखता है।

भारतवर्ष के पुराने कवि का ढंग कुछ और था। वह अपनी व्यक्तिगत रुचि-अरुचि को भी प्राधान्य नहीं देता था और न अपने दर्शन-शास्त्र के बहु-विघोषित सिद्धान्त 'आब्रह्मस्तम्ब-पर्यन्त' ब्रह्म की अद्वैत सत्ता को ही सौन्दर्यानुभूति के मार्ग में घसीट लाता था। वह एक ही चाँद को आज पीयूषवर्षी, कल अंगारवर्षी और परसों चाँदी की थाली कह सकता था, बशर्ते उसकी कल्पित नायिका आज स्वाधीन-पतिका हो, कल प्रोषितपतिका हो और परसों घर से बाहर चली गयी हो। संस्कृत कवि ने इस काव्य-दृष्टि का परिहास करने के लिए एक संन्यासी के मुँह से कहलवाया था

येषां वल्लभया समं क्षणमपि क्षिप्रं क्षपा क्षीयते।
तेषां शीतकरः शशी, विरहिणामुल्केव सन्तापकृत्॥
अस्माकं तु न वल्लभा न विरहस्तेनोभयभ्रंशिनाम्।
इन्दु राजति दर्पणाकृतिरसौ नोष्णो न वा शीतलः॥

कवि-सम्मेलन में काव्य-पाठ करने के लिए उतावले कवि अधिकांशतः इसी प्राचीन युग में ऊँघ रहे हैं जबकि उनका श्रोता मान चुका है कि वह युग बीत गया है। यह एक कारण है जिससे ये लोग तमाशे की चीज हो जाते हैं।

दृष्टिकोण के परिवर्तन के साथ-ही-साथ कवि ने भाषा और शैली में भी परिवर्तन कर दिया है। अब वह ऐसी उपमाओं और ऐसे रूपकों का व्यवहार नहीं

करना चाहता जिनको सुनते ही पाठक को प्राचीनता की गन्ध आने लगे। वह पूरे जोर से पाठक के चित्त को झकझोरकर उस पर से पुराने संस्कार झाड़ देना चाहता है। यद्यपि उसकी दृष्टि में कमल का फूल और करैले का फल अपने-आपमें समान भाव से सत्य और सुन्दर हैं, तथापि वह अपनी प्रियतमा की आँख से कमलपुष्प को तुलनीय नहीं बनायेगा। ऐसा करने से उसके सिद्धान्त में कोई भेद तो नहीं आ जाता, परन्तु उसे इस बात की आशंका रहती है कि पाठक पुराने संस्कारों से बद्ध होने के कारण कहीं उसके नवीन दृष्टिकोण को गलत न समझ लें। इसीलिए वह प्रियतमा की आँख से करैले के फल की ही उपमा देगा। फिर भाषा में की उस सारी सलज्ज सुकुमारता को दूर कर देना चाहेगा, जो पाठक को गलतफ़हमी में पड़ने का अवसर दे। वह अब ज्यादा गद्यात्मक भाषा पसन्द करने लगा है।

स्वभावतः ही प्रश्न होता है कि आखिर जो कविता छन्द को भी नहीं मानती, अलंकार को भी नहीं मानती, सुर को भी नहीं मानती, उसको हम कविता कहें ही क्यों? उत्तर यह है कि कविता का अनादिकाल से जो कार्य रहा है, वह कार्य यह कविता कर रही है। वह अपने पाठक के भीतर भावावेग का संचार करती है, उसे संवेदनशील बनाती है, उसे सोचने-समझने को मजबूर करती है। कविता वही है, पाठक बदल गये हैं। इसीलिए उसने पाठक को वश में करने लायक वेशभूषा धारण की है। पुराने जमाने में भी देश-भेद के अनुसार पाठक बदलते थे और कविता भी अपना रूप उसी आवश्यकता के अनुसार बदलती रहती थी। चीन और ईरान की कविताओं का बाह्य रूप निश्चय ही एक जैसा नहीं है। केवल इस एक बात के ही कारण वे दोनों कविता कहलाती हैं, कि उनके द्वारा वह कार्य हो रहा है जिसे निर्विवादभाव से कविता का कार्य मान लिया गया है। जमाना बदल गया है, हमारी आवश्यकताएँ बदल गयी हैं, हमारा रहन-सहन बदल गया है, हमारा दृष्टिकोण भी बदल गया है। इसको प्रभावित करने का साधन भी बदलना ही चाहिए। यदि हम इस सहज सत्य को मोहवश स्वीकार नहीं करेंगे तो कविता का भविष्य निश्चित रूप से अच्छा नहीं है। और, यदि स्वीकार कर लेंगे तो वह अच्छा हो भी सकता है; क्योंकि तब हमारी काव्य-धारा काल-प्रवाह से पिछड़ी नहीं रहेगी।

[आधुनिक हिन्दी साहित्य से]

चार हिन्दी कवि

वर्तमान हिन्दी-कविता के किसी भी पाठक को तीन बातें मुख्य रूप से दीख पड़ेंगी—कल्पना, चिन्तन और अनुभूति। एक चौथी बात भी है; लेकिन यह अत्यन्त उपेक्षित और क्षीण रूप में है। इसे हम विवृति या narration कह सकते है। अगर श्री गुरुभक्त सिंह 'भक्त' की 'नूरजहाँ' न होती, तो हम इस विषय को वर्तमान हिन्दी-कविता के प्रसंग में याद न करते। कल्पना मे कवि वर्तमान जगत् की विरूपताओं और विसदृश परिस्थितियो से क्लान्त होकर एक अनुकूल और मनोरम जगत् की सृष्टि करता है। एक युग था, जब संसार के काव्य-जगत् मे कल्पना का ही राज्य था। कवि इस दुनिया के समानान्तर धरातल पर ही एक ऐसी दुनिया की सृष्टि करता था, जहाँ प्रेमिका और प्रेमी तो हमारे जैसे ही होते थे; पर जहाँ के कायदे-कानून अलग होते थे। अंग्रेजी साहित्य मे जिसे रोमाण्टिसिज्म का युग कहते हैं, वह कल्पना का ही युग था; किन्तु पौराणिक युग की कल्पना से उसमें अन्तर था। राधा-माधव की मोहक कल्पना से हमारी वर्तमान कल्पना भी भिन्न है। क्या भिन्न है और कितनी भिन्न है, यह आगे देखा जायगा।

संसार की इस बहुधा-विस्तृत लीला को देखकर प्रत्येक आदमी कुछ चिन्ता करता है, कवि भी करता है। कवि जब चिन्ता या विचार करने लायक परिस्थिति में पहुँचता है, तो वह प्रायः कल्पना की अवस्था पार कर चुका होता है। इसीलिए वह किसी चीज को शुद्ध मनीषी की नाईं नही देख सकता। उसे वह कल्पना का आवरण पहना देता है। दिगन्त के एक छोर से दूसरे छोर तक फैले हुए नील नभोमण्डल, शून्य में बिखरे हुए मणिसन्निभ ग्रह-नक्षत्र और चन्द्रिका-धौत धरित्री को देखकर कवि कुछ भी चिन्ता क्यों न करे, एक बार श्वेत वस्त्र पहने हुए, विततकेशा, भूरिभूषण नर्त्तकी की, या प्रिय-वियोग में कातर-खण्डिता रजनी की, या किसी इसी प्रकार की अन्य वस्तु की कल्पना किये बिना रह नही सकता। द्रष्टा और दार्शनिक सत्य की चिन्ता करके उसे वास्तविक रूप में रखने की कोशिश करते हैं। कवि सत्य को सुन्दर करके कहने की इच्छा रखता है।

अपने सीमित जीवन मे जिस सुख-दुःख का अनुभव प्राप्त रहता है, उसे कवि असीम जगत् में अनुभव करता है। प्रिय-वियोग का अनुभवी कवि सूर्य, चन्द्र, तारा को देखकर असीम विश्व में उस अपठनीय पत्र का अनुभव करता है, जिसे उसका प्रिय पठाया करता है। सनसनाती हुई पुरवैया हवा प्रिय का सन्देश दिये बिना उसकी करुण दशा पर हँसकर निकल जाती है, बुलबुल एक अव्यक्त भाषा में उससे सहानुभूति दिखा जाती है, कोकिल उसके साथ ही मनभावन के विरह की कूक कूक जाती है। कम साहस का कवि इसे आत्मा-परमात्मा की मिलन-विरह-वेदना कहा करता है, अपने को न समझकर भी समझने का भान करनेवाला कवि इसे दर्शन की उलझी युक्तियों से समझाया करता है।

चिन्तन मे कवि संसार को देखता है, और सोचता है—यह सब क्या हो रहा है, कैसे चल रहा है, क्यों चल रहा है ? अनुभूति में वह अनुभव करता है कि वह क्या हो गया है, विश्व क्या हो गया है, कौन-सी वेदना, कौन-सा विषाद, कौन-सा उल्लास, संसार को किस रूप मे परिणत कर रहा है ? कल्पना में वह इस जगत् के समानान्तर जगत् की सृष्टि करता है, जिसमे इस जगत् की असुन्दरताएँ और विसदृशताएँ नही रहती; पर अनुभूति में वह इसी विश्व को अपने उल्लास, विषाद और वेदनाओं के उपादान से नये रूप में रचा करता है। कल्पनाशील कवि सुनहरे पंखों से उड़कर ऊपर उठ जाता है, उसके पैर जमीन पर नही होते; पर वह इसी दुनिया की बोली में बोलने को बाध्य होता है। अनुभूति में कवि इस दुनिया पर सदा जमा रहता है, वह इसे छोड़ नही सकता। चिन्तनशील कवि सारे विश्व मे चक्कर मारा करता है। अनुभवी कवि को घेरकर सारा विश्व चक्कर मारता रहता है। कल्पना, चिन्तन और अनुभूति के प्रसार से—परम्यूटेशन और कम्बिनेशन से—वर्त्तमान हिन्दी-कविता का चार पंचमांश बन रहा है। इन्ही को सही या गलत समझने के कारण वर्त्तमान हिन्दी-कविता की समीक्षा सही या गलत रास्ते पर जा रही है।

'पाथेय' का कवि चिन्ताशील है। उसने संसार को देखकर जितना कुछ सोचा है, उतना हिन्दी के कम ही कवियों ने सोचा होगा। 'पाथेय' को देखकर यह अनुमान कर सकना मुश्किल है कि यह कवि कभी कल्पनाशील भी रहा होगा; लेकिन उसका अनुभवी होना निस्सन्दिग्ध है। वह चिन्तन से आरम्भ करता है और चिन्तित वस्तु को अपने भीतर अनुभव करने की कोशिश करता है। उसके विचार जब अनुभूति के रूप में प्रकट होते है, तो चीज लाजवाब होती है। परन्तु सदा वह चिन्तन को अनुभूति बनाने मे सफल नही होता। ऐसी अवस्था में उसकी कविता नीरस और रूक्ष हो जाती है। 'पाथेय' एक ही साथ सरस और नीरस रचनाओ का अद्भुत संग्रह है।

कवि इस प्रकार चिन्ता करता है—न-जाने हम कितने जन्मो से कितने रूपों में चक्कर मारते इस अवस्था तक पहुँचे है। इन श्यामायमान वन्य वीरुधो मे, इन बहुधा-विचित्र मृग-पक्षियों मे, इन विविध कार्य-प्रवृत्त मनुष्यों में अगर पूर्वजन्म का कोई परिचित हो—और होना कुछ असम्भव नही है—तो उनके पहचानने का क्या उपाय है ? इनमें बहुत ऐसे होंगे, जिन्हें रोते छोड़कर मैं चल बसा हूँगा; कितने ही ऐसे भी होंगे, जो मुझे रोता छोड़ आये होगे—काश ! हम उन्हे पहचान पाते !—

"देख कर यह समुदाय समाज,
जान पड़ता है मुझको आज,
सभी से है मेरी पहचान—
सभी से है सम्बन्ध महान् !

विगत जन्मों में भी, वह चिर
मिले हैं हम सब इसी प्रकार
हँसे-खेले हैं मिल-जुल संग
रहा है प्रेम-प्रसंग अभंग।
नहीं अब यद्यपि वह सब याद
तदपि उसका आह्लाद-विषाद
नही हो गया समस्त समाप्त
अभी तक है उर-उर मे व्याप्त।"

यहाँ तक आकर उसका चिन्तन गाढ़ होकर अनुभूति का रूप धारण करता है। ठीक ही तो है:

"तभी तो एक तनिक-सी दृष्टि
कर गयी अतुल पुलक की वृष्टि
न होने पर भी कारण ज्ञात
हो गया है रोमांचित गात।
बोलकर दो ही मीठे बोल
उठाकर एक मृदुल हिल्लोल
अरे भाई, तुममे से कौन
हो गया मेरे भीतर मौन?
प्रणत प्रणाम!
उसे है शत-शत प्रणत प्रणाम!"

पढ़ते-पढ़ते हठात् पुराकाल के कवि की बात याद आ जाती है:

"रम्याणि वीक्ष्य मधुराश्च निशम्य वाचः
पर्युत्सुकी भवति यत् सुखितोऽपि जन्तु.
तच्चेतसा स्मरति नूनमभूतपूर्वं
भावस्थिराणि जननान्तर सौहृदानि!"—कालिदास

इसमें कोई सन्देह नही कि कवि ने सोचकर—चिन्तन करके—इस जन्मान्तर सम्बन्ध का साक्षात्कार किया था; पर अन्त तक वह मनीषी नहीं रह सका है। अत्यन्त करुण भाषा में वह अपने पूर्वजन्म के अपराधों के लिए क्षमा-याचना करता है। उसकी इस क्षमा-याचना में कोई तत्त्व-चिन्तन नहीं है। वह भूल जाता है कि उसका यह सम्बन्ध चिन्तित है। वह सरल भाव से, मानवता के नाते, कह उठता है:

"पूर्व मे मैंने किसी प्रकार
किया हो यदि कुछ दुर्व्यवहार
निरंकुश होकर क्रूर व्याध
किया हो गुरुतर गुरु अपराध

है। विदुषी महादेवी ने कवि महादेवी को भी इसी सिद्धान्त से समझने की कोशिश की है, पर 'नीरजा' की कवयित्री ने 'नीहार' की भाषा में इसका प्रतिवाद किया है। विदुषी महादेवी से कवि महादेवी कहती हैं :

"कैसे कहती हो सपना है
अलि ! उस मूक मिलन की बात ?
भरे हुए अब तक फूलों में
मेरे आँसू उनके हास !"

असली बात यह है कि महादेवीजी अनुभूति-प्रधान कवि हैं। उनकी अनुभूति इतनी गीली है कि उनकी कल्पना की पाँखें उससे भीगकर केवल फड़फड़ाने-भर के योग्य रह गयी हैं, वे भूमि छोड़कर ऊपर उठ नहीं सकतीं। कवि ने अत्यन्त विश्वास के साथ अपने कवित्व-जीवन के प्रभातकाल मे ही जो कुछ कहा था, वह अब भी सत्य है। 'नीरजा' में महादेवीजी की भाषा अधिक साफ हुई है, वक्तव्य ज्यादा स्वच्छ हुआ है; पर वह विश्वास ज्यों-का-त्यों रह गया है—वास्तविकताएँ कितनी भी कठोर क्यों न हों, वे मेरी कल्पना को नष्ट नही कर सकेंगी; क्योकि इस कल्पना का एक 'आधार' है, इसके पैर जमीन पर है, वह हवाई-किला नही है :

"मैं अनन्त पथ मे लिखती जो
सस्मित सपनों की बातें;
उनको कभी न धो पायेंगी
अपने आँसू से रातें।"

'नीहार' लिखते समय महादेवीजी अपने लक्ष्य को ठीक समझ नही सकी थीं। वे अन्धकार मे टटोलती-सी जान पडती है। उन्हें अगर उन दिनों आत्म-बोध होता, तो रूपक की इस जटिलता मे अपने सहज भावों को इतना अस्पष्ट न कर देतीं। उन्हें उस समय अपनी अनुभूति को 'सस्मित सपना' न कहना पड़ता। आज अपनी पुरानी भूल को मानो संशोधन करने के लिए वे 'नीरजा' मे कहती हैं :

"सपने औ' स्मित
जिसमें अंकित
सुख-दुख के डोरों से निर्मित;
अपनेपन की अवगुण्ठन बिन
मेरा अपलक आनन सूना
तेरी सुधि बिन क्षण-क्षण ना।"

लेकिन कभी-कभी महादेवीजी से एक भारी भूल हो जाती है, यानी वे कोमल पदावली के लिए अर्थ का भी बलिदान कर दिया करती है। एक जगह एक ही पद में उन्होंने शेफाली और हरसिंगार के फूलों का वर्णन किया है, मानो ये दो चीजें हों ! और भी आश्चर्य यह है कि प्रसंग वसन्त के रूप का है, मगर शेफाली या हरसिंगार शरत् मे फूलते हैं :

"सकुच सलज खिलती शेफाली;
अलस मौलश्री डाली - डाली;
बुनते नव प्रवाल कुंजों मे
रजत श्याम तारो से जाली;
शिथिल मधु पवन, गिन-गिन मधुकण;
हरसिंगार झरते है झर-झर!"

महादेवीजी की कविताओ मे शुरू से ही अनुभूति की प्रधानता रही है। प्राचीन आलकारिकों ने इस अनुभूति को—जिसे वे संस्कार कहते है—तीन भागो मे विभक्त किया है : सात्त्विक, राजस और तामस। तामस अनुभूति मे कवि स्वयं थका-सा प्रतीत होता है, उसके पाठक भी कविता पढकर हताश और क्लान्त हो उठते है। राजस अनुभूति आसक्ति-प्रधान होती है। इसमे कवि की आसक्ति का वेग तीव्र होता है। उसका पाठक भी आसक्ति का अनुभव करता है, उसका मन हलका नही हो पाता। सात्त्विक अनुभूति में ही रस का परिपाक होता है। कवि उस समय अपनी आसक्तियों पर विजयी होता है। वह जो कुछ कहता है, साफ कहता है, हृदयग्राही कहता है—पाठक उससे आनन्द पाता है, उसके चित्त पर दुःख या सुख का बोझ नही होता। महादेवीजी की कविताओ मे राजस और सात्त्विक अनुभूतियाँ पास-ही-पास पड़ी दिखायी देती है। यहाँ वे आसक्तियो से ऊपर उठ जाती है, वहाँ आसक्तियाँ उन्हें ले- डूबती हैं। आसक्ति की प्रबलता के समय उनकी भाषा दुर्बोध, बोझिल और अस्पष्ट हो उठती है। वे स्वयं भूल जाती है कि उन्हे क्या कहना है। उस समय वे बेसुध हो जाती हैं, और इस बेसुधपन मे कुछ-का-कुछ लिख जाती है :

"मैं अपने ही बेसुधपन में
लिखती हूँ कुछ, कुछ लिख जाती!"

महादेवीजी की अनुभूति सहज-सिद्ध या अयत्न-साधित है। सियारामशरणजी की अनुभूति विचार-सिद्ध और यत्न-साधित है। सियारामशरण चिन्तन से शुरू करते है, अनुभूति में समाप्त करते है—यह क्रिया स्वभाविक है, इसलिए वे ऐसी अवस्था में चीज अच्छी कह जाते है। महादेवीजी अनुभूति से ही शुरू करती हैं और अनुभूति मे ही प्रायः अन्त करती है। यह और भी स्वाभाविक है, इसलिए उनका कहना हृदयहारी होता है; मगर एक जगह सियारामशरण उनसे अधिक भाग्यशाली हैं। चिन्तन से अनुभूति की ओर जाना कविजनोचित कार्य है, सियारामशरण ऐसा ही करते हैं। अनुभूति से चिन्तन मे जाना कवि-कर्म का परिपन्थी है—महादेवीजी अपने को चिन्तन के प्रलोभन से बचा नही सकती। उन्होंने कहा है, "याद नहीं आता, जब मैंने किसी विषय-विशेष पर, या वाद-विशेष पर, सोचकर कुछ लिखा हो।" लेकिन, याद हो या नही, उन्होंने ऐसा काम किया जरूर है। अनुभूति की भाषा सहज होती है, पर अनुभूति को जब सुचिन्तित रूप दिया जाता है तो भाषा कृत्रिम, आलंकारिक और भाराक्रान्त हो जाती है। 'नीरजा' की

एक कविता उद्धृत की जाती है। आदि और अन्त की छः लाइनें सहज-सिद्ध या अयत्न-साधित, अतएव साफ है, चोट करनेवाली हैं। बीच की छः लाइनें चिन्तित और मार्जित, अतएव कृत्रिम और अस्पष्ट हैं :

"बताता जा रे अभिमानी !
कण-कण उर्वर करते लोचन
स्पन्दन भर देता सूनापन
जग का धन मेरा दुख निर्धन
तेरे वैभव की भिक्षुक या
कहलाऊँ रानी !
बताता जा रे अभिमानी !
दीपक-सा जलता अन्तस्तल;
संचित कर आँसू के बादल;
लिपटा है इससे प्रलयानिल;
क्या यह दीप जलेगा तुझसे
भर हिम का पानी ?
बताता जा रे अभिमानी !
चाहा था तुझमें मिटना-भर
दे डाला बनना मिट-मिटकर
यह अभिशाप दिया है या वर;
पहली मिलन-कथा हूँ या मैं
चिर-विरह कहानी !
बताता जा रे अभिमानी !"

यह जरूर है कि 'नीरजा' गीतों की पुस्तक है। जहाँ शब्द और अर्थ हार जाते हैं, वहीं गान शुरू होता है।

'चित्ररेखा' के कवि का विश्वास है कि वह कल्पना की अवस्था पार कर चुका है। अब अनुभूति उसे कल्पना से अधिक रुचिकर जान पड़ती है, क्योंकि "अनुभूति मे अपनेपन की सारी उमंग प्रवाहित नदी की भाँति एक स्थान पर स्थिर होना नहीं जानती। अन्य साधनों के अभाव में उसके प्रकाशित होने के लिए आँसू की धारा ही पर्याप्त है। ऐसी अवस्था में अन्तर्जगत् अपने को खींचकर करुणरस की परिधि में ले जाता है और महाकवि भवभूति के 'एको रसः करुण एव (?)' अथवा मीरा के 'रैन अँधेरी विरह घेरी तारा गिणत निस जात' में अपने को समर्पित कर देता है।"

'चित्ररेखा' की कुछ कविताएँ बड़ी सरस कही गयी हैं; मगर सारी 'चित्ररेखा' उतनी सरस नहीं है। कवि यद्यपि कल्पना से अनुभूति को अधिक पसन्द करने लगा

है, पर वह न तो कल्पना का जाल पूर्णतया छिन्न कर सका है और न पूरी मात्रा मे वक्तव्य अर्थ का अनुभव कर पाया है। वह गाता है :

"यह तुम्हारा हास आया
इन फटे-से बादलों में कौन-सा मधुमास आया।
आँख से नीरव व्यथा के
दो बड़े आँसू बहे हैं,
सिसकियों मे वेदना के
व्यूह वे कैसे रहे हैं!
एक उज्ज्वल तीर-सा रवि-रश्मि का उल्लास आया!
आह, वह कोकिल न जाने
क्यों हृदय को चीर रोयी,
एक प्रतिध्वनि-सी हृदय में
क्षीण हो-ही, हाय, सोयी,
किन्तु इससे आज मैं कितने तुम्हारे पास आया
यह तुम्हारा हास आया।"

किसी भी सहृदय को इस कविता में एक बात साफ नजर आयेगी। कवि अनुभव करने की कल्पना करता है। जब वह कहता है, 'आह, वह कोकिल न जाने क्यों हृदय को चीर रोयी' तो मानो उसे एक अस्पष्ट वेदना की अनुभूति होती रहती है; पर जब आगे 'किन्तु' लगता है, तो सहज ही समझ में आ जाता है कि वह कुछ सोचने जा रहा है। जहाँ अनुभूति का वेग प्रबल होता है, वहाँ 'किन्तु' का स्थान नही रहता, वहाँ 'तो भी' का शासन होता है। बाउलों के एक गान मे बताया गया है : प्रेम का प्रतीक है 'तो भी', क्योंकि प्रेम अपूर्णता को पूर्ण करता है; और ज्ञान का प्रतीक है 'किन्तु', क्योंकि ज्ञान अपूर्णता की खोज में ही व्यस्त रहता है। राधिका ने एक बार प्रेम का क्या ही सुन्दर परिचय दिया था :

"यो वेद येद् विविदिपु सखि वेदनं यत्
या वेदना तदखिलं खलु वेदनैव।
प्रेमा हि कोऽपि पर एव विवेचने स-
त्यन्तर्दधात्यलमसावविवेचनेऽपि।"

अर्थात् 'हे सखि, जिज्ञासु को वह चीज, जिसे वेदना (अनुभूति) कहते हैं, समझना एक वेदना (पीड़ा) ही है। प्रेम कोई ऐसी वस्तु है, जिसकी अगर विवेचना की जाय, तो वस्तु ही अन्तर्धान हो जाती है, और अगर विवेचना न भी करो, तो भी वह अस्पष्ट ही रह जाती है!'

श्री रामकुमार वर्मा की कल्पना और अनुभूति के बीच उनका चिन्तन सेतु का काम करता है। वे प्राय: अपनी कल्पना को अनुभूति का रूप देने की चेष्टा करते हैं। उनकी अनुभूति प्राय: उनके पाण्डित्य के गोरखधन्धे मे अपनी राह भूल जाती है। जिसे वे अनुभूति कहते हैं, जो प्रवाहित तरी की भाँति एक स्थान पर स्थिर

होना नहीं जानती, वह कल्पना का चिन्तन-साधित रूप है। कल्पना और अनुभूति, दोनों वे चीजें हैं जिनके सामंजस्य को पाण्डित्य कहा जा सकता है, कवित्व नहीं। 'चित्ररेखा' इसी सामंजस्य के कारण अस्पष्ट और दुर्बोध हो गयी है। जहाँ पण्डित रामकुमार कवि रामकुमार के आगे-आगे मार्गदर्शक का काम नहीं करते, वहाँ कविता भी सरल हुई है।

विशुद्ध अनुभूति में यह स्मरण ही नहीं रहता कि अनुभवी किस प्रणाली से अनुभव करता है। 'चित्ररेखा' का कवि अनुभूति के भावावेश में अपने को भूल नहीं सकता, अपनी कल्पना को भूल नहीं सकता, अपने ज्ञान को भी नहीं भूल सकता। 'नीरजा' की अस्पष्टता कवि के वेसुधपन के कारण है और 'चित्ररेखा' की अस्पष्टता अतिरिक्त आत्म-चैतन्य के कारण है। 'नीरजा' की दुर्बोधता अनुभूति में चिन्तन की ओर लौटने के कारण है और 'चित्ररेखा' की दुर्बोधता कल्पना से अनुभूति की ओर दौड़ने के कारण है। 'नीरजा' का सौन्दर्य अनुभूति की गम्भीरता के कारण है और 'चित्ररेखा' में स्थान-स्थान पर पाया जानेवाला सौन्दर्य कल्पना की उड़ान और चिन्तन के सामंजस्य के कारण है। कल्पना और चिन्तन का सामंजस्य कविजनोचित हो सकता है, पर कल्पना और अनुभूति का सामंजस्य पण्डित की बुद्धि ही कर सकती है। अनुभूति अन्तिम स्थान है। वहाँ से चिन्तन की ओर लौटना कवित्व का परिपन्थी है, कल्पना की ओर लौटना उसका विघातक है।

'चित्ररेखा' के चित्र अत्यन्त शिथिल रुचि के परिचायक हैं, और हरएक पृष्ठ को जिन रेखाओं ने घेर रखा है, उनसे मुद्रण-कला का दम घुटता-सा जान पड़ता है। इस प्रकार न तो 'चित्ररेखा' के चित्र ही हमें पसन्द आये और न रेखा ही। शायद प्रकाशक की मर्जी पर ये चित्र छापे गये हों, क्योंकि यह विश्वास करना भी दुःखजनक है कि श्री रामकुमारजी-जैसे मार्जित रुचि के कवि इसे पसन्द करेंगे।

'रेणुका' का कवि जवान है। उसे न तो चिन्तन करने की फुरसत है और न अनुभव प्राप्त करने का अवसर। जवानी के जोश में वह बादलों पर घर बनाने के लिए चल पड़ा है। उसकी धमनियों में जो गरम रक्त द्रुत वेग से संचारित हो रहा है, उसने उसे चंचल बना दिया है। एक बार भी उसने नहीं सोचा कि आसमान में घर बनाना असम्भव है। उसने परम्परा से प्राप्त कुछ सहज सत्यों को स्वीकार कर लिया है। इन सत्यों के दूसरे पहलू भी हो सकते हैं, यह उसने कभी सोचा ही नहीं। उसकी इस जोश-भरी मस्तानी चाल को देखकर उमर के बूढ़े, पर हृदय के जवान, साहित्यिकों ने कहा है—'शाबाश मेरे दोस्त!' भीतर से बूढ़े पर ऊपर से तरुण, सहृदयों ने कहा है—'गिर भी पड़ते हैं दौड़कर चलनेवाले!' प्रतिद्वन्द्वी युवकों ने कहा है—'धत्तेरे की!'

मगर 'रेणुका' का कवि सचमुच मस्ताना है। किसी ने उससे कहा—संसार दरिद्रता से कातर है। उसे विजातीय उपादान चूस रहे हैं, यह एक भयंकर

है। 'रेणुका' का कवि मान गया कि बात ठीक है। उसने हुंकार के साथ अपनी सरस्वती का आह्वान किया :

"क्रान्तिधात्रि कविते जागे उठ
आडम्बर में आग लगा दे
पतन पाप पाखण्ड जले
जग में ऐसी ज्वाला सुलगा दे!

विद्युत की इस चकाचौंध में
देख दीप की लौ रोती है
अरी हृदय को थाम, महल के
लिए झोपड़ी बलि होती है

देख कलेजा फाड़ कृषक
दे रहे हृदय-शोणित की धारें
बनती ही उन पर जाती हैं
वैभव की ऊँची दीवारें

धन पिशाच के कृषक मेध में
नाच रही पशुता मतवाली
आगन्तुक पीते जाते हैं
दीनों के शोणित की प्याली

उठ वीरों की भावरंगिणी
दलितों के दिल की चिनगारी
युग मर्दित यौवन की ज्वाला
जाग-जाग री क्रान्ति कुमारी!

लाखों क्रौंच कराह रहे है
जाग आदिकवि की कल्याणी
फूट-फूट तू कवि-कण्ठों से
बन व्यापक निज युग की वाणी!'"

'रेणुका' का कवि हमारी उन सभी चोटों से फायदा उठाता है, जिन्हें प्रतिकूल परिस्थितियों के कारण हमारा हृदय सह चुका है। वह कृषकों के नाम पर रुलाता है, वैशाली और नालन्दा के नाम पर हमें उत्तेजित करता है, मिथिला और दिल्ली के नाम पर हमें 'अपना' बना लेता है। यही उसकी विशेषता है, यही उसकी दुर्बलता है।

एक-एक कर उजड़ रही है
हरी-भरी कुसुमों की क्यारी।"

हमारा कवि इस दुनिया मे रुकना नही चाहता :

"मैं न रुकूँगा इस भूतल पर
जीवन यौवन प्रेम गँवाकर
वायु उड़ाकर ले चल मुझको
जहाँ कहीं इस जग से बाहर।
मरते कोमल वत्स यहाँ बचती न जवानी परदेशी;
माया के मोहक वन की क्या कहूँ कहानी परदेशी।"

इस असुन्दर संसार से वह उकता चुका है। यह बात नही कि वह सब समय नक्षत्र-लोक में ही अपने सपनों की रचना करे। वह खेतो मे भी आना चाहता है, झोपड़ियों में भी जाना चाहता है; पर उस समय भी उसकी इच्छा वहाँ मोहक बनके रहने की है—सुन्दर बनके रहने की, वास्तविकता की कठोरताओ को कोमल बना देने की; वह सौ फीसदी कल्पना का कवि है। उसकी कविता पुकारकर कहती है :

"आज न उड़के नील कुंज में स्वप्न खोजने जाऊँगी
आज चमेली में न चन्द्र-किरणों से चित्र बनाऊँगी
अधरों में मुसकान न लाली बन कपोल मे छाऊँगी
कवि तेरी किस्मत पर भी मैं आज न अश्रु बहाऊँगी
नालन्दा वैशाली मे तुम रुला चुके सौ बार
धूसर भुवन स्वर्ग ग्रामों मे कर पायी न विहार
आज यह राजवाटिका छोड़
चलो कवि, वन-फूलों की ओर।

× × ×

स्वर्णांचला अहा खेतों में उतरी सन्ध्या श्याम-परी
रोमन्थन करती गायें आ रही रौंदती घास हरी
घर-घर मे उठ रहे धुआँ जलते चूल्हे बारी-बारी
चौपालों मे कृषक बैठ गाते—'कहँ अटके बनवारी'
पनघट से आ रही पीत-वसना युवती सुकुमार
किसी भाँति ढोती गागर यौवन का दुर्वह भार
बनूँगी मैं कवि इसकी माँग
कलस, काजल, सिन्दूर सुहाग!"

'रेणुका' का कवि कल्पना का कवि है, जवानी का कवि है, जोश, उमंग और स्वप्नों का कवि है। उसे देखकर खुश होना स्वाभाविक है, घबराना स्वाभाविक है, ईर्ष्या करना भी स्वाभाविक है। उसमें गुण है, उसमें दर्प है, उसमें दोष भी है। महादेवीजी की तरह एक 'तो' या 'किन्तु' मे अपना वक्तव्य व्यक्त कर देने की

कला उसे नहीं आती, न सियारामशरणजी की तरह अत्यन्त सहज शब्दों में गम्भीर अर्थ भर देने का ही उसे अभ्यास है। लेकिन उसकी कल्पना मोहक होती है, उसकी भाषा चपल होती है, उसका कथन चोट करनेवाला होता है। वह उस जाति का कवि है, जिसकी कविता-समीक्षा के लिए उपमाओं और रूपकों की सृष्टि करनी पड़ती है, जिन्हें देखकर हिन्दी के वृद्ध पण्डित झुंझलाकर कह सकते हैं—'इस तरह एक रूपक के ऊपर दूसरा रूपक भिड़ा देने से (समीक्षा का) काम नहीं चल सकता।' उसकी कल्पना में 'कसकती वेदना' नहीं है, जवानी का गुण-दोषमय ओज है। और अगर सच पूछा जाय, तो एक ही बात ऐसी है, जिसे वह अपनी किसी रचना में नहीं भूल सका—जीवन और यौवन।

पौराणिक युग की कल्पना विश्वास पर अवलम्बित होती थी; किन्तु इस युग की कल्पना जान-बूझकर किया हुआ प्रयत्न है, जिसमें धार्मिक विश्वास का लेश भी नहीं है। अंग्रेजी साहित्य के रोमाण्टिक युग के विशेषज्ञों से सुना है कि उस युग की कल्पना को पण्डित लोग प्रयत्न-सिद्ध या conscious effort मानते हैं, और अनुभूति को व्यक्तिगत अनुभूति का स्वतः समुच्छ्वसित उच्छ्वास या spontaneous out-burst of personal feeling कहा करते हैं। वर्तमान हिन्दी-कविता के लिए भी शायद यही बातें कही जा सकती हैं। एक बात में कम-से-कम प्राचीन और नवीन कवियों में स्पष्ट अन्तर दिखायी पड़ता है। प्राचीन कवि—अगर वह कविता करने जा रहा हो—कभी अपने व्यक्तिगत सुख-दुःख या अनुभूति को प्रकट नहीं करता। वह सदा ऐतिहासिक या पौराणिक व्यक्तियों के मुँह से अपनी बात कहलाता है, कल्पित प्रेमी और प्रेमिकाओं से प्रेम या विरह की अनुभूति का वर्णन कराता है। यह कह सकना बड़ा कठिन है कि वह कहीं अपने-आपको प्रकाशित कर रहा है—वह सदा प्रतिनिधि के रूप में (vicariously) कहता है। किन्तु वर्तमान युग का कवि अपनी अनुभूतियों, अपने व्यक्तिगत सुख-दुःखों, हर्ष-विषादों, आशा-आकांक्षाओं का गान करना अत्यन्त आवश्यक समझता है। ऐसी अवस्थाओं में वह 'रस' के परिपाक की ओर उतना ध्यान नहीं देता, जितना स्थायी या संचारी भावों को खोल-खोलकर—निर्विकार वाच्य रूप में—प्रकट करने की ओर।

"उपनायक संस्थाया मुनिगुरुपत्नी गतायां च।
वहुनायक विषयायां रतौ तथानुभय निष्ठायाम् ।"

मेरा जो कुछ थोड़ा पढ़ा हुआ है, उसमें हिन्दी के वर्त्तमान कवियों मे सुमित्रानन्दन पन्त ही ऐसे मिले है, जिन्होने आत्मानुभूति के भावावेश मे भी अनुभयनिष्ठा रति से यथासाध्य वचने की कोशिश की है। उनके वाद ही शायद महादेवी वर्मा का स्थान है। मैं ठीक नही कह सकता कि ये लोग जान-बूझकर इससे वचते है या स्वभावतः ही कलाकार होने के कारण वे ऐसी चीजों को बर्दाश्त ही नही कर पाते। शायद दूसरी वात सच है। सचाई के नाम पर इतना कह देना और उचित है कि जहाँ तक इस वात का सम्बन्ध है, महादेवीजी 'नीहार' में 'नीरजा' से अधिक कलाकार प्रतीत होती है। 'नीहार' की एक कविता मेरा वक्तव्य अधिक स्पष्ट कर सकती है :

"बिछाती थी सपनों के जाल
तुम्हारी वह करुणा की कोर
गयी वह अधरों की मुसकान
मुझे मधुमय पीड़ा मे बोर;
भूलती थी मैं सीखे राग
बिछलते थे कर बारम्बार
तुम्हें तब आता था करुणेश
उन्ही मेरी भूलों पर प्यार !
गये तब से कितने युग बीत
हुए कितने दीपक निर्वाण
नहीं पर मैंने पाया सीख
तुम्हारा-सा मनमोहन गान।"

भूलों पर प्यार आने से व्यंग्य होता है कि प्रेम-पात्र ने अपने प्रति किये गये प्रेम-निवेदन को स्वीकार किया। प्रेम-निवेदन भी भूलों से ही ध्वनित हुआ है, और अन्त तक भूलते रहना यह व्यंग्य करता है कि निवेदयिता का मन कभी अपनी गान-शिक्षा पर जमा ही नही। वह सदा उन्ही भूलों को दुहराती रही जिन पर कोई न भूल सकनेवाला एक वार भूल चुका था। प्राचीन पण्डित इसे और भी अच्छा समझते, यदि कवि ने 'प्यार' आदि शब्दों का प्रयोग न किया होता।

यह सर्ववादिसम्मत मत है कि कविता में अलंकारों का स्थान सबसे नीचे है, यद्यपि यह बड़ी सहायक चीज है। जहाँ कवि सहज ही कोई वात नहीं कह सकता— उसकी भाषा फेल हो जाती है—तव वह रूपकों और उपमाओं की सहायता लेता है। वर्तमान हिन्दी-कविता में रूपकों की जटिलता बढ़ती जा रही है। कवि जिसे सहज ही कह सकता था, उसके लिए भी रूपकों की पल्टन खड़ी कर देता है। लाक्षणिक शब्दों का प्रयोग तो कभी-कभी बड़ा अप्रिय मालूम पड़ता है! कई जगह कठिन कष्ट-कल्पना किये बिना काम ही नहीं चलता।

प्रत्येक चिन्तन इस भित्ति को और भी कमजोर बनाता जा रहा है।

सम्मिलित परिवार की प्रथा अपने अन्तिम दिन देखने को है। आर्थिक दबाव में अव्वल तो युवक-युवतियाँ विवाह करना ही पसन्द नहीं करतीं, यदि किया भी तो, पेट की चिन्ता में एक भाई दूसरे को त्यागने के लिए बाध्य है। यूरोप और अमरीका में होटल परिवारों का स्थान ले चुके है, भारतवर्ष के बड़े-बड़े शहर भी इसका अनुकरण करने लगे हैं।

राजनीति और अर्थशास्त्र आज संसार की समस्या हो गये है। शान्ति और व्यवस्था के नाम पर अब तक जितने भी विधान बनाये गये हैं, वे अन्त में चलकर मानव-हित के परिपन्थी साबित हुए है। नागरिक, राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों के विशेषज्ञ ऐसे कानूनों की दिन-रात उद्भावना करते रहते है, जिनके बल पर पुराने नियमो को व्यर्थ सिद्ध किया जा सके। अपवादों ने नियमों को मात कर दिया है।

संसार की आर्थिक स्थिति बड़ी ही भयकर है। एक तरफ करोड़ों आदमी भूख की भीषण ज्वाला के शिकार बन रहे हैं, और दूसरी तरफ लाखों मन गल्ला इसलिए जला दिया जाता है कि वह सस्ता न होने पाये। शिकागो मे एक ही साल दो शास्त्र के विशेषज्ञों ने दो फतवे दिये। शरीर-शास्त्रियों ने बताया कि पाँच वर्ष की कम उम्र के बीस हजार बच्चे दूध के अभाव मे मर गये हैं, और दूध के व्यवसाय के विशेषज्ञों ने व्यवस्था दी कि कई हजार गैलन दूध अगर रोज नदी में न फेंक दिया जायगा, तो दूध का बाजार ही नष्ट हो जायगा। जिस साल महात्मा गांधी ने भारतीय गरीबों की वस्त्र समस्या हल करने के लिए चरखे का प्रचार आरम्भ किया, उसी साल अमरीका के व्यवसायियों का अर्थ-संकट दूर करने के लिए हजारों एकड़ का कपास कीड़ों को खिला दिया गया!

प्रजातन्त्र की नैया आज मँझधार मे डूबने जा रही है। संसार ने राजा का आदर्श छोड़ दिया, प्रजा के शासन में उससे न रहा जा सका। संसार के अधिकांश सभ्य देश आज न तो राजा के है और न प्रजा के! सारी सत्ता दो-एक स्वेच्छाचारी व्यक्तियों के हाथ मे है।

संसार की जनसंख्या भी एक भयंकर समस्या का रूप धारण करती जा रही है। 'भोजनं जन संकीर्णम्' का आदर्श आज बुरी तरह असफल सिद्ध हुआ है। विशेषज्ञ कभी सन्ततिनिरोध की ओर झुकते है, कभी ब्रह्मचर्य की ओर। यूरोप में पहली प्रथा ने समाज में उच्छृंखलता फैला दी है, भारतवर्ष मे दूसरी प्रथा ने समाज मे रोग का स्थान ग्रहण कर लिया है। भारतवर्ष की सामाजिक दुश्चिन्ता मे विधवाओं और साधुओं का विशेष स्थान है। रुद्रदेवता के सभी अस्त्र—युद्ध, प्लेग, हैजा इत्यादि इस प्रवर्धमान जनसंख्या की समस्या को हल करने में असमर्थ हुए हैं। आज सहृदय बुद्धिमान संसार मे आये हुए प्रत्येक नये प्राण को देखकर दीर्घ नि.श्वास के साथ सोचता है—क्या करेंगे ये भावी मनुष्य!

धर्म में हम ईश्वर, कर्म और नैतिकता को त्याग चुके हैं, पर हमारा कोई

का वह प्रथम दर्शन रावण के लिए किसी उत्कट लालसा का विष-बीज बो गया था—वह प्रलयंकर दर्शन काव्य का एक उत्कृष्ट विषय हो सकता है। उसने कभी सोचा नहीं कि दुर्योधन ने भरी सभा में पाण्डवों के सामने द्रौपदी का जो अपमान किया, वह उसके स्वयंवरदर्शन-सम्बन्धी उत्कट प्रेम की ही मानसिक प्रतिक्रिया थी—अपने निर्दलित प्रेम का भीषण प्रतिशोध था! प्राचीन कवि ने मनोवैज्ञानिक सत्य के नाम पर परम्परा-समर्पित मर्यादा पर कभी अविश्वास नहीं किया, इसीलिए उसमें असन्तोष का उद्भव हुआ ही नहीं।

प्राचीन कवि भी सृष्टि-व्यवस्था से असन्तुष्ट नहीं था, उसका पाठक भी उससे असन्तुष्ट नहीं था। उस युग के कवि और सहृदय प्राक्तन कर्म को, या भावी न्याय-व्यवस्था को विश्वास की दृष्टि से देखते थे। आज का कवि और सहृदय सृष्टि-व्यवस्था से उस प्रकार सन्तुष्ट नहीं है। आज स्त्री-पुरुष में अधिकार का झगड़ा है, स्वामी-सेवक में कर्त्तव्य का द्वन्द्व है, राजा-प्रजा में अधिकार की लड़ाई है—सर्वत्र समाज की रचना और मर्यादा सन्देह की दृष्टि से देखी जाती है। इन सभी बातों को देखते हुए यह समझ सकना आसान है कि सब समय प्राचीन मानदण्ड से आधुनिक काव्य की समीक्षा नहीं हो सकती। और न उन्नीसवीं शताब्दी के अंग्रेजी समालोचकों की बँधी-सधी बोलियाँ ही हमारी साहित्यिक सहृदयता में कुछ विशेष सहायता कर सकती हैं। बीसवीं शताब्दी के उत्तर-पूर्वार्ध में शिक्षित-सुसंस्कृत सहृदय से यह आशा करना बिलकुल अन्याय नहीं कि वह अठारहवीं और उन्नीसवीं शताब्दी के समालोचकों की उड़ती हुई बातों पर न जाय। जिन दिनों कहा जाता था कि कवि अपनी व्यक्ति-सत्ता (personality) विश्व ब्रह्माण्ड में प्रसारित कर अनुभव करता है, उन दिनों नृतत्त्वशास्त्र (anthropology) का जन्म भी नहीं हुआ था। मनोविज्ञान में मेस्मर की बात ही परम समझी जाती थी, जीवतत्त्व की आलोचना के प्रसंग में डार्विन का नाम भी सन्देह के साथ लिया जाता था और काम विज्ञान (sexology) तो एक भद्दा-सा शास्त्र माना जाता था! आज ज्ञान बहुत आगे बढ़ गया है। आज का कवि—अगर सचमुच वह आज का कवि है—इन सभी जटिलताओं से होकर सृष्टि के उस सामंजस्य को पा सका है, जिसे पुराने काल का कवि अपनी सहज एकान्त साधना में पाता था। आज का कवि या सहृदय पुराकाल के कवि या सहृदय से कुछ श्रेष्ठ नहीं हो गया है, पर इतना जरूर है कि पुराकाल में जो सहज सहज ही मिल सकता था, जमाने के गुण-दोष के कारण वह आज हमसे दूर हट गया है। हम जटिलता के दलदल में फँसने को बाध्य हैं। औसत आदमी इस दलदल में फँसा ही रह जाता है। कवि निरन्तर मार्ग निकालता है। न तो हमें प्राचीनता के प्रति पक्षपात करना चाहिए और न नवीनता के प्रति अन्याय—

'पुराणमित्येव न साधु सर्वं न चापि सर्वं नवमित्यवद्यम् ।'

उदाहरण के लिए समझा जाय—

मा ए धरो व अरणं अज्जहु णात्थि त्ति साहिअं तुमए।
ता भण कि करणिज्जं एमेअ ण वासरो ठाइ।

—'माँ, यह तो तुमने पहले ही बता रखा है कि आज घर के काम-धन्धे की कोई सामग्री नही। तो बताओ मुझे क्या करना है, दिन तो यों ही पड़ा नहीं रहेगा!'

वाग्देवतावतार तत्रभवान मम्मट ने इस श्लोक को व्यंग्यार्थ के प्रसग में उद्धृत किया है। इससे आपने यह ध्वनि निकाली है कि लड़की अपने प्रिय से मिलने के लिए व्याकुल है, अतएव वह गृह-कार्य का बहाना बनाकर बाहर जाना चाहती है—'अत्र स्वैर विहारार्थिनीति व्यज्ते।' श्लोक से यह बात साफ मालूम होती है कि घर के उपकरण नही हैं और यह बात बाहर जाने के लिए जरूरत से ज्यादा कारण हो सकती है। पर आज तक किसी सहृदय ने मम्मट की बात पर सन्देह नही किया, क्योंकि कवि ने जिस स्पिरिट मे कविता लिखी थी, मम्मट ने उस स्पिरिट को ठीक ही पकड़ा है। उस युग मे कोई समालोचक इस श्लोक से आत्मा-परमात्मा की मिलन-विरह-वेदना का आभास पाकर उपहासास्पद न बनता, क्योंकि उस युग मे आत्मा-परमात्मा सर्वत्र मिल सकते थे। इस श्लोक में न भी मिलते, तो कवि या सहृदय को कुछ चिन्ता न थी। एक नयी कविता देखी जाय, जिसमे विहारार्थिनी की व्यंजना अधिक साफ हो सकती थी, पर कोई सहृदय ऐसा व्यंग्यार्थ निकालकर इस युग में उपहासास्पद हुए विना न रह सकेगा—

आमि कोन् छले जाब घाटे?
शाखा थर थर पाता मर मर
छाया सुशीतल बाटे?
वेला वेशि नाइ दिन हल शोध
छाया वेड़े जाय पडे आसे रोद
ए वेला केमन काटे?
आमि कोन् छले जाब घाटे?

—रवीन्द्रनाथ : 'खेया'

—'मैं किस बहाने घाट पर जाऊँ? किस छल से उस रास्ते पर जाऊँ, जहाँ शाखाएँ थर-थर काँप रही है, पत्ते मर्मर ध्वनि कर रहे हैं। अब अधिक समय नहीं है, दिन समाप्त हो चला है, छाया बढ़ती जा रही है, धूप धीमी पड़ती जा रही है। हाय, यह समय कैसे कटेगा?—मैं किस बहाने घाट पर जाऊँ?'

एक दूसरा उदाहरण लिया जाय—

यः कौमार हरः स एव हि वरस्ता एव चैत्रक्षपा-
स्ते चोन्मीलित मालती सुरभयः प्रौढ़ाः कदम्बानिलाः

सा चैवास्मि तथापि तत्र सुरत व्यापार लीला विधौ-
रेवारोधसि वेतसी तरु तले चेतः समुत्कण्ठते !

—'जो मेरी कौमार्य अवस्था का साथी था, वही वह है, वही चैत की रातें हैं, खिली हुई मालती की वही भीनी-भीनी महक है, वही प्रौढ़ कदम्ब की हवा है, मैं भी वही हूँ; पर उसी रेवा नदी के तटवाले वेत के कुंज में पुराने प्रेम-व्यापार के लिए चित्त उत्कण्ठित हो गया है।'

महाप्रभु चैतन्यदेव जगन्नाथ दर्शन के लिए गये हुए थे। भगवान् की मूर्ति देखकर वे प्रेम-विह्वल होकर इस श्लोक को गाने लगे, गाते-गाते मूर्च्छित हो गये। भक्त लोग कुछ समझ ही न सके कि महाप्रभु को इस श्लोक मे कौन-सा रस मिल रहा है; परन्तु रूपगोस्वामी ने समझा। वे जानते थे कि महाप्रभु राधाभाव से श्रीकृष्ण की उपासना करते थे। मगर उन्हे भी इस नितान्त सांसारिक प्रेमपरक रचना से सन्तोष नही हुआ। उन्होंने इसे इस प्रकार सुधार लिया—

प्रियः सोऽयं कृष्णः सहचरि कुरुक्षेत्र मिलितः
तथाऽहं सा राधा तदिदमुभयोः संगमसुखम्।
तथाप्यन्तः खेलन्मधुर मुरली पंचम जुषे
मनो मे कालिन्दी पुलिन विपिनाय स्पृहयति।

—'हे सहचरि, यह वही प्रिय श्रीकृष्ण आज कुरुक्षेत्र में मिले हैं, मैं भी वही राधा हूँ, हम दोनों का संगम सुख भी वही है, तथापि मेरा मन कालिन्दी-पुलिन के उस विपिन के लिए उत्कण्ठित हो गया है, जहां पर खेलते समय भगवान् मधुर मुरली की पंचम तान छेड़ा करते थे!'

मध्ययुग मे कवि जब अपनी वासनाओं को उच्चतर भूमिका पर प्रतिष्ठित करना चाहता था, तो राधा और कृष्ण के नाम का सहारा लिया करता था। इन नामो के देने से कवित्व में भक्ति और धर्म का रस मिल जाया करता था, क्योंकि इन नामों के पीछे एक इतिहास था, एक साधना थी, एक निष्ठा थी। कवि के दोनों हाथ में मोदक हुआ करता था, सहृदय अगर रीझ गये, तो कविता, नही तो राधा और कृष्ण का सुमिरन!—'आगे के सुकवि रीझि हैं तो कविताई, न तु राधिका गुबिन्द सुमिरन को बहानो है।' आज अवस्था ठीक उलटी है। भगवान् के सम्बन्ध में कविता लिखते समय भी कवि ईश्वर-वाचक कोई शब्द रखना पसन्द नहीं करता। महाप्रभु सासारिक प्रेमपरक श्लोक में अध्यात्म-रस का अनुभव कर सकते थे, और आज का सहृदय भी संसार-प्रेम-परक सम्बोधनो और विशेषणों से अध्यात्म रस का आस्वाद करता है; मगर दोनों का आस्वादन दो चीजें हैं। महाप्रभु संसार में राधा-कृष्ण के अतिरिक्त और कुछ देखते ही न थे, इसलिए वे सर्वत्र 'उज्ज्वल रस' (श्रीकृष्ण-प्रेम-विषयक रस) को अनुभव करते थे, और आज का सहृदय संसार में अध्यात्म भाव को छोड़कर सब पाता है, इसलिए उसके भीतर की अतृप्त अध्यात्म-भावना छोटा-सा भी emotional या रसात्मक इंगित पाकर जाग उठती है। आज हम उपयोगिता के सम्बन्ध मे ईश्वर-जैसी किसी रहस्यमय वस्तु को पाने मे

असफल हो चुके हैं, पर हमारे हृदय में जो एक रहस्यमय आध्यात्मिक पिपासा रह गयी है; उसे हम रसमय सम्बन्ध में साक्षात् करते हैं। कहा है कि जो चीज किसी भी रूप में थी वह रहेगी ही :

'नासतो विद्यते भावः नाभावे विद्यते सतः।'

आदिमानव के मनोजगत् की जो रहस्यभावना मध्ययुग मे भगवान् के रूप में विशाल हो उठी थी, वह हँसकर उड़ा देने की चीज नही है। वह अभाव नहीं थी, अभाव हो भी नहीं गयी है। आज संसार में जब उस अतृप्त भावना के लिए अकुण्ठ मार्ग नहीं रह गया है तो रसमय काव्य-संसार में वह अवतीर्ण हुई है। आज इसीलिए महादेवीजी के इस गान मे सहृदय मनुष्य कविता के ऊपर का एक अनिर्वचनीय रस—'भाव' कहना अधिक ठीक होगा—पाता है :

'पथ देख बिता दी रैन, मैं प्रिय पहचानी नही !
तम ने धोया नभ-पन्थ सुवासित हिम-जल से,
सूने आँगन में दीप जला दिये झिलमिल से,
आ प्रात बुझा गया कौन अपरिचित जानी नहीं;
मैं प्रिय पहचानी नहीं !
धर कनक-थाल में मेघ सुवासित पाटल-सा !
कर बालारुण का कलश विहग-रव मंगल-सा,
आया प्रिय पथ से प्रात सुनायी कहानी नही !
मैं प्रिय पहचानी नहीं !
नव इन्द्रधनुप-सा चीर महावर अंजन ले,
अलि गुंजित मीलित पंकज—नूपुर रुनझुनु ले,
फिर आयी मनाने साँझ मैं बेसुध मानी नहीं !
मैं प्रिय पहचानी नहीं !
इन श्वासों के इतिहास आँकते युग बीते,
रोमों में भर-भर पुलक लौटते पल रीते,
यह ढुलक रही है याद नयन से पानी नही;
मैं प्रिय पहचानी नहीं !
अलि कुहरा-सा नभ विश्व मिटे बुद्बुद जल-सा
यह दुख का राज्य अनन्त रहेगा निश्चल-सा
हूँ प्रिय की अमर सुहागिनि पथ की निशानी नही !
मैं प्रिय पहचानी नहीं !"

लेकिन जिस प्रकार साधारण शब्दों से आध्यात्मिक रस मे छकने के कारण आज का औसत सहृदय और महाप्रभु चैतन्य एक ही श्रेणी के नहीं हैं, उसी प्रकार अपनी अनुभूतियों से गुजरती हुई उज्ज्वल रस के आस्वाद के कारण महादेवी और मीरा भी एक नहीं हैं। आज जमाने के अनिवार्य तरंगाघातों से हम जिन किनारे फेंक दिये गये हैं, वहाँ से चैतन्य और मीरा की ओर लौट सकना असम्भव है। जो

असफल हो चुके हैं, पर हमारे हृदय में जो एक रहस्यमय आध्यात्मिक पिपासा रह गयी है; उसे हम रसमय सम्बन्ध में साक्षात् करते हैं। कहा है कि जो चीज किसी भी रूप में थी वह रहेगी ही :

'नासतो विद्यते भावः नाभावे विद्यते सतः।'

आदिमानव के मनोजगत् की जो रहस्यभावना मध्ययुग में भगवान् के रूप में विशाल हो उठी थी, वह हँसकर उड़ा देने की चीज नही है। वह अभाव नहीं थी, अभाव हो भी नही गयी है। आज संसार में जब उस अतृप्त भावना के लिए अकुण्ठ मार्ग नहीं रह गया है तो रसमय काव्य-संसार में वह अवतीर्ण हुई है। आज इसीलिए महादेवीजी के इस गान में सहृदय मनुष्य कविता के ऊपर का एक अनिर्वचनीय रस—'भाव' कहना अधिक ठीक होगा—पाता है :

'पथ देख बिता दी रैन, मैं प्रिय पहचानी नहीं !
तम ने धोया नभ-पन्थ सुवासित हिम-जल से,
सूने आँगन में दीप जला दिये झिलमिल से,
आ प्रात बुझा गया कौन अपरिचित जानी नही;
मैं प्रिय पहचानी नहीं !
धर कनक-थाल में मेघ सुवासित पाटल-सा !
कर बालारुण का कलश विहग-रव मंगल-सा,
आया प्रिय पथ से प्रात सुनायी कहानी नही !
मैं प्रिय पहचानी नहीं !
नव इन्द्रधनुप-सा चीर महावर अंजन ले,
अलि गुंजित मीलित पंकज—नूपुर रुनझुनु ले,
फिर आयी मनाने साँझ मैं वेसुध मानी नही !
मैं प्रिय पहचानी नही !
इन श्वासों के इतिहास आँकते युग बीते,
रोमों में भर-भर पुलक लौटते पल रीते,
यह ढुलक रही है याद नयन से पानी नहीं;
मैं प्रिय पहचानी नहीं !
अलि कुहरा-सा नभ विश्व मिटे बुद्बुद जल-सा
यह दुख का राज्य अनन्त रहेगा निश्चल-सा
हूँ प्रिय की अमर सुहागिनि पथ की निशानी नही !
मैं प्रिय पहचानी नहीं !"

लेकिन जिस प्रकार साधारण शब्दों से आध्यात्मिक रस ले सकने के कारण आज का औसत सहृदय और महाप्रभु चैतन्य एक ही श्रेणी के नहीं हैं, उसी प्रकार अपनी अनुभूतियों से गुजरती हुई उज्ज्वल रस के आस्वाद के कारण महादेवी और मीरा भी एक नहीं हैं। आज जमाने के अनिवार्य तरंगाघातों ने हम जिस किनारे फेंक दिये गये हैं, वहाँ से चैतन्य और मीरा की ओर लौट सकना असम्भव है। जो

लोग मीरा में महादेवीजी की अध्यात्म-भावनाओं का अस्तित्व पाया करते हैं, वे न जाने क्या कहते है ! इतना निःसंकोच कहा जा सकता है कि वे मीरा को छोटी समझ लेते है और महादेवी को पिछड़ी हुई ! यह एक निर्विवाद सत्य है कि मीरा मध्य-युग की भक्त थी, महादेवी वर्त्तमान युग की कवि। इससे न कोई कम है, न अधिक।

आज के कवि के सामने दो सत्य हैं। आसमान मे रात को जो ग्रह-नक्षत्र दिखते हैं, वे छोटे-छोटे दीपक के समान झिलमिलाते रहते है। रात को दिखायी देते हैं, सुबह न जाने कौन बुझा जाता है। यह अत्यन्त सहज सत्य है। लेकिन विज्ञान के पण्डित ने अपनी प्रयोगशाला मे एक दूसरे सत्य का आविष्कार किया है। ये जो नन्हे-नन्हे दीप-शिखाभ ज्योतिष्क पिण्ड दीख रहे हैं, वे करोड़ों योजन आयतनवाले प्रकाशराशि हैं और लाखों योजन प्रति घण्टे के हिसाब से अपरिसीम ब्रह्माण्ड की प्रदक्षिणा कर रहे है। इनमें से किसी एक का हजारवाँ हिस्सा भी स्खलित होकर यदि हमारी धरती पर आ गिरे, तो पृथिवी चूर-चूर हो जाय। कवि की विशेषता यह है कि वैज्ञानिक पण्डित्य की जटिलता पर गुजरता हुआ भी वह उस पर विजयी होता है। उस समय वह सहज बात को सहज ही कह जाता है, और एक नगण्य 'तो' या 'किन्तु' या 'तो भी' में असीमता को व्यंग्य कर जाता है। महादेवीजी ऊपर के पद्य में सारी जटिलताओं पर विजयी होकर बहुत सहज भाव से सहज बात कह गयी है। हमारी आलोच्य पुस्तकों मे इतना सहज भाव किसी में नहीं है, इसीलिए महादेवी की कविता ज्यादा पुरअसर हुई है ; लेकिन वे सम्पूर्ण सहज नहीं हो पायी हैं। उनकी कविता मे अगर सदा यह ध्यान न रखा जाय कि उनका प्रिय एक असीम और रहस्यमय प्रिय है, तो रस-बोध मे पद-पद पर बाधा पहुँचती रहेगी। उसे सहज प्रेम-व्यापार का सहज चित्र समझना मुश्किल है। होना यह चाहिए कि उसे सहज चित्र समझकर भी उससे अनिर्वचनीय उज्ज्वलरस का आस्वादन सुकर हो जाय। लेकिन ऐसा हो सकना क्या सम्भव है ? अपनी धारणा यह है कि ऐसा हो सकना सम्भव है। उदाहरण के लिए, हम रवीन्द्रनाथ की यह कविता उद्धृत कर सकते हैं :

1. ओगो मा,

राजार दुलाल जावे आजि मोर घरेर समुख पथे
आजि ए प्रभाते गृहकाज लये रहिब बलो की मते
बले दे आमाय की करिब साज,
की छाँदे कबरी बेंधे लव आज,
परिव अंगे केमन भंगे कोन बरनेर बास
मागो, की हलो तोमार, अवाक् नयने मुखपाने केन चास् आमि दाँड़ाब
जेथाय वातायन कोने
से चावे ना सेथा ताहा जानि मने,

फेलिते निमेष देखा हवे शेष जावे से सुदूर पुरे,
शुधु सगेर बांशि कोन माठ हते वाजिवे व्याकुल सुरे।
तुबु राजार दुलाल जावे आजि मोर घरे समुख पथे,
शुधु से निमेष लागि ना करिया वेश रहिब बलो की मते।

2. ओगो मा,
राजार दुलाल गेल चलि मोर घरेर समुख पथे,
प्रभातेर आलो झलिल ताहार स्वर्ण शिखर रथे।
घोमटा खसाये वातायन थेके
निमेषेर लागि नियेछि मा देखे,
छिड़ि मनिहार फेले छि ताहार पथेर धुलार परे
मागो, की हलो तोमार अवाक् नयने चाहिस किसेर तेरे
मोर हार छेंड़ा मनि नेयनि कुड़ाये
रथेर चाकाय गेछे से गुड़ाये
चाकार चिह्न घरेर समुखे पड़े आछे शुधु आंको।
आमि कि दिलेम करि जाने ना से केउ धूलाय रहिल ढांको।
तुबु राजार दुलाल गेल चलि मोर घरेर समुख पथे,
मोर, वक्षेर मनि ना फेलिया दिया रहिब वलो की मते।

[1. मा, राजा का दुलारा कुंवर आज मेरे घर के सामनेवाले रास्ते से जायगा। आज इस प्रभात को, तुम्ही बताओ, घर का काम-काज लिये कैसे पड़ी रहूँ? मुझे बता दे अम्मा, कौन-सा शृंगार करूँ, किस प्रकार अपना केश सँवारूँ—कवरी बांध लूं, किस तरह, किस रंग की, कौन-सी साड़ी पहन लूं?

मा, तुम्हें हो क्या गया? इस प्रकार अवाक् नयनों से मेरे मुँह की ओर क्यो ताक रही हो? मैं किस खिड़की के कोने खड़ी हूँगी, ठीक जानती हूँ, वह उस तरफ देखेगा भी नही। पलक मारते-मारते झांकी समाप्त हो जायगी, वह सुदूर-वर्त्ती नगर को चला जायेगा। केवल किसी मैदान की वशी सुदूर मैदान से न जाने किस व्याकुल सुर में बजा करेगी। तो भी, राजा का दुलारा कुंवर जब आज मेरे घर के सामनेवाले रास्ते से जायगा, तो केवल उस क्षण के लिए, तुम्ही बताओ, विना शृंगार किये कैसे रहूँ?]

[2. 'अम्मा! राजा का दुलारा कुंवर मेरे घर के सामनेवाले रास्ते से निकल गया, प्रभात का प्रकाश उसके स्वर्ण-शिखर रथ पर झिलमिला रहा था। घूंघट हटाकर खिड़की से, मैंने क्षण-भर के लिए देख लिया है; मणियों का हार तोड़कर उसके रास्ते की धूल पर फेंक दिया है!

मा, तुम्हें हो क्या गया? इस प्रकार अवाक् नयनो से क्यों देख रही हो? मेरे छिन्न हार के मणियों को उसने बटोर नही लिया, वे तो रथ के पहिये के नीचे चूर्ण हो गयीं! सिर्फ रथ के पहियों की लीक घर के सामनेवाले रास्ते पर अंकित पड़ी

लोग मीरा में महादेवीजी की अध्यात्म-भावनाओं का अ
जाने क्या कहते हैं ! इतना निःसंकोच कहा जा सकता है
लेते हैं और महादेवी को पिछड़ी हुई ! यह एक निर्विव
युग की भक्त थी, महादेवी वर्त्तमान युग की कवि। इससे

आज के कवि के सामने दो सत्य हैं। आसमान में रात
वे छोटे-छोटे दीपक के समान झिलमिलाते रहते है।
सुबह न जाने कौन बुझा जाता है। यह अत्यन्त सहज
पण्डित ने अपनी प्रयोगशाला में एक दूसरे सत्य का
नन्हे-नन्हे दीप-शिखाभ ज्योतिष्क पिण्ड दीख रहे है, वे
प्रकाशराशि है और लाखों योजन प्रति घण्टे के हिसा
प्रदक्षिणा कर रहे है। इनमें से किसी एक का हजारवां
यदि हमारी धरती पर आ गिरे, तो पृथिवी चूर-चूर हो
यह है कि वैज्ञानिक पण्डित्य की जटिलता पर गुजरता हु
होता है। उस समय वह सहज बात को सहज ही कह जा
या 'किन्तु' या 'तो भी' में असीमता को व्यंग्य कर जात
पथ मे सारी जटिलताओं पर विजयी होकर बहुत सह
गयी है। हमारी आलोच्य पुस्तको मे इतना सहज भाव
महादेवी की कविता ज्यादा पुरअसर हुई है ; लेकिन
पायी हैं। उनकी कविता में अगर सदा यह ध्यान न रखा
असीम और रहस्यमय प्रिय है, तो रस-बोध मे पद-पद पर
उसे सहज प्रेम-व्यापार का सहज चित्र समझना मुश्किल है
उसे सहज चित्र समझकर भी उससे अनिर्वचनीय उज्ज्वल
हो जाय। लेकिन ऐसा हो सकना क्या सम्भव है ? अपनी
हो सकना सम्भव है। उदाहरण के लिए, हम रवीन्द्रनाथ
कर सकते हैं :

1. ओगो मा,

राजार दुलाल जावे आजि मोर घरेर समुख पथे
आजि ए प्रभाते गृहकाज लये रहिब बलो की मते
बले दे आमाय की करिब साज,
की छांदे कवरी बेंधे लब आज,
परिब अंगे केमन भंगे कोन वरनेर बास
मागो, की हलो तोमार, अवाक् नयने मुखपाने केन चा
जेथाय वातायन कोने
से चावे ना सेथा ताहा जानि मने,

होता भी नहीं ! 'पाथेय' का कवि सदा चिन्ता करता है। वह जहाँ अत्यन्त सहज भाव में कोई बात कह जाता है, वहाँ भी वह कुछ-न-कुछ सोचने की-सी हालत में रहता है। वह भी एक रहस्यमय सत्य की ओर इशारा करता है, और महादेवीजी भी करती हैं। लेकिन 'पाथेय' और 'नीरजा' के कवियों मे एक अन्तर सर्वदा बना रहता है। 'पाथेय' में कवि इशारा 'करता' रहता है, 'नीरजा' में इशारा 'होता' रहता है।

संसार आज दिन भयंकर द्वन्द्वों से कातर है, उससे बच सकने के लिए 'नीरजा' मे एक सन्देश है, 'पाथेय' में भी है; पर वह बहुत सीमित है। संसार के सामने केवल आध्यात्मिक समस्या ही नहीं है, प्रेम और अधिकार की मुठभेड़ नहीं है, और भी बहुत-सी बातें हैं। वर्त्तमान हिन्दी-कविता अपनी संकीर्ण सीमा का अतिक्रम कर चुकी है। वह संसार की वस्तु होने चली है। उसके पैरों मे बल जिस मात्रा में अपेक्षित है, उस मात्रा में नहीं आ सका है, उसके लिए जितने पाथेय की जरूरत है, उतना अभी संग्रह नहीं हो पाया है; पर लक्षण शुभ हैं। कवियों की कविताएँ हमें निश्चिन्त होने का आश्वासन दे रही हैं। वर्त्तमान हिन्दी-कवि अपनी संकीर्ण सीमा के पार जाकर भी हमारे लिए नये उल्लास और नयी आशा को लेकर लौटेगा, यही आशा करनी चाहिए—

गृह-कपोत हूँ मैं उड़ने दो
मुझको पंख पसार
नहीं हर सकेगा अनन्त भी
मेरे घर का प्यार।
चिन्ता की क्या बात सखे,
यदि हूँ मैं पूरा वर्ष,
लौट पड़ूँगा क्षण मे ही मैं
ले नूतन का हर्ष।—'पाथेय'

[आधुनिक हिन्दी साहित्य से]

हुई है। मैंने किसे क्या दिया, यह कोई नहीं जानता, वह तो धूल में ढका पड़ा हुआ है !

तो भी, मा, राजा का दुलारा कुँवर जब आज मेरे घर के सामनेवाले रास्ते से चला गया, तो तुम्हीं बताओ, अपने वक्षस्थल की मणि फेंक दिये बिना मैं कैसे रहती ?]

इस सहज चित्र के ऊपर कोई टीका करना अन्याय है। यहाँ इतना और कह रखना उचित है कि अपने किसी-किसी गान में महादेवीजी भी काफी सहज हो सकी हैं।

एक दूसरे ढंग का सहज भाव हमें 'पाथेय' में मिलता है। एक उदाहरण लिया जाय—

किन्तु बन्धु, कौतूहलावेश में,
पूछते हो जब तुम
मेरे दूर देश में
कैसे हैं कुसुम—
और कैसे लता-गुल्म-द्रुम;
कैसे पशु-पक्षियों से पूर्ण हैं वहाँ के वन,
कैसी मृत्तिका है, जल कैसा और कैसे जन ;
विस्मय में डूब उठता है तब मेरा मन।
जिन सब क्षुद्र-क्षुद्र वस्तुओं की नूतनता
मेरी दृष्टियों से घिसके सहस्र बार
मेरे लिए हो चुकी थी दूरगता ;
वे सब तुम्हारे लिए कैसी ज्ञेय
कैसी प्रेय,
कितनी रहस्यागार !
धन्य यह मेरा हुआ आना यहाँ !
पहली ही बार यह जाना यहाँ—
भिक्षुक ही बनकर
तुच्छता के पंक में ही सनकर
व्यर्थ नहीं आया हूँ
दुर्लभता मैं भी कुछ साथ लाया हूँ !

'पाथेय' का कवि जिस अज्ञात लोक से अनादिकाल से चलता आ रहा है, उस लोक की चीजें भी कैसी होंगी—वहाँ के लता-गुल्म, वहाँ के पशु-पक्षी, वहाँ का जनसमुदाय, सब एक रहस्यमय सौन्दर्य के आवरण में ढके होंगे। इस बात का ज्ञान कवि को स्वयं नहीं हुआ है। अगर वह इस माया के मोहक नगर में न आता, तो

होता भी नही ! 'पाथेय' का कवि सदा चिन्ता करता है। वह जहाँ अत्यन्त सहज भाव में कोई बात कह जाता है, वहाँ भी वह कुछ-न-कुछ सोचने की-सी हालत मे रहता है। वह भी एक रहस्यमय सत्य की ओर इशारा करता है, और महादेवीजी भी करती हैं। लेकिन 'पाथेय' और 'नीरजा' के कवियों में एक अन्तर सर्वदा बना रहता है। 'पाथेय' में कवि इशारा 'करता' रहता है, 'नीरजा' मे इशारा 'होता' रहता है।

संसार आज दिन भयंकर द्वन्द्वो से कातर है, उससे बच सकने के लिए 'नीरजा' मे एक सन्देश है, 'पाथेय' में भी है; पर वह बहुत सीमित है। संसार के सामने केवल आध्यात्मिक समस्या ही नही है, प्रेम और अधिकार की मुठभेड़ नही है, और भी बहुत-सी बातें हैं। वर्त्तमान हिन्दी-कविता अपनी संकीर्ण सीमा का अतिक्रम कर चुकी है। वह संसार की वस्तु होने चली है। उसके पैरों में बल जिस मात्रा में अपेक्षित है, उस मात्रा में नहीं आ सका है, उसके लिए जितने पाथेय की जरूरत है, उतना अभी संग्रह नही हो पाया है; पर लक्षण शुभ है। कवियों की कविताएँ हमें निश्चिन्त होने का आश्वासन दे रही हैं। वर्त्तमान हिन्दी-कवि अपनी संकीर्ण सीमा के पार जाकर भी हमारे लिए नये उल्लास और नयी आशा को लेकर लौटेगा, यही आशा करनी चाहिए—

गृह-कपोत हूँ मैं उड़ने दो
मुझको पंख पसार
नही हर सकेगा अनन्त भी
मेरे घर का प्यार।
चिन्ता की क्या बात सखे,
यदि हूँ मैं पूरा वर्ष,
लौट पड़ूँगा क्षण में ही मैं
ले नूतन का हर्ष।—'पाथेय'

[आधुनिक हिन्दी साहित्य से]

महिलाओं की लिखी कहानियाँ

प्रचलित विश्वास यह है कि स्त्री को स्त्री ही ठीक-ठीक समझ सकती है और वही उसको ठीक व्यक्त कर सकती है। इसके साथ जो अनुमान अपने-आप उपस्थित होता है, उसे प्रायः भुला दिया जाता है। यह अनुमान यह है कि पुरुष को पुरुष ही समझ सकता है और वही उसे व्यक्त कर सकता है। स्पष्ट ही यह अनुमान सत्य से बहुत दूर है और इसीलिए उसकी अनुमापक प्रतिज्ञा भी उतनी ही असत्य है। यह विचार कि स्त्री ही स्त्री को समझ सकती है और पुरुष स्त्री को नहीं समझ सकता, किसी बहके दिमाग की कल्पना-मात्र है। वस्तुस्थिति कुछ और है। उसका कारण पुरुष और स्त्री के सहयोग के विकास से समझा जा सकता है।

कहते हैं सभ्यता का आरम्भ स्त्री ने किया था। वह प्रकृति के नियमों से मजबूर थी; पुरुष की भाँति वह उच्छृंखल शिकारी की भाँति नहीं रह सकती थी। झोंपड़ी उसने बनायी थी, अग्नि-संरक्षण का आविष्कार उसने किया था, कृषि का आरम्भ उसने किया था; पुरुष निरर्गल था; स्त्री सुशृंखल। पुरुष का पौरुष प्रतिद्वन्द्वी के पछाड़ने में व्यक्त होता था, स्त्री का स्त्रीत्व प्रतिवेदिनी की सहायता में। एक प्रतिद्वन्द्विता में बढ़ा, दूसरा सहयोगिता में। स्त्री पुरुष को गृह की ओर खींचने का प्रयत्न करती रही, पुरुष बन्धन तोड़कर भागने का प्रयत्न करता रहा। सभ्यता बढ़ती गयी, स्त्री और पुरुष का सम्बन्ध ऐसा ही बना रहा। पुरुष ने बड़े-बड़े धर्म-सम्प्रदाय खड़े किये—भागने के लिए। स्त्री ने सब चूर्ण-विचूर्ण कर दिया—माया से। पुरुष का सबकुछ प्रकट था, स्त्री का सबकुछ रहस्यावृत। पुरुष जब उसकी ओर आकर्षित हुआ तब उसे गलत समझकर, जब उससे भागा तब भी गलत समझकर। उसे स्त्री को गलत समझने में मजा आता रहा, अपनी भूल को सुधारने की उसने कभी कोशिश ही नहीं की। इसीलिए वह बराबर हारता रहा। स्त्री ने उसे कभी गलत नही समझा। वह अपनी सच्ची परिस्थिति को छिपाये रही। वह अन्त तक रहस्य बनी रही। किसी ने कहा है कि दुनिया का अन्तिम शास्त्र मानव मनोविज्ञान होगा और उस शास्त्र की अन्तिम समस्या स्त्री होगी। रहस्य बनी रहने में उसे भी कुछ आनन्द मिलता था। इसीलिए जीतती भी रही और कष्ट भी पाती रही। अचानक व्यावसायिक क्रान्ति हुई, कृषिमूलक सभ्यता पिछड़ गयी, परिवार और वर्ग की भावना ह्रास होने लगी, नगर स्फीत होने लगे, और वैयक्तिक स्वाधीनता जोर मारने लगी। इस बार सत्य के अनुसन्धान की आँधी बही। स्त्री रहस्य रहे, यह बात इस युग को पसन्द न आयी; न पुरुष को, न स्त्री को। पुरुष ने भी स्त्री को समझने की कोशिश की और स्त्री ने भी इस कार्य में उसे सहायता पहुँचायी और साहित्य नये सुर में बजने लगा। पुरुष ने भी स्त्री को समझा, पर वह अपने हजारों वर्ष के संस्कार से लाचार था, उसने कल्पना का पुट लगा दिया। गलत समझने मे उसे मजा आता था, हालाँकि समझने में उसने गलती नही की।

स्त्री भी अपने संस्कारों से मजबूर थी, उसने अपने को थोड़ा-सा रहस्य में रखना उचित समझा, हालाँकि इस रहस्य को समझाने में उसने हमेशा गलती की। इसीलिए पुरुष का जब स्त्री-चित्रण पढ़ा जाय तो उसकी कल्पनात्मक प्रवृत्ति से सदा सतर्क रहना चाहिए और स्त्री का जब स्त्री-चित्रण पढा जाय तो उसकी रहस्यात्मक प्रवृत्ति से भी सावधान रहना चाहिए। यह गलत बात है कि स्त्रियाँ पुरुष को नहीं समझ सकती, और पुरुष स्त्रियों को नही समझ सकते, पर यह और भी गलत बात है कि स्त्री वस्तुतः वैसी ही है जैसी स्त्री के द्वारा चित्रित है, या वैसी नही है जैसी पुरुष द्वारा कल्पित है।

स्त्री का हजारों वर्ष का अनुभव है कि पुरुष उसे गलत समझता है, इसलिए साहित्य में उसका प्रयत्न सदा स्त्री की वस्तुस्थिति को स्पष्ट करने का होता है, पर वह स्त्री को चूँकि अनजान में कुछ अज्ञात रखना चाहती है, इसलिए स्वभावतः ही स्त्री के प्रति होनेवाले अविचारों के विषय मे उसका रुख अधिकतर शिकायतो के रूप मे प्रकट होता है। कभी वह समाज-व्यवस्था पर, कभी पुरुषजाति पर, कभी बाह्य घटनाओं पर दोषारोपण करती है। यह एक लक्ष्य करने की बात है कि स्त्री का चित्रित दुःखित स्त्री-पात्र शायद ही कभी अपने आन्तरिक विकास के कारण दुःखी होता हो। उसके दुःखी होने का कारण भीतर नही, बाहर हुआ करता है। अगर लेखिका की कल्पना किसी और समाज-व्यवस्था का सर्जन कर सके तो निश्चित है कि स्त्री-पात्र कभी दुःखी न होगे!

वैयक्तिक स्वाधीनता के प्रवेश ने स्त्री-साहित्य मे एक नया अध्याय जोड़ा है। अधिकांश स्त्री-चरित्र का चित्रण दुःखी के रूप में न होता यदि व्यक्तिवाद स्त्री-लेखिकाओं का सर्वाधिक जबर्दस्त सुर न होता। अधिकाश स्थलों पर जहाँ स्त्री-चरित्र के दुःखपूर्ण होने का कारण समाज-व्यवस्था या पुरुष की स्वार्थान्धता होती है, वहाँ स्त्री के भीतर वैयक्तिक स्वाधीनता का जबर्दस्त प्रभाव होता है। पर इस विषय में पुरुष-लेखकों को स्त्री-लेखिकाओ से बहुत-कुछ सीखना है। मनुष्य के दो प्रधान संस्कार है, व्यक्तिगत सुख-लिप्सा और सामाजिक सहयोग-भाव। यदि अन्य जन्तुओं की भाँति पुरुष व्यक्तिगत रूप से स्वच्छन्द होकर घूमता रहता तो निश्चय जीवन की लड़ाई में हार गया होता। वर्गरूप में रहकर ही उसने संसार के हिंसक जन्तुओ से मोर्चा लिया है और विजयी हुआ है। पुरुष-लेखक मे जब वैयक्तिकता का जोर पूरी मात्रा में होता है तब वह दूसरी प्रवृत्ति को बुरी तरह मसल देता है, पर स्त्री सदा संयत रही है। स्त्री-साहित्य का सबसे बड़ा दान आधुनिक साहित्य में यही है। उसने वैयक्तिकता के मुँहजोर घोड़े को सामाजिकता की कठोर लगाम से संयत किया है। इन बातों को ध्यान मे रखकर ही हम आगे की विवेचना मे उतरें तो अच्छा रहे।

श्रीमती शिवरानीदेवी की 'कौमुदी' को छोड़ दिया जाय तो आलोच्य पुस्तकों

में से अधिकांश की कहानियों का मूल उपादान मध्यवर्ग के हिन्दू-परिवार की अशान्तिकर अवस्था है। 'कौमुदी' मे भी यह बात है, पर उसको हमने अलग इसलिए रखा है कि उसकी लेखिका इन बातों को छाँटते समय ठीक वही बातें नहीं सोचती हुई जान पड़ती जो बाकी पुस्तकों में स्पष्ट हुई हैं। सास, जेठानी और पति के अत्याचार, स्त्री की पराधीनता, उसे पढ़ने-लिखने या दूसरों से बात करने मे बाधा इत्यादि बातें ही नाना भावों और नाना रूपों में कही गयी हैं। सुभद्रादेवी के 'बिखरे मोती' इस विषय मे सर्वप्रथम है।'पिकनिक' और 'निसर्ग' में ये बातें कुछ गौण स्थान अधिकार करती हैं। ऐसे प्रसंगों पर सर्वत्र एक दुःखपूर्ण स्वर कहानी की परिणति होता है जो चरित्र के भीतरी विकास से नही बल्कि सामाजिक बाह्य परिस्थितियों के साथ दुःखी व्यक्ति के असामंजस्य के कारण होती है। अधिकतर लेखिकाओं की सहानुभूति सदा वधुओं की ओर रहती है, वह पति-पत्नी में पत्नी की ओर, सास-बहू में बहू की ओर, जेठानी-देवरानी मे देवरानी की ओर, जाती है। इस प्रकार स्पष्ट है कि लेखिकाओं का पक्षपात आधुनिकाओं के ऊपर है। इसका कारण उनके मन में का आदर्श-घटित द्वन्द्व है। वैयक्तिक स्वाधीनता के इस युग में वैयक्तिकता का आदर्श अपेक्षाकृत तरुण युवक-युवतियो में अधिक प्रतिष्ठित हुआ है। सुभद्रादेवी के चरित्रों में इस आदर्श की जो रूप-प्राप्ति हुई है वह अच्छा उदाहरण हो सकती है, इसलिए उनके सम्बन्ध में अपनी बात कुछ विस्तार के साथ कहने का प्रयत्न किया जाता है।

सुभद्राजी की कहानियों में से अधिकांश जैसा कि ऊपर ही कहा गया है, बहुओं को, विशेषकर शिक्षित बहुओं के दुःखपूर्ण जीवन को, लेकर लिखी गयी हैं। निस्सन्देह वे इसकी अधिकारिणी हैं। उन्होने किताबी ज्ञान के आधार पर या सुनी-सुनायी बातों को आश्रय करके कहानियाँ नही लिखी वरन् अपने अनुभवों को ही कहानियों मे रूपान्तरित किया है। निस्सन्देह उनके स्त्री-चरित्रो का चित्रण अत्यन्त मार्मिक और स्वाभाविक हुआ है, फिर भी जो बात अत्यन्त स्पष्ट है वह यह है कि उनकी कहानियों मे समाज-व्यवस्था के प्रति एक नकारात्मक घृणा ही व्यंग्य होती है। पाठक यह तो सोचता रहता है कि समाज युवतियों के प्रति कितना निर्दय और कठोर है, पर उनके चरित्र में ऐसी भीतरी शक्ति या विद्रोह-भावना नही पायी जाती जो समाज की इस निर्दयतापूर्ण व्यवस्था को अस्वीकार कर सके। उनके पाठक-पाठिकाएँ इस कुचक्र से छूटने का कोई रास्ता नही पाती। इन कहानियो में शायद ही कही चरित्र को वह मानसिक दृढ़ता मिलती हो जो स्वेच्छापूर्वक समाज की बलि-वेदी पर बलि होने का प्रतिवाद करे। इसके विरुद्ध उनके चरित्र अत्यन्त निरुपाय-से होकर समाज की वह्निशिखा में अपने को होम करके दुनिया की आँखो से ओझल हो जाते हैं। स्पष्ट ही यह दोष है। परन्तु ध्रु

पात्रों के अन्तस्तल में वे बड़ी आसानी से पहुँच जाती हैं। सुभद्राजी के पात्रों की सहज वुद्धि विहार की अपेक्षा परिहार की ओर, जूझने की अपेक्षा भागने की ओर, क्रिया की अपेक्षा निष्क्रियता की ओर अधिक झुकी हुई है। मनोविज्ञान के पण्डित इसको निगेटिव कैरैक्टर या नकारात्मक चरित्र के लक्षण बताते हैं। अभी हाल में एक समाजशास्त्री का विश्वास था कि स्त्री का हृदय नेगेटिव या नकारात्मक होता है और पुरुष का हृदय पाजिटिव या धनात्मक होता है। समाजशास्त्र के अभिनव प्रयोग से यह विश्वास जाता रहा है, पर इस बात में कोई सन्देह नहीं कि स्त्री का हृदय अधिकांशतः निगेटिव या नकारात्मक है। जहाँ स्त्री-शिक्षा का अभाव है, पुरुष और स्त्री की दुनिया अलग-अलग है, वहाँ तो निश्चित रूप से स्त्री में नकारात्मक चरित्र की प्रधानता होती है। और समाज स्त्री के लिए जिन भूषण-रूप आदर्शों का विधान करता है उनमें एकान्त-निष्ठा, व्रीडा, आत्मगोपनता और विनयशीलता आदि नकारात्मक गुणों की प्रधानता होती है। इस दृष्टि से सुभद्राजी की कहानियों में भारतीय स्त्री का सच्चा चित्रण हुआ है। वे भारतीय स्त्रीत्व की सच्ची प्रतिनिधि बन सकी हैं। ऊपर जिस दोष का उल्लेख किया गया है वह सच्ची परिस्थिति के चित्रण-रूप गुण से प्रक्षालित नहीं हो जाता; क्योंकि उसमें लेखिका की वह असफलता प्रकट होती है जो भारतीय स्त्री को यथार्थता के साथ वैयक्तिक स्वाधीनता के आदर्शों का सामंजस्य न कर सकने के कारण हुई है।

आदर्शगत सामंजस्य जो उपस्थित किया जा सकता है, उसका उत्तम उदाहरण शिवरानीजी की 'कौमुदी' की कई कहानियाँ हैं। 'आँसू की दो बूँदें' एक टिपिकल उदाहरण है। सुरेश की बेवफाई कनक के विनाश का कारण नहीं हो जाती। वह अपने लिए दूसरा रास्ता खोज निकालती है। वह रास्ता सेवा का है। अगर उसका प्रेम नकारात्मक होता, अर्थात् उसमें लोभ की जगह विराग होता, तो क्रोध के स्थान पर भय का प्रादुर्भाव होता, आश्चर्य की जगह सन्देह का उदय होता, सामाजिकता की अपेक्षा एकान्तनिष्ठा का प्रावल्य होता। संगमेच्छा की जगह व्रीड़ा का प्रावल्य होता तो शायद आत्मघात कर लेती। स्पष्ट ही 'भारतीय स्त्री' नामक पदार्थ उसमें कम है। भारतीय स्त्री के आदर्श के अनुकूल चरित्र में वही गुण होने चाहिए जो कनक में नहीं पाये जाते। इसलिए कनक भारतीय स्त्री-समाज की प्रतिनिधि हो या न हो, उस आधुनिक आदर्श की प्रतिनिधि जरूर है, जो व्यक्ति-स्वाधीनता और सामाजिक मंगलबोध के सामंजस्य में से अपना रास्ता निकालता है। सुभद्राजी उन वस्तुओं की प्रतिनिधि हैं जो उनकी कहानी के उपादान हैं, शिवरानीजी उस आदर्श की प्रतिनिधि हैं जो इस जाति की कहानियों की जान है।

कमलादेवी का 'पिकनिक' और होमवतीदेवी की 'निसर्ग' इन दोनों के बीच की चीज है। कमलादेवी अपने चरित्रों, उनकी क्रियाओं और उनकी परिणति की ओर जितनी सयत्न हैं उतनी उन रूढ़ विधियों की ओर नहीं जो इन चरित्रों, क्रियाओं और परिणतियों का नियमन करती है। 'निसर्ग' में होमवतीदेवी इस ओर अधिक झुकी हैं। इसलिए कमलादेवी में जहाँ वैयक्तिक स्वाधीनता के प्रति पक्षपात

का स्वर प्रधान हो उठा है, वहाँ होमवतीदेवी में रूढ़ियों की प्रधानता का स्वर। शायद यही कारण है कि कमलादेवी अपने चरित्रों में अनुभव के द्वारा काट-छाँट (विश्लेपण) करती हैं और होमवतीदेवी कल्पना के द्वारा उन्हें मांसल करने की चेष्टा करती हैं।

प्रायः सभी कहानियों मे जीवन को समझने का प्रयत्न किया गया है, पर रास्ता सर्वत्र प्रायः एक ही है। यह रास्ता सामाजिक विधि-निपेधों के भीतर से होकर निकाला गया है। प्रत्येक चरित्र की परिणति और प्रत्येक घटना का सूत्रपात किसी सामाजिक विधि-निपेध के भीतर से होता दिखाया गया है। सम्भवतः यही हमारी बहनों का विशेप दृष्टिकोण हो। परन्तु उपहासच्छल से, आनुपंगिक रूप से या प्रतिपेध्य रूप मे भी जीवन तक पहुँचने की तत्तद् विभिन्न दृष्टियों की कोई चर्चा होने से यह सन्देह हो सकता है कि उन्होने या तो जान-बूझकर या अनजान में जीवन को सांगोपांग रूप में और सब पहलुओं से देखने की उपेक्षा की है। इस विशेप बात में भी शिवरानीदेवी की 'कौमुदी' कुछ-कुछ अपवाद है। शेप तीन ग्रन्थ भी कभी-कभी विशेप दृष्टिकोण उपस्थित करते जान पड़ते हैं। प्रसंग आने पर उनकी चर्चा की जायेगी।

मनुष्य-चरित्र जिस रूप मे आज परिणत हुआ है, उसके कई कारण हैं। कई मनीपियों ने कई रूपों में इसे समझने या समझाने की चेष्टा की है। अपने विशेप दृष्टिकोण का समर्थन तब तक नही किया जा सकता जब तक पूर्ववर्त्ती दृष्टिकोण से इसकी श्रेष्ठता न प्रमाणित की जाय। इस प्रकार पूर्वमत के निरासपूर्वक अभिनव मत का स्थापन करने का नियम है। कहानीकार दार्शनिक पण्डित की भाँति ऐसा नही करता, पर जीवन के प्रति उसका जो विशेप दृष्टिकोण है उसे वह कौशलपूर्ण ढंग से स्थापित करते समय अनभिप्रेत दृष्टिकोण की ओर उपेक्षा का भाव पैदा कर देता है। यह कार्य वह बहुत कौशल के साथ और बड़ी सावधानी के साथ करता है। हिन्दी मे इस कला के सबसे बड़े उस्ताद प्रेमचन्द हैं। उनकी कहानियों में जीवन को समझने के अनेक दृष्टिकोण बड़ी खूबी से व्यक्त हुए हैं और उन सबके भीतर से अपनी अभिमत-दृष्टि की ओर वे बड़ी कुशलता से इशारा कर देते है। अपने जीवन में उन्होंने जीवन को समझने के दृष्टिकोण बदले भी हैं, पर पुरानी दृष्टियों का खोखलापन दिखाकर। 'कफन' नामक कहानी एक उत्तम उदाहरण है। उसके पढ़ने से जीवन की कई व्याख्याओं की नि.सारता प्रकट हो जाती है। जान पड़ता है कि लेखक ने अपने सामने इन व्याख्याओ को रखकर ही कहानी लिखी है। धार्मिक व्याख्या यह है कि भगवान् संसार को एक सामंजस्यपूर्ण विधान मे रखने के लिए सतत प्रयत्नशील है। जो कोई जीव जहाँ कही भी जिस किसी रूप मे दिख रहा है, वह वहाँ उसी रूप मे आने को बाध्य था। उसका वहाँ न रहना किसी महान् अनर्थ का कारण होता। सब-कुछ भगवान् की ओर से निर्दिष्ट है—

पाप और पुण्य, धर्म और कर्म, ऊँच और नीच। दूसरी व्याख्या नये विज्ञानियों की है। प्रसिद्ध फ्रेंच दार्शनिक टेन इस मत का पोषक है। जो कुछ भी जहाँ कहीं जिस किसी रूप में दिख रहा है वह तीन कारणों से हुआ है—जातिगत विशेषता के कारण; भौगोलिक, राजनीतिक, सामाजिक आदि परिस्थिति के कारण; ऐतिहासिक विकास-परम्परा के भीतर से आने के कारण। इन तीनो को अलग-अलग दृष्टि के रूप में स्वीकार करके भी जीवन की व्याख्याएँ की गयी है। एक प्रकार के पण्डित हैं जो स्वीकार करते है कि भौगोलिक परिस्थिति ही हमारे समस्त विधि-निषेध, आचार-विचार, दर्शन-काव्य के मूल मे है; एक दूसरे पण्डित समस्त सद्‌गुण और असद्‌गुणों के कारण आर्थिक परिस्थिति मे देखते हैं। उनके मत से आर्थिक सुविधा और असुविधा ही सामाजिक, धार्मिक और मानसिक विधान-शृंखला के वास्तविक मूल मे है। 'कफन' मे इस दृष्टिकोण की ही प्रधानता है। धार्मिक और सामाजिक दृष्टिकोण के प्रति उसमे कौशलपूर्ण प्रतिवाद का भाव है। आर्थिक दृष्टिकोण की प्रधानता कुछ इस प्रकार उपस्थित की गयी है कि मध्यमवर्ग के वहुविघोषित प्रेम और करुणा की कोमल भावनाओ का कोमलपन अत्यन्त खोखला होकर प्रकट हुआ है। आलोच्य कहानियो में सामाजिक दृष्टिकोण और मध्यवर्गीय कोमलता का भाव प्रवल तो जरूर है (असल मे वे मानो मध्यमवर्ग की कोमल भावना के प्रति न्याय-विचार की अपील है), पर अगर अविश्वासी चित्त इस अपील में विश्वास खो दे तो उनके पास कोई उत्तर नही रह जाता। कमलादेवी और सुभद्रादेवी की कहानियो मे भी कभी-कभी अप्रत्यक्ष रूप से भौगोलिक व्याख्या की ओर प्रवृत्ति दिखायी देती है, वे भारतीय स्त्री मे एक खास विशेषता देखती है जो अनेक मानसिक परिणतियों के लिए जिम्मेवार है और होमवतीदेवी मे कभी वह भाव भी पाया जाता है, जिसे स्त्री और पुरुष की भेद-विधायक व्याख्या कह सकते है, और जिसके अनुसार स्त्री-चरित्र मे कुछ खास गुण ऐसे हैं जो पुरुष-चरित्र मे नही है और यही खास गुण अनेक परिणतियों के लिए जवाबदेह हैं। पर इन दृष्टिकोणों को कही भी परिस्फुट करके व्यंग्य करने का यत्न नही किया गया। 'कौमुदी' में मनुष्य के व्यक्तित्व की प्रधानता स्वीकार की गयी है। यह व्यक्तित्व परिस्थितियों को आत्म-समर्पण नही करता, प्रतिकूल परिस्थितियों में अपना रास्ता निकाल लेता है, काल और समाज के प्रभाव से प्रतिहत नही होता। इस प्रकार इस विशेष दृष्टिकोण की प्रवलता के कारण शिवरानीदेवी की कहानियो में सामाजिक और पारिवारिक अवस्था के कारण जो लोग जीवन को सदा क्लान्त-क्लिष्ट देखते है उनका प्रतिवाद वड़े कौशल से हो गया है। यहाँ भी शिवरानीदेवी और सुभद्रादेवी का विरोध स्पष्ट हो उठता है। सुभद्राजी के चरित्रों का व्यक्तित्व समाज के कठोर नियमो के कारण दव जाता है और शिवरानीदेवी के चरित्रों का व्यक्तित्व समाज के नियमों की कठोरता को प्राय. दवा देने मे समर्थ हो जाता है! एक देवी ने जीवन तक पहुँचने के लिए जो रास्ता वनाया है, उसमें समाज के काँटेदार वेड़े पद-पद पर वाधा पहुँचाते है, दूसरी ने इन

बेड़ों को रौंदकर अपने मार्ग का निर्माण किया है।

देवियों के इस विशेष दृष्टिकोण का अर्थ क्या है ?

आलोच्य कहानियाँ मध्यम श्रेणी के जीवन के उन मार्मिक द्वन्द्व और समस्याओं पर अवलम्बित है, जो पद-पद पर समाज की गति निर्धारित कर रही है। किसी ने कहा है कि कोई कहानी तभी महत्त्वपूर्ण कही जा सकती है, जबकि उसकी नीव मजबूती के साथ उन वस्तुओं पर रखी गयी हो जो निरन्तर गम्भीर भाव से और निर्विवाद भाव से हमारी सामान्य मनुष्यता की कठिनाइयों और द्वन्द्वों को प्रभावित कर रही हों। महत्त्वपूर्ण कहानी केवल अवसर-विनोदन का साधन नही होती। इस दृष्टि से ये कहानियाँ महत्त्वपूर्ण तो है ही, पर कहानीपन के अतिरिक्त भी इनके द्वारा हम अपनी सामाजिक समस्याओं की कुछ ऐसी गुत्थियो के सुलझाने का मार्ग क्या पा जाते हैं जो आसानी से समझ में नही आता ?

हमने देखा कि ऊपर जिन कहानियों की आलोचना की गयी है, उनमें से अधिकांश की शिकायत है कि स्त्रियों के प्रति अन्यान्य हो रहा है। क्यों ? क्योंकि समाज का संगठन अन्यायपूर्ण है। समाज का ऐसा संगठन क्यों हुआ ? इस प्रश्न पर महिलाएँ कुछ प्रकाश नहीं डालना चाहती। स्पष्ट ही हम इस विषय के संशोधन की इच्छा रखते हुए भी उनकी सहायता से वंचित है ! अंग्रेजी कहावत है कि डिस्क्राइब् (वर्णन) करना सहज है, प्रेस्क्राइब् (उपायनिर्देश) करना कठिन। आलोचक महिलाओं की प्रवृत्तियों को यथामति डिस्क्राइब् कर गया, वह प्रेस्क्राइब क्या करे ? *मन्थन से अमृत भी निकला, गरल भी निकला, तो क्या हुआ ?* इसका विनियोग कहाँ हो ?

छूटते ही जो बात पाठक को लगती है, वह यह है कि आलोच्य कहानियों की लेखिकाएँ परिवार और समाज (एक शब्द में 'समूह') पर से अपनी चिन्ता हटा *नहीं सकतीं। इस एक बिन्दु पर ही उनका सारा ध्यान केन्द्रित है।* वे लोग निश्चय ही हमारे समाज के बहुत ही महत्त्वपूर्ण आधे हिस्से की प्रतिनिधि हैं, इसलिए यह कहने में कोई संकोच नही कि स्त्री का समूचा ध्यान परिवार और समाज पर है, जबकि पुरुष इस व्यावसायिक युग के दुर्निवार्य प्रवाह में बहकर नाना घाटों में जा लगा है; जबकि व्यक्ति-स्वाधीनता ने पुरुष की सौ महत्त्वाकांक्षाओं को नितरां उत्तेजित कर दिया है; जबकि आर्थिक चक्र के भीमवेग-आघूर्णन ने कुटुम्ब की भावना को पीस डाला है; जबकि स्फीतकाय नागरिक सभ्यता ने पुरुष की कोमलता को एकदम कुचल डाला है, स्त्री परिवार, कुटुम्ब और समाज से और भी जोर से चिपट गयी है। उसके स्वभाव में ही समूह के प्रति निष्ठा है, उसने अपने रक्त से समाज में दलबद्धता पैदा की है, वह जीव-शास्त्रियों द्वारा निर्दिष्ट उस श्रेणी का जन्तु है जो दल बाँधकर ही रह सकते हैं, जो ग्रिगेरियस हैं। उसने सहानुभूति के भीतर से ही अपने को बचाया है, अपनी रक्षा की है, आज भी सहानुभूति पर ही

उसका विश्वास है। शरीर-बल से (जो पशु की सम्पत्ति है) वह हार चुकी है, न्याय और सद्भावना पर उसका विश्वास इसीलिए और भी दृढ़ हो गया है।

आधुनिक सभ्यता का सर्वाधिक कठोर वज्रपात स्त्री पर हुआ है। उसने स्त्री को न केवल स्थानच्युत किया है, उसको केन्द्र से दूर फेंक दिया है, बल्कि उसमें विकट मानसिक द्वन्द्व भी ला दिया है। हमारी आलोच्य कहानियों में केन्द्रच्युति की ओर से कोई शिकायत नहीं की गयी है, स्पष्ट ही हमारी देवियों ने इस महान् अनर्थ को महसूस नहीं किया है, जो व्यक्ति-स्वाधीनता का पुछल्ला होकर आता है, ठीक उसी प्रकार, जिस प्रकार व्यावसायिक-क्रान्ति के पीछे व्यक्ति-स्वाधीनता आयी है। परन्तु दूसरी बात को हमारी देवियों ने महसूस किया है। रूढ़ि-समर्थित आदर्श स्त्री और व्यक्ति-स्वाधीनता से प्रभावित आधुनिक स्त्री का द्वन्द्व हमारी आलोच्य कहानियों में पदे-पदे दिखायी देता है। यह एक अद्भुत विरोधाभास है कि इन कहानियों में एक ही साथ व्यक्ति-स्वाधीनता और समाज-निष्ठा दोनों को स्वीकार कर लिया गया है, मानो इनमें कोई विरोध ही न हो, मानो वे दोनों एक ही चित्र के दो पहलू हों। पर हम अगर इन विरुद्धभासित कोटियों में सामंजस्य खोजना चाहें तो हमें ज्यादा देर भटकना नहीं पड़ेगा। आधुनिक शिक्षा ने स्त्री में भी पुरुष की भाँति महत्त्वाकांक्षा के भाव भर दिये हैं, वह भी पुरुष के साथ प्रतिद्वन्द्विता के लिए निकल पड़ी है, परन्तु पुरुष की भाँति उसकी स्वाधीनता में लापरवाही नहीं है। वह वर्तमान परिस्थितियों के साथ समाज का सामंजस्य चाहती है। वह जो कुछ नया करने जा रही है उसके लिए समाज की स्वीकृति चाहती है। वह उस नयी समाज-व्यवस्था को गढ़ने के लिए व्याकुल है जो स्त्री की महत्त्वाकांक्षा का विरोधी न हो। स्त्री की वैयक्तिकता समाज की स्वीकृति चाहकर समाज की प्रधानता को स्वीकार कर लेती है। आलोच्य कहानियों में इसी स्वीकृति का प्रयत्न है।

समाज को स्त्री ने जन्म दिया था। दलबद्ध भाव से रहने के प्रति निष्ठा होने के कारण वह उसी (समाज) की अनुचरी हो गयी। पुरुष यहाँ भी आगे निकल गया। वह समाज से भागना चाहता था। स्त्री ने अपना हक त्यागकर उसे समाज में रखा, उसके हाथ में समाज की नकेल दे दी। पुरुष समाज का विधायक हो गया। इतिहास उलट गया। जमाने के साथ गलतियों की मात्रा बढ़ती गयी; पुरुष अकड़ता गया। स्त्री दबती गयी। आज वह देखती है कि उसी के बुने हुए जाल ने उसे बुरी तरह जकड़ डाला है। वह उसे प्यार भी करती है, वह उससे मुक्त भी होना चाहती है। यही द्वन्द्व है। यही तपस्या है। यही विरोधाभास है। वह फिर एक बार इसे अपने हाथों खोलकर फिर से बुनेगी? उचित तो यही था, पर हमारी देवियाँ इस विषय में मौन हैं।

[कल्पलता से]

संस्कृत का साहित्य

संस्कृत-साहित्य से हम क्या सीख सकते है ? इस प्रश्न का उत्तर देना बडा कठिन है। संस्कृत का साहित्य इतना विशाल है कि उसके समूचे रूप को ध्यान मे रखकर कोई उत्तर देना आसान नहीं। लगभग छ: हजार वर्षो से पन्द्रह लाख वर्गमील मे बसे हुए करोड़ों मनुष्यों ने कई पीढ़ियों तक इस साहित्य का सृजन किया है और आज भी यह क्रिया बन्द नहीं हुई है। 'साहित्य' शब्द अपने व्यापक अर्थ में जिन विपयों का ज्ञान कराता है, वे सब-के-सब इस साहित्य में विद्यमान हैं। संसार मे इतने दीर्घकाल तक बना रहनेवाला और इतने विशाल जनसमूह को आन्दोलित करनेवाला शायद दूसरा साहित्य नहीं है। इसीलिए इसकी विशेपताओं के सम्बन्ध में जल्दी में कुछ कह देना अनुचित है।

बहुत प्राचीनकाल से ही संस्कृत-साहित्य के दो मोटे विभाग कर लिये गये हैं: (1) वैदिक, और (2) लौकिक। ईसवी सन् के आरम्भ मे कुछ आगे और कुछ पीछे तक का काल भारतीय इतिहास में बड़ा उथल-पुथल का समय है। इन दिनों यवन, शक, ऋपिक, तुखार, हूण आदि विदेशी लुटेरे आक्रामक बार-बार उत्तरी सीमान्त पर आक्रमण करते रहे और कुछ काल के लिए उत्तर भारत का जीवन-क्रम विक्षुब्ध और अस्त-व्यस्त होता रहा। ईसवी सन् के आरम्भ के लगभग सवा-दो सौ वर्प बाद मगध का प्रसिद्ध नगर पाटलिपुत्र चार सौ वर्पों की गाढ़ निद्रा के बाद एकाएक जाग उठा। इन्हीं दिनों चन्द्रगुप्त नामधारी एक साधारण राजकुमार जिसका विवाह प्रसिद्ध लिच्छवि वंश की राजकुमारी से हुआ था, प्रबल पराक्रम के साथ आक्रमणकारियों की बाढ़ रोकने में समर्थ हुआ। उसके पुत्र समुद्रगुप्त और पौत्र चन्द्रगुप्त (द्वितीय) ने इस बाढ के मूल को ही दुर्बल बना दिया। चन्द्रगुप्त (द्वितीय) का साम्राज्य हिमालय से नर्मदा तक फैल गया। इस नूतन जागरण ने भारतीय जन-समूह में राष्ट्रीयता और विद्या-प्रेम का बीज बोया।

इस युग मे राज-कार्य से लेकर समाज, धर्म और साहित्य तक में एक अद्‌भुत क्रान्ति का परिचय मिलता है। ब्राह्मण धर्म और संस्कृत भापा एकदम नवीन प्राण लेकर जाग उठे। पुराने क्षत्रपों द्वारा व्यवहृत प्रत्येक शब्द को मानो उद्देश्य के साथ बहिष्कृत कर दिया गया। कुपाणों के द्वारा समर्थित गान्धार-शैली की कला एकाएक बन्द हो गयी और सम्पूर्णत: स्वदेशी मूर्त्ति-शिल्प और वास्तु-शिल्प की प्रतिष्ठा हुई। राजकीय पदों के नाम नये सिरे से एकदम बदल दिये गये, समाज और जाति की व्यवस्था में भी परिवर्त्तन किया गया, इस बात का भी सबूत मिलता है। सारा उत्तरी भारत जैसे एक नया जीवन लेकर नयी उमंग के साथ अवतरित हुआ। इस काल से भारतीय चिन्तनस्रोत एकदम नयी दिशा की ओर मुड़ता है। साहित्य की चर्चा करनेवाला कोई भी व्यक्ति इस नये घुमाव की उपेक्षा नहीं कर सकता। जिन दो-तीन सौ वर्षों की ओर शुरू मे इशारा किया गया है, उनमें भारतवर्ष में

थी। जो काव्य और नाटक गुप्त-काल में रचे गये थे, वे आज भी भारतवर्ष का चित्त-हरण किये हुए है। जो शास्त्र उन दिनों प्रतिष्ठित हुए थे, वे आज भी भारतीय चिन्तनस्रोत को बहुत-कुछ गति प्रदान कर रहे है। आज गुप्त-काल के पूर्ववर्ती शास्त्र और साहित्य को भारतवर्ष केवल श्रद्धा और भक्ति से पूजा कर सकता है, व्यवहार के लिए उसने गुप्त-काल के निर्धारित ग्रन्थों को ही स्वीकार किया है। गुप्त-युग के बाद भारतीय मनीषा की मौलिकता भोथरी हो गयी। टीकाओं और निबन्धो का युग शुरू हो गया। टीकाएँ भी छः-छः, आठ-आठ पुश्त तक चलती रही। आज जब हम किसी विषय की आलोचना करते समय अपने यहाँ के शास्त्रो की दुहाई देते है, तो अधिकतर इसी काल के बने ग्रन्थो की ओर इशारा करते है। यद्यपि गुप्त-सम्राटो का प्रबल पराक्रम छठी शताब्दी मे ढीला पड गया था, पर साहित्य के क्षेत्र मे उस युग के स्थापित आदर्शों का प्रभाव किसी रूप मे ईसा की नवी शताब्दी तक चलता रहा।

संस्कृत-साहित्य को एक सरसरी निगाह से देखने पर हजारो वर्षों से निरन्तर प्रवहमान मानव-चिन्तन का विराट् स्रोत प्रत्यक्ष दिखायी दे जाता है। हम हजारो वर्ष के मनुष्य के साथ एक सूत्र मे आबद्ध हो जाते है। कितने संघर्षों के बाद मनुष्य-समाज ने यह रूप ग्रहण किया है! विशाल शत्रुवाहिनी क्षुधित वृकराजि के समान इस महादेश मे आयी है, उसका प्रचण्ड प्रतापानल थोड़े ही दिनों मे फेन-बुदबुद के समान विलीन हो गया है। बड़े-बड़े धर्ममत शाश्वत शान्ति का सन्देश लेकर आये और मनुष्य की दुर्बलताओं के आवर्त्त में न जाने किधर बह गये है। दुर्दान्त राजशक्तियाँ मेघ-घटा की भाँति घुमड़कर आयी और अचानक आये हुए प्रचण्ड वायु के झोके से न जाने कहाँ विलीन हो गयी है! संस्कृत-साहित्य हमें इतिहास की कठोर वास्तविकताओं के सामने खड़ा कर देता है। मनुष्य अन्त तक अजेय है। उसकी प्रगति रुक नही सकती। उतावली बेकार है। सब कुछ आज ही समाप्त नही हो जाता। चार दिन की शक्ति पर अभिमान करना व्यर्थ है—"सब ठाठ पड़ा रह जायगा जब लाद चलेगा बनजारा!"

हम लोग आज अपने जल्दी से लिखे हुए उथले विचारों को छपा डालने के लिए हास्यास्पद ढंग से व्यग्र हो जाते हैं। कभी-कभी पत्रिकाओं के मुखपृष्ठ पर कविता छपाने के लिए मजेदार लड़ाइयाँ भी हो जाती हैं! कवि लोग रुपये के बल पर काव्य-जगत् में यशस्वी होने का प्रयत्न करते भी देखे गये हैं। संस्कृत-साहित्य का इतिहास निर्मल बैरागी की भाँति सावधान कर देता है कि यह सब बालिश (बच्चों का-सा) प्रयत्न है, दुर्वार काल-स्रोत सबको बहा देगा। सुनहले अक्षरों में छपी हुई पोथियाँ उस स्रोत के थपेड़ों को बरदाश्त करने की शक्ति नहीं रखती। वही बचेगा, जिसे मनुष्य के हृदय में आश्रय प्राप्त होगा। कितने राज-कवि विलीन हो गये, कितने शौकीन नाटककार अन्तर्हित हो गये! बच रहे हैं कालिदास और भवभूति, व्यास और वाल्मीकि, बाण और जयदेव। मनुष्य को काम के विस्तीर्ण मैदान को पार करना है। यह व्यर्थ का जंजाल ढोता नहीं

धरेगा। कुल-कलश फोड़ देगा, कुल-कुल गिर जायेगा। होगा वही जो उसके हृदय के रक्त से लिखा हुआ होगा। ये लेख, ये पत्रिकाएँ, ये पुस्तकें पोथियाँ सब जिन कलाकारों के बाल-प्रपञ्च हैं। इनमें लिप्त रहना भी बाल-प्रपञ्च ही है।

डाक्टर कीथ ने आश्चर्य के साथ लिखा है कि संस्कृत के ग्रन्थकारों को अपना परिचय छिपाने की विचित्र आदत है। न जाने कितनों ने अपनी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण पुस्तकों को देवता से जोड़ और ऋषियों के नाम लिख दिया है। यूरोप में अपना नाम पुस्तक के साथ जोड़कर अमर होने की प्रवृत्ति हास्यास्पदता तक पहुँच गयी थी। संस्कृत का साहित्यकार इस माया को सहज ही काट सकता था। 'सूर्य-सिद्धान्त' का लेखक ज्योतिष का अद्भुत पंडित था, परन्तु उसका नाम हमें नहीं मालूम। आज के लिखाड़ी-लेखक इस बात से कुछ सीख सकें तो बहुत बुरा नहीं होगा। संस्कृत का लेखक वक्तव्य वस्तु के प्रति अद्भुत संयम और निष्ठा का परिचय देता है। जब वह इतिहास और चरित्र के नाम पर पुस्तक लिखता है तो उसका वर्णनीय अत्यन्त पवित्र हो जाता है। वह किसी प्रकार इन नामों के साथ सस्तापन को नहीं छूने देता। इसीलिए जान लड़ाकर वक्तव्य वस्तु को सर्वोत्तम रूप देने का प्रयत्न करेगा। यही कारण है कि संस्कृत के समूचे साहित्य में हल्के भाव से किसी बात की चर्चा नहीं मिलेगी। संस्कृत-कवि और ग्रन्थकार के वचन अनेक हैं। उन समस्त वचनों के भीतर से स्वानुभूत सत्य को प्रकाशित करने के लिए कठोर संयम और मानसिक अनुशासन की आवश्यकता थी। संस्कृत के विशाल भण्डार में जितने ग्रन्थ हैं, उनमें से प्रत्येक के लेखक ने इन गुणों का परिचय दिया है। अध्ययन को पुराना भारतीय पवित्र तप माना करता था। शायद समूचे जगत् के आधुनिक साहित्यकार इस विषय में संस्कृत-लेखक से कुछ-न-कुछ अवश्य सीख सकते हैं।

संस्कृत-ग्रन्थकार ने अपने युग के समस्त ज्ञान-विज्ञान को अपनी भाषा में ले आने का प्रयत्न किया था। 'म्लेच्छ' समझकर जिन्हें वह कोई भी सम्मान नहीं दिया करता था, उन लोगों के पास भी यदि कोई काम की चीज मिल गयी तो वह लेने में नहीं हिचकता था। यवनों (ग्रीकों) को वह म्लेच्छ समझता था, पर चूँकि ज्योतिष-शास्त्र का उन्हें अच्छा ज्ञान था, इसीलिए उन्हें ऋषिवत् पूज्य समझने में उसे कोई संकोच नहीं हुआ :

म्लेच्छा हि यवनास्तेषु
सम्यक् शास्त्रमिदं स्थितम्।
ऋषिवत्तेऽपि पूज्यन्ते
किं पुनर्दैवविद्द्विजः।

अपने देश की प्राकृत-पाली आदि भाषाओं में जो कुछ श्रेष्ठ और रक्षणीय था, उसे उसने बड़ी निष्ठा के साथ अपने भण्डार में सुरक्षित किया। कुछ लोगों को भ्रम है कि बौद्ध, जैन आदि धर्मों की उत्तम पोथियाँ संस्कृत में नहीं हैं। यह गलत धारणा है। संस्कृत-छाया, टीका, भाष्य आदि के रूप में और मौलिक रूप

लेता है और उसको सत्य मानकर अपना कारबार शुरू कर देता है। चन्दन में फूल होते हैं, लेकिन कवि-प्रसिद्धि है कि नही होते। चन्दन के बगीचे मे रहनेवाला चाहे जो भी कहता हो, कवि इस बात को सच मानकर अपना मतलब साध लेगा। किसी सहृदय विद्वान् की निर्धनता पर और गुणज्ञ राजा की मृत्यु पर उसे क्षोभ है, वह ब्रह्मा की अक्लमन्दी पर तरस खाना चाहता है। ब्रह्मा की बुद्धिहीनता के दो-चार और उदाहरण उसे संग्रह करने हैं। वह कह उठता है—सोने मे गन्ध नही दी, ईख के डण्डे में फल नही दिया, चन्दन के वृक्ष में फूल नही दिया, विद्वान् को धनी नही बनाया, और गुणज्ञ राजा को दीर्घायु नही किया। जान पड़ता है कि विधाता को पहले कोई बुद्धिदाता गुरु नही मिला था :

गन्धः सुवर्णे फलमिक्षु दडे,
नाकारि पुष्पं खलु चन्दनस्य।
विद्वान् धनी नृपतिः दीर्घजीवी
नासीत् पुरा बुद्धिदाता विधातुः॥

इस प्रकार चन्दन मे फूल न आनेवाली कवि-प्रसिद्धि के सहारे वह अपने वक्तव्य को रसयुक्त और आस्वाद्य बना देता है।

आजकल चैत्र का महीना है। पेड़ों मे पुष्प लदे हुए हैं। ऐसा जान पड़ता है कि किसी अज्ञात पुलकोत्कम्प के कारण धरित्री रोमाच-कण्टकित हो रही है। वसन्त में ऐसा होता ही है। बच्चा-बच्चा जानता है कि इस ऋतु मे अशोक कन्धे से ही फूट उठता है, बकुल या मौलसिरी का पेड़ अपने छोटे-छोटे मनोहर पुष्पो के भार से नख मे शिख तक लद जाता है। कुरबक या कटसरैया के जंगल में धरती की निरलेप रंगीनी फूट पड़ती है और तिलक पुष्पों के बहाने वह मनोहर तिलक-बिन्दुओं से अपने-आपको सजा लेती है। यह कोई नयी बात नही है। अनादिकाल से ऐसा ही होता आया है। जब-जब वसन्तऋतु आती है, तब-तब पृथ्वी के हर कोने में उल्लास की लहर दौड़ पड़ती है। यह सारा दृश्य अपने-आपमें ही मादक है, परन्तु संस्कृत का कवि किसी बात को यों ही सीधे-सीधे कहना पसन्द नही करता। वह अस्पष्ट भावोच्छ्वासों को महत्त्व नही देता। वह कविता ही क्या जो चित्त मे भावों की मदिर तरंगें न लहरा देती हो, जो पद-झंकार मात्र से पाठक के चित्त को मथित और व्याकुल नही बना देती :

तया कवितया किंवा-किंवा वनितया तया।
पद झंकार मात्रेण यया नापहृतं मनः॥

सो, संस्कृत-कवि की दृष्टि में कविता में मादकता होनी ही चाहिए। मादकता भी अस्पष्ट और अतीन्द्रिय नहीं, बल्कि स्पष्ट और मुष्टि-ग्राह्य होनी चाहिए। संस्कृत-कवि का विश्वास है कि अशोक यों ही नही फूलता, सुन्दरियो के सनूपुर चरणों के आघात से फूलता है और बकुल मुख-मदिरा से सिंचकर खिल उठता है। कुरबक और तिलक इतने बेहया तो नही है, लेकिन थोड़ा-बहुत बहाना उन्हें भी चाहिए। संस्कृत के कवि ने आश्चर्यचकित होकर देखा है कि ये वृक्ष इन बातों के

में भी, इन धर्मों के ग्रन्थों को संस्कृत में सुरक्षित किया गया है। सुप्रसिद्ध चीनी यात्री हुएनत्सांग अपने साथ स्थविरवादी, महासांघिक, महीशास्त्रक आदि विभिन्न बौद्ध सम्प्रदायों के 593 ग्रन्थ अपने साथ चीन ले गये थे, जिनमें अधिकांश संस्कृत में लिखे गये थे। संस्कृत का साहित्यकार ज्ञान को अत्यन्त पवित्र वस्तु मानता है। उसे संयम और निष्ठा के साथ संकलन करने में उसे न संकोच है, न जल्दी है, न उतावली है, न दुविधा है। वह दृढ़ भाव से ज्ञान के अमृत का अन्वेषी है, क्योंकि उसके रोम-रोम में यह मन्त्र रमा हुआ है :

"नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।"

[ज्ञान के समान पवित्र वस्तु कुछ भी नहीं है।]

संस्कृत का साहित्य वह उच्च गिरिशृंग है, जिस पर चढ़कर मनुष्य काल के सुदीर्घ स्रोत को बड़ी दूर तक देख सकता है। इस महानद के तट पर मनुष्य के उत्थान और पतन के अनेक चिह्न दिखायी देते हैं। जैसे नदी की प्रत्येक बूंद दूसरी को ठेलकर अविराम प्रवाह पैदा करती है, वैसे ही मनुष्य-जाति के अनेक व्यक्ति और व्यक्तिपुञ्ज इस मानव-प्रवाह को निरन्तर आगे ठेलते गये हैं। संस्कृत का साहित्य हमें बताता है कि विपत्ति और कष्ट आते हैं और चले जाते हैं, समृद्धि और धनाढ्यता फेन-बुद्बुद के समान कालस्रोत में उत्पन्न होती हैं और विलीन हो जाती है, साम्राज्य और धर्मराज्य उठते हैं और गिर जाते हैं, परन्तु 'मनुष्य' फिर भी बचा रहता है। शताब्दियों की यात्रा से वह क्लान्त नहीं होता। चलना और आगे बढ़ना उसका स्वाभाविक धर्म है। इतिहास-विधाता की अज्ञात योजना का ठीक-ठीक स्वरूप हम नहीं जानते, पर संस्कृत का साहित्य उच्च स्वर से पुकार-कर कहता है कि वह योजना मंगल की ओर अग्रसर हो रही है। युद्ध और विग्रह केवल उस जययात्रा में क्षणिक विक्षोभ भले ही पैदा कर दें, परन्तु उस मंगल-यात्रा को रोक नहीं सकते।

[अशोक के फूल से]

संस्कृत की कवि-प्रसिद्धियाँ

आज संस्कृत-साहित्य में प्रयुक्त कवि-प्रसिद्धियों की चर्चा करनी है। कवि-प्रसिद्धियाँ कवियों की दुनिया की सचाई हैं। साधारण जगत् में लोग उनकी यथार्थता में विश्वास नहीं करते। परम्परा से चली आती हुई प्रसिद्धियों को कवि स्वीकार कर

लेता है और उसको सत्य मानकर अपना कारबार शुरू कर देता है। चन्दन मे फूल होते हैं, लेकिन कवि-प्रसिद्धि है कि नही होते। चन्दन के बगीचे में रहनेवाला चाहे जो भी कहता हो, कवि इस बात को सच मानकर अपना मतलब साध लेगा। किसी सहृदय विद्वान् की निर्धनता पर और गुणज्ञ राजा की मृत्यु पर उसे क्षोभ है, वह ब्रह्मा की अक्लमन्दी पर तरस खाना चाहता है। ब्रह्मा की बुद्धिहीनता के दो-चार और उदाहरण उसे संग्रह करने हैं। वह कह उठता है—सोने मे गन्ध नही दी, ईख के डण्डे में फल नहीं दिया, चन्दन के वृक्ष मे फूल नही दिया, विद्वान् को धनी नही बनाया, और गुणज्ञ राजा को दीर्घायु नही किया। जान पड़ता है कि विधाता को पहले कोई बुद्धिदाता गुरु नही मिला था :

गन्धः सुवर्णे फलमिक्षु दण्डे,
नाकारि पुष्पं खलु चन्दनस्य।
विद्वान् धनी नृपतिः दीर्घजीवी
नासीत् पुरा बुद्धिदाता विधातुः॥

इस प्रकार चन्दन में फूल न आनेवाली कवि-प्रसिद्धि के सहारे वह अपने वक्तव्य को रसयुक्त और आस्वाद्य बना देता है।

आजकल चैत्र का महीना है। पेड़ों में पुष्प लदे हुए है। ऐसा जान पड़ता है कि किसी अज्ञात पुलकोत्कम्प के कारण धरित्री रोमाच-कण्टकित हो रही है। वसन्त में ऐसा होता ही है। बच्चा-बच्चा जानता है कि इस ऋतु में अशोक कन्धे से ही फूट उठता है, बकुल या मौलसिरी का पेड़ अपने छोटे-छोटे मनोहर पुष्पो के भार से नख से शिख तक लद जाता है। कुरवक या कटसरैया के जंगल में धरती की निश्शेष रंगीनी फूट पड़ती है और तिलक पुष्पों के बहाने वह मनोहर तिलक-बिन्दुओं से अपने-आपको सजा लेती है। यह कोई नयी बात नही है। अनादिकाल से ऐसा ही होता आया है। जब-जब वसन्तऋतु आती है, तब-तब पृथ्वी के हर कोने मे उल्लास की लहर दौड़ पड़ती है। यह सारा दृश्य अपने-आपमे ही मादक है, परन्तु संस्कृत का कवि किसी बात को यो ही सीधे-सीधे कहना पसन्द नही करता। वह अस्पष्ट भावोच्छ्वासों को महत्त्व नही देता। वह कविता ही क्या जो चित्त मे भावों की मदिर तरंगें न लहरा देती हो, जो पद-झंकार मात्र से पाठक के चित्त को मथित और व्याकुल नही बना देती :

तया कवितया किंवा-किंवा वनितया तया।
पद झंकार मात्रेण यया नापहृतं मनः॥

सो, संस्कृत-कवि की दृष्टि मे कविता में मादकता होनी ही चाहिए। मादकता भी अस्पष्ट और अतीन्द्रिय नहो, बल्कि स्पष्ट और मुष्टि-ग्राह्य होनी चाहिए। संस्कृत-कवि का विश्वास है कि अशोक यो ही नही फूलता, सुन्दरियों के सनूपुर चरणो के आघात से फूलता है और बकुल मुख-मदिरा से सिंचकर खिल उठता है। कुरवक और तिलक इतने बेहया तो नही है, लेकिन थोड़ा-बहुत बहाना उन्हें भी चाहिए। संस्कृत के कवि ने आश्चर्यचकित होकर देखा है कि ये वृक्ष इन बातो के

अभाव में भी कैसे फूल उठते हैं। कितने आश्चर्य की बात है कि सुनयनाओं द्वारा न तो कुरबक आलिंगित हुआ और न तिलक वीक्षित हुआ, न अशोक चरणों द्वारा ताड़ित हुआ और न बकुल उनकी मुख-मदिरा से सींचा ही गया, फिर भी चैत के महीने में वे फूलों के भार से लद गये :

नालिंगित कुरवकस्तिलको न दृष्टो,
नो ताडितश्च सुदृशां चरणैरशोकः।
सिक्तो न वक्त्रमधुना बकुलश्च चैत्रे,
चित्रं तथापि भवति प्रसवावकीर्णः॥

वस्तुतः यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि यह कोई आश्चर्यजनक व्यापार या करामात नही है। कवि के अन्तर्यामी जानते हैं कि करामात असल में वही चीज है जिसके अभाव मे उसे आश्चर्य हो रहा है, परन्तु फिर भी वह जानता है कि केवल फूलो का वर्णन कर देना पर्याप्त नही है। जब तक वनस्थली के इस सारे पुलकोद्गम को मानव-सौन्दर्य के साथ सम्बद्ध नही कर दिया जाता, तब तक उसमे मोहकता नही आयेगी। इसीलिए वह जान-बूझकर अनजान की भाँति चैत्र की पुष्प-समृद्धि देखकर आश्चर्य प्रकट करता है, मानो चैत्र में फूलों का आना ही अघटित घटना है और कवि-प्रसिद्धियों के रूप में विज्ञापित बातें ही वास्तविक सत्य हैं।

संस्कृत मे कवि-समय और कवि-प्रसिद्धि, इन दो शब्दों का प्रयोग मिलता है। कवि-प्रसिद्धि अधिक व्यापक अर्थ का सूचक है। राजशेखर ने 'काव्य-मीमांसा' मे 'कवि-समय' शब्द का प्रयोग किया है। राजशेखर बहुश्रुत विद्वान् थे, वे लीक पर चलनेवाले आलंकारिक नही थे। उन्होने 'कवि-समय' शब्द का प्रयोग कवियो के आचार या सम्प्रदाय के रूप मे किया है। इस शब्द के प्रयोग से उनका अभिप्राय यह था कि कवि लोग परम्परा से कुछ ऐसी बातों का प्रयोग करते आ रहे हैं जो लोक में घटित होती नही दिखायी देती। अर्थात् विशुद्ध यथार्थवादी दृष्टि से जिनकी सच्चाई सन्दिग्ध है, परन्तु फिर भी दीर्घ काल से कवियों की दुनिया मे काव्य को मोहक, मादक और मनोरंजक बनाने के लिए प्रयुक्त होती आ रही है। उदाहरणार्थ, अशोक और बकुल के दोहद या पुष्पोद्गम वाली प्रसिद्धि को ही लीजिए। कालिदास-जैसे कवि ने इस प्रसिद्धि का आश्रय लेकर काव्य और नाटक की रचना मे उसका उपयोग किया, परन्तु तथ्य-जगत् मे ऐसा होते देखा नही जाता। अब, आलंकारिक आचार्य मानते है और ठीक ही मानते है कि जो वस्तु देश, काल, कला, न्याय और आगम के विरुद्ध हो और प्रतिज्ञा, हेतु तथा दृष्टान्त से असमर्थित हो उसका उल्लेख दोष है। तो फिर अशोक-दोहद वाली प्रसिद्धि भी काव्य-दोष ही कही जायेगी, क्योंकि वह खरगोश के सींग की तरह केवल बात-की-बात है। किन्तु राजशेखर का कहना है कि जो बात दीर्घकाल से कवियों मे सत्य समझकर गृहीत होती आयी है, उसे इस प्रकार काव्य-दोष न कहकर कवियों का आचार कहना ही युक्तिसगत है। उन्होंने अपने ढंग से इसका उत्तर भी दिया है। वे कहते हैं कि प्राचीन काल के कवि परम्परा से जिन बातों का वर्णन करते आ रहे हैं, वे यदि

इस काल या देश मे नही मिलतीं तो उन्हें दोप कहना अनुचित है; क्योकि शास्त्र अनन्त है, काल अनन्त है, और देश भी अनन्त है। इसलिए ऊपर-ऊपर से लोक और शास्त्र-विरोधी दिखनेवाली बातें वस्तुत. वैसी नही है; क्योकि प्राचीन काल से वहुश्रुत और मर्मज्ञ कवियों ने उनकी चर्चा की है। प्राचीन काल के पण्डित सहस्र-शाख वेदों का अवगाहन करके, शास्त्रो का मनन-चिन्तन करके, देशान्तर और द्वीपान्तर का परिभ्रमण करके उन्हे निश्चित कर गये है। देश-काल मे यदि व्यतिक्रम हो गया हो तो उन बातो को अयथार्थ नही मान लेना चाहिए।

राजशेखर प्रकृति के वड़े सूक्ष्म निरीक्षक थे, उनके मत से प्राकृतिक निरीक्षण का अभाव कवि का बहुत वड़ा दोप है। उन्होने कहा है कि जो कवि अनुसन्धान नहीं करता, उसके गुण भी दोप हो जाते है और जो कवि अनुसन्धान करता है, उसके दोप भी गुण हो जाते हैं। इसीलिए कवि को अनुसन्धानप्रिय होना चाहिए। राजशेखर के कहने का तात्पर्य यह है कि प्रत्येक वस्तु की ठीक-ठीक खोजबीन करनेवाला व्यक्ति कभी गतानुगति का या अन्धानुकरण का शिकार नही हो सकता। उस कवि में यदि ऐसी कोई बात मिल जाये जिसके सम्बन्ध मे साधारण विश्वास दूसरी तरह का हो, तो संसार मे कवि को ही अधिक प्रामाणिक माना जायेगा और साधारण विश्वास को गलत ठहराया जायेगा; क्योकि लोगो के चित्त मे कवि की प्रामाणिकता की धाक जमी रहेगी :

अनुसंधान शून्यस्य भूपणं दूपणायते।
सावधानस्य च कवेर्दूपणं भूपणायते॥

राजशेखर ने अनेक प्राचीन काव्यो का अध्ययन करके इन कवि-समयों का महत्त्वपूर्ण विश्लेपण अपने ग्रन्थ में उपस्थित किया है। उन्होने लिखा है कि काव्यों मे जो कवि-समय सुप्त की तरह पड़ा हुआ था, उसे हमने यथाबुद्धि जगा दिया :

सोऽय कवीनां समयः काव्ये सुप्त इव स्थित.।
स साम्प्रतमिहास्माभिर्यथा बुद्धि विबोधितः॥

कवि-प्रसिद्धियो मे कुछ तो ऐसी हैं जो कि वस्तुतः होती नही, पर कवि लोग उनका ऐसा वर्णन करते हैं मानो वह होती हैं। और, कुछ ऐसी है जो होती तो है पर कवि लोग ऐसा वर्णन करते है मानो वे होती ही नही। और कुछ ऐसी होती हैं जिनकी होने की सम्भावना तो अनेक स्थलो पर है, परन्तु कवियो की दुनिया मे जिनका एक निश्चित स्थान पर होना ही स्वीकार किया जाता है। नदियों मे कमल या नीलकमल, सभी जलाशयो मे हंस, हर पर्वत पर सुवर्ण, रत्न आदि का वर्णन पहली श्रेणी मे आता है। हो सकता है कि कही नदी का पानी अवरुद्ध हो गया हो, और उसमें कमल भी खिल गया हो, परन्तु इसका मतलब यह नही कि नदी का प्रसंग आते ही कमल का वर्णन करना शुरू कर दिया जाये। परन्तु कवियों का ऐसा सम्प्रदाय है कि नदी मे कमल के पुष्प का वर्णन करना चाहिए। कालिदास-जैसे कवि इस लोभ से अपने को नही बचा सके हैं। 'मेघदूत' में उन्होने शिप्रा मे खिले हुए कमलो की सुगन्धि से सुरभित शिप्रा-वायु का उल्लेख किया है :

दीर्घीकुर्वन्पटुनदकलं कूजितं सारसानां।
प्रत्यूषेपु स्फुटित कमलामोद मैत्री कषायः॥
यत्र स्त्रीणां हरति सुरतग्लानिमंकानुकूलः
शिप्रा वातं प्रियतम इव प्रार्थनाचाटुकारः॥

इसी प्रकार वसन्त में मालती का न खिलना, चन्दन के वृक्ष में पुष्प या फल का न होना, अशोक में फल न आना जैसी बातें दुनिया में तो ठीक नहीं हैं, किन्तु कवि लोग ऐसा ही कहते आये हैं। इन दोनों बातों को राजशेखर की भाषा में क्रमशः 'असतोऽपि निबन्धनम्' और 'सतोऽपि अनिबन्धनम्' कहते हैं। तीसरी श्रेणी के कवि-समय वे हैं जिन्हें राजशेखर नियम कहते हैं। जो बात और दस जगह हो सकती है, उसे एक ही जगह बाँध देना नियम है। जैसे मकर नदी और झील में होते हैं, पर वर्णन समुद्र में ही किया जाता है। मोती बहुत स्थानों में पैदा होते हैं, लेकिन कवि लोग यह गौरव ताम्रपर्णी नदी को ही देते हैं। किसी कवि ने कहा है कि दुनिया में कितनी ही प्रतिष्ठित नदियाँ क्यों न हों, कितने ही स्वादु जल क्यों न हों, और कितनी ही सीपियाँ पैदा क्यों न होती हों, किन्तु मुक्ता-रूपी कामधेनु ताम्रपर्णी को छोड़कर और कहीं पैदा नहीं होती :

कामं भवन्तु सरितो भुवि सुप्रतिष्ठा
स्वादूनि सन्तु सलिलानि च सूक्तयश्च।
एतां विहाय वरवर्णिनी ताम्रपर्णी
नान्यत्र संभवति मौक्तिक कामधेनुः॥

राजशेखर ने इन तीनों बातों को तीन श्रेणियों में विभक्त किया है—जाति, द्रव्य और क्रिया। अब तक जाति के विषय में चर्चा हुई। द्रव्य के कवि-समय भी तीन प्रकार के होते हैं। जैसे, पहली श्रेणी में अन्धकार को मुष्टिग्राह्य या सूचीभेद्य बताना, ज्योत्स्ना को घड़े में भरने योग्य बताना, इत्यादि। द्वितीय श्रेणी में कृष्ण-पक्ष में ज्योत्स्ना तथा शुक्लपक्ष में अन्धकार का वर्णन न करना। तीसरी श्रेणी में मलय को चन्दन का आश्रय बताना, हिमालय को ही भूर्जपत्र का स्थान बताना। इसी तरह से क्रिया-सम्बन्धी कवि-समयों में रात में चक्रवाक जोड़ों का अलग हो जाना, चकोरों का चन्द्रिका पान करना; दूसरी श्रेणी में दिन में नीलकमल का न खिलना या रात में शेफालिका कुसुमों का न झड़ना तथा तीसरी श्रेणी में कोयल का केवल बसन्त में बोलना, मयूरों का वर्षा में ही नाचना इत्यादि बातें हैं।

कवि-समय की भाँति राजशेखर ने गुण-समयों की भी स्थापना की है। इन्हें भी कवि-प्रसिद्धियों में ही गिनना चाहिए। इनमें यश और हँसी का सफेद होना, अपयश और पाप का काला होना, क्रोध का लाल होना आदि बातें ऐसी हैं जो 'असतोऽपिअनिबन्धन' अर्थात् नहीं होती पर होना कहा जाता है। कुछ गुण ऐसे हैं जो होते और तरह के हैं, पर वर्णन और तरह से होता है। कवियों की दुनिया में प्रसिद्ध है कि कुन्द का कुड्मल लाल नहीं होता। फिर कमल मुकुल को हरा और प्रियंगु को पीला नहीं वर्णन किया जाता, यद्यपि इनमें ये गुण [illegible]

मणि-माणिक्यों का रंग लाल, पुष्पों का सफेद और मेघ का काला कहा जाता है। कृष्ण, नील, हरित, श्याम आदि रंगों का प्रयोग एक ही अर्थ मे कर लिया जाता है। पीत और रक्त को तथा श्वेत और गौर को एक ही मान लिया जाता है। आँखों का वर्णन कभी श्याम, कभी कृष्ण, कभी श्वेत, कभी लाल और मिश्र रग का किया जाता है। राजशेखर ने स्वर्ग और पाताल के लिए भी एक विस्तृत अध्याय लिखा है। जैसे चन्द्रमा मे हरिण और शश की एकार्थता, कामदेव की ध्वजा मे मकर और मत्स्य का ऐक्य, अभिनेत्र और समुद्र से उत्पन्न चन्द्रमा का ऐक्य, काम की मूर्त्तता, वारह सूर्यो का ऐक्य इत्यादि वातें गिनायी है। यह आश्चर्य की बात है कि राजशेखर ने अशोक, बकुल आदि की दोहदवाली कवि-प्रसिद्धियों की चर्चा नही की। यह तो नही कहा जा सकता कि उन्हे प्रसिद्धियो का पता नही था, क्योंकि उनके ग्रन्थ मे ही इस बात का सबूत है कि वे इन बातो को जानते अवश्य थे। सम्भवतः वे इमे अलौकिक या अशास्त्रीय नही मानते थे। विश्वनाथ ने अपने 'साहित्य-दर्पण' मे इन बातो को भी कवि-समय के अन्तर्गत माना है। वस्तुतः कवि-प्रसिद्धियाँ और भी अधिक छान-बीन की अपेक्षा रखती है। पुराने आचार्यों ने अपने सूक्ष्म निरीक्षण के वल पर जितना कहा है, वह महत्त्वपूर्ण होते हुए भी सक्षिप्त और सीमित ही है। यह नही समझना चाहिए कि कवि-प्रसिद्धियो की सूची इतनी ही है। उत्तर-मध्यकाल मे कुछ ऐसी प्रसिद्धियाँ मिल जाती है जो संस्कृत-साहित्य मे नही है। क्रौच पक्षी का संकल्प से अपने अण्डो को पालना और उत्सुकतापूर्वक वार-वार पहाड की ओर देखने के कारण उनकी गर्दन लम्बी हो जाना सन्त-साहित्य की प्रसिद्धियाँ हैं। कवीर ने कहा है :

रात्यूँ सूनी विरहनी ज्यों वंचों कू कुंज।
कवीर अन्तर परजल्या प्रगट्या विरहा पुंज॥

इस प्रकार की और प्रसिद्धियाँ है जो अन्वेषकों के परिश्रम से ही संगृहीत हो सकती हैं।

[आलोक-पर्व से]

संस्कृत-साहित्य में पक्षी-वर्णन

संस्कृत-साहित्य में पक्षियों की इतनी अधिक चर्चा है कि अन्य किसी साहित्य मे इतनी चर्चा शायद ही हो। जिन दिनो संस्कृत के काव्य-नाटकों का निर्माण अपने

पूरे चढ़ाव पर था, उन दिनों केलि-गृह और अन्तःपुर के प्रासाद-प्रांगण से लेकर युद्ध-क्षेत्र और वानप्रस्थों के आश्रम तक कोई-न-कोई पक्षी भारतीय सहृदय के साथ अवश्य रहा करता था। वह विनोद का साथी था, रहस्यालाप का दूत था, भविष्य के शुभाशुभ का द्रष्टा था, वियोग का सहारा था, संयोग का योजक था, युद्ध का सन्देशवाहक था, और जीवन का ऐसा कोई क्षेत्र नहीं था, जहाँ वह मनुष्य का साथ न देता हो। कभी भवनवलभी में सोये हुए पारावत के रूप में, कभी मानिनी को हँसा देनेवाले शुक के रूप में, कभी अज्ञात प्रणयिनी के विरहोच्छ्वास को खोल देनेवाली सारिका के रूप में, कभी नागरिकों की गोष्ठी को उत्तेजित कर देनेवाले योद्धा कुक्कुट के रूप में, कभी भवन-दीर्घिका (अन्त.पुर के तालाब) में मृणाल-तन्तुभक्षी कलहंस के रूप में, कभी अज्ञात प्रिय के सन्देशवाहक राजहंस के रूप में, कभी चूत-कापाय-कण्ठ से विरहिणी के दिल में हूक पैदा कर देनेवाले कोकिल के रूप में, कभी नूपुर की झंकार से झँकार-ध्वनिकारी सारस के रूप में, कभी कंकण की रुनझुन से नाच पड़नेवाले मयूर के रूप में, कभी चन्द्रिकापान से मदविह्वल होकर मुग्धा के मन में अपरिचित हलचल पैदा कर देनेवाले चकोर के रूप में वह प्रायः इस साहित्य में पाठक की नजरों से टकरा जाता है। इन पक्षियों को संस्कृत-साहित्य में से निकाल दीजिए, फिर देखिए कि वह कितना निर्जीव हो जाता है। हमारे प्राचीन साहित्य को जिन्होंने इतना सजीव कर रखा है, इतना सरस बना रखा है, उनके विषय में अभी तक हिन्दी में कोई विशेष उल्लेख-योग्य अध्ययन नहीं हुआ है, यह हमारी उदासीनता का पक्का प्रमाण है।

महाभारत में एक पक्षी ने एक मनुष्य से कहा था कि मनुष्य और पक्षियों में सम्बन्ध दो ही तरह के हैं—भक्षण का सम्बन्ध और क्रीड़ा का सम्बन्ध। अर्थात् मनुष्य या तो पक्षियों को खाने के काम में लाता है या उन्हें फँसाकर उनसे मनोविनोद किया करता है—और कोई तीसरा सम्बन्ध इन दोनों में नहीं है। एक वध का सम्बन्ध है और दूसरा वन्ध का[1]। परन्तु समस्त संस्कृत-साहित्य और स्वयं महाभारत इस बात का सबूत है कि एक तीसरा सम्बन्ध भी है। यह प्रेम का सम्बन्ध है। अगर ऐसा न होता, तो कमल-पत्र पर विराजमान बलाका (बक-पंक्ति), जो मरकतमणि के पात्र में रखी हुई शंख-शुक्ति के समान दीख रही है, अकारण मानव-हृदय में आन्दोलन न कर सकती[2]; तपोनिरता पर्वत-कन्या जब कड़ाके की सर्दी में जल-वास करती होती, तो दूर से एक-दूसरे को पुकारनेवाले चक्रवाक-दम्पति के प्रति अहेतुक कृपावती न हो जाती[3]; धान से लहराते हुए, मृगांगनाओं से अध्युषित

1. भक्षार्थं क्रीडनार्थं वा नरा वाञ्छन्ति पक्षिणम्।
तृतीयो नास्ति संयोगो बधबंधादृते क्षमः।—म. भा., शान्तिपर्व, 139-60

2. उअणिच्चल-णिप्पंदा भिसिणी-पत्तम्मि रेहइ बलाआ।
णिम्मल-मरगअ-भाअण-परिडिआ संख सुत्ति व्व॥—'हाल सतसई', 1-4

3. निनाय सात्यन्त हिमोत्करानिला. सहस्य रात्रीरुदवास तत्परा:।
परस्परा क्रन्दिनि चक्रवाकयोर्मियो वियुक्ते मिथुने कृपावती।—'कुमारसम्भव', 5-28

मसाले भी गृहदेवियाँ स्वयं तैयार कर लेती थी—जीरा, सरसों, जवायन, सौंफ, तेजपात आदि। वाटिका के दूसरे भाग में कुब्जक (= मालती?), आमलक (?), मल्लिका (वेला), जाती (मालती और भावप्रकाश के मत से चमेली), कुरण्टक (कटसरैया), नवमालिका, तगर, जपा आदि के पुष्पों के गुल्म भी लगाया करती थी (पृ. 325)। वृक्षवाटिका के अन्तिम (बाहरी) किनारे पर बड़े छायादार वृक्ष—जैसे अशोक, अरिष्ट, पुन्नाग, शिरीष आदि—लगाये जाते थे। 'बृहत्संहिता' (55 3) में बताया गया है कि ये वृक्ष मांगल्य होते है, इसलिए इनको घर या उद्यान के पूर्वभाग मे रोपण करना चाहिए। उद्यान के बीचोबीच गृहदीर्घिका या तालाब रहा करता था। इन तालावों में नाना प्रकार के जल-पक्षियों का रहना मगलजनक समझा जाता था। इनमे कृत्रिम भाव से कमलिनी या नलिनी (पत्र-पुष्प-सहित कमल वृक्ष) उत्पन्न की जाती थी। वराहमिहिर ने 'बृहत्संहिता' (56 4-7) मे लिखा है[1] कि जिस सरोवर में नलिनी-रूप छत्र से सूर्य-किरणें निरस्त होती है; हंस के कन्धों से धकेली हुई लहरियाँ कल्हारो से टकराती हैं; हंस, कारण्डव, क्रौंच और चक्रवाकगण कल-निनाद करते रहते है और जिसके तटान्त की वेत्र-वनच्छाया मे जलचारी पक्षी विश्राम करते है, ऐसे सरोवर के निकट देवतागण प्रसन्न भाव से विराजते हैं। इन वापियों मे विविध पक्षियो के निवास का नाना भाँति से कवियों ने वर्णन किया है। इन्ही वाटिकाओं में, वात्स्यायन ने लिखा है कि, सघन छाया मे प्रेङ्खादोला या झूला लगाया जाता था, इन्ही में पत्थर की स्थण्डिल-पीठिकाएँ (बैठने के आसन) बनाये जाते थे और उन पर सुकुमार पुष्प-दल बिछा दिये जाते थे (पृ. 45)। भवन-दीर्घिका के एक पार्श्व मे क्रीड़ा-पर्वत हुआ करते थे, जिनके इर्द-गिर्द मयूर मँडराते रहते थे। यही अन्त.पुरिकाएँ नाना भाँति की विलास-लीलाएँ करती थीं। दीर्घिका में और अन्यत्र धारायन्त्र या फव्वारे बने होते थे, जिनमे कभी जलदेवताओं के और कभी हंस-मिथुन या चक्रवाक-मिथुन के जोड़े बने होते थे, जो जल-धारा को उच्छ्वसित करते रहते थे। अलकापुरी मे 'मेघदूत' की यक्षिणी के अन्त.पुर में एक ऐसी ही वाटिका थी, जिसमें यक्ष-प्रिया ने एक छोटे-से मन्दार वृक्ष को—जिसके पुष्पस्तवक हाथ की पहुँच के भीतर ही थे—पुत्रवत् पाल रखा था।[2] इस उद्यान मे मरकत-मणियो की सीढीवाली एक वापी थी, जिसमें वैडूर्यमणि के बने हुए नालों पर हेम-पद्म प्रस्फुटित

1. सर· सुनलिनीच्छत्र निरस्त रविरश्मिषु।
हंसांसाक्षिप्त कल्हार वीची विमल वारिषु॥
हंस कारण्डव क्रौंच चक्रवाक विराविषु।
पर्यन्त निचुलच्छाया विश्रान्त जलचारिषु॥
2 तत्रागार धनपतिगृहादुत्तरणास्मदीय।
दूराल्लक्ष्य सुरपतिधनुश्चारुणा तोरणेन।
यस्योद्याने कृतकतनयः कान्तया वर्धितो मे।
हस्तप्राप्यस्तबक नमितो बालमन्दारवृक्ष:॥80॥

हो रहे थे और हंस विचरण कर रहे थे।[1] इसी वापी के तीर पर एक क्रीड़ा-पर्वत था। वह इन्द्रनीलमणि से निर्मित था और कनक-कदली से वेष्टित था। वाटिका के मध्यभाग में रक्त-अशोक और बकुल के वृक्ष थे, एक प्रिया के पदाघात से और दूसरा वदन-मदिरा से उत्फुल्ल होने की आकाक्षा रखता था।[2] इनका बेडा कुरवक या पियावसा की झाड़ियों का था। ठीक बीच में एक सोने की वास-यष्टि पर स्फटिक की पीढी थी, जिस पर यक्ष-प्रिया का वह मयूर बैठा करता था, जिसे वह अपनी चूड़ियों की मंजु ध्वनि से नचाया करती थी।[3] बहुत भीतर जाने पर यक्ष-प्रिया के शयन-कक्ष के पास पिंजड़े मे मधुरभाषिणी सारिका थी, जिससे शायद वह अपने प्रिय के विषय मे पूछा करती थी।[4] बाणभट्ट की 'कादम्बरी' मे अन्त.-पुर के भीतर का बड़ा ही रसमय और जीवन्त वर्णन है। उस वर्णन से जान पड़ता है कि 'कादम्बरी' की विविध परिचारिकाएँ किन कार्यों मे व्यस्त थी। वस्तुत: समस्त संस्कृत-साहित्य मे अन्त:पुर-वर्णन के प्रसंग मे इन बातो का अल्पाधिक विस्तार रहता है। अन्त.पुर के सबसे भीतरी हिस्से मे कोई लवलिका केतकी (केवड़े) की धूलि से लवली (हरफारेवरी) के आलवालो को सजा रही थी, कोई सागरिका गन्ध-जल की वापियों में रत्न-बालुका निक्षेप कर रही थी, कोई मृणालिका कृत्रिम कमलिनियो के यन्त्र-चक्रवाको के ऊपर कुकुम-रेणु फेंक रही थी, कोई मकरिका कर्पूर-पल्लव के रस से गन्ध-पात्रो को सुवासित कर रही थी, कोई रजनिका तमाल वीथिका के अन्धकार मे मणि-प्रदीपों को रख रही थी, कोई कुमुदिका पक्षियों के निवारण के लिए दाड़िमी फलो को मुक्ताजाल से अवरुद्ध कर रही थी, कोई निपुणिका मणि की पुतलियों के वक्ष:स्थल पर कुंकुम रस से चित्र-कारी कर रही थी, कोई उत्पलिका कदली-गृह की मरकत-वेदिकाओं को सोने की सम्मार्जनी (झाड़ू) से साफ कर रही थी, कोई केसरिका वकुल-कुसुम-माला-गृहो को मदिरा-रस से सीच रही थी और कोई मालतिका कामदेवगृह की हाथीदाँत की

1. वापी चास्मिन् मरकतशिलाबद्ध सोपानमार्गा
हैमै: स्फोता विकच कमलैर्दीर्घ वैडूर्यनालै.।
यस्यास्तोये कृतवसतयो मानस सन्ति क्लृप्तं
नाध्यास्यन्ति व्यपगत शुचस्त्वामपि प्राप्य हसा'। 81।
2. रक्ताशोकश्चल किसलय: केसरश्चात्र कान्त:
प्रत्यासन्नौ कुरवक वृते माधवीमण्डपस्य।
एक: सख्यास्तव सहमया वामपादाभिलाषी
कांक्षत्यन्यो वदनमदिरा दोहृदच्छद्मनास्या'। 86।
3 तन्मध्ये च स्फटिक फलका काञ्चनीवास यष्टि-
मूंले बद्धा मणिभिरनति प्रौढवंश प्रकाशै.।
तालै: शिञ्जवलय सुभगै. कान्तया नर्तितो मे
यामध्यास्ते दिवस विगमे नीलकण्ठ: सुहृद् व.। 87।
4. पृच्छन्ती वा मधुरवचना सारिका पंजरस्थां
कच्चिद् भर्तु: स्मरसि रसिके त्वं हि तस्य प्रियति।

वलभिका (मण्डप) को सिंदूर-रेणु से पाटलित कर रही थी। ये सारी बातें ऐसी है, जिनका अर्थ दरिद्र लेखनी-धारियों की समझ में नहीं आ सकता। हम केवल आँख फाड़कर देखते है कि मधुमक्खियों के छत्ते से भी अधिक व्यस्त दिखनेवाले इस अन्तःपुर के व्यापारों का अर्थ क्या है? खैर, कुछ समझ में आने लायक बातें भी है। वहाँ कोई नलिनिका भवन के कलहंसों को कमल-मधुरस पान कराने जा रही थी, कोई कदलिका मयूरो को धारा-गृह या फव्वारों के पास ले जा रही थी—शायद नचाने के लिए!—कोई कमलिनिका चक्रवाक-शावकों को मृणाल-क्षीर-रस दे रही थी, कोई कोकिलों को आम्रमंजरी का अंकुर खिलाने में लगी थी, कोई पल्लविका मरिच (काली मिर्च) के कोमल किसलयों को चुन-चुनकर भवन-हारीतों को खिला रही थी, कोई लवंगिका चकोरों के पिंजडों मे पिप्पली के मुलायम पत्ते निक्षेप कर रही थी, कोई मधुरिका पुष्पों के आभरण बना रही थी, और इस प्रकार सारा अन्तःपुर पक्षियों की सेवा में व्यस्त था। सबसे भीतर वचन-मुखरा सारिका (मैना) थी और विदग्ध शुक था, जिनके प्रणय-कलह की शिक्षा पूरी हो चुकी थी, और चन्द्रापीड़ के सामने अपना वैदग्ध्य-विलास प्रकट करके जिस सारिका ने कादम्बरी के अधरों पर लज्जायुक्त मुस्कान की एक हल्की रेखा प्रकट कर दी थी![1]

[आलोक-पर्व से]

विश्वभाषा हिन्दी

विश्व हिन्दी सम्मेलनों मे हिन्दी की नवीन शक्ति और गतिशीलता का परिचय मिला। हिन्दी अब अन्तर्राष्ट्रीय भाषा के रूप में स्थान पाने जा रही है। संसार में पिछली दो शताब्दियों से यूरोप की साम्राज्यवादी ताकतों ने पूरे संसार पर आधिपत्य जमाने का प्रयत्न किया। उनकी भाषाएँ भी उनके साथ आयी। जहाँ-जहाँ वे गये, वहाँ-वहाँ उनके साथ उनकी भाषाएँ भी गयी। आज संसार में जिन भाषाओं ने अन्तर्राष्ट्रीय भाषा के रूप में प्रतिष्ठा पायी है, उनके पीछे शोषण और परपीड़न का इतिहास है। दूसरे देशों की समृद्धि का दोहन करके ये जातियाँ समृद्ध हुई और

1. 'कादम्बरी', पृ. 335 और आगे। इस लेख मे सर्वत्र निर्णय-सागर प्रेस (षष्ठ संस्करण 1921) की 'कादम्बरी' से उद्धरण दिये गये हैं।

अपनी भाषा को केवल भिन्न-भिन्न देशों में प्रचारित करने का ही सुयोग नही पाया, बल्कि शोषण और दोहन से अर्जित सम्पत्ति से अपने-अपने देश में ज्ञान-विज्ञान की उन्नति के लिए साधन भी प्राप्त किये। उन समृद्ध देशों मे ज्ञान के ऐसे अनेक साधक उत्पन्न हुए जिन्होंने अपनी-अपनी भाषा को खूब समृद्ध किया और वे भाषाएँ केवल शासन की भाषा नहीं, ज्ञान-विज्ञान की शक्तिशाली वाहिका भी सिद्ध हुईं। उन देशों के निवासियों को अनेक सुविधाएँ मिली और इन सुविधाओ के साथ उनके देश-वासियों में से अनेक विद्वानों ने गम्भीर निष्ठा के साथ साहित्य का भी निर्माण किया। वे भाषाएँ आज समृद्ध हैं और सारे संसार में किसी-न-किसी रूप मे छायी हुई हैं। वे ही इस समय विश्व-भाषा होने की दावेदार है और उनका दावा स्वीकार भी किया जाता है। अनेक समृद्ध देश जो इस प्रकार के शोषण और दोहन से अपरिचित थे और स्वयं शोषण और दोहन के शिकार हो गये थे, उनकी शक्ति-शाली भाषाएँ दब गयी। संस्कृत, अरबी, फारसी, ग्रीक आदि समृद्ध भाषाएँ साम्राज्यवादी चकाचौंध में दब गयी। और, जिन लोगों ने अनेक प्रकार के छल-छद्म और सैन्य-बल के द्वारा संसार के अधिकांश देशो को दबाकर उनकी समृद्धि का शोषण किया, वे ही सबके सिर पर सवार हो गये।

आज विश्व की सर्वाधिक शक्तिशाली भाषाएँ शोषण और परपीड़न के द्वारा प्राप्त हुई शक्ति की आवाज हैं। जाने-अनजाने उनमें सदा यह प्रयत्न प्रच्छन्न रूप से मिलता है कि जो लोग दबाये गये थे वे दबे रहें, उनमे आत्मसम्मान का भाव उठ ही न पाये और यदि कही इस प्रकार का आत्मसम्मान सिर उठाने लगे तो उसे तत्काल निरस्त कर दिया जाये। शोषण और दोहन की नीति से समृद्ध बनी हुई भाषाओं में एक खास प्रकार की चिन्तन-प्रणाली किसी-न-किसी रूप मे अवश्य मिलती है, जो शोषित लोगों को हीन सिद्ध करती है। उन भाषाओ मे जो समृद्ध ज्ञान है वह अभिनन्दनीय है। लेकिन उनका वह स्वर किसी प्रकार से सहन करने योग्य नही है जिसमे हजारों वर्ष की समृद्ध सभ्यताओं को छोटा करने का स्वर है, और जो दबे हुए लोग थे उन्हे हमेशा दबाये रखने का जहरीला डंक है।

समृद्ध और प्रभावशाली देश दबाये हुए अविकसित देशो को विकसित होते नहीं देखना चाहते। अनेक प्रकार के हथकण्डों से वे उनकी उन्नति रोकने का प्रयत्न करते हैं और उनके विकसित होने की पद्धतियों का उपहास करते है। विकासशील देशो मे उनकी भाषाओ का बड़ा प्रभुत्व है। इसलिए उन भाषाओ के माध्यम से वे विकासशील देशों के शिक्षितों को भी बुरी तरह प्रभावित करते हैं। उनके स्वाभि-मान और आत्म-निर्भरता को कुण्ठित करना उनका एक शक्तिशाली घातक हथियार है। नये-नये स्वाधीन देशों के हर प्रयास की वे खिल्ली उड़ाते हैं और उन देशो की शिक्षित जनता, जो उन्ही की भाषा में सोचने-समझने की आदी हो गयी है, आत्म-विश्वास खोने लगती है।

अपने देश मे इसका बहुत अच्छा उदाहरण मिलेगा। नवोदित देशों ने अपनी समस्याओ को जब अपने ढंग से सुलझाने का प्रयत्न किया तो अन्तर्राष्ट्रीय भाषा

विश्वास जागता गया। आज गुटनिरपेक्ष आन्दोलन अत्यन्त प्रभावकारी शक्ति के रूप मे आ रहा है। भारतवर्ष में तो इन्दिराजी के नेतृत्व मे निश्चित रूप से दृढ़ आत्मनिष्ठा और स्वाभिमान का श्रीगणेश हुआ है। आज हमारे देश मे यह विश्वास हिलोरें ले रहा है कि हम हर दिशा मे आत्म-निर्भर बन सकते है और हम आत्म-निर्भर बन रहे है। साथ ही अपनी अन्तर्निहित शक्ति पर हमारा विश्वास हमेशा बढ़ता जा रहा है। भारतवर्ष की शक्ति उपरले स्तर के धनिक वर्ग, सामन्त वर्ग और प्रशासक वर्ग मे नहीं है; वह शक्ति जनता की शक्ति है, साधारण लोगों की शक्ति है, किसान और मजदूरो की शक्ति है। कुहासा फटता जा रहा है और यह बात बिल्कुल स्पष्ट हो गयी है कि इस देश का उत्थान इस देश की भाषाओं के माध्यम से ही होगा। हमें अपनी समस्याओ का सामना स्वयं करना पड़ेगा, स्वयं उसके लिए समाधान ढूंढना पड़ेगा; हमारा रास्ता अपना रास्ता होगा। इसीलिए देशी भाषाओं की शक्ति उभरती जा रही है और उनमे सम्पर्क-सूत्र के रूप में देश की अधिकांश जनता में हिन्दी का महत्त्व क्रमशः स्पष्ट होता जा रहा है। बहुत शीघ्र हमारे उन विद्वानो के मन से भी यह कुण्ठा समाप्त हो जायेगी कि अंग्रेजी के बिना इस देश का काम नही चल सकता। निस्सन्देह हिन्दी पूरी शक्ति के साथ राष्ट्र के उत्थान में योगदान करनेवाली भाषा होगी।

जिस प्रकार यूरोप के विकसित देशों के लोग अनेक देशों मे गये, उसी प्रकार विकासशील देशों के लोग भी किसी-न-किसी रूप में भिन्न-भिन्न देशो में बसे है। भारतवर्ष से भी अफ्रीका और दक्षिणी अमरीका के देशों मे अनेक भारतवासी गये हैं। उनका जाना यूरोप के लोगों के जाने से भिन्न है। जहाँ यूरोप के लोग शोषण और दोहन के लिए गये, वहाँ इस देश के निवासी श्रमिक और व्यापारी के रूप में गये हैं। अनेक देशों में हिन्दी भाषा-भाषी पहुंचे हैं—श्रमिक के रूप मे, शोषित के रूप में। जब तक भारतवर्ष स्वाधीन नही था, तब तक वह अपने प्रवासियों के बारे में कुछ कर भी नही सकता था। आज देश स्वाधीन है और संसार के अधिकांश भागो के भारतीय नागरिक स्वदेश की ओर आशाभरी दृष्टि से देख रहे है। अपने साथ वे अपनी प्यारी-प्यारी भाषाओ को भी ले गये और निस्सन्देह ऐसा समय आ रहा है जब उनके साथ गयी हुई भाषाएँ, जिनमे हिन्दी प्रमुख है, नवीन तेज लेकर संसार के रंगमंच पर उतरेंगी। इनमे छल-छद्म का स्वर प्रधान नही होगा, दूसरों को हीन बताने की तिकड़म नही होगी, फूट डालने की नीति नही होगी। इनमें निस्सन्देह शान्ति और सौमनस्य की सुगन्ध होगी और मनुष्यमात्र के प्रति सौहार्द का स्वर प्रधान होगा। मारीशस के द्वितीय विश्व हिन्दी सम्मेलन में यह बात खुल-कर प्रकट हुई है। हिन्दी शान्ति और प्रेम की भाषा के रूप में संसार के रंगमंच पर नयी ज्योति लेकर उदित हो रही है। जो लोग अब भी उसकी शक्ति में विश्वास नही रखते वे शीघ्र ही समझ जायेंगे कि यह कोरी कल्पना नही है। हिन्दी विश्व की सबसे शक्तिशालिनी तृतीय भाषा के रूप मे उदित हो रही है। देश के शिक्षित और समझदार लोग इस बात को जितनी जल्दी अनुभव कर सकें उतना ही अच्छा

है। यदि मोहवश वे यह बात स्वीकार नहीं करते तो विवश होकर स्वीकार करना पड़ेगा :

कर्तुंनेच्छसि यन् मोहात् करिष्यसि अवशोऽपितत् ।

हिन्दी अपने जन्म-काल से ही सन्तों की भाषा रही है, उसका सन्देश सदा सार्वदेशिक रहा। किसी छोटे दायरे में वह कभी नहीं बँधी। उसने सदैव मनुष्य-जन्म की दुर्लभता और उसे पा लेने पर उसे सार्थक बनाने के प्रयत्नों पर ही बल दिया। पर-पीड़न और परोत्साहन से प्राप्त समृद्धि को उसने मानव-जीवन का कलंक बताया। काम, क्रोध, लोभ आदि विकारों को उसने मनुष्य-जीवन का शत्रु घोषित किया। कठिन परिस्थितियों में भी मनुष्य-जीवन की चरितार्थता को सदा रेखांकित किया। भारतवर्ष के हर कोने से आये हुए महात्माओं ने उसमें संजीवनी शक्ति भरी और क्षण-भंगुर उन्मादनाओं का तिरस्कार किया। इन महात्माओं के मुकुटमणि हैं नामदेव, कबीर, नानक, दादू, तुलसीदास तथा अन्य अनेक तपोनिष्ठ महात्मा। इस भाषा के साहित्य में मनुष्य का लक्ष्य छोटी-छोटी सफलताओं तक सीमित नहीं माना गया, बल्कि उदात्त गुणों की ओर संकेत किया गया। वह मनुष्य को परदुःखकातर, सेवापरायण, सच्चरित्र, निर्लोभ और भगवद्भक्त बनाता है। केवल तुलसीदास-रचित 'रामचरितमानस' ने ही न जाने कितने लोगों को सेवा, प्रेम और सद्भावना के स्तर पर उठाया है। विरूप परिस्थितियों में अडिग रहने की प्रेरणा दी और समृद्धि की अवस्था मे अमानी और अप्रमत्त रहने की चेतावनी दी। मारीशस में गये हुए भारतीय नागरिक इसके प्रमाण हैं। जिस भाषा मे ऐसे महान् गुण हों, उसे अन्तर्राष्ट्रीय माध्यम होने में कोई कठिनाई बाधक नहीं हो सकती। निस्सन्देह हिन्दी समर्थ भाषा के रूप में विश्व-रंगमंच पर उचित स्थान ग्रहण करेगी।

हमारा आधुनिक साहित्य तेजी से बढ़ रहा है। कभी-कभी उसमें वे लहरें भी आती हैं जो शोषणसमृद्ध भाषाओं के लेखकों की खोपड़ी की भभक से प्रभावित होती हैं, परन्तु आधुनिक युग में हमारे जितने भी बड़े लेखक हुए हैं उनमें नये परिवेश में मानवीय गुणों को प्रतिष्ठित और उजागर करने की वैसी ही आकांक्षा है जैसी पुराने लेखकों में थी।

यह बात केवल हिन्दी के लिए नहीं कही जा रही है। भारतवर्ष की सभी भाषाओं में यह गुण पाया जाता है। विरासत में पायी गयी समृद्ध संस्कृति आधुनिक साहित्य में भी नया तेज लेकर प्रकट हुई है। रवीन्द्रनाथ, शरच्चन्द्र, विवेकानन्द, मैथिलीशरण गुप्त, निराला आदि महान् साहित्यकारों ने उन बड़े सन्देशों को नयी शक्ति देकर अभिव्यक्ति दी है। आगे आनेवाला हमारा साहित्य मानवीय गुणों से और भी समृद्ध होगा। राजनीति के क्षेत्र में भी महात्मा गांधी, जवाहरलाल नेहरू और इन्दिरा गांधी आदि नेता उसी महान् संस्कृति को कार्य-रूप में प्रकट करते रहे हैं। इसलिए भारतवर्ष अपने साहित्य और अपनी राजनीतिक चेतना से निरन्तर महान् सांस्कृतिक परम्पराओं को उजागर करता रहेगा, इस बात

में कोई सन्देह नहीं रह जाता। हिन्दी को आज की और आज से पहले की सभी देशी भाषाओं से उत्तम साहित्य ग्रहण करने की लालसा है और निश्चित रूप से वह इस विषय में पूर्णतः समर्थ है। भारतवर्ष के सभी साहित्यों को अनुवाद और व्याख्या के द्वारा हिन्दी में ले आने का काम पहले से ही शुरू हो गया है। हिन्दी में भारतवर्ष की सभी समृद्ध साहित्यिक परम्पराएँ थोड़ी-बहुत आ भी गयी है। देश की कोई भी और भाषा इस दिशा में हिन्दी से अधिक सौभाग्यशाली नहीं है। बँगला, उर्दू, गुजराती, मराठी, तमिल, तेलुगु, कन्नड़, उड़ीसा, पंजाबी आदि भाषाओं का समृद्ध साहित्य हिन्दी में पहले भी काफी मात्रा में आ गया है और आगे और भी अधिक आनेवाला है। किसी प्रकार इस कार्य में कमजोरी दिखाना उचित नही है। वस्तुतः समूचे भारत के उत्तम साहित्य का भण्डार हिन्दी में अवश्य होना चाहिए; क्योंकि हिन्दी स्वभाव और संस्कार से भी सर्वभारतीय भाषा है। जब साहित्य की दृष्टि से हिन्दी इतनी समृद्ध हो जायेगी कि विदेश के कोने-कोने में जहाँ कही भी उत्तम साहित्य हो उसे अपने भण्डार में कर लेगी, तभी वह सही अर्थ में सर्वभारतीय भाषा बनेगी। इस दिशा में हिन्दी के कार्यकर्ता निरन्तर प्रयत्नशील रहे है, परन्तु अब सगठित रूप से काम करने की आवश्यकता है। विदेशों में हिन्दी के माध्यम से ही भारतीय साहित्य फैलेगा, इसमें कोई सन्देह नही।

राजकाज के मामले में हिन्दी की थोड़ी प्रगति हुई है और विश्वविद्यालयों में पढ़ाई के माध्यम के रूप में भी वह बहुत आगे बढ़ चुकी है। कठिनाई यह है कि सर्वभारतीय स्तर पर ऊपर जो लोग अधिकारी हैं, वे अभी हिन्दी के महत्त्व को ठीक-ठीक नहीं समझ पा रहे है। वे अब भी अंग्रेजी द्वारा प्राप्त संस्कारों से चालित हो रहे हैं। बहुत मेधावी विद्यार्थी भी अंग्रेजी की कमजोरी के कारण या अंग्रेजी जानते हुए भी विशेष प्रकार के लहजे में उसे न बोल सकने के कारण छँट जाया करता है। जब तक ऊपर से कार्य अवरुद्ध रहेगा, तब तक हिन्दी को विश्वविद्यालयों का माध्यम बनाने के सभी प्रयत्न कमजोर बने रहेंगे। केन्द्रीय सरकार की सहायता से विश्वविद्यालयों के उपयुक्त विभिन्न विषयों में पाठ्यक्रम प्रस्तुत करने में काफी प्रगति हुई है, परन्तु जब तक अधिकार-सम्पन्न शीर्षस्थ आयोग, कौंसिल वगैरा हिन्दी माध्यम से पढ़े हुए विद्यार्थियों की उपेक्षा करेंगे तब तक सरकारी प्रयत्न भी बेकार ही सिद्ध होगा। अधिकारप्राप्त लोग प्रायः यह भूल जाते हैं कि अब ऊपरवालों की कृपा से शक्ति का स्राव नीचे नहीं जा रहा है बल्कि साधारण जनता के स्तर से शक्ति ऊर्ध्वगामी होकर बह रही है। कितने दिनों तक जन-शक्ति की उपेक्षा की जायेगी? बहुत शीघ्र अंग्रेजी साहित्य बालू की भीत की तरह ढह जायेगा। धीरे-धीरे किन्तु निश्चित रूप से देश यह अनुभव करने लगा है कि हर क्षेत्र में हमें स्वावलम्बी होना है, भाषा के क्षेत्र में भी। ऊपर बैठे लोगों को जितनी जल्दी यह बात समझ में आ जाये, उतना ही अच्छा है। मेरा विश्वास है कि बहुत जल्दी ही वह स्थिति आनेवाली है कि हिन्दी की उपेक्षा करनेवाले स्वयं उपेक्षित

हो जायेंगे और इस देश की भाषाएँ और उनसे सम्पर्क बनाये रखनेवाली प्रमुख भाषा हिन्दी अपना अधिकार प्राप्त करेगी। अन्तर्राष्ट्रीय मर्यादा उसे अभी ही प्राप्त हो गयी है। विश्व-मंच पर राजनीतिक मर्यादा भी उसे बहुत जल्दी ही प्राप्त होगी। उसको रोका नहीं जा सकता। आशा करनी चाहिए कि इस देश के बुद्धिमान लोग इतिहासविधाता का अंगुलि-निर्देश समझ सकेंगे।

हिन्दी और अन्य भाषाओं का सम्बन्ध

आज का विषय है हिन्दी के साथ अन्य भाषाओं का सम्बन्ध। जिन भाषाओं के साथ हिन्दी के सम्बन्ध की चर्चा इस समय उठ सकती है उनको चार भागों मे विभक्त कर लिया जा सकता है :

1. हिन्दी और संस्कृत आदि प्राचीन भाषाओं में सम्बन्ध।
2. हिन्दी और हिन्दीतर प्रदेश की आधुनिक भाषाओं के साथ सम्बन्ध।
3. हिन्दीभाषी प्रदेशों मे बोली और लिखी जानेवाली बोलियो और भाषाओ से सम्बन्ध। इसमें एक ओर जनपदीय बोलियों की चर्चा आ सकती है और दूसरी ओर उर्दू और राजस्थानी, मैथिली, अवधी, व्रजभाषा आदि की।
4. हिन्दी और अंग्रेजी मे सम्बन्ध।

इन भाषाओं के पारस्परिक सम्बन्ध की चर्चा करने के पहले मैं अपना यह निश्चित मत आपकी सेवा में उपस्थित कर देना चाहता हूँ कि हिन्दी को मैं एक ऐसी भाषा नहीं मानता जिसे नये सिरे से बनाना है। उसका एक रूप निर्धारित हो चुका है। कठमुल्लेपन को मैं कभी पसन्द नही करता, इसलिए मैं यह भी मानने को प्रस्तुत नही हूँ कि अब इस भाषा को और भी सुन्दर और सुगठित बनाने के प्रयत्न अनावश्यक है। सुधार हमेशा ही होता रहता है। मनुष्य अगर संगठित प्रयत्न करके इस सुधार को नही लायेगा तो प्रकृति ही उस कार्य को कर डालेगी। इसलिए सुधार हो सकता है और होना चाहिए, परन्तु इसका यह मतलब नही कि हमें कोई सोलह आने नयी भाषा गढ़नी है। भाषा पहले से ही बनी हुई है। इसे बनाने का दावा करना दम्भमात्र है। इसका एक परिनिष्ठित रूप बन चुका है। सारे देश मे यदि इस भाषा को फैलाना है तो इस परिनिष्ठित रूप तक पहुँचने का ही प्रयत्न करना चाहिए। ससार के प्रत्येक कोने में भारतवर्ष की यह राष्ट्रभाषा निकट भविष्य मे अपना उचित स्थान प्राप्त करेगी। साधारण जनता अपने परिवेश में उसे विकृत करके बोलेगी भी और लिखेगी भी, परन्तु इस सबके लिए इसका परिनिष्ठित (स्टैण्डर्ड) रूप ही ध्रुवतारा

का काम देगा। मैं फिर कहता हूँ कि इसके परिनिष्ठित रूप में भी मेरे मत से कही शैथिल्य है और उसका सुधार होना चाहिए, परन्तु परिनिष्ठित रूप है ही नही यह बिल्कुल गलत बात है।

मैंने शुरू मे ही जो इस बात की ओर आपका ध्यान आकृष्ट किया, उसका कारण है। यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण बात प्रायः भुला दी जाती है और भुला देने का नतीजा यह होता है कि अकारण आशंका और दुश्चिन्ता मे बुद्धिमान समझे जानेवाले लोग भी व्याकुल होते रहते हैं। परन्तु यदि आप ध्यान देकर थोड़ा भी सोचेंगे तो स्पष्ट हो जायगा कि हमारी भाषा का जो परिनिष्ठित रूप इस समय मिलता है, जिस रूप के निर्माण मे हमारे सैकड़ों-हजारो साहित्य-सेवी अज्ञात और अख्यात रहकर भी अपना सब-कुछ बलिदान कर गये हैं उसके मूल में कौन-सी महत्त्वपूर्ण बात है। स्वर्गीय आचार्य पं. रामचन्द्र शुक्ल ने रीतिकाल, *अर्थात् आधुनिक काल के* ठीक पूर्व के काल की भाषा के सम्बन्ध मे विचार करते समय कुछ दुःख के साथ ही लिखा है कि "रीतिकाल में एक बड़े अभाव की पूर्ति हो जानी चाहिए थी, पर नही हुई। भाषा जिस समय सैकड़ों कवियों द्वारा परिमार्जित होकर प्रौढ़ता को पहुँची, उसी समय व्याकरण द्वारा उसकी व्यवस्था होनी चाहिए थी कि जिससे उस च्युत-संस्कृति-क्षेत्र का निराकरण होता जो ब्रजभाषा-काव्य मे थोड़ा-बहुत सर्वत्र पाया जाता है। और नही तो वाक्यदोषों का ही पूर्ण रूप से निरूपण होता जिससे भाषा में कुछ सफाई आती। बहुत थोड़े कवि ऐसे मिलते है जिनकी वाक्यरचना सुव्यवस्थित पायी जाती है। भूषण अच्छे कवि थे। जिस रस को उन्होने लिया उसका पूरा आवेश उनमे था, पर भ षा उनकी अनेक स्थलों पर सदोष है। यदि शब्दों के रूप स्थिर हो जाते और शुद्ध रूपों के प्रयोग में जोड़ दिया जाता तो शब्दों को तोड़-मरोड़कर विकृत करने का साहस कवियों को न होता। पर इस प्रकार की कोई व्यवस्था नही हुई जिससे भाषा में बहुत-कुछ गड़बड़ी बनी रही।"

गड़बड़ी तो थोड़ी-बहुत आज भी है, पर अब उतना तोड़-मरोड़ नही होता। जिस प्रकार इस तोड़-मरोड़ की रीढ़ तोड़ी गयी है, वह अद्भुत कथा है। प्रधानतः एक बात से इस युग की भाषा का रूप बहुत दूर तक स्थिर हुआ है और आगे भी अधिक स्थिर हो जाने की सम्भावना है।

एक निर्विवाद बात है संस्कृत के तत्सम शब्दों का प्रयोग। संस्कृत बड़ी चुस्त-दुरुस्त भाषा है। व्याकरण के नियमों से भलीभाँति संस्कृत की गयी है। प्रत्येक शब्द का रूप नियत है। यदि किसी शब्द के कई रूप हो सकते है तो वह भी नियत है। किसी शब्द के यदि दो रूप होते हैं तो तय है कि दो ही होंगे; तीन नही। इस भाषा का आश्रय करके ही प्राकृत और अपभ्रंश की रक्षा हुई है। यह हमारे देश की मनीषा का अद्भुत चमत्कार है। *संसार की तथाकथित क्लासिकल भाषाओं में से* कोई संस्कृत की ठीक समशील भाषा है या नही यह मुझे नही मालूम। शायद नही है। यह एक प्रकार से हमारे भारतीय वाङ्मय का मेरुदण्ड है। हिंदी ने जब अपने शब्दो के लिए कसकर इस भाषा का पल्ला पकड़ा—जैसा कि उर्दू के सिवाय अन्यान्य

भारतीय भाषाओं ने भी किया है तो उसका रूप स्थिर हो गया। हमारे शब्दों के रूप-गठन में अब कोई शैथिल्य नहीं है। तद्भव शब्दों के बनने की भी एक परम्पराप्राप्त विधि है। संस्कृत इस विधान में भी हमारी सहायता करती है। जहाँ-जहाँ हमने संस्कृत का सहारा नहीं लिया था, लेना सम्भव नहीं हुआ, वहाँ-वहाँ आज भी शिथिलता बनी हुई है। हमने संस्कृत के नियमों के अनुसार परसर्गों और विभक्तियों की स्थिति का निर्णय करने में ढिलाई की और आज भी इस विषय में अराजकता फैली हुई है। कोई विभक्तियों को मिला के लिखता है, कोई अलग लिखता है, कोई सर्वनामों में तो मिलाता है, पर संज्ञा शब्दों में नहीं मिलाता और कोई-कोई तो ऐसे जबरजंग है कि जहाँ खुशी वहाँ मिला के लिखते हैं और जहाँ खुशी अलग लिखते हैं। मेरे एक चीनी विद्यार्थी बम्बई से छपी एक पुस्तक पढ़ने लगे। एक ही वाक्य पढ़कर घबरा गये। भागे-भागे आये, बोले, इसमें का तो कोई शब्द, शब्दकोश में नहीं मिलता। मैंने कहा कि ऐसा तो नहीं होना चाहिए। बोले, "खोज देखिए।" एक भारी भरकम-सा शब्द उन्होंने दिया —'कहाँपरसे'। बिचारे ने समूचा परसर्ग शब्दकोश में ढूँढ़ना चाहा था, उत्तर प्रदेश से छपी पुस्तकों में उन्हें 'कहाँ' का अर्थ भी मालूम था। 'पर' का भी और 'से' का भी। इसी प्रकार क्रियाओं में भी गड़बड़ी है। कोई 'लिए है' लिखता है, कोई 'लिये'। यदि हम पुरानी 'यश्रुति' और 'वश्रुति' की विधियों का अध्ययन करके इसको सदा के लिए हल नहीं कर लेते तो यह आवश्यकता बनी ही रहेगी और समूचे देश में भ्रान्ति फैली रहेगी। यद्यपि आज के विचार का विषय कुछ और है तथापि मैं प्रस्ताव करता हूँ कि आज ही इसी सम्मेलन में हम किसी सर्वमान्य निर्णय पर पहुँचें। यह अराजकता अब बहुत क्षतिकारक सिद्ध होगी।

कहना नहीं होगा कि संस्कृत का सहारा हमारी भाषा के परिनिष्ठित रूप के लिए कितना महत्त्वपूर्ण रहा है। जान-अनजान में हम सदा संस्कृत के व्याकरण की सहायता से अपनी भाषा में व्यवहृत शब्दों का परिनिष्ठित रूप निर्धारित करते है। संस्कृत से अपरिचित लोग प्राय: 'षष्टम्', 'अष्टम्', 'अन्तर्साक्ष्य', 'बहिर्साक्ष्य', 'महत्व' इत्यादि रूप लिखा करते है। संशय उत्पन्न होने पर उनके परिनिष्ठित रूपों को हम संस्कृत व्याकरण की सहायता से ठीक करके षष्ठ, अष्टम, अन्तःसाक्ष्य, बहि:साक्ष्य आदि रूप में सुधार लेते है। कभी-कभी मुख-सुख के लिए भाषा में ऐसे शब्द चल पड़ते है जिनका ठीक परिनिष्ठित संस्कृत रूप कष्टोच्चार्य होता है। स्त्रियोपयोगी, अटल विधान, उपरोक्त आदि शब्द अपने परिनिष्ठित रूप में व्यवहृत न होकर थोड़ा घिसे रूप मे चलने लगे हैं। संस्कृत का ज्ञान कम किन्तु अभिमान अधिक रखनेवाले इन शब्दों से घबराया करते हैं, परन्तु जिन्हे संस्कृत की परम्परा का ज्ञान है वे इस बात से बिल्कुल चिन्तित नहीं होते। संस्कृत के पुराने आचार्यों ने 'हिरण्मय',

हमारे पूर्वजो ने अपने उच्चारण के अनुकूल बनाकर ले लिये थे— केन्द्र, हिवुक, होरा, हरिज आदि ऐसे ही शब्द थे। मुझे तो लगता है कि आज भी नवीन भावो को व्यक्त करनेवाले शब्दों को अपने उच्चारण के अनुकूल बनाकर ग्रहण करने मे हमें हिचक नहीं अनुभव करना चाहिए। संस्कृत की परम्परा हमे हर क्षेत्र मे नया प्रकाश देती है, नवीन प्रोत्साहन देती है और अविचलित चित्त से आगे बढ़ते रहने की प्रेरणा देती है।

हिन्दी संस्कृत भाषा के शब्दो को अपनाने पर ही सारे देश की यथार्थ राष्ट्र-भाषा होने का गौरव पा सकती है। संस्कृत का पढना हर हिन्दीप्रेमी के लिए आवश्यक है। प्रश्न है कि कहाँ से सस्कृत पढायी जाय। मेरा विचार है कि हिन्दी के साथ शुरू में ही संस्कृत को अनिवार्य विषय बनाकर समूचे देश को अच्छी हिन्दी सिखाने का संकल्प बहुत लाभप्रद नही होगा। संस्कृत उन लोगों को जानना चाहिए जिन्हें हिन्दी में पुस्तक लिखने का कार्य करना है। इसलिए ऊपर की कक्षाओ मे संस्कृत को अनिवार्य विषय बना देना चाहिए। नीचे की कक्षाओ मे उसे अनिवार्य बनाना हिन्दी के लिए बहुत आवश्यक नही है। सस्कृत का उपयोग केवल हिन्दी भाषा और साहित्य के लिए ही नही है, वह हमारे उच्चतर जीवन के साथ बहुत घनिष्ठ भाव से घुली हुई है। इसलिए बृहत्तर सांस्कृतिक जीवन के लिए उसे उपयोगी समझकर उसकी व्यवस्था विद्यालयों मे हो तो उचित ही है। मै केवल हिन्दी सुधारने के प्रश्न पर आपका ध्यान आकृष्ट करना चाहता हूँ। हिन्दी सुधारने के लिए शुरू से ही संस्कृत शब्दरूपों और धातुरूपो को रटाना बहुत उत्तम उपाय नही जान पड़ता। जो लोग हिन्दी की उच्चतर उपाधियां लेना चाहे उनके लिए संस्कृत की पढाई अवश्य अनिवार्य होनी चाहिए, नही तो उनकी लेखनी ऐसे-ऐसे शब्दों को उत्पन्न करेगी जो केवल समस्या ही की सृष्टि करते रहेंगे। हिन्दी और संस्कृत का सम्बन्ध किस प्रकार शिक्षा के क्षेत्र में बना रहे, इस सम्बन्ध में मेरा मत संक्षेप मे यह है :

1. हिन्दी के परिनिष्ठित रूप के लिए संस्कृत का शब्द-भाण्डार अपने मूल रूप मे अत्यन्त आवश्यक है। इसका यह अर्थ नही है कि अन्य भाषाओ से शब्द न लिये जायें। मैं अन्य भाषाओ से शब्द लेने का बिल्कुल विरोधी नही हूँ। परन्तु विदेशी शब्दो को हमारी उच्चारण-परम्परा और ध्वनि-परिवर्तन के सिद्धान्त के अनुकूल होकर ही आना चाहिए। किसी शब्द का परिनिष्ठित रूप वह है जो हमारे ध्वनि-परिवर्तन के सिद्धान्तों के अनुकूल है। प्रत्येक भाषा के तत्सम उच्चारणों को हम लेने लगेंगे तो हमारे बूते का वह कार्य भी नही हो सकेगा और अराजकता तो आयेगी ही।

2. हमारी सम्पूर्ण सांस्कृतिक परम्परा और जानकारी तथा उच्चतर सांस्कृतिक जीवन की चरितार्थता के लिए सस्कृत का साहित्य अत्यन्त आवश्यक है।

3. हिन्दी का विद्वान् और सुलेखक बनने की इच्छा रखनेवालों को संस्कृत

भारतीय भाषाओं ने भी किया है तो उसका रूप स्थिर हो गया। हमारे शब्दों के रूप-गठन में अब कोई शैथिल्य नही है। तद्भव शब्दो के बनने की भी एक परम्पराप्राप्त विधि है। संस्कृत इस विधान में भी हमारी सहायता करती है। जहाँ-जहाँ हमने संस्कृत का सहारा नही लिया था, लेना सम्भव नही हुआ, वहाँ-वहाँ आज भी शिथिलता बनी हुई है। हमने संस्कृत के नियमों के अनुसार परसर्गों और विभक्तियो की स्थिति का निर्णय करने में ढिलाई की और आज भी इस विषय मे अराजकता फैली हुई है। कोई विभक्तियो को मिला के लिखता है, कोई अलग लिखता है, कोई सर्वनामो मे तो मिलाता है, पर संज्ञा शब्दों मे नही मिलाता और कोई-कोई तो ऐसे जबरजग है कि जहाँ खुशी वहाँ मिला के लिखते है और जहाँ खुशी अलग लिखते है। मेरे एक चीनी विद्यार्थी बम्बई से छपी एक पुस्तक पढ़ने लगे। एक ही वाक्य पढकर घबरा गये। भागे-भागे आये, बोले, इसमें का तो कोई शब्द, शब्दकोश मे नही मिलता। मैने कहा कि ऐसा तो नही होना चाहिए। बोले, "खोज देखिए।" एक भारी भरकम-सा शब्द उन्होने दिया—'कहाँपरसे'। विचारे ने समूचा परसर्ग शब्दकोश मे ढूँढ़ना चाहा था, उत्तर प्रदेश से छपी पुस्तकों में उन्हें 'कहाँ' का अर्थ भी मालूम था। 'पर' का भी और 'से' का भी। इसी प्रकार क्रियाओ में भी गड़बड़ी है। कोई 'लिए है' लिखता है, कोई 'लिये'। यदि हम पुरानी 'यश्रुति' और 'वश्रुति' की विधियो का अध्ययन करके इसको सदा के लिए हल नही कर लेते तो यह आवश्यकता बनी ही रहेगी और समूचे देश में भ्रान्ति फैली रहेगी। यद्यपि आज के विचार का विषय कुछ और है तथापि मैं प्रस्ताव करता हूँ कि आज ही इसी सम्मेलन में हम किसी सर्वमान्य निर्णय पर पहुँचें। यह अराजकता अब बहुत क्षतिकारक सिद्ध होगी।

कहना नही होगा कि सस्कृत का सहारा हमारी भाषा के परिनिष्ठित रूप के लिए कितना महत्त्वपूर्ण रहा है। जान-अनजान मे हम सदा संस्कृत के व्याकरण की सहायता से अपनी भाषा मे व्यवहृत शब्दो का परिनिष्ठित रूप निर्धारित करते है। संस्कृत से अपरिचित लोग प्रायः 'पष्टम्', 'अष्टम्', 'अन्तर्साक्ष्य', 'बहिर्साक्ष्य', 'महत्व' इत्यादि रूप लिखा करते है। संशय उत्पन्न होने पर उनके परिनिष्ठित रूपों को हम संस्कृत व्याकरण की सहायता से ठीक करके षष्ठ, अष्टम, अन्त.साक्ष्य, बहि.साक्ष्य आदि रूप मे सुधार लेते है। कभी-कभी मुख-सुख के लिए भाषा मे ऐसे शब्द चल पड़ते हैं जिनका ठीक परिनिष्ठित संस्कृत रूप कष्टोच्चार्य होता है। स्त्रियोपयोगी, अटल विधान, उपरोक्त आदि शब्द अपने परिनिष्ठित रूप में व्यवहृत न होकर थोड़ा घिसे रूप में चलने लगे हैं। संस्कृत का ज्ञान कम किन्तु अभिमान अधिक रखनेवाले इन शब्दो से घबराया करते हैं, परन्तु जिन्हें संस्कृत की परम्परा का ज्ञान है वे इस बात से बिल्कुल चिन्तित नही होते। संस्कृत के पुराने आचार्यो ने 'हिरण्मय', 'पद्मावती' आदि रूप तत्काल प्रचलित मुख-सुखोच्चारण के प्रभाव से भाषा मे प्रचलित देखकर मान लिये थे। इन बातों में भी हमें संस्कृत की महती परम्परा से प्रकाश मिलता है। इस देश में अपरिचित बहुत-से विषयों के विदेशी नामों को भी

हमारे पूर्वजों ने अपने उच्चारण के अनुकूल बनाकर ले लिये थे—केन्द्र, हिबुक, होरा, हरिज आदि ऐसे ही शब्द थे। मुझे तो लगता है कि आज भी नवीन भावो को व्यक्त करनेवाले शब्दो को अपने उच्चारण के अनुकूल बनाकर ग्रहण करने मे हमें हिचक नही अनुभव करना चाहिए। संस्कृत की परम्परा हमे हर क्षेत्र मे नया प्रकाश देती है, नवीन प्रोत्साहन देती है और अविचलित चित्त से आगे बढ़ते रहने की प्रेरणा देती है।

हिन्दी संस्कृत भाषा के शब्दो को अपनाने पर ही सारे देश की यथार्थ राष्ट्र-भाषा होने का गौरव पा सकती है। संस्कृत का पढना हर हिन्दीप्रेमी के लिए आवश्यक है। प्रश्न है कि कहाँ से संस्कृत पढायी जाय। मेरा विचार है कि हिन्दी के साथ शुरू मे ही संस्कृत को अनिवार्य विषय बनाकर समूचे देश को अच्छी हिन्दी सिखाने का संकल्प बहुत लाभप्रद नही होगा। संस्कृत उन लोगो को जानना चाहिए जिन्हें हिन्दी मे पुस्तक लिखने का कार्य करना है। इसलिए ऊपर की कक्षाओ मे संस्कृत को अनिवार्य विषय बना देना चाहिए। नीचे की कक्षाओ मे उसे अनिवार्य बनाना हिन्दी के लिए बहुत आवश्यक नही है। संस्कृत का उपयोग केवल हिन्दी भाषा और साहित्य के लिए ही नही है, वह हमारे उच्चतर जीवन के साथ बहुत घनिष्ठ भाव से घुली हुई है। इसलिए बृहत्तर सांस्कृतिक जीवन के लिए उसे उपयोगी समझकर उसकी व्यवस्था विद्यालयों में हो तो उचित ही है। मैं केवल हिन्दी सुधारने के प्रश्न पर आपका ध्यान आकृष्ट करना चाहता हूँ। हिन्दी सुधारने के लिए शुरू से ही संस्कृत शब्दरूपो और धातुरूपो को रटाना बहुत उत्तम उपाय नही जान पड़ता। जो लोग हिन्दी की उच्चतर उपाधियाँ लेना चाहें उनके लिए संस्कृत की पढाई अवश्य अनिवार्य होनी चाहिए, नही तो उनकी लेखनी ऐसे-ऐसे शब्दो को उत्पन्न करेगी जो केवल समस्या ही की सृष्टि करते रहेगे। हिन्दी और संस्कृत का सम्बन्ध किस प्रकार शिक्षा के क्षेत्र मे बना रहे, इस सम्बन्ध में मेरा मत संक्षेप मे यह है :

1. हिन्दी के परिनिष्ठित रूप के लिए संस्कृत का शब्द-भाण्डार अपने मूल रूप मे अत्यन्त आवश्यक है। इसका यह अर्थ नही है कि अन्य भाषाओं से शब्द न लिये जायें। मैं अन्य भाषाओ से शब्द लेने का बिल्कुल विरोधी नही हूँ। परन्तु विदेशी शब्दो को हमारी उच्चारण-परम्परा और ध्वनि-परिवर्तन के सिद्धान्त के अनुकूल होकर ही आना चाहिए। किसी शब्द का परिनिष्ठित रूप वह है जो हमारे ध्वनि-परिवर्तन के सिद्धान्तों के अनुकूल है। प्रत्येक भाषा के तत्सम उच्चारणों को हम लेने लगेंगे तो हमारे बूते का वह कार्य भी नही हो सकेगा और अराजकता तो आयेगी ही।

2. हमारी सम्पूर्ण सांस्कृतिक परम्परा और जानकारी तथा उच्चतर सांस्कृतिक जीवन की चरितार्थता के लिए संस्कृत का साहित्य अत्यन्त आवश्यक है।

3. हिन्दी का विद्वान् और सुलेखक बनने की इच्छा रखनेवालो को संस्कृत

का ज्ञान अवश्य होना चाहिए, इसलिए हिन्दी की उच्चतर कक्षाओं में संस्कृत की पढ़ाई अनिवार्य होनी चाहिए। निचली कक्षाओं में संस्कृत भाषा का ज्ञान कराना मुझे उतना आवश्यक नहीं जान पड़ता जितना संस्कृत के बड़े ग्रन्थों, आचार्यों और कवियों का परिचय कराना।

हिन्दीभाषी प्रदेशों के बाहर हिन्दी का प्रचार हो रहा है और भविष्य में और भी तेजी से होगा। इस भाषा-प्रचार का उद्देश्य देश की एकता को बनाये रखना है। हमारे इस देश की कई प्रादेशिक भाषाओं में बहुत समृद्ध साहित्य है। इस सम्पूर्ण साहित्य की रक्षा, वृद्धि और प्रचार भी देश की एकता को दृढ़ करने में सहायक होंगे। इसलिए यह खूब अच्छी तरह से समझ लेना चाहिए कि हिन्दी का प्रचार और प्रसार किसी भी प्रादेशिक भाषा के प्रचार और प्रसार का विरोधी नहीं है। दोनों एक-दूसरे के सहायक हैं। दोनों का उद्देश्य एक है। किसी भी प्रादेशिक भाषा के बोलनेवालों के मन में यह भाव नहीं पैदा होने देना चाहिए कि हिन्दी का प्रचार उनके लिए क्षतिकर हो सकता है। जो लोग ऐसा कहते हैं वे देश की एकता पर ही कुठाराघात करते हैं।

जो लोग हिन्दी भाषा को अपने साहित्यिक, सामाजिक और सांस्कृतिक कार्यों का माध्यम बना चुके हैं, उन सबकी मातृभाषा यही भाषा नहीं है। उन्होंने इस भाषा को माध्यम मानकर देश की एकता को बहुत दृढ़ किया है। यह समझना भूल है कि सभी हिन्दीभाषी कहे जानेवाले लोगों की मातृभाषा ठीक अर्थों में हिन्दी ही है। हिन्दी की उपभाषा समझी जानेवाली कितनी ही बोलियों का पुराना साहित्य किसी भी प्रादेशिक मानी जानेवाली भाषा के पुराने साहित्य से टक्कर ले सकता है। राजस्थानी, मैथिली, ब्रजभाषा और अवधी, पंजाबी आदि पुराने साहित्य के टक्कर का पुराना साहित्य किन प्रादेशिक भाषाओं के पास है? इन सब बोलियों के बोलनेवालों ने स्वेच्छा से अपनी-अपनी भाषाओं के स्थान पर परिनिष्ठित हिन्दी को स्वीकार किया है और इस प्रकार देश की एकता को मजबूत किया है। उनके इस त्याग को भाषा का साम्राज्यवाद कहकर हेय बनाने का प्रयत्न गलत और अनुचित है। दुर्भाग्यवश कभी-कभी उत्तरदायी समझे जानेवाले लोग भी इस बात को इस तरह कह जाते हैं जो इसके महत्त्वपूर्ण पहलू को भुला देने या हीन समझने की प्रवृत्ति को प्रोत्साहन देता है।

जो लोग हिन्दी के प्रश्न पर विचार करते हैं और साथ ही इस देश को खण्ड-विच्छिन्न नहीं देखना चाहते, उनसे मेरी प्रार्थना है कि दो शब्दों का प्रयोग बहुत सोच-समझकर करें। एक शब्द है हिन्दी-साम्राज्यवाद। यह शब्द हर प्रकार से गलत है। यह केवल देश को गलत रास्ते ही ले जा सकता है। हिन्दी को जो राष्ट्रभाषा या राजभाषा के रूप में स्वीकार किया गया है वह इसलिए कि देश के बहुसंख्यक लोगों ने स्वेच्छा से उसे साहित्यिक, सांस्कृतिक और सामाजिक क्रियाकलाप का माध्यम बनाया है। उन्होंने किसी प्रलोभन से, दुरभिसन्धि से या प्ररोचना से चालित होकर परिनिष्ठित हिन्दी को अंगीकार नहीं किया है। और

सारा देश साक्षी है कि उन्होने स्वेच्छापूर्वक जो कार्य किया है, उससे देश की समस्या बहुत हल्की हो गयी है। इस कार्य को लघुभाव से देखना अनुचित और हानिकर दोनो है। दूसरा खतरनाक शब्द है भाषा-निर्माण। इस शब्द ने हिन्दीतर प्रदेशों मे गलत ढंग से सोचने का प्रोत्साहन दिया है। लोग सोचते है कि हिन्दी मे कोई साहित्य ही नही है और उसका कोई परिनिष्ठित रूप ही नही है। सर्वत्र विचित्र ढंग की हिन्दी गढने का प्रयास चलने लगा है। दक्षिण से आये हुए अनेक विद्यार्थियों ने यह शिकायत की कि हम लोग जो भाषा दक्षिण मे पढ़ते है, वह यहाँ की बोली और लिखी जानेवाली भाषा से भिन्न है। यह नही कि वहाँ के लोग कुछ प्रादेशिक मिश्रित भाषा बोलते है। यह तो होगा ही, इसके लिए हम बिल्कुल चिन्तित नही है। चिन्ता की बात यह है कि उनको जो पाठ्यपुस्तकें पढायी जाती हैं, उन्ही मे कुछ शिथिल भाषा का प्रयोग होता है। मुझे ठीक नही मालूम कि इस शिकायत में सच्चाई कितनी है, पर यह तो मैं अपने अनुभव से ही कह सकता हूँ कि हिन्दीभाषी प्रदेशों के बाहर यह एक धारणा-सी बनी हुई है कि हिन्दी मे कोई साहित्य नही है और भाषाशैली अभी बन नही पायी है। यह गलत बात है। हिन्दी का परिनिष्ठित रूप बन चुका है। 'हिन्दी मे साहित्य नही है' का मतलब यह है कि अंग्रेजी या रूसी जैसी समृद्ध भाषाओं का जैसा साहित्य है और भारत की राष्ट्रभाषा के पास जैसा और जितना साहित्य वांछनीय है, उतना नही है। इसका यह मतलब कदापि नही है कि जो लोग भाषा के रूप में हिन्दी सीखना चाहें उनके सामने कोई आदर्श भाषा ही नही है। साहित्य बढाइए, पारिभाषिक शब्द बढ़ाइए, ग्रन्थ लिखिए, लिखाइए, अनुवाद कीजिए—सब ठीक है, परन्तु हिन्दीतर प्रदेशों में यह गलत धारणा न फैलने दीजिए कि हिन्दी भाषा का कोई रूप ही नही है और यदि कोई रूप है भी तो उसको सीखने योग्य साहित्य ही नही है। इससे भाषा सीखनेवालों में शिथिल भाषा से सन्तोष करने का प्रोत्साहन मिलता है जो किसी प्रकार वाछनीय नही है।

हिन्दीभाषी प्रदेशों के बाहर की भाषाओं को दो श्रेणियों में रखा जा सकता है; एक वे जिन्हे आधुनिक भारतीय भाषा कहा जाता है, दूसरी वे जिन्हे द्रविड़ परिवार की भाषा कहा जाता है। प्रथम श्रेणी की भाषा बोलनेवालो के लिए हिन्दी सीखना बहुत कठिन नही है, परन्तु दूसरी श्रेणीवालो के लिए कुछ अधिक कठिन है। हमे यह ठीक-ठीक समझ लेना चाहिए कि जिन लोगो को हिन्दी सीखनी पड़ रही है, उनकी समस्या वास्तविक है। मुझसे कोई कहे कि तुम्हें साल-भर मे तमिल सीखकर सब कारबार तमिल मे करना पड़ेगा तो मैं खूब अच्छी तरह जानता हूँ कि सच्चे हृदय से प्रयत्न करके भी मुझे यह शंका बनी ही रहेगी कि मैं उस भाषा में कार्य कर सकूँगा या नही। इसलिए समस्या वास्तविक है और कठिन भी है। उन लोगों की बात हमें पूर्ण सहानुभूति से सुननी चाहिए और प्रयत्न करना चाहिए कि उनकी कठिनाइयाँ कम हो जायें। मुझे बहुत दुःख के साथ कहना पड रहा है कि हम हिन्दीवाले बिल्कुल ही सोये हुए हैं। हमें ऐसे शब्दकोशो, मुहावराकोशों

और शब्द-स्वसारों का निर्माण करना चाहिए था जिनके सहारे थोड़ी हिन्दी जाननेवाला आसानी से अपने मन का शब्द खोज ले। हमें विभिन्न भाषाओं के माध्यम से हिन्दी सिखाने की दर्जनों पुस्तकें अब तक लिख देनी चाहिए थी। हमें तत्तद् भाषाओं मे शब्दकोशों का निर्माण कर देना चाहिए था। अब तक हमारे बीसो कार्यकर्त्ताओ को दक्षिण की भाषाओं की प्रकृति के अध्ययन में जुट जाना चाहिए था और उनके साहित्य का मन्थन कर डालना चाहिए था। अब तक हमारे पास कई दर्जन ऐसी पुस्तकें हो जानी चाहिए थी जिनमे हिन्दी के तत्तद् भाषाओ के साम्य और वैषम्य का वैज्ञानिक विवेचन हो जाता। परन्तु हम कुछ भी नही कर रहे हैं। मैं जोर देकर कहना चाहता हूँ कि राष्ट्रीय एकता बड़ी महान् वस्तु है। उसे प्राप्त करने के लिए बड़े उदार मन और विशाल हृदय की आवश्यकता है और कठिन तपस्या द्वारा ही उसकी सिद्धि हो सकती है। एक छोटे परिवार को ऐक्य सूत्र मे बाँधने के लिए भी त्याग की आवश्यकता होती है और कष्ट सहने की जरूरत होती है। यह तो बहुत बड़ा परिवार है और इसकी एकता के लिए बहुत कठोर तप की आवश्यकता है। अगवाह रास्ता नही है।

मैं समझता हूँ कि बिना किसी झिझक के हमें यह घोषणा कर देनी चाहिए कि जो विश्वविद्यालय चाहे उन्हें अवश्य अपने क्षेत्र की भाषा में ऊँची-से-ऊँची शिक्षा देने का अधिकार है। केवल दो शर्तें आवश्यक हैं—(1) राष्ट्रभाषा की शिक्षा सर्वत्र अनिवार्य हो, और (2) विभिन्न शास्त्रों के लिए प्रयोग किये जानेवाले पारिभाषिक शब्द एक हों। कुछ लोगो को यह व्यर्थ की शंका है कि ऐसा होने से विभिन्न विश्वविद्यालयो में पारस्परिक आदान-प्रदान कम हो जायेगा। यह शंका निर्मूल है। राष्ट्रभाषा का साधारण ज्ञान और पारिभाषिक शब्दावली की एकता, इन दो बातों को अगर हम प्राप्त कर लेते हैं तो एक विद्वान् के लिए कही कोई रुकावट नही है।

मैं यह भी चाहता हूँ कि हमारा यह सम्मेलन मुक्त कण्ठ से घोषणा करे कि हम प्रान्तीय भाषाओं की केवल समृद्धि ही नही चाहते, हर प्रकार से उनके उन्नयन, प्रचार और प्रसार मे सक्रिय सहयोग देने को प्रस्तुत है। इसमे किसी को खुश करने का मनोभाव नही, कर्त्तव्य की आन्तरिक प्रेरणा है। सबको विकसित और समृद्ध होने मे सहायता देना हमारा प्रधान कर्त्तव्य है। हम हिन्दीभाषी क्षेत्रों मे अहिन्दी भाषाओं के साहित्य को पढने का प्रोत्साहन देना चाहते हैं। हिन्दी का आन्दोलन वस्तुत. भारतीयकरण का आन्दोलन है।

कुछ लोग कठिनाइयों को इस प्रकार बढ़ा-चढ़ाकर कहते है मानो वे अजेय हैं। ये लोग अंग्रेजी को कठिन नहीं मानते और उसे इस देश मे जिलाये रखने की दलीलें देते है। इन लोगो को क्या कहा जाय! अंग्रेज जब इस देश के शासक थे तो इन्ही लोगो की यह धारणा थी कि अंग्रेजो के बिना यह देश अनाथ हो जायेगा, अंग्रेजों को हटाना असम्भव है, अंग्रेज अजेय हैं। अब यह लोग अंग्रेज को तो नही, पर अंग्रेजी भाषा को वही गौरव देने लगे हैं। इतिहास ने दिखा दिया कि इनका

प्रथम मत गलत है। अंग्रेज को हटाने के लिए बड़ा कष्ट उठाना पड़ा, अंग्रेजी को हटाने के लिए भी उठाना पड़ेगा। इतिहासविधाता उसी रास्ते से अपना रथ हाँकते हैं जिस रास्ते आदर्श प्रेमी त्याग और कष्ट सहते जाते हैं।

यह तो मैं कह ही चुका हूँ कि उत्तरभारत की अनेक बोलियों के बोलनेवालों ने स्वेच्छा से खड़ी बोली को अपनी साहित्यिक और सास्कृतिक भाषा मान लिया है। कहना व्यर्थ है कि इन बोलियों में भाव प्रकाशन के उपयुक्त अनेक ऐसे शब्द हैं जो न तो संस्कृत में हैं और न खड़ी बोली के साहित्यिक रूप मे। इन शक्तिशाली शब्दों-मुहावरों का संकलन होना चाहिए और भाषा को नवीन शक्ति से तेजोदृप्त बनाना चाहिए। यद्यपि मैं संस्कृत का प्रेमी हूँ और मानता हूँ कि अहिन्दी-भाषियों के द्वारा जो भाषा बोली और लिखी जायेगी वह संस्कृत शब्दों से भरी होगी, वे उसे अधिक समझ भी सकेंगे, पर मेरा यह भी कहना है कि राष्ट्रभाषा के साथ हिन्दी प्रादेशिक भाषा भी है। इसमें यथार्थ शक्ति तो तभी आ सकती है जब वह जनपदीय बोलियों की प्राणप्रदा शक्ति से तेजस्वी बने। मैं साहित्यकारो को कृत्रिम और निर्जीव भाषा लिखने की सलाह नहीं दे सकता। मैं उन लोगो को साहित्य का शत्रु मानता हूँ जो शब्दों का हिसाब लगाकर भाषा को बाँधना चाहते है या जो इस या उस भाषा के दो-चार शब्दों को साहित्य में प्रयुक्त देखकर मरकट्टे बैल की भाँति टूट पडते है। शक्तिशाली साहित्यकार शब्दो की नाडी पहचानते है। वे जानते है कि कौन-सा शब्द कहाँ सौन्दर्य ले आ देता है और कहाँ भोंड़ापन। पर जो ऐसे शक्तिशाली साहित्यकार नही हैं, उनसे मैं हाथ जोड़कर प्रार्थना करता हूँ कि वे भाषा के परिनिष्ठित रूप को ही स्वीकार करें। अद्भुत प्रयोगों और गलत-सही अर्थो वाले नाना जाति के शब्दो की पल्टन खडी करके जीवित भाषा के साथ खिलवाड न करें।

आजकल अंग्रेजी की बड़ी स्तुति होने लगी है। इन स्तुति-वाक्यों को एकत्र करके कही छपवाया जाय तो एक अच्छा-सा माहात्म्य-ग्रन्थ बन सकता है। ऐसा लगता है कि भगवान् के बाद इस महिमाशालिनी भाषा का ही स्थान रह गया है। मै स्वयं अंग्रेजी साहित्य और भाषा का प्रेमी हूँ। मैं उन लोगों मे हूँ जो शुरू मे ही अंग्रेजी पढने का मौका नही पा सके। मैंने स्वेच्छा से इस भाषा को सीखा था। मै जानता हूँ कि अंग्रेजी न जानने का क्या अर्थ होता है। परन्तु मै बलपूर्वक कहना चाहता हूँ कि जो लोग यह कहने लगे हैं कि अंग्रेजी के जाते ही यह देश अनथ हो जयेगा, वे देश के आत्मविश्वास की मात्रा घटा रहे है। अंग्रेजी अवश्य पढी जाय, परन्तु यह समझना कि अंग्रेजी के जाते ही हम रसातल को चले जायेंगे, आत्मवचना है। अभी तक हम लोग अंग्रेजी भाषा को रटते ही रहे हैं। यद्यपि इस भाषा को सीखने के लिए हमारे देश का बहुत अधिक धन व्यय होता रहा है और हमारे युवकों की बहुत अधिक शक्ति खर्च होती रही है, तथापि इसका साहित्य साधारण जनता तक जितनी मात्रा में पहुँचना चाहिए उतनी मात्रा में नही पहुँच रहा है। मेरा दृढ़ मत है कि अंग्रेजी साहित्य की अन्तरात्मा का अच्छा परिचय हमारे देश-वासियों के लिए अभी हितकर ही है। देशी भाषाओं के माध्यम से अंग्रेजी साहित्य के

अध्ययन और प्रचार की व्यवस्था होनी चाहिए, तभी हमारे देश की जनता उस साहित्य के अन्तस्तल में आसानी से प्रवेश कर सकेगी। यह बहुत आवश्यक है कि हमारे कुछ विद्वानों को अंग्रेजी भाषा पर बहुत अच्छा अधिकार हो। कुछ आदमी अंग्रेजी लिखने और बोलने में बहुत पटु हों, यह बिल्कुल ठीक बात है, इससे देश का कल्याण ही होगा। परन्तु यह सोचना कि जब तक हर क्लर्क और चपरासी इस भाषा को नहीं सीख लेता और हर चिथड़े पर यह भाषा नहीं छाप दी जाती तब तक हमारा देश अनाथावस्था से मुक्त नहीं हो सकेगा, बहुत ही गलत मनोवृत्ति का सूचक है। हमें इस सम्बन्ध में तनिक भी दुविधा या झिझक नहीं अनुभव करना चाहिए कि आज *जिन-जिन स्थानों पर अंग्रेजी है उन-उन स्थानों पर निश्चित रूप से हिन्दी को और* यथास्थान, देशी भाषाओं को बिठाना है और जिस स्थान पर अंग्रेजी नहीं पहुँच पायी है, उस विशाल जनसमुदाय के चित्त-सिंहासन पर तो उन्हें बैठाना ही है। जो लोग इस प्रकार के विचार का परिहास करते हैं वे नहीं जानते कि राष्ट्र के किस मर्मस्थल पर वे चोट कर रहे हैं। वे सचमुच 'कृपण' हैं। इस समय देश में हर प्रकार के आत्म-विश्वास के संचार की आवश्यकता है। इस समय ढुलमुल चिन्तन-प्रणाली बहुत ही घातक सिद्ध होगी।

मित्रो, शुरू में मैंने कहा कि दो बातों में से एक को मैं अभी आपके सामने नहीं उपस्थित कर रहा हूँ। वह प्रश्न अब मैं आपके सामने रखना चाहता हूँ। हिन्दी और *उर्दू का प्रश्न बहुत दिनों से हमारे देशवासियों के लिए टेढ़ा प्रश्न रहा है।* मैं नहीं मानता कि यह प्रश्न अब उतना टेढ़ा रह गया है। परन्तु फिर भी कभी-कभी पुराने इतिहास का भूत डराता ही रहता है, अब भी कभी-कभी उर्दू का प्रश्न हमारे साहित्यिक मनीषियों की दुश्चिन्ता का कारण बन जाता है। बहुत संक्षेप में मैं इस सम्बन्ध में अपना मत निवेदन किये देता हूँ, केवल इस प्रसंग के उत्थापन के पहले निवेदन कर देना चाहता हूँ कि हिन्दी की वास्तविक शक्ति जनता है। हमें राज-सिंहासनों से शक्ति कभी भी नहीं प्राप्त हुई है, आज भी नहीं प्राप्त होगी। हमें डेपुटेशन भेजने की मनोवृत्ति छोड़कर ऐसे साहित्य का निर्माण करना चाहिए जो जनता का वास्तविक कल्याण करे, उसमें उदात्त भावनाओं का संचार करे, उसकी जीवन-यात्रा में सहायता पहुँचाये और उसे संसार के किसी देश की जनता के सामने गर्वपूर्वक खड़ा होने का बल दे। यही वास्तविक कार्य है और यही हमारी शक्ति का वास्तविक भाण्डार सुरक्षित है। अस्तु।

मैंने शुरु में कहा कि हिन्दी के परिनिष्ठित रूप प्राप्त होने में दो बातों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। एक तो संस्कृत के तत्सम शब्दों का प्रवेश ही है और दूसरा उसका एक सार्वदेशिक ढाँचा।

यह सार्वदेशिक ढाँचा खड़ी बोली है। मैं जहाँ तक समझ पाया हूँ, खड़ी बोली को सार्वदेशिक महत्त्व प्राप्त कराने में मुसलमान शासकों की सेवा अविस्मरणीय

है। ऐसा कहकर मैं कोई नयी बात नहीं कह रहा हूँ। आज से कोई तीस-बत्तीस वर्ष पूर्व पण्डित चन्द्रधर शर्मा 'गुलेरी' ने कहा था कि जिस हिन्दी को आजकल हम साहित्यिक हिन्दी कहते है वह उर्दू पर से बनायी गयी है। उन्होने लिखा था कि "एक समय मैंने हिन्दी के एक वैयाकरण मित्र से कहा था कि खड़ी बोली उर्दू पर से बनायी गयी है अर्थात् हिन्दी मुसलमानी भाषा है। यह हँसी मे कहा था, परन्तु मेरे मित्र को बुरा लगा। मेरे कहने का तात्पर्य यह था कि हिन्दुओ की रची हुई पुरानी कविता जो मिलती है वह ब्रजभाषा या पूर्वी बैसवाड़ी, अवधी, राजस्थानी, गुजराती आदि ही मिलती है अर्थात् पड़ी बोली में पायी जाती है। खड़ी बोली या पक्की बोली या रेख्ता या वर्तमान हिन्दी के आरम्भकाल के गद्य और पद्य को देखकर यही जान पड़ता था कि उर्दू रचना मे फारसी-अरबी तत्सम या तद्भवों को निकालकर संस्कृत या हिन्दी तत्सम-तद्भव रखने से हिन्दी बना ली गयी है। इसका कारण यही है कि हिन्दू तो अपने-अपने घरों की प्रादेशिक और प्रान्तीय बोलियों मे रँगे थे। उनकी परम्परागत मधुरता उन्हें प्रिय थी। विदेशी मुसलमानों ने आगरे, दिल्ली, सहारनपुर, मेरठ की पड़ी भाषा को खड़ी बनाकर अपने लश्कर और समाज के लिए उपयोगी बनाया। किसी प्रान्तीय भाषा से उनका परम्परागत प्रेम न था। उनकी भाषा सर्वसाधारण या राष्ट्रभाषा हो चली। हिन्दू अपने-अपने प्रान्तो की भाषा को न छोड़ सके। अब तक यही बात है। हिन्दू घरो की बोली प्रादेशिक है, चाहे लिखा-पढ़ी और साहित्य की भाषा हिन्दी हो। मुसलमानों मे बहुतो के घर की बोली खड़ी बोली है। वस्तुतः उर्दू कोई भाषा नही है, हिन्दी की विभाषा है, किन्तु हिन्दुई भाषा बनाने का काम मुसलमानो ने बहुत-कुछ किया। उसकी सार्वजनिकता भी उन्ही की कृपा से हुई। फिर हिन्दुओं मे जागृति होने पर उन्होंने हिन्दी को अपना लिया।" मैंने इस लम्बे उद्धरण को इसलिए उद्धृत किया है कि इसमे एक अत्यन्त विचारशील भाषाशास्त्री की सुचिन्तित बात बहुत स्पष्ट रूप में कही गयी है। पिछले पच्चीस-तीस वर्षों में हिन्दी के विद्वानो में उर्दू के विरुद्ध एक प्रतिक्रिया का भाव रहा है और इसीलिए बड़े परिश्रम से यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया गया है कि हिन्दी स्वतन्त्र भाव से विकसित हुई है और उर्दू से उसका कोई सम्बन्ध नही है। गुलेरीजी का मत मुझे बहुत ठीक जान पड़ता है। शुरू-शुरू में खड़ी बोली मुसलमानो की भाषा मानी जाती थी। पुराने हिन्दू कवियो ने जब मुसलमान पात्रों से कोई प्रौढोक्ति कहलवायी है तो खड़ी बोली मे बोलवाया है। आज जिस भाषा को हम साहित्यिक हिन्दी कहते है, उसकी प्रथम भित्ति-प्रतिष्ठा मुसलमान भाइयों के हाथों हुई है। यह नही कि यह भाषा ही कोई नयी बनायी गयी, बल्कि यह कि इसे साहित्यिक, सामाजिक और सांस्कृतिक आदान-प्रदान का वाहन मुसलमानों ने बनाया। दीर्घकाल तक यह देश की अपनी वास्तविक सांस्कृतिक परम्परा से वंचित रही। बाद मे जाग्रत हिन्दू लेखको ने इसे उस गुण से युक्त किया। यह सम्मिलित प्रयत्न का फल है। पर बीच में हिन्दी-उर्दू का सम्बन्ध कुछ ऐसा रहा कि बहुत-सी अच्छी बातें भी धूमिल हो गयी। उस इतिहास को थोड़ा जान

लेना चाहिए।

स्पष्ट है कि हिन्दी मुसलमान भाइयों द्वारा स्वीकृत कंकाल को भारतीय सांस्कृतिक परम्परा से जोड़ने का शुभ प्रयत्न है।

इस समय उर्दू के विषय में हिन्दी साहित्यिकों में दो प्रकार से सोचने की प्रवृत्ति बल पकड़ रही है। कुछ लोग कहते हैं कि उर्दू हिन्दी की एक शैली मात्र है, अलग भाषा नहीं है। हमें प्रयत्न करना चाहिए कि उस साहित्य को सम्पूर्ण रूप में हिन्दी में ले लें। एक बार यदि हमने उस पूरे-के-पूरे साहित्य को अपना लिया, तो हिन्दी-उर्दू की समस्या हमेशा के लिए समाप्त हो जायेगी। दूसरे विचार के लोगों का मत यह है कि यह प्रश्न इतना सीधा नहीं। उर्दू का प्रश्न केवल भाषा और साहित्य का प्रश्न नहीं है। आप अगर पूरे-का-पूरा उर्दू का साहित्य हिन्दी में ले भी लेंगे, तो भी उर्दू के हिमायती अपना अलग अस्तित्व बनाये रखेंगे। आप केवल अपने साहित्य को अस्वाभाविक और बोझिल बनायेंगे। उर्दूवाले तब तक सन्तुष्ट नहीं हो सकते, जब तक उनका स्वतन्त्र अस्तित्व न बना रहे और उनको पृथक् भाषा-भाषी न माना जाये।

उर्दू को हिन्दी की विशिष्ट शैली के रूप में बहुत-से विद्वानों ने स्वीकार करने की बात पहले भी कही थी; परन्तु इस बात को उसकी युक्तिसंगत परिणति तक ले जाने का विचार अभी तक या तो किसी के मन में आया ही नहीं और यदि आया भी तो किसी कारण वह मूर्त रूप ग्रहण नहीं कर सका। यदि उर्दू हिन्दी की एक विशिष्ट शैली है तो हिन्दी साहित्य के इतिहास में तथा पाठ्यक्रम में उसे पूर्ण रूप से स्थान मिलना चाहिए। हम इस शैली से अपने साहित्यिक इतिहास को अस्पृष्ट रखकर अब तक उसे अधूरा रखते आये हैं। यह ठीक है कि इतिहास को रूप देनेवाले सब तथ्य हमें मालूम नहीं होते और कभी-कभी सामग्री के अभाव में ऐसे बहुत-से तत्त्व अविवेचित रह जाते हैं जो किसी समय पर्याप्त प्रभावशाली रहे। परन्तु उर्दू का प्रश्न बिल्कुल भिन्न है। एक अलग भाषा के रूप में उसके साहित्य का इतिहास बराबर विवेचित होता रहा है। उसे अज्ञात तत्त्व की श्रेणी में नहीं रख सकते। अब तक जो हमारे साहित्य के इतिहास में उसका समावेश नहीं किया गया, उसके दो कारण हो सकते हैं—(1) वह एक सम्पूर्ण भिन्न साहित्य है। (2) हिन्दी के अब तक के स्वीकृत साहित्य के इतिहास से उसका कोई सम्बन्ध नहीं रहा है और दोनों अपने-अपने रास्ते बिना एक-दूसरे को प्रभावित किये विकसित होते रहे हैं।

हिन्दी साहित्य के इतिहास को पढ़ने से दोनों धारणाएँ पुष्ट होती हैं। साहित्य के इतिहास में क्वचित्-कदाचित् उर्दू की चर्चा न आती हो ऐसी बात तो नहीं है, पर उतनी चर्चा बँगला और गुजराती-मराठी साहित्य की भी आ जाती है। हिन्दी साहित्य के इतिहास के विद्यार्थी के निकट उर्दू अत्यन्त हाल में कृत्रिम और अनुचित उपायों से हिन्दी साहित्य के मार्ग को जटिल, विकृत और कण्टकाकीर्ण करनेवाली शक्ति के रूप में ही चित्रित हुई है। राजाश्रय पाने के कारण वह क्रमशः हिन्दी

की अनुचित प्रतिद्वन्द्विनी शक्ति के रूप में साधारण जनता के सम्मुख उपस्थित रही है। पिछले डेढ़ सौ वर्षों के राजनीतिक इतिहास में भारतवर्ष की जनशक्ति और राजशक्ति बिल्कुल उलटी दिशाओं में चलती रही है। राजशक्ति ने जिस चीज की उपेक्षा की है या विरोध किया है, वह निरन्तर शक्तिशाली होती गयी है और जिसको प्रश्रय दिया है, वह घृणा, आक्रमण और आक्रोश की वस्तु बन गयी है। हिन्दी-उर्दू के सम्बन्धों में यह मनोवृत्ति निरन्तर काम करती है। हिन्दी जनता की आशा-आकांक्षाओं को व्यक्त करनेवाली भाषा रही है। कृत्रिम आडम्बर और थोथे रोब-दाब का विरोध करनेवाली भाषा रही है। इसीलिए जनशक्ति निरन्तर उसके पक्ष में ही आती गयी है। मुझे उर्दू के ऐसे गुणों का ठीक-ठीक पता नहीं है, परन्तु जिस विकृत साम्प्रदायिकता ने हमारे देश का चेहरा ही बिगाड़ दिया, उसे उत्तेजित करने में और अप्रत्यक्ष रूप से विदेशी राजशक्ति को सहारा देने में उस भाषा ने निस्सन्देह योग दिया है। यही कारण है कि उसकी सुथरी हुई भाषा-शैली, मुहाविरों से अलंकृत और लाक्षणिक प्रयोगों से मँजी हुई अभिव्यंजना-शैली जनचित्त को आकृष्ट अवश्य करती रही है। परन्तु यह जनता की अपनी भाषा नहीं हो सकी है। सुना है, इधर उर्दू के रुख में घोर परिवर्तन हुआ है और "उस पर प्रगतिवाद छा गया है।" यह शुभ संवाद है।

पिछले पचास वर्षों में हिन्दी सामाजिक आन्दोलनों में बराबर प्रगतिशील शक्तियों के साथ रही है, राजनीतिक संघर्षों में चोट खानेवालों में सबसे आगे रही है और जनसाधारण के पास तक पहुँचने का सर्वोत्तम साधन बनी रही है। अन्य प्रदेशों में जहाँ कहीं ऐसे आन्दोलन हुए हैं, वहीं से उसने प्रेरणा संग्रह की है। परन्तु अपने ही प्रदेशों में, पड़ोस में ही बसनेवाले उर्दू साहित्यिकों से उसे प्राणदायिनी प्रेरणा बहुत कम प्राप्त हुई है। क्वचित्-कदाचित् केवल बाहरी रूप और बनाव-सिंगार की प्रवृत्ति की प्रेरणा इस भाषा से अवश्य मिली है, परन्तु वह क्षणिक और अस्थायी ही बनी रही है। कारण अनेक होंगे, लेकिन सचाई यही है। कुछ आश्चर्य की बात नहीं कि हिन्दी साहित्य के इतिहासकारों ने उर्दू के साथ अपनी नाड़ी का सम्बन्ध अनुभव नहीं किया और उसे एकदम भिन्न भाषा ही समझा। केवल यही नहीं, अब तक जो हिन्दी साहित्य के इतिहास लिखे गये हैं उनमें उर्दू अनुचित प्रतिद्वन्द्विता से मार्ग-रोध करनेवाली शक्ति के रूप में ही स्वीकृत और चित्रित हुई है। इधर कुछ वर्षों से हिन्दी प्रधान रूप से मध्यम वर्गीय विद्वानों के नेतृत्व में आने लगी है। राज-शक्ति का सम्बल उसे मोहग्रस्त बनाने लगा है। पुराना इतिहास यह है कि ज्यों-ज्यों भारतीय स्वाधीनता का आन्दोलन उग्र रूप धारण करता गया, त्यों-त्यों हिन्दी और उर्दू का व्यवधान बढ़ता गया और हिन्दी-उर्दू का प्रश्न हिन्दुओं तथा मुसलमानों के मिलन के प्रश्न का अंग बनता गया। सम्मिलित संस्कृति और राष्ट्रीय एकता के पक्षपातियों ने दोनों भाषाओं की अतिवादिता को दूर कर मिली-जुली जबान का नारा लगाया। इस बात का प्रयत्न हुआ कि राष्ट्रीय उद्देश्य की सिद्धि के लिए एक ऐसी भाषा का निर्माण किया जाये जो दोनों के बीच की और

दोनों की अतिवादिताओं से मुक्त भाषा रहे। परन्तु जब कभी उच्च स्तर का साहित्य लिखने का प्रयत्न हुआ, तभी इस मिली-जुली जबान का प्रयत्न असफल हुआ। एक दूसरे प्रकार के विचार के लोगों ने उर्दू को हिन्दी की एक विशिष्ट शैली कहकर इस झगड़े को समाप्त करना चाहा, परन्तु इस बात से उर्दू के पक्षपातियों में चिढ़ पैदा हुई। इस प्रयास में उर्दू को हिन्दी की अनुचरी भाषा बनाने के कुचक्र की गन्ध भी मिली है और समस्या का समाधान नही हो सका है।

हिन्दी साहित्य के इतिहास नामधारी ग्रन्थों मे जिस भाषा-साहित्य की चर्चा अब तक होती आयी है, वह है क्या वस्तु? उसमे राजस्थानी भाषा का साहित्य है, ब्रजभाषा का साहित्य है, अवधी का साहित्य है, बुन्देलखण्डी और बघेलखण्डी का साहित्य है, भोजपुरी और मैथिली का साहित्य है। केवल भाषा के ढांचे को दृष्टि मे रखकर विचार करनेवाले लोग हैरान होकर पूछते हैं कि इतनी विचित्र भाषाओ में लिखे हुए साहित्य को एक भाषा का साहित्य कैसे कहा जा सकता है। और तो और, सरकारी कुर्सियो पर बैठे बड़े-बड़े अधिकारी भी कभी-कभी निष्ठुरतापूर्वक कह बैठते हैं कि तुलसीदास और सूरदास हिन्दी के कवि नही थे। हिन्दी के साहित्यिक इन बातो से क्षुब्ध होते हैं। परन्तु कोई भाषाशास्त्रीय युक्ति ऐसी नहीं है जिससे वे इन बातों का सीधा जवाब दे सकें। राजस्थान से बिहार तक ऐसा कोई हिन्दी साहित्यिक नही है जो इस बात से क्रुद्ध न हो जाता हो कि तुलसीदास और सूरदास उसके कवि नहीं थे। वस्तुतः उसके हृदय में यह बात पूरी तरह जमी हुई है कि हिन्दी वह भाषा है जिसमें कबीर, तुलसी, मीराँ आदि ने कविता लिखी थी। जब कोई कहता है कि ये लोग हिन्दी के कवि नही थे, तो उसका दिल दुखता है। उसके अन्तरतर से यह उद्‌गार निकलना चाहता है कि भाषाशास्त्र चाहे जो कहे, वह सूर, तुलसी, कबीर और मीराँ को अपना कवि माने बिना रह नही सकता अर्थात् हिन्दी भाषाशास्त्रीय भाषा की अपेक्षा मनोवृत्तिप्रधान भाषा है। वे सब बोलियाँ जिनका मुख केन्द्राभिमुख है, अर्थात् जिनके बोलनेवाले की नाड़ियों में मूल केन्द्रीय भाषा से सम्बद्ध बने रहने के संस्कार दृढ़ निबद्ध हैं—हिन्दी है। जो बोलियाँ केन्द्राभिमुख न होकर अपने-आप मे ही केन्द्रित हो जाती है और तुलसी और सूर को अपना कवि नही मानना चाहती, वे टूटकर अलग हो जाती हैं। जिन बोलियों में आत्मकेन्द्रित होने की प्रवृत्ति नही आयी है वे सब केन्द्राभिमुखी भाषा के परिवार में बनी रहती हैं और हिन्दी कहलाती हैं। हाल में कुछ सीमान्त-स्थित बोलियों में अलग होने की प्रवृत्ति दृष्टिगोचर हुई है। हिन्दी के हिमायती इससे दुखी हैं। परन्तु यदि वे बोलियाँ आत्मकेन्द्रित होकर विकसित हो तो हिन्दी नही रह जायेंगी। असल बात यह है कि हिन्दी केन्द्राभिमुखी, सबको मिलानेवाली, साथ-साथ रहने को प्रोत्साहन देनेवाली मनोवृत्ति का वाचात्मक प्रतीक है। उर्दू अभी तक आत्मकेन्द्रित भाषा बनी रही है और बृहत् हिन्दी-परिवार में सम्मिलित होने मे लज्जा और अगौरव अनुभव करती रही है, इसीलिए वह भिन्न भाषा बनी रही है। उसको हिन्दी की शैली कहना उचित नही है, बल्कि वह एक और तरह

की मनोवृत्ति का वाचात्मक प्रतीक है। केन्द्राभिमुखी-भाषा होने में तो वह हिन्दी के समान ही है, लेकिन सूर, तुलसी, कबीर की परम्परा को वह अपनी परम्परा नहीं मानती। वह हजारों वर्गमील मे फैले हुए जनसाधारण की गँवारू बोलियो के साथ अपना तादात्म्य स्थापित करने में लज्जा और अगौरव अनुभव करती रही, सन्तों और भक्तों के सात्विक साहित्य को अपना साहित्य मानने मे कुण्ठा अनुभव करती रही। उसने इस देश की पुरानी परम्परा से—अपभ्रंश, प्राकृत और संस्कृत के साहित्य से—घनिष्ठ और अविच्छेद्य सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयत्न कभी नहीं किया। हिन्दी अपने कुक्षि-स्थित दर्जनो उपभाषाओ के साथ जिस मनोवृत्ति का प्रतिनिधित्व करती है, उससे कही संकीर्ण और कितनी ही बातो में विपरीत मनोवृत्ति को उर्दू उपस्थित करती रही है। जब तक यह मनोवृत्ति नही बदलती, तब तक उर्दू और हिन्दी के प्रश्न को सुलझाया नही जा सकता। अगर हिन्दी साहित्य मे पूरे उर्दू साहित्य का अन्तर्भाव कर लिया जाय और फिर भी उर्दू की आत्मकेन्द्रित मनोवृत्ति बनी रहे तो समस्या जहाँ-की-तहाँ रह जायगी। मैथिली के साहित्य को हिन्दी साहित्य के अन्तर्मुक्त कर लिये जाने के बाद भी उस भाषा से आत्मकेन्द्रित प्रवृत्ति उत्पन्न हुई है। हिन्दी की सर्वस्वीकारिणी वृत्ति से उसका मौलिक भेद है। यही कारण है कि जो लोग उस आत्मकेन्द्रित प्रवृत्ति के पक्षपाती हैं, वे मैथिली साहित्य को हिन्दी साहित्य मे अन्तर्भुक्त करने के प्रयत्न से चिढ़ते है। अगर उर्दू-प्रेमियों की मूल मनोवृत्ति को बदले बिना उर्दू साहित्य को हिन्दी में ग्रहण कर लिया गया, तो उनके चिढने की आशंका बनी रह जायगी और जब भाषा और साहित्य का प्रश्न मनोवृत्ति का प्रश्न हो जाय, तो चिढ़ पैदा करनेवाली बात से बचना श्रेयस्कर ही होता है; क्योंकि चिढ सन्देह से उत्पन्न होती है, और सन्देह सब प्रकार के मिलन का घोर बाधक हुआ करता है। मुझे व्यक्तिगत रूप से सम्पूर्ण उर्दू साहित्य को ग्रहण करके हिन्दी को वैविध्य-युक्त समृद्ध भाषा बनाने में हार्दिक आनन्द होगा। परन्तु सन्देह पैदा होने की आशंका से मेरा उत्साह अत्यन्त क्षीण हो जाता है।

फिर कर्त्तव्य क्या है ? यह तो स्पष्ट ही है कि उर्दू किसी खास प्रदेश की प्रादेशिक भाषा नही है। उत्तरप्रदेश के सभी शहरों मे कुछ-न-कुछ उर्दू-प्रेमी अवश्य है। उर्दू का साहित्य इसी देश की भाषा मे लिखा गया है। उर्दू का भाषाशास्त्रीय ढाँचा हिन्दी के भाषाशास्त्रीय ढाँचे से अलग नही है। इसलिए उर्दू भाषा की रक्षा अवश्य होनी चाहिए। ऐतिहासिक कारणों से हमारे देश की राजनीति ने जो करवट लिया है, उसमें उर्दू को वह स्थान कभी भी प्राप्त नही हो सकता जो अब तक उसे प्राप्त रहा है। उससे अधिक गौरव का पद उसे दूसरे देश मे प्राप्त हो गया है। फिर भी मेरा विश्वास है कि उस देश के लोग इस साहित्य को ममता के साथ अपना सकेंगे। अपनायें भी तो यहाँ के उर्दू-प्रेमियो की तुलना में वहाँ के उर्दू-प्रेमियों का दृष्टिकोण भिन्न कोटि का होगा और कदाचित् विपरीतगामी भी होगा। इस देश के लोग जिस प्रकार अल्पसंख्यकों की समस्या उस देश के लोगों से बिल्कुल भिन्न तरीके

पर सुलझा रहे हैं, उसी प्रकार यहाँ उर्दू के प्रश्न को भी बिल्कुल भिन्न ढंग से सुलझाना होगा। हमारी आकांक्षा है कि इस देश के रहनेवाले एक महाजाति के रूप में विकसित हों। निकट भविष्य में यहाँ अल्पसंख्यक रह ही नहीं जायेंगे। अभी अल्पसंख्यकों का प्रश्न जितना भयंकर मालूम हो रहा है, उतना भयंकर वह नहीं रहेगा। जिस देश की ऐसी उच्चाभिलाषा है, उसके साहित्य में द्विविधा और द्विमुखी प्रवृत्ति का रहना ही अच्छा है। उर्दू को हमें सम्पूर्ण रूप से स्वीकार करना ही होगा। परन्तु अभी से उर्दू-प्रेमियों की पुरानी मनोवृत्तियों की जीवितावस्था में ही और उनका रुख देखे बिना ही उसे हिन्दी साहित्य का अंग बना देना सन्देह का बीज बोयेगा और एक महाजाति बनने की हमारी आकांक्षा में बाधक सिद्ध हो सकता है।

अन्त में मैं यह निवेदन करके अपना वक्तव्य समाप्त करता हूँ कि हिन्दी की वास्तविक शक्ति जनता है। हमें राजसिंहासनों से शक्ति कभी भी नहीं प्राप्त हुई है, आज भी नहीं प्राप्त होगी। हमें डेपुटेशन भेजने की मनोवृत्ति को छोड़कर ऐसे साहित्य का निर्माण करना चाहिए जो जनता का वास्तविक कल्याण करे। उसमें उदात्त भावनाओं का संचार करे, उसकी जीवन-यात्रा में सहायता पहुँचाने और उसे संसार के किसी देश की जनता के सामने गर्वपूर्वक खड़ा होने का बल दे। यही वास्तविक कार्य है, और यही हमारी शक्ति का वास्तविक भाण्डार सुरक्षित है।

[इस निबन्ध का पूर्वार्ध विचार-प्रवाह से और उत्तरार्ध विचार और वितर्क से लिया गया है—भारतीय हिन्दी परिषद्, प्रयाग के अधिवेशन में पठित]

भारतीय लोकतन्त्र और संस्कृति : लोकतन्त्र और भाषा

स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद हमने अपने देश मे लोकतान्त्रिक शासन-व्यवस्था को स्वीकार किया है। लोकतान्त्रिक शासन-व्यवस्था का अर्थ यह होता है कि हमारे देश की जनता के चुने हुए लोग देश में कानून और व्यवस्था का संचालन करें। यह शासन-व्यवस्था जनता के द्वारा स्थापित होती है और जनता के हित के लिए कार्य करती है। हमारे देशवासियों की प्रकृति के अनुसार और उसके ऐतिहासिक विकास को दृष्टि मे रखते हुए ऐसे नियम बनाने पड़ते है जो ठीक उसी प्रकार बने हुए अन्य

देशों के नियमों से कुछ भिन्न होते है। हमारे देश का इतिहास हजारों वर्ष पुराना है। इसमें विभिन्न धर्मो, सम्प्रदायों, नस्लों और जातियो के लोग बसते है। उनकी अपनी परम्पराएँ भी कुछ अलग-अलग है। इस प्रकार हमारे राष्ट्र में विविधताएँ और वैचित्र्य है। अलग-अलग समुदाय के धार्मिक विश्वास, पूजा-पद्धति, भाषा आदि मे भी अन्तर दिखायी देता है। ऐसी स्थिति मे एक सामान्य राष्ट्रीय हित का मार्ग खोजना कठिन हो जाता है। हमारे लोकतन्त्र ने इसी कठिन मार्ग को अपनाया है। इसके लिए हमारी सविधान-सभा ने धर्म-निरपेक्ष लोकतान्त्रिक व्यवस्था का मार्ग निकाला है। इसका अर्थ यह है कि हम यह संकल्प कर चुके हैं कि किसी समुदाय-विशेष के धार्मिक विश्वासों मे राज्य की ओर से कोई हस्तक्षेप नही होगा। सबको अपने-अपने मार्ग पर चलने की स्वतन्त्रता होगी। राज्य किसी एक धर्म को मान्यता नही देगा और सभी धर्मो के उन महान् आदर्शो को अपनाया करेगा जो मानवता के पोषक और उन्नायक है। यह मार्ग कठिन है। इसमे सहनशीलता, उदारता और धैर्य के साथ सभी काम करना जरूरी है। पर कठिन होने पर भी यही मार्ग मनुष्यता का सही मार्ग है।

इसमे भाषा-सम्बन्धी समस्या कुछ अधिक जटिल है। हमारे देश के संविधान में बहुत विचार के बाद चौदह मुख्य भाषाओ को मान्यता दी गयी है। इनमे एक संस्कृत भी है। संस्कृत हमारे देश की बड़ी शक्तिशाली और समृद्ध भाषा रही है। हमारे हजारो वर्षो के इतिहास मे पीढियो तक देश के सर्वोत्तम विचारको ने इस भाषा में अपने विचार लिपिबद्ध कर रखे है। इसलिए सस्कृत को देश की मुख्य भाषाओं में स्थान देना उचित ही हुआ है। बाकी तेरह भाषाएँ देश के विभिन्न भागो मे बोली जाती है। ये सभी भाषाएँ हमारे राष्ट्र की सम्पत्ति है। इसलिए इन सबकी समृद्धि से ही समूचे राष्ट्र की समृद्धि सम्भव है।

भाषा की समृद्धि उत्तम साहित्य से होती है। भाषा की समृद्धि से उसके बोलनेवालो का जीवन-स्तर ऊँचा उठता है, उनमे कार्य-कारण-परम्परा को सही-सही समझने की शक्ति विकसित होती है और उनके चरित्र में नैतिक निष्ठा का विकास होता है। राष्ट्र के सामूहिक सांस्कृतिक स्तर को ऊँचा उठाने का यह सर्वोत्तम उपाय है।

जो सरकार जनता के द्वारा चुनी जाती है, उसमे जनता की भाषा का प्राधान्य होना स्वाभाविक ही है। परन्तु पिछले डेढ़-दो सौ वर्षो में हम एक पराधीन राष्ट्र के रूप मे जीते रहे है। अंग्रेजों ने इस देश की शासन-व्यवस्था के लिए अंग्रेजी भाषा को सारे देश में प्रचलित किया था और हमारी अपनी भाषाओ का विकास रुद्ध हो गया था। अंग्रेजी भाषा द्वारा शासन-व्यवस्था चलाने का परिणाम यह हुआ है कि हमारे देशवासियो को, जो भिन्न-भिन्न भाषाएँ बोलते हैं, एक सूत्र मे बाँधने का काम अंग्रेजी ही करने लगी है; हालांकि विदेशी भाषा होने के कारण वह देश की विशाल जनता मे ठीक से रीज-पीज नही सकी है। यही कारण है कि देश को एक सूत्र मे बाँधने मे वह कमजोर सिद्ध हुई है।

अंग्रेजी भाषा बहुत समृद्ध भाषा है और आजकल संसार के कई समृद्ध देशों मे राजभाषा के रूप मे स्वीकृत है। पर है यह विदेशी भाषा ही और देश की समूची जनता का एक नगण्य अंश ही उसमें कुशलता प्राप्त कर सका है। जनता का राज्य होने पर सारी जनता यदि अपनी भाषा मे शासन-तन्त्र और न्याय-व्यवस्था को चलाने का अधिकार नही प्राप्त करती तो लोकतान्त्रिक व्यवस्था निश्चित रूप से कमजोर हो जाती है। संविधान बनानेवाले नेताओं के मन में यह प्रश्न बहुत प्रमुख रूप में उपस्थित था। इसको हल करने के लिए उन्होंने अपने देश की एक भाषा को चुना है जो विभिन्न राज्यो के आपसी व्यवहार की भाषा बहुत-कुछ पहले से ही बनी हुई है। यह भाषा हिन्दी है। देश की लगभग आधी जनता इस भाषा को बोल या समझ लेती है। इसलिए ऐसा निश्चय किया गया है कि विभिन्न राज्यो में तो अपनी-अपनी भाषाएँ शासन-व्यवस्था के लिए काम में लायी जायें, परन्तु सारे देश के लिए और राज्यों के पारस्परिक सम्बन्ध के लिए हिन्दी भाषा का प्रयोग किया जाये। ऐसा करने से ही देश में हर अर्थ में लोकतान्त्रिक शासन-व्यवस्था कायम होगी।

स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद देश में भाषाओं की प्रगति में काफी तेजी आयी है। कई राज्यो ने अपने राज-काज के लिए अपने क्षेत्र में बोली जानेवाली भाषा को स्थान दिया है और विश्वविद्यालयो में भी तेजी से देशी भाषाएँ माध्यम के रूप में व्यवहृत होने लगी है। परन्तु अंग्रेजी अभी बनी हुई है। उसे एकदम हटा देने में भी कठिनाई है। धीरे-धीरे देशी भाषाएँ अपना उपयुक्त स्थान प्राप्त करती जा रही है और हिन्दी के प्रचार का भी थोड़ा-बहुत प्रयत्न हो रहा है। जब तक हमारी अपनी भाषाएँ समृद्ध नही हो जाती तब तक लोकतान्त्रिक व्यवस्था कमजोर ही बनी रहेगी।

भारतवर्ष में अपनी समृद्ध संस्कृति को उजागर करने के लिए देशी भाषाओं को प्रोत्साहन देना बहुत जरूरी है। विदेशी भाषा में शिक्षा पाने से हमारा स्वतन्त्र चिन्तन कुण्ठित हो गया है। समूचे राष्ट्र के सांस्कृतिक अभ्युत्थान के लिए भी हमें अपनी भाषाओ को समृद्ध करना आवश्यक है।

यह प्रसन्नता की बात है कि स्वाधीनता-प्राप्ति के बाद बहुत-सी बाधाओं और कठिनाइयो के होते हुए भी प्रादेशिक भाषाएँ उन्नति कर रही हैं। हिन्दी भी सार्वदेशिक भाषा के रूप को अवश्य प्राप्त कर जाती है। इसमें अनेक विश्वविद्यालयों में एम. ए. तक की पढ़ाई हिन्दी में होने लगी है, लेकिन अभी बहुत प्रयत्न की आवश्यकता है। जब तक आधुनिक ज्ञान-विज्ञान के हर क्षेत्र में उत्तम साहित्य का निर्माण नहीं होता तब तक भाषा सम्बन्धी परमुखापेक्षिता बनी रहेगी। आशा की जाती है कि शीघ्र ही हमारी देशी भाषाएँ इस प्रकार के साहित्य से समृद्ध हो जायेंगी और हिन्दी तो विशेष रूप से समृद्ध हो जायेगी।

स्वराज्य तभी सार्थक होगा जब स्वभाषा की उन्नति होगी। जिस भाषा के माध्यम से साधारण जनता तक ज्ञान-विज्ञान पहुँच सकता है, उसकी उपेक्षा करना

बहुत हानिप्रद होगा।

महात्मा गांधी ने आज से पचास साल पहले कहा था—"मैं अपनी अल्पबुद्धि के अनुसार इस बात से अवगत हूँ कि इस देश में बड़े-बड़े विद्वान् यह मानते हैं कि अन्तर्प्रान्तीय उपयोग के योग्य भाषा तो अंग्रेजी भाषा ही है। लेकिन वह भाषा कदापि राष्ट्रभाषा नहीं हुई है, क्योंकि उसमें और हिन्दी भाषा में किसी प्रकार की भी समानता नहीं है। राष्ट्रभाषा ऐसी सहल होनी चाहिए कि जिसे कोई भी सीख सके। यदि हम पराधीनता से ग्रस्त न हों तो हम आसानी से समझ सकते हैं कि ऐसी सामान्य भाषा की आवश्यकता है। अंग्रेजी सीखने के पीछे लाखों रुपया खर्च करने के बावजूद गिने-चुने लोग ही इस भाषा को सीख सके हैं और ऐसा होने पर भी उस भाषा पर पूर्ण अधिकार रखनेवाले लोग तो इक्के-दुक्के ही होते हैं। इस भाषा को सीखने के लिए जो प्रयत्न करना पड़ता है, उसे देखता हूँ तो मुझे तो ऐसी प्रतीति होती है कि उससे देश का तेज क्षीण होता जा रहा है।"

प्रसन्नता की बात है कि अपनी भाषाएँ अब सजग हो गयी हैं। यदि वे समृद्ध हों तो देश का तेज भी शक्तिशाली होगा।

[आलोक-पर्व से]

भाषा-सर्वेक्षण

भाषा-सर्वेक्षण बहुत ही उत्तरदायित्व पूर्ण और पवित्र कार्य है। इसके लिए अधिक-से-अधिक सावधानी और वैज्ञानिक तटस्थ बुद्धि की आवश्यकता होती है। हमारे देश में भाषाओं के अध्ययन का कार्य बहुत पुराना है। हमारे वैयाकरणों ने समय-समय पर विभिन्न प्रदेशों में बोली जानेवाली भाषाओं और बोलियों के बारे में कुछ उल्लेखयोग्य काम किया है। परन्तु 'लिंग्विस्टिक सर्वे' उनसे भिन्न श्रेणी का काम है। यह केवल कुछ बोलियों के नाम गिनाने या व्याकरण बनाने का काम नहीं है। यह उससे भिन्न भी है और अधिक महत्त्व का काम भी है। आधुनिक युग में हमारे देश के भाषा-सर्वेक्षण का काम उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम चरण से शुरू हुआ है। यद्यपि यूरोपीय विद्वानों ने इस देश की भाषाओं की जानकारी प्राप्त करने के लिए थोड़ा-बहुत काम बहुत पहले ही शुरू कर दिया था, लेकिन 1878 ई. तक कोई ऐसा भी काम नहीं हुआ था जिसे आधुनिक दृष्टि से एक अच्छा 'कैटेलाग' भी कहा जा सके। यूरोपीय यात्रियों में जिन लोगों ने भाषा के विषय में जानकारी

प्राप्त कराने का प्रयत्न किया, उन्होंने बहुत-कुछ अटकल का ही सहारा लिया। किसी-किसी ने इस देश की भाषाओं की संख्या 50-60 बतायी और किसी ने 250 तक। परन्तु 1878 ई. में प्रसिद्ध भाषा-शास्त्री डॉ. कल्ट ने पहला शानदार प्रयत्न किया और अपनी खोज का विवरण Modern Languages of the East Indies नामक ग्रन्थ मे प्रकाशित कराया।

इस पुस्तक में पहली बार भाषा-शास्त्रीय सूझ-बूझ के साथ इस देश की भाषाओं के वर्गीकरण का प्रयत्न किया गया है। उनका यह प्रयत्न अधूरा ही था, क्योंकि किसी एक व्यक्ति के लिए, चाहे वह कितना भी बड़ा पण्डित हो, सम्पूर्ण भारत की भाषाओं का सर्वेक्षण एक असम्भव कार्य ही है। फिर भी डॉ. कल्ट का काम बहुत ही शानदार था, क्योंकि उसने विद्वानों को और सरकार को इस कार्य के करने की बड़ी प्रेरणा दी।

सन् 1886 ई. में वियना में ओरियण्टल कांग्रेस की ऐतिहासिक बैठक हुई। डॉ. कल्ट इस कांग्रेस के सदस्य थे। इसी कांग्रेस के सुप्रसिद्ध विद्वान् डॉ. ब्लूलर ने प्रस्ताव किया, जिसे प्रोफेसर वेबर ने समर्थन दिया। इस प्रस्ताव में भारत सरकार से अनुरोध किया गया था कि वह भारतवर्ष की भाषाओं का A Deliberate Systematic Survey करायें। कांग्रेस में यह प्रस्ताव सर्वसम्मति से पास हुआ; जिसका भारत सरकार पर बड़ा प्रभाव पड़ा। कोई आठ वर्ष के विचार-विमर्श और सलाह-मशविरे के बाद 1894 ई. मे भारत सरकार ने इस महान् कार्य के लिए दृढ संकल्प किया। उस समय भारतवर्ष की आबादी उन्तीस करोड़ चालीस लाख कूती गयी थी, जिसमें बाईस करोड़ चालीस लाख लोग 'ब्रिटिश इण्डिया' के ही निवासी थे। इस सर्वेक्षण का काम प्रसिद्ध विद्वान् सर जार्ज ग्रियर्सन को सौंपा गया। इस प्रकार वर्षों के कठिन परिश्रम से भारतवर्ष का पहला सर्वांगीण भाषा-सर्वेक्षण प्रस्तुत हुआ। इस सर्वेक्षण के आधार पर पता चला कि भारतवर्ष मे 169 भाषाएँ और 544 बोलियाँ हैं। परन्तु यह सर्वेक्षण अत्यन्त महत्त्वपूर्ण होते हुए भी त्रुटिहीन नही कहा जा सकता। स्वाधीनता-प्राप्ति के बाद कई बार यहाँ अनुभव किया गया है कि भाषा-सर्वेक्षण का काम फिर से और नये सिरे से करना चाहिए। परन्तु नयी परिस्थितियों मे भाषा के साथ भावावेग, अनुचित आसक्ति और राजनीतिक हानि-लाभ की भावना इतनी जुड़ गयी है कि वैज्ञानिक तटस्थ दृष्टि बनने में बराबर कठिनाई अनुभव की जाती रही है। परन्तु कठिनाई कितनी भी क्यों न हो, भाषा-सर्वेक्षण का महत्त्वपूर्ण कार्य स्थगित नही किया जा सकता। कुछ-न-कुछ राजनीतिक लाभ-हानि की भावना और भावावेग तो हमेशा बना ही रहेगा। ग्रियर्सन के भाषा-सर्वेक्षण पर भी यह आरोप लगाया गया था कि उसमे तत्कालीन भारत सरकार की साम्राज्यवादी नीति काम कर रही थी। आवश्यकता है यथा-शक्ति शुभ बुद्धि, निष्पक्ष वैज्ञानिक दृष्टि और सच्चे ज्ञान के प्रति अटूट निष्ठा की। जिसके भीतर ये बातें होंगी वही इस कार्य को ठीक-ठीक कर सकेगा। भारतवर्ष अब स्वाधीन हुआ है। अब हमारी सभी भाषाएँ और सभी बोलियाँ

अपनी हैं। हमारा पक्षपात हो तो सभी बोलियों के साथ होना चाहिए और होगा। इसी शुभ बुद्धि से इस महान् कार्य को हाथ में लेना चाहिए।

ग्रियर्सन ने जब भाषा-सर्वेक्षण का काम शुरू किया था तो उस समय के भाषा-प्रेमी विद्वानों के सहयोग से कुछ पद्धतियाँ अपनायी गयी थीं। उनकी जानकारी हमारे इस कार्य के लिए आवश्यक होगी। पहली बात यह तय की गयी थी कि एक परिनिष्ठित या स्टैण्डर्ड कहानी दी जाये जिसे भिन्न-भिन्न बोलियों के बोलनेवालों से अपनी भाषा में कहलवाया जाये और उसका शुद्ध लेखन किया जाये। यह भी निश्चय किया गया कि उस क्षेत्र में जो लिपि प्रचलित हो, उसी में वह कहानी लिखी जाये और फिर उसे रोमन लिपि में उतार लिया जाये। हर प्रकार की ध्वनि रोमन लिपि में लिखी जा सके, यह प्रयत्न बहुत सावधानी से किया गया। अनेक नये चिह्नों की योजना करके रोमन वर्णमाला को अधिक-से-अधिक पूर्ण बनाने की कोशिश की गयी। 'स्टैण्डर्ड कहानी' के लिए बाइबल की Parable Prodigal Son नामक कहानी चुनी गयी। परन्तु भारतीय जनता की रुचि का ध्यान रखते हुए उसमें थोड़ा परिवर्तन भी कर लिया गया। इस कहानी की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमें सभी वचन, कारक और लिंग आ जाते है। क्रियाओं के भी तीनों कालों के रूप आ जाते है और अधिकतर सर्वनाम रूप भी इसमें आ जाते हैं। परन्तु आशंका की बात यह थी कि अंग्रेजी न जाननेवाले के लिए यह दुर्बोध्य थी। उसे अनुवाद करके हिन्दुस्तानी या अन्य किसी भाषा में समझाना पड़ता था और कहने-वाला उस अनुवाद का अनुवाद करता था। इससे मुहावरेदार सहज स्वाभाविक भाषा का परिचय मिलना कठिन हो जाता था। यद्यपि इस कहानी के अनुवाद से व्याकरण के ढाँचे का तो पता चल जाता था, किन्तु उस बोली या भाषा का जीवन्त रूप सामने नहीं आ पाता था। इस कमी को पूरा करने के लिए एक दूसरी पद्धति यह थी कि बोलनेवाले से उसी क्षेत्र में प्रचलित कोई लोक-कथा कहलायी गयी। इसमें बोलनेवाले को पूरी स्वतन्त्रता थी कि वह अपनी इच्छा से स्वतन्त्रतापूर्वक जो भी कहना चाहे, कहे। इन दोनों बातों के अतिरिक्त एक तीसरी बात और स्वीकार की गयी। सर जार्ज कैम्पबेल ने बहुत पहले भारतीय भाषाओं की एक परिनिष्ठित शब्द-सूची तैयार की थी, जो बंगाल एशियाटिक सोसायटी के जर्नल में बहुत पहले प्रकाशित हो चुकी थी। इस सूची में कुछ और शब्द जोड़कर A Standard List of Words बनायी गयी। प्रत्येक बोली में इनके लिए कौन-से शब्द प्रयुक्त होते है और इनका उच्चारण किस प्रकार का है, यह जानने की कोशिश की गयी। प्रत्येक जिला अधिकारी और पॉलिटीकल एजेण्टों को ये सारी बातें अच्छी तरह समझा दी गयी और इस प्रकार विभिन्न भाषाओं और बोलियों के नमूने इकट्ठे किये गये और भाषा-सर्वेक्षण का कार्य सम्पन्न किया गया। इन नमूनों का भाषाशास्त्रीय विश्लेपण बड़ी सावधानी से किया गया। सारे नमूने जब मिल गये तो देखा गया कि इनमें भाषाओं की संख्या 231 है और बोलियों की 774। बाद में छानबीन करने पर मालूम हुआ कि यह संख्या ठीक नहीं है, क्योंकि

कई बोलियाँ दो या अधिक जिलों में बोली जाती हैं। इसीलिए कई बोलियों का नाम दो या तीन बार भी आ गया है। इन सबको भाषा-शास्त्र की कसौटी पर कसकर देखा गया तो पता चला कि भाषाओं की संख्या वस्तुतः 169 है और बोलियों की 544। परन्तु गलती की सम्भावना इसमें भी है; क्योंकि सन् 1921 की जनगणना में इन्हीं आधारों पर भाषाओं की संख्या 188 बतायी गयी है।

स्पष्ट है कि जिला अधिकारियों और पॉलिटीकल एजेण्टों ने जिन लोगों को इस काम के लिए नियुक्त किया, वे सभी भाषा-शास्त्रीय नियमों के जानकार नहीं थे। इस काम में अधिकतर पटवारियों और पोस्टमैन जैसे लोगों से मदद ली गयी। कई बार तो ऐसी बोलियों का पता चला जिनको जाननेवाला कोई पढ़ा-लिखा आदमी मिला ही नहीं। हिमालय में एक ऐसी बोली का पता चला जो तिब्बती परिवार की थी। *उसके बोलनेवाले बहुत थोड़े लोग थे जो तिब्बत से आकर वहाँ* बस गये थे। उनकी भाषा आसपास के लोग बिल्कुल नहीं समझते थे। लेकिन उत्साही कार्यकर्त्ताओं ने उसके नमूने भी पेश कर ही दिये। ग्रियर्सन ने लिखा है कि उस बोली का नाम "was a solemn procession of weird monosyllabels wandering right across a page", अर्थात् वह एकाक्षरिक शब्दों की लम्बी कतार थी जो पूरा पन्ना घेरे हुए थी। मूँड मारकर भी ग्रियर्सन इस नाम का कोई कूल-किनारा नहीं खोज सके। दोबारा पूछ-ताछ करने पर रहस्य का पता लगा। पूछनेवाले राजकर्मचारी ने उस बोली के बोलनेवाले से पूछा कि तुम्हारी बोली का नाम क्या है? उसने अपनी बोली में उत्तर दिया कि मैं कुछ भी नहीं समझ रहा हूँ कि आप पूछना क्या चाहते हैं—"I don't understand what you are driving at?" कर्मचारी महोदय ने इस पूरे वाक्य को उस बोली का नाम समझ लिया। ऐसी ही कहानियाँ और भी हैं। इस कहानी से आप आसानी से समझ सकते हैं कि कर्मचारी महोदय ने भाषा का नमूना कैसा संग्रह किया होगा!

एक विचित्र बात यह है कि हिन्दुस्तान की अधिकाश जनता यह नही जानती कि वह कौन-सी बोली बोलती है। कम-से-कम ग्रियर्सन के समय तो यही अवस्था थी। हर बोली का नाम उसके पडोसियों का दिया हुआ है। पंजाब के दक्षिण और बीकानेर के उत्तर में एक बोली बोली जाती है, उसका नाम है 'जंगली'। परन्तु बोलनेवालो मे से कोई भी अपनी बोली 'जंगली' कहने को तैयार नही हुआ। पड़ोसियों ने ही उसको यह नाम दे रखा था और लिंग्विस्टिक सर्वे में वह नाम उजागर भी हो गया। मेरी अपनी बोली का नाम 'भोजपुरी' है। परन्तु गाँव के लोग यह नहीं जानते कि उनकी बोली का नाम भोजपुरी है। यह नाम अंग्रेज सिपाहियों का दिया हुआ है। कुछ लोग एक सामान्य भाषा का नाम जानते हैं और उसी से अपनी बोली का भी परिचय दे दिया करते है। भाषा-सर्वेक्षण का काम करनेवालों को इन सब बातों का सामना करना पड़ेगा। हो सकता है कि 'लिंग्विस्टिक सर्वे ऑफ इण्डिया' मे दिये हुए नामों में अधिकांश कल्पित या बनावटी जान पड़ें। आपको बड़ी सावधानी के साथ सही स्थिति का पता लगाना होगा। पड़ोसियों के

दिये हुए नाम कभी-कभी घृणा-सूचक या उपहास-सूचक होते हैं। जैसे बंगाली लोग पूर्वी बिहारवालों की भाषा को 'खोटो भाषा' कहते हैं और स्वयं बिहारवाले मैथिली को 'छिकाछिकी'। कहने का मतलब यह है कि केवल दूसरों की बात पर अन्ध भाव से विश्वास करने की जरूरत नहीं है। स्वयं विश्लेषण करके उचित तथ्यों का पता लगाना चाहिए।

भाषा-सर्वेक्षण करनेवालों के सामने एक प्रश्न यह भी रहा है कि भाषा और बोली का अन्तर कैसे किया जाये। यूरोपीय विद्वानों में एक मान्यता यह रही है कि बोली विभिन्न क्षेत्रों की घरेलू भाषा है। कई बोलियों के लोग आपसी व्यवहार के लिए एक सामान्य भाषा का व्यवहार करते हैं, जिसे सभी बोलियों के बोलनेवाले समझ जाते हैं। यह मान्यता व्यावहारिक दृष्टि से ठीक कही जा सकती है। पर भाषा-शास्त्रीय कसौटी पर ठीक नहीं उतरती। ग्रियर्सन ने कहा है कि लगभग समूचे उत्तरी भारतवर्ष में लोग एक सामान्य भाषा हिन्दी-हिन्दुस्तानी को समझ लेते हैं, फिर भी भाषा-शास्त्रीय दृष्टि से मैथिली, भोजपुरी, कमायूनी, गढ़वाली भाषाएँ एक नहीं हैं। उनका परिवार अलग है। साधारणतः क्रियापद, सर्वनाम और वाक्य-रचना से परिवारों के भेदक लक्षणों का ज्ञान होता है। हमारे संविधान में चौदह (अब पन्द्रह) भाषाएँ मानी गयी हैं। पर भाषा-शास्त्री इसे व्यावहारिक भेद ही कहेगा। भाषा-शास्त्र की दृष्टि से हिन्दी और उर्दू अलग भाषाएँ नहीं हैं। हिन्दी का लिखा जानेवाला भाषा-शास्त्रीय रूप भोजपुरी और अवधी के उतना निकट नहीं है जितना पंजाबी या गुजराती का रूप। इसी प्रकार बिहार की भाषाएँ बंगला के अधिक निकट हैं। इस बात की अधिक सावधानी से जांच होनी चाहिए कि विभिन्न बोलियों का असली परिवार क्या है। इस विषम सामयिक राजनीति को यथासम्भव दूर रखना चाहिए। राजनीति बदलती रहती है, भाषा अधिक स्थायी वस्तु है।

जिस क्षेत्र के भाषा-सर्वेक्षण का कार्य आप करने जा रहे हैं, उसका गठन ही भाषा के आधार पर हुआ है। कुछ दिन पूर्व तक 'पंजाब' बहुत बड़ा क्षेत्र था। देश-विभाजन के बाद वह आधा से भी कम रह गया। अब नये सिरे से जिस राज्य को हम पंजाब कहते हैं, वह बिल्कुल पंजाबी भाषा-भाषी क्षेत्र है। इसके वर्तमान रूप की कहानी आप सबको मालूम है। पर इस तथ्य से आपका काम आसान नहीं हो जाता। पजाबी यहाँ की मुख्य भाषा है। पर और भाषाएँ यहाँ है ही नहीं, यह नहीं समझना चाहिए। जिस भाषा या बोली के बोलनेवाले दस आदमी ही हों, वह भी भाषा और बोली ही है। 'लिंग्विस्टिक सर्वे' का कार्यकर्त्ता उसे भूल नहीं सकता और न उपेक्षा कर सकता है। इससे भाषाओं और बोलियों की संख्या अधिक बढ़ जा सकती है, फिर भी पंजाबी भाषा का महत्त्व उससे घटनेवाला नहीं है। भाषा-सर्वेक्षण वैज्ञानिक अध्ययन है। व्यवहार के क्षेत्र में उसके सैकड़ों प्रकार के उपयोग हो सकते हैं। उत्तरी अमरीका की राजभाषा अंग्रेजी है। वही वहाँ की मुख्य है, पर भाषा-सर्वेक्षण से पता चलता है कि वहाँ अंग्रेजी के सिवा

परिवारों की 345 भाषाएँ बोली जाती हैं। केन्द्रीय अमरीका और मैक्सिको में 20 परिवारों की कोई 84 भाषाएँ हैं और दक्षिणी अमरीका में लगभग 77 परिवारों की 776 भाषाएँ बोली जाती है। कुल अमरीका मे 122 परिवारों की 1205 भाषाएँ बोली जाती हैं। इनमें अंग्रेजी या अन्य यूरोपीय भाषाओं को नही जोड़ा गया है। इससे स्पष्ट है कि भाषा-सर्वेक्षण करनेवालो ने छोटे-से-छोटे समुदाय की भाषा को भी छोड़ा नही है। पर इस बड़ी संख्या से अंग्रेजी के राजभाषा होने मे कोई बाधा नही आती। इस विशाल संख्या को देखते हुए भारतवर्ष की 169 भाषाएँ और 544 बोलियाँ बहुत कम दिखती हैं।

ग्रियर्सन के भाषा-सर्वेक्षण की चर्चा हम कर चुके हैं। दूसरे देशों में छोटे-छोटे जिलों या तहसीलों को लेकर उनका सर्वेक्षण किया गया है और भाषाओं या बोलियों के एटलस तैयार किये गये है। 1821 ई. से पहले श्मेलर ने बवेरियन उपभाषाओं का काम किया था। 1873 ई. में स्कॉट नामक अंग्रेजी विद्वान् ने इंग्लिश डाइलेक्टोलॉजी सोसायटी की स्थापना की थी और इंग्लैण्ड की कई बोलियों का एटलस तैयार किया था। 1876 ई. मे जर्मन पण्डित जार्ज वेंकर ने राइन की बोलियों का सर्वेक्षण किया था और बाद मे पूरे जर्मनी की, सरकारी सहायता से और स्कूली शिक्षकों के उत्साहपूर्ण सहयोग से, भाषाओं का बहुत शानदार काम किया था। पर विद्वानों को इस कार्य से सन्तोष नहीं हो सका; क्योंकि सहयोग देनेवालों में उत्साह तो बहुत था, पर इस विषय का प्रशिक्षण नहीं मिला था। और भी बहुत काम हुए हैं। इनका नाम गिनाना यहाँ अभिप्रेत नहीं है। परन्तु 1929-43 ई. के कनाडा के न्यू इंग्लैण्ड के कुरैथ द्वारा बनाये हुए एटलस की चर्चा कर देना उचित समझता हूँ। भारतीय भाषाओं के विभिन्न क्षेत्रों में भी कुछ काम हुए है। वस्तुतः क्षेत्रीय भाषाओं के अध्ययन की यह भाषा-शास्त्रीय शाखा (जिसे 'लिंग्विस्टिक ज्योग्राफी' या 'भाषा-भूगोल' नाम दिया गया है) काफी महत्त्वपूर्ण बन गयी है।

अब तक इस विषय पर जिन लोगों ने काम किया है, वे थोड़े-बहुत भेद के साथ मोटे तौर पर एक ही पद्धति से काम करते रहे हैं। जिस क्षेत्र का अध्ययन करना होता है उसे कई विभागों में बाँट लिया जाता है और वहाँ की सामाजिक और अन्य परिस्थितियों की मोटी रूप-रेखा बना ली जाती है। यह जरूरी है, इसलिए कि जिस क्षेत्र में काम करना हो उसके सामाजिक-धार्मिक विश्वासों, अन्धविश्वासों और रीति-रस्मों की जानकारी न होने से कार्यकर्ता को कभी-कभी बड़ी कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। उसे बोली के प्रतिनिधि वक्ता का विश्वास अर्जन करना पड़ता है, नही तो यदि लोग उसे सन्देह की दृष्टि से देखने लगें तो ठीक उत्तर नही देते या बिलकुल सहयोग नहीं करते। आजकल इस पद्धति को 'फील्ड मैथड' कहा जाता है और इस पर अनुभवी लोगों ने पुस्तकें भी लिखी है। भाषा का अध्ययन पाँच दृष्टियों से किया जाता है—ध्वनि, रूप, शब्द, वाक्य और अर्थ। ऐसी कहानियाँ लोगों से कहलाने के लिए चुनी जानी चाहिए जिनमे भाषा के ये सभी रूप मिल जा

सकें। यह ध्यान में रखना बहुत आवश्यक है कि जिस व्यक्ति से सूचनाएँ संग्रह की जा रही हों वह यथासम्भव बाहरी बोलियों या साहित्यिक भाषा से प्रभावित न हो। पहले केवल संग्रहकर्त्ता के सुनने और ठीक-ठीक लिख सकने की क्षमता पर ध्यान दिया जाता था, अब टेप-यन्त्रों के आविष्कार के बाद से इनकी सहायता ली जाने लगी है। पर अनुभव से देखा गया है कि कभी-कभी इस यन्त्र को ही भूतों की करामात मान लिया गया है और संग्रहकर्त्ता को परेशानी उठानी पड़ी है। पिछड़े इलाकों में इस बात की अधिक आशंका होती है। इसीलिए सावधानी बरतने की आवश्यकता होती है। भाषाओं और बोलियों की विभाजक रेखाओं के निश्चयन के लिए आइसोग्लास या आइसोफोन पद्धति प्रचलित है। इसमें उस विभाजक रेखा का पता लगता है जहाँ से भाषा मे परिवर्त्तन के चिह्न स्पष्ट होने की ओर झुकने लगते हैं। इस विषय के जानकार अब हमारे देश मे बहुत तो नहीं, पर मिल जायेंगे। सर्वेक्षण आरम्भ करने के पूर्व हमे पूर्ववर्त्ती विद्वानो के अनुभव और आधुनिक पद्धतियों पर सावधानी से विचार कर लेना चाहिए। भाषा और बोलियों के नक्शों को आजकल बहुत महत्त्व दिया जाता है। ध्वनि, शब्दरूप, वाक्य-विन्यास, अर्थ आदि की रेखाएँ प्रायः भिन्न-भिन्न क्षेत्रों को लिया करती है। फिर भी कुछ ऐसे स्थल होते हैं जहाँ वे प्रायः मिल जाती हैं और पास-पास आ जाती है। इन्ही मिली हुई या सटी हुई रेखाओं से बोलियों का क्षेत्र-विभाजन होता है। पर कितनी भी सावधानी क्यों न बरती जाये, स्पष्ट विभाजक रेखा प्राय. कल्पित रेखा ही होती है। भाषा एक जीवन्त तत्त्व है। उसे भौतिक पद्धतियों से सीमाबद्ध करना कठिन है। प्रायः एक क्षेत्र की विशेषताएँ दूसरे मे मिल जाया करती है। भाषा-सर्वेक्षण के समय यह सदा याद रखना चाहिए कि बहुत सुकुमार प्राणवन्त वस्तु की जाँच की जा रही है।

पंजाब राज्य कई बार विभाजित हुआ है। पाकिस्तान के बाद जो विभाजन हुआ उससे भाषा-विषयक उथल-पुथल हुई है और पुरानी परिस्थितियों मे बड़ा अन्तर आ गया है। विभिन्न बोलियों के बोलनेवाले झुण्ड-के-झुण्ड लोग इधर-से-उधर और उधर-से-इधर आये-गये हैं। पंजाबी भाषा शब्द के पुराने अर्थों में अन्तर आया है। किसी समय सिराइकी हिन्दकी के लिए इस शब्द का प्रयोग होता था। सिराइकी शब्द का अर्थ है ऊँची भूमि की भाषा। सिरो ऊँची भूमि को कहते हैं। परिनिष्ठित लहन्दा, जिसे लायलपुर में अधिक परिनिष्ठित रूप में पाया जाता है, कभी पंजाबी भाषा के नाम पर समझी जाती थी। लहन्दा या लहन्दी का अर्थ पश्चिमी है। यह सूर्यास्त के अर्थ में प्रयुक्त शब्द है। पूरे पंजाब के पश्चिमी भाग की भाषा को यह नाम दिया गया था। वस्तुत. 'लहन्दे दी बोली' अर्थात् पछाँही भाषा से अंग्रेज अधिकारियों ने इस शब्द को ले लिया था। कभी हिन्दुओं की भाषा होने के कारण हिन्दकी, जाटों की भाषा होने के कारण जटकी, उच्च कस्बे के नाम पर इसे 'उच्ची' नाम दिया गया। ग्रियर्सन ने ही इसके परिनिष्ठित रूप को सुपरिभाषित नाम दिया। उनके अनुसार इसके बोलनेवालों की संख्या कोई 48000 के

आसपास थी। अब कितने लोग हैं, कितने बाहर चले गये हैं और कितने अन्य क्षेत्रों से आकर लहन्दा भूमि में आकर बस गये हैं, इसका अभी तक ठीक-ठीक पता नहीं है। आज पंजाबी शब्द का प्रयोग साहित्यिक भाषा के लिए अधिक रूढ़ हो गया है। परिनिष्ठित पंजाबी का शुद्ध भाषावैज्ञानिक ढाँचा केन्द्रीय पंजाब के मैदानों में है। अमृतसर के आसपास का इलाका मध्यभूमि या माझ कहा जाता था। माझ की भाषा माझी के अतिरिक्त जालन्धरी, दोआबी, पोवाई, राठी, मालवाई, भट्टियानी (जिसमें बीकानेरी राठी, फाजिल्काई, बागड़ी, फिरोजपुरी, राठौरी है) आदि से प्रचुर उपादान लेकर साहित्यिक परिनिष्ठित पंजाबी का गठन हुआ है। विभाजन के बाद इसमें कौन-कौन नये उपादान आये हैं, यह आज के प्रयत्नों से स्पष्ट होगा। पाकिस्तानी पंजाब की अनेक बोलियों के बोलनेवाले इन प्रदेशों में आ बसे हैं। निश्चय ही भाषा उनके सम्पर्क से प्रभावित हुई होगी।

भाषा का अध्ययन हमारे सांस्कृतिक विकास और आदान-प्रदान को स्पष्ट करता है। यह उचित ही है कि भाषा के सर्वेक्षण के साथ-साथ हम सांस्कृतिक सर्वेक्षण की ओर भी अग्रसर हों। भाषा में प्रयुक्त एक-एक शब्द, एक-एक स्वराघात कुछ सूचना देते हैं। व्यक्तियों के नाम, कुलों या खानदानों के नाम, पुराने गाँवों के नाम जीवन्त इतिहास के साक्षी हैं। हमारे रीति-रस्म, पहनावे, मेले, गान, नाच, पर्व, त्यौहार, उत्सव हमारे पुराने इतिहास की कथा सुना जाते हैं। यह आश्चर्य और कुतूहल की ही नहीं, उल्लास और आशा की बात है कि उपरले स्तर पर जहाँ इतिहास हमें लड़ाई-झगड़े और मारा-मारी की बात बताते हैं वहीं गहराई में हमारे शब्द, हमारे स्वराघात, हमारे गाँव, हमारे त्यौहार, हमारे मेले भुजा उठाकर घोषणा करते हैं कि उपरले स्तर पर जहाँ राज्यलिप्सा है, झगड़े हैं, धक्का-मुक्की है वहीं गहराई में मिलन की तैयारी होती रहती है। मनुष्य मिल रहा है, ले-दे रहा है, एक हो रहा है। कभी पंजाब में नागों का और आर्यों का कितना भयंकर संघर्ष था—इसका आभास हमें महाभारत के अर्जुन द्वारा दिये गये खाण्डव-वन-दाह और जनमेजय द्वारा अनुष्ठित नाग-यज्ञ से मिलता है। न जाने कब वह संघर्ष कहाँ बिला गया, पर नागों के देवता या उनके आठ कुलों में से एक के नेता कर्कोट या गंगोट आज भी गुग्गा पीर या गोगा पीर के नाम से पूजे जा रहे हैं। पुरानी यक्ष-सभ्यता पता नहीं कहाँ चली गयी, पर मनेर कोटला (कोटला-कोटर) में शताब्दियों से चली आती हुई यक्षरात्रि का उत्सव आज भी मुस्लिम सन्तों के संरक्षण में जी रहा है। हिमालय में दूर-दूर तक फैली हुई खस जाति अब कहीं है या नहीं, यह पण्डितों के अध्ययन का विषय बना हुआ है, पर खसपल्ली कसौली के रूप में जी रही है और स्मरण दिलाती है कि किसी जमाने में खस यहाँ बसते थे। अम्बाला से जालन्धर तक न जाने कितने गाँव सड़क पर ही मिल जाते हैं जिनके अन्त में 'आला' लगा हुआ है। लुधियाना का पुराना नाम भी कदाचित् लुधियाला था और वर्ण-विपर्यय से उसी प्रकार लुधियाना बन गया है जिस प्रकार नफासत-पसन्द लोगों के मुँह से नखलऊ, लखनऊ बन जाता है। क्या गाँवों की यह नामावली

किसी विशेष सभ्यता की सूचना नही देती ? कौन-सी सभ्यता या सभ्यता की स्थिति वह रही होगी ? पंजाब में कुल-सूचक आस्पदों को सुनकर मेरा मन कुतूहल से भर जाता है। राजपूत-जैसी नवक्षत्रिय जाति का नाम 'राजपुत्र' शब्द का विकास है। उस आधार पर मल्लों के वंशज (मल्लाह पुत्तर) मल्होत्रा, मिहिरों के वंशज मेहरोत्रा समझ में आ जाते हैं; क्योंकि पुराने साहित्य से इनका सन्धान मिल जाता है। पर बहुत-से आस्पद हमे चुनौती देते है। वे अपने बारे मे कुछ कह जाते हैं, अपने को उजागर करने के लिए व्याकुल दीखते हैं, पर हम सुन नही पाते। सुनने का प्रयत्न भी नही करते। 'मिहिर' शब्द मिहिरपुत्र या मेहरोत्रा से भी अधिक मनोरंजक है। उज्जैन के प्रसिद्ध ज्योतिषी (छठी शताब्दी) वराहमिहिर के नाम मे जो मिहिर शब्द है, उसका कोई सम्बन्ध है ? मिहिर ही क्या मिसिर है जो आगे चलकर संस्कृतीकरण की प्रक्रिया मे मिश्र और अंग्रेजी प्रभाव से मिश्रा बन गया है ? कौन बतायेगा ?

सांस्कृतिक सर्वेक्षण से बहुत महत्त्वपूर्ण निष्कर्षो के निकलने की सम्भावना है। हममें ज्ञान के प्रति अदम्य निष्ठा होनी चाहिए।

[आलोक-पर्व से]

हिन्दी में शोध का प्रश्न

हमारे-जैसे प्रगतिकामी राष्ट्र को ज्ञान-विज्ञान के प्रत्येक क्षेत्र में शोध की बड़ी आवश्यकता है। इसका इतिहास केवल दीर्घ और महान् ही नही है, संसार मे शायद बेजोड़ भी है। हमारे ज्ञान के संचय, अर्जन और वितरण के ढंग निराले और शानदार रहे हैं। जिस समाज मे मानवीय विचारों और व्यवहारो के निरन्तर परिवर्तमान मूल्यों के विचार करनेवाले मनीषी, प्रकृति के रहस्य भेदकर नवीन-नवीन जानकारियों के उद्घाटन करनेवाले अनुसन्धाता और उन जानकारियो के आधार पर मनुष्य की सुख-सुविधा और हर्ष-विमर्श को सुलभ बनानेवाले शिल्पी और निर्माता सदा प्रयत्नशील नहीं होते वह समाज प्रवाहरुद्ध जलराशि के समान गन्दा, गतिहीन और मृत बन जाता है। आजकल शोध (या रिचर्स) शब्द का प्रयोग इसी प्रकार के उन्नयनशील व्यापक अर्थों में होता है। जिन लोगों ने अनेक शास्त्रो का गहन अध्ययन किया है वे ही प्रकृति के रहस्यों का भेदन कर सकते हैं और व्यक्ति और समाज-मानव के नये और पुराने जीवनमूल्यों, जीवनादर्शों और उनकी गति-

विधि की गहराई में प्रवेश कर सकते हैं। इस युग में विज्ञान के आविष्कर्त्ताओं के परिश्रम का फल तो साधारण जनता भी भोग रही है। बिजली-बत्ती, रेडियो, सिनेमा, हवाईजहाज और रेल ने मनुष्य-समाज के अत्यन्त निरीह और उपेक्षित व्यक्ति को भी सहायता पहुँचायी है और उसके हृदय को गहराई में स्पर्श किया है। किन्तु साहित्य, भाषा, दर्शन, कला, इतिहास, मनोविज्ञान आदि विषयों के सम्बन्ध मे जो गहन चिन्तन और ऊहापोह होता है, वह उतना ठोस और प्रत्यक्ष न होने मे साधारण जनता को सरलता से अनुभूत नही होते। फिर भी सचाई यह है कि इनके अध्ययन को जो समाज प्रोत्साहन नहीं देगा वह जड़ यान्त्रिक प्रक्रिया का शिकार हो जायेगा। इसीलिए मनुष्य के स्थायी जीवनमूल्यों की खोज निरन्तर जारी रहनी चाहिए। साहित्य, दर्शन और कला हमे उन स्थायी मूल्यों की ओर उन्मुख करती है। भर्तृहरि ने साहित्य, संगीत और कलाविहीन मनुष्य को पशु कहा था तो उनका ध्यान इन्हीं जीवन-मूल्यों की ओर था। केवल आहार, निद्रा आदि प्राकृतिक और आदिम बुभुक्षा की पूर्ति के प्रयत्न तो प्राणिमात्र करते हैं, मनुष्य उनसे विशिष्ट इसलिए है कि उसमें उच्चतर जीवनमूल्यों को प्राप्त करने का प्रयत्न है। इस प्रयत्न को प्राचीन भारतीय एक व्यापक अर्थप्रसू शब्द द्वारा प्रकट करते थे। वह शब्द है 'धर्म'। जो समाज 'धर्म-जिज्ञासा' मे च्युत हो जाता है वह बर्बर होकर अन्त मे विनष्ट हो जाता है। प्राचीन इतिहास और नवीन विचारधारा के निरन्तर अनुशीलन या शोध के द्वारा ही मनुष्य उन मूल्यो के प्रति जागरूक और सचेत रहता है। इसीलिए स्वाध्याय और प्रवचनो द्वारा निरन्तर ऊहापोह करनेवाले मनीषी समाज को समता-सम्पन्न जीवन और उच्च आदर्श दिया करते है। किसी भी सभ्य समाज में इस शोधवृत्ति की महिमा अवश्य स्वीकृत होती है।

आजकल हिन्दी मे शोध-कार्य की बड़ी धूम है। अपने देश के प्रायः सभी प्रमुख विश्वविद्यालय इन दिनों इस शोध-कार्य को प्रोत्साहन दे रहे हैं। कम-से-कम उत्तर भारत के पन्द्रह विश्वविद्यालय तो इन दिनों हिन्दी के शोध-कार्य को प्रोत्साहन दे ही रहे हैं। कई विश्वविद्यालयों मे यह कार्य कई वर्षों से हो रहा है और शोध-विद्यार्थियों की संख्या भी काफी अधिक है। अनुमान है कि अब तक कम-से-कम तीन सौ विषय विभिन्न विश्वविद्यालयों द्वारा शोध-कार्य के लिए स्वीकृत हो चुके है और आगामी चार-पाँच वर्षों मे इस संख्या में कम-से-कम इतने की वृद्धि भी अवश्य हो जायेगी। हिन्दी मे उपाधि-योग्य माने हुए अनेक निबन्ध प्रकाशित हो चुके हैं। कुछ अप्रकाशित भी रह गये हैं। आशा की जानी चाहिए कि आगामी चार-पाँच वर्षों में प्रकाशित निबन्धों की संख्या में पर्याप्त वृद्धि होगी। यद्यपि स्वीकृत विषयों के अनुपात मे उपाधि-प्राप्त विद्वानों की संख्या बहुत कम है, फिर भी जहाँ तक संख्या और विस्तार का प्रश्न है यह समाचार उत्साह-वर्द्धक है, परन्तु विषय बाहुल्य और प्रकाशित निबन्धों की प्रतिकूल आलोचनाओं ने विचारशील लोगों के चित्त में आशंका के भाव भी उत्पन्न किये है। कई बार यह आशंका प्रकट की गयी है कि एक ही विषय पर अनेक स्थलों पर कार्य होने मे व्यर्थ का पिष्टपेषण

होगा, कई बार निबन्धों के प्रतिपाद्य विषय की लघुता को भी आलोचना का विषय बनाया गया है और प्रतिपादित विषय के गाम्भीर्य को भी शंका की दृष्टि से देखा गया है। जिन लोगों को ज्ञान के अनुशीलन के प्रति प्रेम है, उन सबके चित्त में इन बातों से चिन्ता उत्पन्न होती है और कभी-कभी वस्तुस्थिति की ठीक-ठीक जानकारी न होने के कारण खीझ भी उत्पन्न होती है। जहाँ तक संख्या का प्रश्न है वहाँ तक मुझे चिन्तित या शंकित होने का कोई सगत कारण नहीं दीखता। हमारे इस विशाल जन-संख्या वाले देश में भाषा और साहित्य की विशेषज्ञता प्राप्त करने के इच्छुक कुछ सौ या कुछ हजार आदमियों की संख्या को अधिक समझना ठीक नहीं है। वास्तविक आँकड़े यदि उपलब्ध हों तो सफलतापूर्वक डाक्टर की उपाधि प्राप्त करके भाषा और साहित्य की विशेषज्ञता प्राप्त करनेवालों की संख्या बहुत ही कम सिद्ध होगी। सन् 1948 में भारत सरकार ने 'साइंटिफिक मैन पावर कमेटी' नियुक्त की थी। इसकी रिपोर्ट के अनुसार भारतवर्ष के समस्त विश्वविद्यालयों ने 6 मौलिक विज्ञानों में केवल 260 व्यक्तियों को पी-एच. डी. और डी. एस-सी. की उपाधि दी थी, जो दाल में नमक के बराबर भी नहीं है। सन् 1935 ई. में केवल कैम्ब्रिज में इन्हीं विषयों में 400 के आसपास उपाधिकामी थे। भाषा और साहित्य के क्षेत्र के आँकड़े इससे कम ही होंगे। इसलिए संख्या से चिन्तित होने की कोई बात नहीं है। स्तर अवश्य ऊँचा बना रहना चाहिए।

यहाँ विश्वविद्यालयों के शोध-सम्बन्धी कार्य का प्रथम उल्लेख इसलिए नहीं किया जा रहा है कि मेरे मन में इनके बाहर होनेवाले कार्यों के प्रति कम आदर-भाव है या मैं उनके महत्त्व को नहीं अनुभव कर रहा, बल्कि इसलिए कि विश्वविद्यालयों के हाथ में ले लेने से हिन्दी शोध-कार्य का एकदम नया द्वार उन्मुक्त हुआ है और नयी समस्याएँ खड़ी हो गयी हैं। मेरे मन में विश्वविद्यालयों द्वारा किये गये और किये जानेवाले शोध-कार्य के प्रति श्रद्धा का भाव कम नहीं है। वस्तुतः हमारे देश के विश्वविद्यालयों में तो शोध-कार्य का, तत्रापि हिन्दी के शोध का, प्रवेश बहुत हाल में हुआ है। हमारी भाषा और साहित्य के सम्बन्ध में अब तक जो कुछ भी उल्लेखयोग्य शोध-कार्य हुआ है उसका अधिकांश विश्वविद्यालयों के बाहर ही हुआ है। अपने देश के विश्वविद्यालयों का आरम्भ और विकास एक ऐसे वातावरण में हुआ है जिसे सहज और अकृत्रिम नहीं कहा जा सकता। बहुत दिनों तक इन विश्वविद्यालयों में देशी भाषाओं की कोई पूछ नहीं थी, सारा कार्य विदेशी भाषा के माध्यम से होता था। आज यद्यपि विदेशी शासन इस देश से हट गया है, तथापि परिस्थिति अभी प्रायः ज्यों-की-त्यों है। अब भी हमारे देश के विश्वविद्यालयों में सारा कार्य अंग्रेजी के माध्यम से होता है और समझा जाता है कि हिन्दी के उस स्थान पर प्रतिष्ठित होते ही पढ़ाई-लिखाई का स्तर गिर जायेगा। इसीलिए प्रयत्नपूर्वक हर चिट पर अंग्रेजी छापी जाती है, हर ईंट-पत्थर पर यथासम्भव अंग्रेजी भाषा की मुहर लगायी जाती है और सारे वातावरण को ऐसा बनाये रखने का प्रयत्न किया जाता है कि सब ओर से अंग्रेजी की सनसनाहट

सुनायी दे। इन विश्वविद्यालयों में विदेशी उपाधियों का बड़ा सम्मान है और विदेशी भाषा में बोल सकने को सब योग्यताओं का मूल मन्त्र माना जाता है। जब आज यह स्थिति है तो आज से कई वर्ष पहले क्या अवस्था रही होगी, यह आप आसानी से समझ सकते हैं। ऐसी स्थिति में इन विश्वविद्यालयों में यदि देशी भाषाओं के शोध-कार्य को उचित स्थान नहीं प्राप्त हुआ तो यह बात दुःखजनक भले ही हो, आश्चर्यजनक नहीं है। ऐसा भी समय गया है जब यह माना जाता था कि शोध-कार्य की तो बात ही अलग है, उच्चतर कक्षाओं में पढ़ाने-भर का साहित्य भी हिन्दी में नहीं है। परन्तु स्वयं इंग्लैण्ड के विश्वविद्यालयों में दीर्घकाल तक अंग्रेजी भाषा और उसके साहित्य को उच्चतर अध्ययन और शोध का विषय नहीं माना जाता था। हमारे देश में अंग्रेजी का प्रवेश कुछ इस प्रकार से हुआ कि इस देश के निवासियों को उसकी महिमा स्वीकार करने में कोई दुविधा या संकोच का भाव ही नहीं जाग्रत हुआ। परन्तु अपने देश में अंग्रेजी को भी उस आसन पर बैठने में काफी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा जिस पर वह आसीन है। केवल अंग्रेजी ही नहीं, आजकल के अनेक लोकमान्य विषयों की यही कहानी है। स्काटलैण्ड के 'भद्र पुरुषों के समाज' ने जब 18वीं शताब्दी में प्रथम बार उस विश्वकोश की नींव डाली जिसका वर्त्तमान रूप 'इनसाइक्लोपीडिया ब्रिटानिका' है तो उसमें इतिहास और जीवन-चरित को विश्वकोश में स्थान पाने योग्य विषयों के गौरव से भी हीन माना गया था। चौदहवीं शताब्दी तक इंग्लैण्ड के विश्वविद्यालय तत्त्व-विद्या या फिलासफी को भी डाक्टरेट की उपाधि के योग्य नहीं समझते थे। साहित्य, विज्ञान और संगीत में इस उच्च शोध-पदवी की पहुँच बहुत हाल में हुई है। इसलिए यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है कि हमारे विश्वविद्यालयों ने भी बहुत देर से अनुभव किया है कि देशी भाषाओं के साहित्य को विश्वविद्यालय की सर्वश्रेष्ठ उपाधि के योग्य माना जाय। परन्तु फिर भी शोध-कार्य रुका नहीं था। हिन्दी के अनेक कृती विद्वान् किसी प्रकार के लाभ की आशा न होते हुए भी विशुद्ध विद्या-प्रेम से प्रेरित होकर इस प्रदीप को जलाये रहे।

हमारे देश में नये ढंग के जो विश्वविद्यालय बने हैं, जो राज्य की स्वीकृति-पत्र पाने के पश्चात् उपाधि देने और परीक्षा लेने के अधिकारी होते हैं, पश्चिम के विश्वविद्यालयों के आदर्श पर प्रतिष्ठित हैं। अपने देश की पढ़ाई-लिखाई का क्रम ठीक ऐसा ही नहीं था। इन दिनों हमारे देश में जो स्वीकृत विश्वविद्यालय हैं, उन्हें पश्चिम के विश्वविद्यालयों के आदर्शों से प्रेरणा मिलती है। निस्सन्देह पश्चिमी देशों में विश्वविद्यालयों ने अपने साविधानिक और अध्ययन-अध्यापन-विषयक व्यवस्थाओं का बहुत उत्तम संगठन किया है और उनसे प्रेरणा ग्रहण करना बुरी बात नहीं है। परन्तु यह भूल नहीं जाना चाहिए कि हमारे देश के पिछले सौ-डेढ़ सौ वर्षों का इतिहास अस्वाभाविक परिस्थितियों का इतिहास रहा है। पश्चिम के विश्वविद्यालयों में ऐसी बहुत-सी बातें काफी कशमकश और आलोड़न-विलोड़न के पश्चात् आयी हैं जो हमारे देश में अविसंवादी सत्य के रूप में स्वीकार कर ली गयीं

है। विज्ञान के प्रवेश के बाद यूरोप के देशों के सामाजिक और आर्थिक ढांचे मे बड़ा परिवर्त्तन हुआ है। परिवर्त्तन के साथ-साथ स्वाभाविक भाव से ज्ञान-चर्चा के क्षेत्र मे थोड़ा-बहुत दृष्टिभंगी का परिवर्तन होता रहा है। 18वी शताब्दी के पूर्वार्द्ध मे जब विज्ञान के नवाविष्कृत साधनों ने प्राचीन विद्याओ के यथार्थ और अवितथ अध्ययन का नशा-सा ला दिया, यूरोप के पश्चिमी देशों में आरम्भिक अवस्था में ही ग्रीक-लैटिन जैसी प्राचीनतर भाषाओ और उनके साहित्य के अध्ययन का बहुत बल दिया जाने लगा। ग्रेट ब्रिटेन के स्कूलों में पढ़नेवाले जो छात्र भविष्य में शोधप्रिय पण्डित बनना चाहते थे उनके लिए पुरातत्त्व, नृतत्त्वविज्ञान, मुद्राशास्त्र, प्राचीन लिपि-विद्या, मनोविज्ञान, भाषा-विज्ञान और दर्शनशास्त्र को कसकर पढ़ाने की व्यवस्था थी। इसी शिक्षा में शिक्षित भारत सरकार के तत्कालीन कानून-सदस्य लार्ड मेकाले ने 1835 ई. में गर्वपूर्वक घोषित किया था कि "मुझे ऐसा एक भी प्राच्य-विद्याविशारद नही मिला जो यह अस्वीकार कर सकता हो कि यूरोपीय पुस्तकालय की एक अलमारी में समूचे भारत और अरब का ज्ञान समा जायेगा!" जिन लोगो की ऐसी हीन और उपेक्षाबुद्धि समूचे भारतीय ज्ञान के बारे में थी, उनसे इस देश की लोकभाषाओ के सम्मान की आशा करना व्यर्थ है! जो हो, इंगलैण्ड में भी मातृभाषा की शिक्षा उन दिनो बहुत आवश्यक नहीं मानी जाती थी। इसके पूर्व वहाँ भी कुछ वैसी ही व्यवस्था थी जैसी कि हमारे देश की संस्कृत पाठशालाओं में अभी तक चली आती है--इधर बहुत हाल में इसमें भी थोड़ा परिवर्त्तन किये जाने का प्रयत्न हुआ है। इस व्यवस्था में पण्डित बनने की इच्छा रखनेवालों को व्याकरण, कोश, न्यायशास्त्र आदि का आरम्भिक अध्ययन खूब कठोरतापूर्वक कराया जाता है। यद्यपि 18वी शताब्दी के पूर्वार्द्ध में इंग्लैण्ड में नवीन युग आरम्भ हो गया था और वहाँ नवीन विषयों की पढाई शुरू कर दी गयी थी, पर मनोवृत्ति पुरानी ही थी। केवल उसी मनोवृत्ति को कुछ नवीन विषयों की जानकारी और नवीन लक्ष्यों की पूर्त्ति के लिए आवश्यक सज्जा से सज्जित कर लिया गया था। हमारे देश की पाठशालाओं की पढाई को इस प्रकार नवीन परिस्थितियों के लिए उपयुक्त बनाने का कोई उल्लेख्य प्रयत्न नही हुआ। जो हो, ग्रेट ब्रिटेन के विश्वविद्यालयो में जो लोग विद्वान् बनना चाहते थे, उनके लिए पुराविद्या का ज्ञान परमावश्यक माना जाता था। ऐसा विश्वास किया जाता था कि प्राचीन भाषाओं के कालजयी ग्रन्थों के अध्ययन के बिना औचित्य-ज्ञान, जीवन-मूल्यों के स्तरों के ठीक-ठीक निर्धारण की क्षमता और शब्दों का अवितथ प्रयोग और उनकी सच्चाई के प्रति आदरभाव नही आ सकते।

प्राचीन भाषाओं के जो ग्रन्थ सैकड़ों वर्ष की कठोर परीक्षा को सहन करने के सामर्थ्य का परिचय दे चुके हैं, उन्हें कालजयी कहना ठीक ही है। इनका अध्ययन उन लोगों के लिए निस्सन्देह परम आवश्यक है, जो मनुष्य के विस्तीर्ण अतीत में प्रवेश करके उसकी विजय-यात्रा की अवितथ कहानी ठीक-ठीक जानना चाहते हैं और मनुष्य के भविष्य-निर्माण के लिए उन अतीत-कालीन अनुभवों का उपयोग

करना चाहते है; परन्तु उन्हीं को सब-कुछ मान लेना मनुष्य की असंख्य सम्भावनाओं की ओर से आँख मूंद लेने के समान है। हमारे देश में जिस प्रकार संस्कृत मे शास्त्रार्थ करने और लिखने-बोलने की क्षमता को ही पाण्डित्य और ज्ञान का वास्तविक रूप माना जाता था, वैसी अवस्था पश्चिमी यूरोप के देशों मे भी थी। वहाँ भी लैटिन मे पढ़ने-लिखने को पाण्डित्य का परिचायक समझा जाता था। फ्रांस में उन्नीसवी शताब्दी के अधिकांश भाग में क्लासिकों का अध्ययन परमावश्यक माना जाता था और उन्ही के बल पर विश्वविद्यालयों में प्रवेश मिलता था। केवल उस शताब्दी के अन्तिम भाग में विज्ञान और आधुनिक भाषाओं के अध्ययन के लिए वहाँ बड़ा जबर्दस्त आन्दोलन हुआ। बाध्य होकर सरकार ने 1898 ई. मे इस विषय की जाँच करने के लिए एक पार्लियामेण्टरी कमिटी नियुक्त की। यद्यपि इस कमिटी ने 1899 ई. में अपनी रिपोर्ट दे दी थी फिर भी 1902 ई. तक इस सम्बन्ध में कुछ नही किया जा सका। उस देश मे उस वर्ष चार प्रकार के कोर्स विश्वविद्यालयों में प्रवेश पाने के लिए स्वीकृत हुए—पूर्ण क्लासिकल, लैटिन-सहित आधुनिक, लैटिन-सहित विज्ञान और पूर्ण आधुनिक। यद्यपि 1914-18 ई. के प्रथम महायुद्ध में फ्रांस को घोर कठिनाइयों का सामना करना पड़ा, तथापि 1924 ई. तक वहाँ ये कोर्स अबाध गति से चलते रहे। सन् 1924 ई. मे देखा गया कि अन्तिम दोनों कोर्स बहुत लोकप्रिय हो रहे हैं। जहाँ 1904 ई. में इन दोनों कोर्सों को लेनेवाले विद्यार्थियों में प्रत्येक की संख्या 2 हजार से कुछ ऊपर थी, वहाँ 22 वर्ष बाद इनके लेनेवालो की संख्या 5 हजार से भी ऊपर चली गयी। आधुनिक कोर्स तो बहुत ही लोकप्रिय हुआ। ग्रीक की पढाई को बहुत धक्का लगा, पर लैटिन कई कोर्सों के साथ जुड़ी रही और उसकी लोकप्रियता कम होने के स्थान पर अधिक होती गयी। सन् 1922 ई. मे जब फ्रांस के नेता महायुद्ध का धक्का सम्हालकर अपनी भीतरी व्यवस्थाओं का नियमन करने लगे थे, शिक्षा-क्षेत्र में क्लासिको की इस उपेक्षा से चिन्तित हुए और तत्कालीन शिक्षा मन्त्री श्री एम. बेरार्ड ने प्रस्ताव किया कि चार के स्थान पर सिर्फ दो कोर्स रखे जायें—पूर्ण क्लासिक और पूर्ण आधुनिक तथा ग्रीक और लैटिन की पढाई को अनिवार्य बना दिया जाय। इस विषय पर विचार करने के लिए एक विशेषज्ञ-समिति नियुक्त हुई, जिसने इस प्रस्ताव को अस्वीकार कर दिया। फिर प्रेसिडेण्ट ने अपने विशेषाधिकारों से एक डिग्री जारी करके बेरार्ड के मत को स्वीकार किये जाने की व्यवस्था की, परन्तु साल-भर बाद जब उस मन्त्रिमण्डल का पतन हुआ तो यह व्यवस्था भी समाप्त कर दी गयी। दो कोर्स तो मान लिये गये, पर लैटिन और ग्रीक की अनिवार्यतावाली बात खतम कर दी गयी। इस प्रकार काफी रगड-झगड़ के बाद पूर्ण आधुनिक कोर्स की विजय तो हुई, परन्तु फिर भी जो लोग भाषा, दर्शन और साहित्य आदि क्षेत्रों में शोध करना चाहते है वे जमकर क्लासिक का अध्ययन करते है।

जर्मनी शोध-प्रेमी विद्यार्थियो का तीर्थक्षेत्र है। यहाँ के विद्वानों ने सारे संसार के पुरावृत्त का जिस निष्ठा और तपस्या के साथ अध्ययन किया है उसे देखकर

आश्चर्य होता है। उन्नीसवी शताब्दी के अन्तिम दशक तक इस देश के विश्वविद्यालयों में प्रवेश पाने के लिए पुरातन शास्त्रों या क्लासिको के अध्ययन को ही प्राय. एकमात्र साधन माना जाता था। मातृभाषा वहाँ भी काफी उपेक्षित थी। सन् 1890 ई. में कैसर की आज्ञा से प्रशा में एक सम्मेलन बुलाया गया, जिसकी सस्तुतियों के अनुसार 1892 ई. का पाठ्यक्रम बना जिसमें लैटिन और ग्रीक की पढाई के घण्टे कम कर दिये गये और मातृभाषा के अध्ययन को अधिक महत्त्व दिया गया। वस्तुत. जैसे-जैसे साधारण जनता का अधिकार शासन के क्षेत्र में प्रबल होता गया है, वैसे-वैसे जनता की भाषा को भी महत्त्व प्राप्त होता गया है। अंग्रेजो, फ्रांसीसियो और जर्मनों के देश में मातृ-भाषाओ के अध्ययन को विश्वविद्यालय के गम्भीरतर अध्ययन के लिए काफी समय तक उपयुक्त नही माना गया, परन्तु हमारे देश मे अंग्रेजी आरम्भ में ही अभिजात भाषा के रूप में आयी और उसने इस देश के विचारशील समझे जानेवाले अधिकांश लोगो का दिमाग भी ऐसा ग्रस लिया कि वे आज भी नही समझ पा रहे है कि अपने देश में अंग्रेजी ने जिस प्रकार अपना प्रभाव जमाया है उसी प्रकार इस देश की भाषाओ को भी प्रभाव जमाने का अधिकार है! खैर, यह प्रश्न समझने-न-समझने का नही है। इतिहास-विधाता की स्पष्ट घोषणा को जो लोग गलती से नही सुनने का भान कर रहे है वे भुला दिये जायेंगे। अन्यान्य सभी सभ्य देशो में जिस प्रकार लोकभाषा ने आभिजात्य प्राप्त किया है, उसी प्रकार वह हमारे देश में भी प्राप्त करेगी और कर भी रही है। इसमें कोई सन्देह या शंका की गुजाइश नही है। इस प्रसग को सक्षेप में यहाँ उत्थापित करने का मेरा उद्देश्य यह है कि मैं स्पष्ट करना चाहता हूँ कि सारे संसार में विश्वविद्यालयीय शिक्षा के लिए पुरातन भाषाओं के मान्य साहित्य का महत्त्व पहले से स्वीकृत रहा है और मातृ-भाषाओ का महत्त्व धीरे-धीरे स्वीकृत हुआ है। हिन्दी का संघर्ष इस विषय मे बहुत नया या चौंका देनेवाला नही है। जर्मनी, फ्रास, इटली और ग्रेट ब्रिटेन में लोकभाषा के नये-पुराने साहित्य के सम्बन्ध मे शोध या रिसर्च करने की प्रवृत्ति भी बहुत पुरानी नही है। जब उन्नीसवी शताब्दी के अन्तिम भाग तक देशी भाषाओं के अध्ययन को विश्वविद्यालय मे प्रवेश पाने के अधिकार के योग्य भी नही समझा जाता था तो शोध-कार्य के लिए उनके स्वीकृत होने की तो बात ही कहाँ उठती है!

वस्तुतः शोध या रिसर्च भी आधुनिकता की ही देन है। पुराने जमाने मे पण्डित और शास्त्र-निष्णात बनने की जो धुन थी, वह आधुनिक युग के रिसर्च या शोध की इच्छा से थोड़ी भिन्न थी। विज्ञान द्वारा सुलभ किये गये साधनों ने ही उस अनासक्त उदार अध्ययन-निष्ठा को जन्म दिया है, जिसका आनुषंगिक फल आधुनिक विश्वविद्यालयों के शोध-प्रयत्न हैं। वैज्ञानिक साधनों के विकास और उसके द्वारा निरन्तर पोषित सामाजिक विकास के साथ-साथ शोध-सम्बन्धी विचारों में भी क्रमशः विकास होता रहा है। उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में नये वैज्ञानिक साधनों ने यातायात की कठिनाइयाँ दूर कर दी और यूरोपीय देशों ने दूर-दूर के देशों पर कब्जा करके

अपने-अपने देशों की समृद्धि बढ़ायी, उसी समय पुराने ध्वंसावशेषों की खुदाई बड़े पैमाने पर की जाने लगी। सन् 1829 ई. में रोम का प्रसिद्ध आरक्योलाजिकल इन्स्टीट्यूट खोला गया। रोम और एथेंस के फ्रेंच स्कूलों की स्थापना क्रमशः 1846 ई. और 1873 ई. में हुई। इन्हीं मे अमेरिकन स्कूलों की क्रमशः 1882 ई. और 1892 ई. मे हुई और ब्रिटिश स्कूलों की स्थापना क्रमशः 1883 ई. और 1901 में की गयी। देखते-देखते ट्राय, डेल्फी, माइसेना, टाइरिन्स, स्पार्टा, ओलिम्पिया, एपिडारस डोडोना, डेल्स, क्रीट आदि प्राचीन स्थानो की खुदाई हुई और प्राचीन जगत् की आश्चर्यचकित कर देनेवाली बातों का पता लगा। मिश्र देश की पेपिरी पोथियो की खुदाई से महत्त्वपूर्ण साहित्य का भी पता लगा। अरस्तू द्वारा रचित 'एथेंस का सविधान' जैसा बहुमूल्य ग्रन्थ (1897 ई.) ऐसे ही अनुसन्धान के फल-स्वरूप हाथ लगा। इन खुदाइयो मे उपलब्ध सामग्री की जाँच के लिए उपलब्ध पुराने साहित्य को नये सिरे से समझने का प्रयत्न हुआ। इस प्रकार प्राचीन शास्त्रो के सास्कृतिक और ऐतिहासिक अध्ययन को बल मिला। पुरानी टीकाओं की व्याख्या को एकमात्र प्रमाण मानने की मनोवृत्ति समाप्त हुई और शास्त्रीय अध्ययन और पुरातत्त्व एक-दूसरे के पूरक और सहायक रूप में अधीत होने लगे। यूरोप मे जिन दिनों इस प्रकार की शास्त्र-निष्ठा वेग से विद्वज्जन को प्रेरणा दे रही थी, उसी समय भारतवर्ष के पुराने साहित्य और पुरावृत्त के अनुसन्धान का भी क्रम शुरू हुआ। यहाँ भी यूरोपीय विद्वान् इस कार्य मे सयत्न थे। यद्यपि भारत सरकार ने देश मे आरक्योलाजिकल सर्वेक्षण को अपना स्थायी और पूर्ण संरक्षण दिया, पर आरक्यो-लाजी का अनुसन्धान पर्याप्त निष्ठा के साथ बहुत पहले ही आरम्भ हो गया था। सन् 1784 ई. मे ही सर विलियम जोन्स ने कलकत्ते में 'एसियाटिक सोसायटी आफ बगाल' नामक विद्वत्सभा की स्थापना की थी, जो आगे चलकर भारतीय विद्या के उद्धार मे बहुत महत्त्वपूर्ण कार्य कर सकी। इस देश के पुराने स्थानो की खुदाई और पुरानी लिपियों के पुनरुद्धार की कहानी जितनी ही मनोरंजक है, उतनी ही प्रेरणा देनेवाली। यूरोप के अनेक कृती विद्वानो ने तन-मन-धन लगाकर ज्ञान की इस दीपशिखा का आलोक उज्ज्वल किया। अकेले कोलब्रुक ने पुरानी पोथियों के सन्धान मे दस हजार पौण्ड से अधिक व्यय किया। पुरातत्त्व के अध्ययन ने भाषा-विज्ञान और नृतत्त्व-विज्ञान के अध्ययन को प्रोत्साहन दिया। इन्ही भूली बातो को खोजने और उन्हें अवितथ भाव से लोकगोचर करने के प्रयत्नो को अंग्रेजी मे 'रिसर्च' नाम दिया गया। इस शब्द में का 'रि' उपसर्ग उतना पुनरर्थक नही है जितना रिडबल, रिनाउन, रिगार्ड आदि के 'रि' उपसर्ग की भाँति पौन.पुनिक अभिनिवेश और गम्भीर प्रयत्न का द्योतक है। परन्तु है वह शोध या अनुसन्धान का ही सूचक। वस्तुतः उन्नीसवी शताब्दी का समूचा पाण्डित्य प्राचीन और विस्मृत इतिहास के शोध और परीक्षण पर ही बल देता है।

एक बार आप भारतवर्ष की पिछली शताब्दी की ऐतिहासिक और पुरावृत्तीय जानकारी की बात सोचकर देखिए तो आपको लगेगा कि हम लोग अपना पुराना

इतिहास एकदम भूल बैठे थे। सही बात तो यह है कि अंग्रेजो के इस देश मे आने के पहले एक प्रकार से प्राचीनतर विद्याओ के लिए अन्धकार-युग हो चला था। यहाँ के प्राचीन शास्त्रों के मर्मज्ञ सात-आठ सौ वर्षों तक की पुरानी लिपियो को तो यथा-कथंचित् पढ़ लेते थे, परन्तु अधिक पुरानी लिपियों को पढ़ना एकदम भूल चुके थे। चौदहवीं शताब्दी में फिरोजशाह तुगलक ने बड़े परिश्रम से टोपरा और मेरठ से अशोक के लेखवाले दो विशाल स्तम्भ उठवा मँगवाये थे, परन्तु उन दिनों उस लिपि को पढनेवाला कोई पण्डित नही मिला। सम्राट् अकबर भी इन लेखों का आशय समझना चाहते थे, परन्तु भारतवर्ष से प्राचीन लेखो को पढ़ने की विद्या लुप्त ही हो गयी थी। पर विलियम जोंस ने अशोक की लिपियों की छाप बनारस के तत्कालीन हाकिम के पास भेजी कि वहाँ के किसी पण्डित से पढवायें। एक पण्डित ने उस लेख को युधिष्ठिर के गुप्त वनवास का लेख कहकर पढ दिया और पुरानी लिपियो की एक जाली पोथी भी तैयार कर दी! बहुत दिनों तक इस जाली पोथी ने शोधप्रिय पण्डितो को गुमराह किया। सन् 1834 ई. मे कप्तान ट्रायर ने प्रयागवाले अशोक स्तम्भ पर खुदे हुए समुद्रगुप्त के लेख का कुछ अश पढा, जिसे उसी साल डॉक्टर मिल ने पूरा पढ़ लिया। गाजीपुर जिले मे सैदपुर भीतरी नामक गाँव के पास एक स्तम्भ है, जिस पर स्कन्दगुप्त ने एक लेख खुदवाया था। सन् 1837 ई. में डॉ. मिल ने उस समूचे लेख को पढ़ लिया था। इस प्रकार गुप्त-लिपि पढ ली गयी। परन्तु ब्राह्मी लिपि फिर भी दुर्गम ही समझी जाती रही। जिस साल कप्तान ट्रायर और डॉ. मिल ने गुप्त-लिपि पढ डाली थी, उसी साल जेम्स प्रिंसेप ने ब्राह्मी लिपि को पढने का कठिन प्रयत्न किया। उन्होंने इलाहाबाद, रधिया, मथिया और दिल्ली-वाले लेखों को मिलाकर यह निष्कर्ष निकाला कि ये चारो लेख एक ही लिपि के हैं। फिर उन्होने गुप्त-लिपि से मिलते अक्षरो को छाँटा और ब्राह्मी लिपि के कई अक्षर पढ लिये। बाद में रेवरेण्ड जेम्स स्टीवेन्सन, लासन आदि पण्डितों की सहायता और उद्योग से पूरी ब्राह्मी वर्णमाला पढ़ी जा सकी। ब्राह्मी लिपि के पढे जाने के बाद भारतवर्ष की अन्य लिपियों का पढ़ना बहुत सुगम हो गया। एक खरोष्ठी लिपि में जरूर समय लगा। अभी भी बहुत-कुछ पढना बाकी है। अभी मोहन-जोदड़ो की लिपि ही ठीक-ठीक नही पढी गयी। एक बार पुरानी लिपियों की जान-कारी होते ही भारतीय इतिहास की अनेक महत्त्वपूर्ण सामग्रियाँ जाँची जाने लगी। सिक्के पढे गये, शिलालेख जाँचे गये, पुरानी पोथियाँ पढी गयी और दानपत्रों के रहस्य उद्घाटित हुए। प्रत्येक शताब्दी और प्रत्येक प्रदेश की लिपि-विषयक विशेषताएँ समझ ली गयी और यह सिलसिला आज भी चल रहा है। यद्यपि पुरानी लिपियों के पढ़नेवालों मे विदेशी पण्डितों का प्रयत्न ही प्रमुख रहा है, तथापि यह नही समझना चाहिए कि उन्होंने देशी पण्डितों की सहायता के बिना ही यह कठिन कार्य किया था। वस्तुतः अनेक ख्यात-अख्यात और ज्ञात-अज्ञात देशी विद्वानों की सहायता न मिलती तो यह कार्य असाध्य ही बना रहता।

जिन दिनों की बात हो रही है, उन दिनो नृतत्त्वविज्ञान को पुरावृत्त के यथार्थ

विदेशी विद्वानों ने कठिन परिश्रम के बाद भारतीय इतिहास का सम्पूर्ण चित्र प्रकाशित करने का प्रयत्न किया। उन्ही दिनों उनका थोड़ा-बहुत ध्यान हिन्दी तथा अन्य देशी भाषाओं के साहित्य की ओर भी गया। उनका प्रधान उद्देश्य था 'ऐतिहासिक' समझी जानेवाली सामग्री का पता लगाना। इसी दृष्टि से शुरू-शुरू में हिन्दी तथा अन्य देशी भाषाओं के साहित्य का अध्ययन आरम्भ हुआ। उन दिनों की शोधप्रिय विद्वत् सभाओं की ओर से ऐसे ही ग्रन्थों के प्रकाशन का प्रयत्न किया गया, जिनसे कुछ ऐतिहासिक सामग्री प्राप्त होने की आशा थी। बाद मे कुछ विदेशी पण्डितों की रुचि भाषा-विकास की ओर भी हुई और इस दृष्टि से भी हिन्दी के पुराने ग्रन्थों के अध्ययन का प्रयत्न किया गया। इन दो उद्देश्यों के अतिरिक्त एक तीसरा उद्देश्य और भी था जिसे सामने रखकर कई विदेशी पण्डितों ने हिन्दी के कुछ धार्मिक ग्रन्थों का अध्ययन किया। इन दिनों ईसाई धर्म के प्रचार मे कई विदेशी धर्मयाजक प्रयत्नशील थे। उन्होने हिन्दी मे लिखे धार्मिक ग्रन्थो का अध्ययन उन लोगों के संस्कारों और विश्वासो के अध्ययन के लिए ही शुरू किया था, जिनके बीच उन्हें अपने धर्म का प्रचार करना पड़ता था। कहना बेकार है कि इस प्रकार की दृष्टि वैज्ञानिक अध्ययन के लिए बहुत ही सदोष है, फिर भी यह सत्य है कि इस उद्देश्य को सामने रखकर जिन लोगों ने अध्ययन आरम्भ किया था, उन्होंने भी कुछ ऐसे महत्त्वपूर्ण कार्य किये जो भावी वैज्ञानिक अध्ययन के लिए सहायक सिद्ध हुए। यद्यपि इस युग मे जिस विदेशी जाति से भारतवर्ष का सम्पर्क हुआ वह अपने भारतीय समृद्धि के शोषक के रूप मे ही परिचित है, तथापि उस जाति के चित्त में विज्ञान-प्रेम अंकुरित हो चुका था और उसकी दृष्टि में इस प्रकार का बौद्धिक वैराग्य और विवेक प्रतिष्ठित हो चुका था। सौभाग्यवश आरम्भ मे भारतवर्ष को इस जाति के अनेक उदार और कृती विद्वानो का सहयोग प्राप्त हुआ और किसी-किसी क्षेत्र में छोटे उद्देश्यों को सामने रखकर काम करने पर भी इन पण्डितों ने बड़े परिश्रम से हमारे साहित्य के अध्ययन का मार्ग प्रशस्त किया। विशुद्ध ज्ञान-साधना ही जिनका उद्देश्य था, उन्होने हिन्दी ग्रन्थो का अध्ययन ऐतिहासिक सामग्री प्राप्त करने और भाषा-विकास की अवस्थाओ की जानकारी प्राप्त करने के उद्देश्य से ही किया। बहुत दिनों तक विदेशी विद्वानों के मन मे भी हिन्दी-साहित्य के पुराने ग्रन्थो का यदि कोई महत्त्व था तो इन दो कारणों से ही। साहित्यिक दृष्टि से हिन्दी ग्रन्थों के अध्ययन का कार्य बहुत बाद मे शुरु हुआ। वस्तुतः अपने-अपने देशों मे भी उस समय तक यूरोपीय पण्डितो का ध्यान अपनी मातृभाषा या लोकभाषा के ग्रन्थो की ओर प्रायः नही गया था। किन्तु ऐसा लगता है कि जिन विदेशी पण्डितों ने ऐतिहासिक सामग्री पाने की लालसा से ही इस साहित्य का अध्ययन आरम्भ किया था, उनका उत्साह बहुत देर तक नहीं टिक सका। 'पृथ्वीराज रासो' की तिथियाँ विवाद का विषय सिद्ध हुईं, 'पदमावत' की ऐतिहासिक मानी जानेवाली घटना की प्रामाणिकता सन्देहात्मक समझी गयी। कई अन्य दरबारी और चारण कवियों की रचनाओं की प्रामाणिकता भी विवादास्पद साबित

लेखों को कोई पढ़नेवाला नही था, ऐतिहासिक स्थानों के सम्बन्ध मे ऊटपटाँग लोक-प्रवाद व्यापक रूप मे चल रहे थे, किन्तु आज हमारे सामने प्रामाणिक तथ्यो का अपार भाण्डार उद्घाटित है और फिर भी वह भण्डार पूरा नही है। अभी न जाने कितना कुछ साधकों की इन्तजारी मे धूल से ढँका पड़ा हुआ है। फिर यदि ससारव्यापी शोध-कार्य की ओर दृष्टि फिरायें तो और भी चकित हो जाना पड़ता है। कोई देश या राष्ट्र स्वतन्त्र भाव से विकसित नही हुआ है। सुदूर अतीत से जहाँ तक ज्ञान-रश्मियो का क्षेपण शोधप्रेमी पण्डितो ने किया है वहाँ तक स्पष्ट दिखायी देता है कि राष्ट्रीय, धार्मिक और जातीय दलो मे विभक्त होते हुए भी मनुष्य ने एक-दूसरे को दिया है, एक-दूसरे से लिया है। संघर्षो और विकट द्वन्द्वों के ऊपर महाकाल देवता ने विस्मृति का पर्दा डाल दिया है और आदान-प्रदान के मिलन-सूत्र को दृढ से दृढ़तर बनाया है। कठोर सघर्षो के अन्तराल मे विशाल मनुष्य-जाति का निर्माण निर्बाध गति से होता आया है।

ज्ञान की प्रबल पिपासा ने मनुष्य को शोध-प्रवृत्ति दी है, और जब तक यह पिपासा है तब तक शोध के काम मे न शिथिलता आयेगी, न विस्तार या पिष्टपेषण की आशंका उत्पन्न होगी। वस्तुतः इन दिनो विश्वविद्यालयों द्वारा किये-कराये जानेवाले शोध की एक बड़ी त्रुटि यह है कि वे सब समय विशुद्ध और दुर्दम जिज्ञासा द्वारा चालित नहीं होते। पदोन्नति, जीविका-प्राप्ति और अल्पायास-लभ्य यशो-लिप्सा इस कार्य मे जब प्रेरक वृत्ति के रूप मे काम करने लगती है तो अपने साथ बहुत-से दोष ले आ देती है। मुझे खेद के साथ स्वीकार करना पड़ता है कि ये वृत्तियाँ शोधकार्य को प्रायः प्रेरणा देती दिखायी देती है। यदि समय रहते इन्हें ऐसा करने से न रोका गया तो शोधकार्य भी अन्य परीक्षाओं को पास करने की भाँति साफल्य-लाभ के कौशल की कोटि मे चला जायेगा। हमें प्रयत्न करना चाहिए कि ज्ञान की साधना मे कोई कलुष न आने पाये।

[विचार-प्रवाह से]

अर्थापवाक्

बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् के इस अधिवेशन का सभापति बनाकर जो सम्मान आपने दिया है, उसके लिए मुझे कृतज्ञता प्रकट करनी ही चाहिए। परन्तु मैं सबसे पहले विद्या और तपस्या की खनिरूपा इस महिमामयी भूमि को प्रणाम करता हूँ,

बाद में इस भूमि की वरेण्य सन्तान आप महानुभावों को प्रणाम करता हूँ। इस क्रम का कारण है। आपने मेरे-जैसे अल्पज्ञ व्यक्ति को जान-बूझकर यह सम्मान क्यों दिया है, इस रहस्य को समझने का मैं प्रयत्न करता रहा हूँ और सच पूछिए तो जान-बूझकर ही मैंने भी जोखिम उठाया है। इस आसन पर बहुत उच्चकोटि के विद्वान् और मनीषी को बैठना चाहिए—यह आप भी जानते है और मैं भी जानता हूँ। फिर भी, आपने मुझे बैठा दिया और मैं भी बैठ गया। इतिहास मे इस प्रदेश के विद्वानों के ऐसे परिहास की कथाएँ अनुलिखित है। किसी गावदी को आचार्यासन पर बैठाकर उसकी बहकी बातों का रस लेना इस प्रदेश के विद्वानो की पुरानी आदत है। नालन्दा विश्वविद्यालय की ऐसी ही घटना बौद्धग्रन्थों में बड़े आदर के साथ लिख ली गयी है। एक बार नालन्दा के भुवन-विश्रुत विश्वविद्यालय मे एक गावदीराम को पण्डितों ने उसकी मूर्खता का रस लेने के लिए आचार्यासन पर बैठा दिया। उसका नाम 'भूसुक' था। नालन्दा से कुछ ही दूर—कितनी दूर, यह नही बताया गया—भूमि में विवर या बिल बनाकर यह आदमी रहा करता था। भूमि के भीतर शयन करने के कारण ही वह 'भूसुक' कहलाता था। अपने गानों मे तो वह अपने को 'भूसु' ही कह गया है, लेकिन 'भूसु' हो या 'भूसुक' इससे कोई अन्तर नही आता। भूमि के विवर में वह सोता अवश्य था। पूर्णिमा और अमावस्या को वह नियम से आचार्य का उपदेश सुनने आया करता था। जिस दिन की बात कह रहा हूँ, उस दिन भी आया था। मुश्किल यह है कि भूसुकों को—जिनकी संख्या आज भी विश्व में कम नही है—समय की कमी नही रहती, वे हर जगह समय से पहले पहुँच जाते हैं, जब कि आचार्यों को समय की कमी रहती है। वे प्रायः देर कर देते हैं। उस दिन भी ऐसा ही हुआ। भूसुक हाजिर थे, आचार्य नदारद। नियमानुसार आचार्य के आसन पर किसी को बैठना था। आप ही की भाँति उस दिन भी विद्वानों को चुहल सूझी। गावदी भूसुक गद्दी पर बैठा दिये गये। आशा की गयी थी कि कुछ अटपटी बातें सुनने को मिलेंगी और पण्डितों को थोड़ा हँसने का मौका मिल जायेगा। परन्तु धन्य है विद्या की प्रसूभूमि, इसकी महिमा अपरम्पार है। जिसे इस प्रदेश की भूमि ने आश्रय दिया हो, उसे कौन छका सकता है? गावदी समझे जानेवाले भूसुक ने गादी पर विराजमान होकर पहले वाक्य से ही लोगों को चकित कर दिया। पूछा कि 'आर्य ब्रवीमि उत अर्षार्ष ब्रवीमि!' क्या आर्ष वाक्यों की व्याख्या करूँ या अर्षार्ष तत्त्व को समझाऊँ! पण्डितमण्डली हैरान। आर्ष तो बहुत सुना है भाई, यह अर्षार्ष क्या बला! जमाने से हम जिन ऋषियों का नाम सुनते रहे हैं, उनका कहा हुआ 'आर्ष' है। उनके नाम मे ही जादू है। वे जो कुछ कह गये हैं, सब ग्राह्य है, पर अर्षार्ष क्या? भूसुक ने मेघ-गम्भीर स्वर मे कहा :

> यदर्थवद् धर्मपदोपसहितं त्रिधातुसंक्लेशनिवर्हणं वचः
> भवे भवेच्छान्त्यनुशंसदर्शकं तद्वत् ऋमार्षं विपरीतमन्यथा।

जो बात अर्थवत् हो, धर्मयुक्त हो, त्रिधातु-दोष को नष्ट करनेवाला और रोज

बनती-बिगड़ती रहनेवाली दुनिया के पचड़ों और उसमें रमने की इच्छा को समाप्त करके शान्ति पाने मे साधक हो, वही सच्चे अर्थों मे आर्य है, बाकी सारी बातें अनार्य। इसीलिए ऐसे अर्थवाले वचन दुर्लभ होते हैं। कहते हैं, भूसुकपाद ने अर्थार्प तत्त्व की ऐसी सुन्दर व्याख्या की कि पण्डित लोग हैरान रह गये और तुषित-लोक से विमान भेजकर देवताओं ने उन्हें बुला लिया। इस भूमि की ऐसी ही महिमा है, मैं इस धरती को प्रणाम करता हूँ। मुझे पूरी आशा है कि यह मेरी भी लाज बचा लेगी। इसीलिए जान-बूझकर मैंने जोखिम उठाया है।

इस जगद्धात्री भूमि की ऐसी ही महिमा है। उस ज्ञानपीठ के सहृदय विद्वान् लोग उस दिन चकित रह गये थे। पता नही, क्यो उस विवरभूमि के निवास की आधी ही कहानी बिहार मे जीवित रह गयी। आधी बौद्ध-धर्म के साथ ही लोप हो गयी। कदाचित्, नाथ-सिद्धों के बिलेशयनाथ (बिल मे शयन करनेवाले प्रभु) भूसुकपाद का ही दूसरा नाम है। जो हो, पूर्वार्द्ध भी और उत्तरार्द्ध भी। मैंने उत्तरार्द्ध को दो हिस्सों मे बाँटकर सोचा है। इस भूमि के स्पर्श के दो फल है, अर्थार्प वाक्य कहला सकने की क्षमता और सीधे तुषित-लोक मे पहुँचाने का सामर्थ्य। इस व्याख्यान को मैंने अन्यत्र लिखा है, केवल इस जगन्माता भूमि का स्मरण करके ही काम चला लिया है। यही बैठकर लिखता तो तुषित-लोक मे पहुँचने का खतरा था। स्मरण-मात्र से मैंने आधा फल पाने की ही अभिलाषा की है। आशा है कि आप मेरे जोखिम उठाने के निश्चय मे भी जो थोडी सावधानी बरती गयी है, उसकी तारीफ ही करेंगे।

तो मैं अर्थार्प ही कहना चाहता हूँ—अर्थवत् और धर्मपदोपसंहित। संकल्प ऐसा ही है। संकल्प ही बडी बात है; नैवेद्य कुछ भी हो, संकल्प की महिमा से बड़ा हो जाता है। मैं बिल्कुल नही सोच रहा हूँ कि मेरा नैवेद्य-निवेदनीय वस्तु क्या है, मैं इस समय यही सोच रहा हूँ कि मेरा संकल्प शुभ हो। अर्थार्प कहने की महत्त्वाकांक्षा संकल्प से ही महान् बनती है। मैं फिर एक बार बिहार की जगज्जननी भूमि को प्रणाम करता हूँ, जिसके स्मरण से मुझे संकल्प की महिमा का ज्ञान हुआ है।

मैं जानता हूँ कि आपके मन में इस समय बहुत-से प्रश्न समाधान के लिए व्याकुल हैं। हमारी यह परिषद् राष्ट्रभाषा की सेवा और समृद्धि-साधना के लिए स्थापित हुई है। पिछले कुछ वर्षों में इस परिषद् ने केवल महत्त्वपूर्ण साहित्य का प्रकाशन ही नही किया है, अपने अनुकरणीय कार्यों से दूसरे राज्यों को प्रेरणा भी दी है। यह परिषद् की बहुत बड़ी सफलता है। परन्तु सफलता ही सब कुछ नही है। बड़ी बात है चरितार्थता, जिसे अंग्रेजी में 'फुलफिलमेंट' कहते है। आपके मन में इस समय सबसे बड़ा प्रश्न चरितार्थता का ही है। राष्ट्रभाषा-परिषद् की चरितार्थता इस बात में होगी कि देश की जनता देश की भाषा मे छोटा-बड़ा सभी काम करनेवाले ऊँचे-से-ऊँचे विचार देशभाषा मे व्यक्त होने लगें और समूचा देश विचारगत पर-निर्भरता से मुक्त होकर स्वाधीन सहज मानवता की उपलब्धि करे। स्पष्ट ही इस

संकल्प में बाधा पड़ती दीख रही है। हमारे देश के कई विचारशील मनीषी इधर कहने लगे है कि अंग्रेजी के राष्ट्रभाषा बने रहने मे ही कल्याण है, इसमें कोई लाज-शर्म की बात नही है। अंग्रेजी को हटाया गया तो देश टूटकर बिखर जायगा। समूचे देश की एकता आज अंग्रेजी के मृणालकोमल तन्तु से ही बँधी हुई है। देशी भाषाओं मे—तत्रापि हिन्दी मे—न कोई साहित्य है, न साहित्य पैदा करने की क्षमता ही है। हिन्दी के हिमायती इससे विचलित है, विक्षुब्ध हैं, और कुछ लोग तो कुछ त्रस्त भी है। आज तक जो किया-कराया गया, वह क्या यों ही सनक-मात्र था? क्या सब-कुछ बिखर ही जायेगा? क्या हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनाने का आन्दोलन देश की एकता नष्ट करने में ही पर्यवसित हुआ है? यह भी सुना जा रहा है कि हिन्दी को महत्त्व देने से अन्यान्य देशी भाषाओं के विकास में बाधा पहुँचेगी। कुछ साहित्य-मनीषियों ने तो यह भी कहना शुरू किया है कि अंग्रेजी के बने रहने से ही तत्तद् प्रदेश की भाषाओं के विकास का भविष्य सुरक्षित रह सकेगा। हिन्दी के आने से उसे खतरा है। संविधान में संशोधन करने के आन्दोलन भी जन्म ले रहे हैं। इन बातों के पक्ष और विपक्ष मे बहुत शास्त्रार्थ हो चुका है। युक्तियों, तर्कों और दलीलों से मामला सुधर जाने लायक होता तो बहुत पहले सुधर गया होता। मैं इस रास्ते न जाना चाहता हूँ, न आपको ही जाने की सलाह दे सकता हूँ। मै इतना अवश्य कहना चाहता हूँ कि आप सदा इस बात को ध्यान मे रखें कि इन बातों के कहनेवाले बाहर के लोग नही हैं, वे अपने ही आदमी है। उनकी बात ध्यान से सुनने योग्य है और बात से नहीं, काम से यह सिद्ध कर देना है कि उनकी आशकाएँ निर्मूल है और दुश्चिन्ताएँ अतिरिक्त सावधानी की उपज है। यही काम अब करना है। कैसे किया जा सकता है, यही विचार्य है।

इन आशंकाओं को इस प्रकार रखा जा सकता है:

1. हिन्दी मे साहित्य नही है।
2. हिन्दी-भाषा मे विचारो की सूक्ष्म अभिव्यक्ति की शक्ति नही है।
3. हिन्दी भारतीय भाषाओं में से एक है, उसको राष्ट्रभाषा या राजभाषा मान लेने से दूसरी भाषाओ के प्रति उपेक्षा और अन्याय होगा, जो आगे चलकर उनके विकास में बाधा पहुँचाने को बाध्य हैं।
4. अंग्रेजी समृद्ध भाषा है, अन्तर्राष्ट्रीय भाषा है, उसे राजभाषा के रूप मे स्वीकार करने में कोई शर्म की बात नही है।
5. अंग्रेजी के राजभाषा बनाने से सभी देशी भाषाओं को समान विकास का अवसर मिलेगा।
6. अंग्रेजी ही देश की एकता बनाये रख सकती है। उसके अभाव मे देश बिखर जायेगा।

पहली बात एक अर्थ मे सच है, एक अर्थ में सच नही। अंग्रेजी, रूसी, जर्मन और फ्रेंच भाषाओं मे वह कम अवश्य है, पर भारत की अन्य देशी भाषाओं की तुलना में वह कम नहीं है। कई से तो बहुत अधिक है, कई के समकक्ष है। दूसरी

बात भी ठीक नहीं है। अभिव्यक्ति की अपार शक्ति हमारे देश की सभी भाषाओं में है, हिन्दी में भी है। प्रयोग का अवसर न मिलने से वह शक्ति लुप्त पड़ी हुई है। इन विषयों में तर्क करना बेकार है। यदि इन बातों का उत्तर देना आवश्यक ही हो तो एक ही उत्तर है—काम कर दिखाना। मुझे पूर्ण विश्वास है कि देशी भाषाओं के लेखक इस चुनौती का समुचित उत्तर काम करके ही देंगे।

तीसरा प्रश्न यदि कुछ भी सारवान है तो उसका भी उत्तर काम करके ही दिया जा सकता है। हमें स्पष्ट रूप से स्वीकार करना चाहिए कि हिन्दी-प्रचार का काम सबके लिए है। अगर उसके बिना भी देश का काम आसानी से चल सकता हो तो हम कभी नहीं चाहेंगे कि किसी भी देशी भाषा के क्षेत्र में वह लादी जाये। अब तक ऐसा कुछ उपाय नहीं सुझाया गया है, जो एक भारतीय भाषा के बिना भी देश की एकता बनाये रखने में समर्थ हो। हम सब देशी भाषाओं को समृद्ध देखना चाहते हैं। साथ ही, हम देश को दृढ़ एकता में आबद्ध भी देखना चाहते हैं। लेकिन अन्तिम तीन बातें निराधार ही हैं और स्वीकृत हुईं तो घातक भी। मुझे ऐसा लगता है कि कहीं हमसे बहुत बड़ी गलती हुई है। भारतवर्ष की सारी भूमि को हमने सबकी भूमि समझने की भावना को तो थोड़ा-बहुत अपना लिया है, परन्तु भारतवर्ष की सभी भाषाओं को अपनी भाषा समझने की बुद्धि विकसित नहीं की है। भारतवर्ष की मिट्टी तो हमारी मृण्मय सम्पत्ति है—मिट्टी की सम्पदा। किन्तु यहाँ की भाषाएँ और साहित्य हमारी चिन्मय सम्पत्ति है। वह सबकी है। सभी भाषाएँ सबकी हैं। जब तक यह बुद्धि नहीं आती तब तक आशंकाएँ दूर नहीं होंगी।

स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद के गत दस वर्षों में हिन्दी-साहित्य को समृद्ध बनाने की दिशा में अनेक महत्त्वपूर्ण कार्यों का आरम्भ हुआ। बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् ने साहित्य, दर्शन, इतिहास, राजनीति, धर्म और विज्ञान के महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों का प्रकाशन किया है। उत्तरप्रदेश में भी हिन्दुस्तानी अकादमी और हिन्दी-समिति ने साहित्य को नाना विषयों के ग्रन्थों से समृद्ध बनाने का यत्न किया है। मध्यप्रदेश के शासन-साहित्य-परिषद् ने भी उल्लेख योग्य कार्य शुरू किया है और राजस्थान में भी एक इस प्रकार की परिषद् की स्थापना का उद्योग हुआ है। केन्द्र में साहित्य अकादमी ने विभिन्न देशी भाषाओं के साहित्य के आदान-प्रदान का महत्त्वपूर्ण कार्य आरम्भ किया है। केन्द्रीय सरकार ने नेशनल बुक ट्रस्ट की भी स्थापना की है, जिसने उत्तम ग्रन्थों के प्रचार और प्रसार का एक संगठित प्रयास करने का प्रयत्न किया है। शिक्षा-मन्त्रालय के उद्योग और सहायता से कई संस्थाओं ने महत्त्वपूर्ण कार्यों का प्रारम्भ किया है। इनमें उल्लेख योग्य है—काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा द्वारा आयोजित 'हिन्दी-शब्दसागर' का नया संशोधित संस्करण तथा 'विश्वकोश' का निर्माण और जामिया मिलिया द्वारा आयोजित प्रौढ़ शिक्षार्थियों के लिए लिखाया जानेवाला 'ज्ञान-सरोवर'। केन्द्रीय सरकार के शिक्षा-मन्त्रालय ने सारे देश में प्रचलित होने योग्य शास्त्रीय शब्दावली के निर्माण में भी उल्लेख योग्य

कार्य कराया है। यद्यपि यह कार्य कुछ मन्दगति से ही चल रहा है तथापि इसका महत्त्व बहुत अधिक है। यदि समस्त देशी भाषाएँ शास्त्रीय और वैज्ञानिक ग्रन्थों के लिए इन शब्दों का प्रयोग करने लगें तो भाषागत व्यवधान बहुत कम हो जायगा। कई हिन्दी-प्रदेशीय सरकारों और केन्द्रीय सरकार के सहयोग से काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा ने सत्रह जिल्दों में एक वृहत् कोश की योजना प्रस्तुत की है, जिसका पहला भाग प्रकाशित भी हो चुका है। सम्पूर्ण प्रकाशित होने पर यह इतिहास साहित्यिक विश्वकोश का कार्य करेगा। दो साहित्य-कोशों के निर्माण का भी प्रयत्न हो रहा है। एक तो उत्तरप्रदेश सरकार करा रही है, दूसरा काशी का ज्ञान-मण्डल। यह दोनों ही साहित्य-कोश बड़े उपयोगी सिद्ध होंगे, ऐसी आशा है। केन्द्रीय सरकार की सहायता से हिन्दुस्तानी कल्चर सोसाइटी अंग्रेजी-हिन्दी का एक कोश तैयार कर रही है। इसमें अंग्रेजी शब्दों के लिए बोलचाल में प्रयोग करने योग्य प्रतिशब्द तैयार करने का प्रयत्न हो रहा है। यद्यपि हमारी सबसे महत्त्वपूर्ण संस्था हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन आपसी झगड़ों के कारण यथोचित क्रियाशील नहीं है तथापि वह बिल्कुल निश्चेष्ट भी नहीं है। उसकी ओर से भी एक अंग्रेजी-हिन्दी-कोश का निर्माण हो रहा है जो मन्द गति से आगे बढ़ रहा है। विश्वविद्यालयों ने भी पिछले दस वर्षों में थोड़ी-बहुत क्रियाशीलता दिखायी है। कई शोध-निबन्धों का प्रकाशन हुआ है जिनमें सबका तो नहीं, परन्तु कुछ का स्थायी महत्त्व है। विश्वविद्यालयों को जिस तत्परता के साथ संघटित प्रयत्न करके देशी भाषाओं के साहित्य को समृद्ध बनाने में जुट जाना चाहिए था, उसका कोई खरा लक्षण नहीं दिखायी दे रहा है। अब भी हमारे विश्वविद्यालय अंग्रेजी की माया नहीं काट सके हैं और परीक्षाओं की योजना में ही अपनी सारी शक्ति लगाने का प्रयत्न करते जा रहे हैं। विश्वविद्यालयों ने विद्या की आँच जितनी पैदा की है, उतना प्रकाश देने का प्रयत्न नहीं किया है। आँच आवश्यक है; क्योंकि उसके बिना किसी परिवार की खिचड़ी नहीं पक सकेगी, किन्तु प्रकाश देना और भी आवश्यक है; क्योंकि उसके बिना जनता अपना रास्ता नहीं खोज सकेगी। दुर्भाग्यवश हमारे विश्वविद्यालयों ने प्रकाश देने का व्रत नहीं लिया है। इस प्रसंग में आगरा-विश्वविद्यालय के हिन्दी-विद्यापीठ की चर्चा आवश्यक है। इस विद्यापीठ ने अपने अल्पकालीन जीवन में महत्त्वपूर्ण कार्य करने के शुभ संकल्प का परिचय दिया है!

हिन्दी के प्राचीन ग्रन्थों के अन्वेषण, संकलन और सम्पादन का कार्य भी कुछ प्रगति की ओर बढ़ा है। काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा का खोज-विभाग राज्य और केन्द्रीय सरकारों की सहायता से प्राचीन ग्रन्थों के अन्वेषण का कार्य निष्ठा-पूर्वक करता जा रहा है। पिछले दस वर्षों में खोज-विवरणों के कई जिल्द प्रकाशित हुए हैं और आशा की जा रही है कि इस वर्ष के समाप्त होते-होते और भी कई जिल्दें प्रकाशित हो जायेंगे। बिहार, राजस्थान और मध्यप्रदेश में भी इस प्रकार के अन्वेषण का महत्त्वपूर्ण कार्य आरम्भ हो गया है और आशा की जानी चाहिए कि कुछ दिनों में हिन्दी का बहुत अज्ञात साहित्य प्रकाश में आ

जायेगा ! काशी की नागरी-प्रचारिणी-सभा, जयपुर का पुरातत्त्व-मन्दिर और प्रयाग की हिन्दुस्तानी अकादमी ने प्राचीन ग्रन्थों के सम्पादन और प्रकाशन का महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। और भी कुछ संस्थाएँ इस ओर दत्तचित्त है। संस्कृत ग्रन्थों के, विशेषकर साहित्यिक ग्रन्थो के, अनुवाद का कार्य अच्छा हुआ। दिल्ली-विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग के अध्यक्ष डॉ. नगेन्द्र ने अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों का अनुवाद और सम्पादन कराया है।

भारतवर्ष की विभिन्न भाषाओ के साहित्य के अनुवाद का कार्य रुचि के साथ किया जाने लगा है। साहित्य अकादमी के प्रयत्नों के अतिरिक्त हिन्दी की प्रमुख पत्र-पत्रिकाओं ने भी इस दिशा मे उल्लेख योग्य कार्य किया है। यह बडा ही शुभ लक्षण है। इससे देश की एकता की भावना को दृढ़ करने में वडी सहायता मिलेगी। साहित्य अकादमी ने प्रतिवर्ष देवनागरी मे सभी भाषाओं की चुनी कविताओं का अनुलेखन हिन्दी भाषान्तर के साथ प्रकाशन करना आरम्भ किया है। इसी प्रकार 'देवनागर' मे भी विभिन्न साहित्यो की मूल रचनाएँ देवनागरी अक्षरों में प्रकाशित हो रही हैं। यह प्रयत्न अभी आरम्भावस्था में ही है, परन्तु आशा की जा सकती है कि आगे चलकर इनसे देश में एकलिपि-विस्तार की शुभेच्छा आकार ग्रहण कर सकेगी। इस विषय में तो दो मत नही हो सकते कि यदि सभी भारतीय भाषाएँ एक ही लिपि मे लिखी और छापी जाने लगें तो देश का बड़ा कल्याण होगा। परन्तु यह कार्य सबकी रजामन्दी से ही हो सकता है। विभिन्न भाषाओ की लिपियाँ अपने-अपने प्रदेशो में वहुत परिचित और प्रिय है। उनमे अपना-अपना सौन्दर्य भी है, इसीलिए केवल उपयोगिता की दृष्टि से उन्हें छोडने का आग्रह नही किया जा सकता। देश के बृहत्तर कल्याण की दृष्टि से ही यह वाछनीय है। उसी दृष्टि के सशक्त होने पर यह कार्य हो सकेगा। पिछले दस वर्षो मे ऐसा कोई लक्षण नही दिखा है कि सभी प्रादेशिक भाषाओं के लिए देवनागरी लिपि स्वीकृत हो ही जायेगी। परन्तु सिन्धी, मैथिली, राजस्थानी, सन्थाली आदि कई भाषाएँ इस लिपि में बिना प्रयत्न के ही लिखी जाने लगी हैं। उर्दू का भी थोड़ा-बहुत साहित्य देवनागरी लिपि में प्रकाशित हुआ है और पाली, प्राकृत और अपभ्रंश की रचनाएँ भी इस लिपि में प्रकाशित होने लगी हैं। नेपाली भाषा का साहित्य भी इसी लिपि में प्रकाशित होने लगा है और कश्मीरी की कुछ पुस्तकें भी इस लिपि मे छापी गयी है। आशा की जानी चाहिए कि निकट भविष्य में और भी भाषाएँ इस लिपि में प्रकाशित होने लगेंगी।

उर्दू हमारे देशवासियो की महत्त्वपूर्ण भाषा है। यह हर्ष की बात है कि हिन्दी-उर्दू का जो विवाद स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पहले बहुत विकट हो गया था, वह धीरे-धीरे शान्त हो चला है। हिन्दी और उर्दू भाषाओ में केवल लिपि का भेद है। दोनो भाषाएँ जितना ही निकट आयेंगी, उतना ही शुभ होगा। दुर्भाग्यवश स्वतन्त्रता के पूर्व इस भाषा-विवाद ने साम्प्रदायिक रूप ग्रहण कर लिया था, जो अनुचित तो था ही, अनैतिहासिक भी था। ऐसा माना जाने लगा था कि हिन्दुओ की भाषा

हिन्दी है और उर्दू मुसलमानों की। परन्तु अब यह भ्रान्ति दूर होती जा रही है। देवनागरी लिपि में प्रकाशित साहित्य बड़े प्रेम के साथ पढ़ा जाने लगा है और कई मुसलमान विद्वान् उत्साह के साथ हिन्दी-साहित्य को समृद्ध करने के शुभ प्रयत्न में लग गये हैं। इनमें सबसे अधिक उल्लेख योग्य सैयद अतहर अब्बास रिजवी साहब के शुभ प्रयत्न हैं। इन्होंने फारसी भाषा में लिखित मूल ग्रन्थों के प्रामाणिक हिन्दी-अनुवादों का कार्य आरम्भ किया है। अब तक तुगलक और पठानकालीन साहित्यों के कई जिल्द प्रकाशित हो चुके हैं और पूर्ण आशा है कि उनके प्रयत्नों से शीघ्र ही फारसी के वे सभी आकर-ग्रन्थ हिन्दी में आ जायेंगे, जो हमारे मध्य-कालीन इतिहास के महत्त्वपूर्ण स्रोत हैं।

रचनात्मक साहित्य के क्षेत्र में भी पिछले दस वर्षों में अच्छी प्रगति हुई है। काव्य, उपन्यास, कहानी, निबन्ध और नाटकों के क्षेत्र में कई नवीन प्रतिभाशाली लेखकों का पदार्पण हुआ है। और पुरानी पीढ़ी के लेखकों ने भी अपना प्रयत्न जारी रखा है। कुछ दिन पूर्व तक साहित्यिक कुण्ठा और रचनात्मक अवसाद का जो अभियोग सुनायी देता था, वह क्षीण हो गया है। निस्सन्देह हमारे प्रतिभा-शाली लेखकों ने यह प्रमाणित कर दिया है कि पिछले दस वर्षों में साहित्यकार बिल्कुल निश्चेष्ट न था। उसने अनेक क्षेत्रों में नये प्रयोग किये हैं। सफलता भी प्राप्त की है। पिछले दिनों प्रगतिवाद और प्रयोगवाद का नाम देकर जिस अर्थहीन दलबन्दी का सूत्रपात हुआ था, उसने प्रतिभाशाली तरुणों में भयंकर बुद्धि-भेद उत्पन्न कर दिया था। इस बात के लक्षण दिखायी देने लगे हैं कि हमारे लेखक इन निरर्थक वाद-विवादों का खोखलापन समझ गये हैं। मुझे पूर्ण विश्वास है कि आगामी कुछ वर्षों में यह दलबन्दी समाप्त हो जायेगी, व्यक्तिगत आक्षेपों का वातावरण समाप्त हो जायेगा और प्रतिभाशाली लेखक कुहासे के हट जाने से मुक्त आकाश में अपनी प्रतिभा की किरणें फैलाकर उत्सुक पाठकों को मुक्त वायु और स्निग्ध प्रकाश का दान करने लगेंगे। पाठकों के चित्त से भी दलगत बहस-मुबाहिसे का पर्दा हट जायेगा और वह लेखक के अपने ही तत्त्ववाद पर आधारित सामूहिक आनन्द और मंगल के साहित्य का रसास्वादन करने में रस लेने लगेगा।

व्यक्तिगत और दलगत आरोप और प्रत्यारोप का वातावरण सच्चे साहित्य की उन्नति का सबसे भयंकर बाधक तत्त्व है। अगर हमें सचमुच हिन्दी-साहित्य को समृद्ध करना है, तो इस प्रकार के ओछेपन और गन्दगी को दूर से ही नमस्कार कर लेना होगा। बड़ी बात कहने के लिए बड़ा दिल और बड़ा दिमाग होना चाहिए। संकीर्ण चित्त लेकर जो बात कही जायेगी, वह निश्चय ही मंगलजनक नहीं होगी। व्यक्तिगत या दलगत राग-द्वेष के आवरण से ढका हुआ प्रकाश मन्द होने को बाध्य है। मुझे खेद के साथ कहना पड़ता है कि पिछले दस वर्षों में इस मनोवृत्ति ने साहित्य के मार्ग को कंटकाकीर्ण बना दिया है और बड़ी-बड़ी संस्थाओं को निष्क्रिय बना दिया है। साहित्यिक मतभेद और प्रतिद्वन्द्विता होना बुरा नहीं है, परन्तु उसके कारण कटुता नहीं आनी चाहिए। साहित्य बहुत पवित्र वस्तु है। उसके निर्माता के

चित्त में पूर्ण पवित्रता होनी चाहिए।

यह हर्ष की बात है कि हमारे साहित्य का सम्मान विदेशों में होने लगा है। यद्यपि पश्चिमी देशों में अपनी साहित्यिक श्रेष्ठता की ऐंठ के कारण इस साहित्य का प्रवेश उतना अधिक नहीं हुआ है, तथापि यूनेस्को की ओर से हमारे महत्त्व-पूर्ण ग्रन्थों का थोड़ा-बहुत अनुवाद हुआ है, लेकिन रूस में काफी अधिक मात्रा में हमारे साहित्य का अनुवाद किया गया है और वहाँ की उदार जनता ने इसका स्वागत भी किया है। चेकोस्लोवाकिया, चीन आदि देशों ने भी हमारे साहित्य की काफी कदर की है। अंग्रेजी पर अत्यधिक ध्यान देने के कारण भारतवर्ष पश्चिमी देशों की दृष्टि में अंग्रेजी-भाषी देश ही माना जाने लगा है। उन देशों में लोग यह समझते हैं कि भारतवर्ष का जो कुछ सर्वोत्तम है, वह अंग्रेजी के माध्यम से ही प्रकट हो रहा है। यह धारणा गलत है, परन्तु दुर्भाग्यवश हमारी ओर से ही इस गलत धारणा को फैलाने का काम हो रहा है। पता नहीं, वह दिन कब आयेगा जब हम यह विश्वास करने लगेंगे कि अपनी भाषा के माध्यम से ही हम अपना सर्वोत्तम संसार को दे सकते हैं। कमजोरी मानसिक है, अतः मानसिक स्तर पर ही इसका समाधान भी हो सकता है। जो लोग देशी भाषाओं पर दृढ़ आस्था रखते हैं, उनका कर्त्तव्य है कि अपनी भाषाओं में श्रेष्ठ साहित्य का तेजी से निर्माण करें; क्योंकि देशी भाषाओं का सशक्त साहित्य ही पढ़े-लिखे लोगों की आत्मविश्वास की हीनता को दूर कर सकता है।

अब तक मैंने जो कुछ कहा है, वह साहित्यिक प्रयत्नों की आशाजनक कहानी है, लेकिन सन्तोषजनक बिलकुल नहीं। जरा सोचिए कि हमें अपनी भाषा को समर्थ बनाने के लिए कितने दृढ़ और परिश्रमसाध्य कार्य करने हैं। हिन्दी को यदि अपने देश की कारबार सँभालनेवाली भाषा बनना है, तो उसमें ज्ञान-विज्ञान की सभी शाखाओं पर उत्तम और प्रामाणिक ग्रन्थों की आवश्यकता होगी। इस भाषा के माध्यम से हमें उन्नत वैज्ञानिक इंजीनियर, कानूनदाँ, प्रशासक, दार्शनिक, अर्थ-शास्त्रज्ञ, वाणिज्य-विशेषज्ञ, सेना-संचालक और विचार-क्षेत्र के महान् नेताओं की आवश्यकता होगी। हमारे पास इन विषयों में प्रवेश कराने योग्य पुस्तकें भी नहीं हैं। यदि इस देश के सभी भागों में फैले हुए प्रचलित और अनिराकृत कानूनों को ही अपनी भाषा में ले आना हो तो, मुझे विश्वस्त सूत्र से मालूम हुआ है कि कम-से-कम दस हजार पृष्ठों की ठोस सामग्री का भाषान्तर करना होगा। वायु-सेना, नौ-सेना और स्थल-सेना की विविध क्रियाओं में प्रयुक्त होनेवाले लगभग एक लाख ऐसे निश्चित अर्थ देनेवाले शब्दों की आवश्यकता है, जिनका निर्भ्रान्त होना आवश्यक है, क्योंकि किसी शब्द के गलत समझ लिये जाने से लाखों की जान-माल का खतरा है। उच्च न्यायालयों और धारा-सभाओं में कानून बनाने के लिए और उनकी उचित व्याख्या के लिए ऐसी भाषा की आवश्यकता है, जो पूर्ण रूप से निर्भ्रान्त हो। विज्ञान और गहन विचार के शास्त्रों की सहस्रों उच्च कोटि की पुस्तकें आवश्यक होंगी। अच्छे प्रशासक होने के लिए अच्छा मनुष्य होना बहुत

आवश्यक है। उसमें बौद्धिक सूक्ष्मता और आध्यात्मिक ऊँचाई होना ही आवश्यक गुण माने जाते हैं। जब तक हमारे विश्वविद्यालय अपनी भाषाओं के माध्यम से बुद्धि को शाणित करनेवाले शास्त्रों और नैतिक मानदण्ड को दृढ़ बनानेवाले तत्त्ववाद विषयक ग्रन्थों को नहीं पढ़ाते तब तक देशी भाषा के माध्यम से काम करनेवाले उत्तम प्रशासक भी नहीं मिल सकते। इन सब कामों के लिए सैकड़ों उच्च कोटि के प्रामाणिक ग्रन्थों की आवश्यकता है। जिस समय हमारे हाथ में शासनभार आया है, उस समय मनुष्य का ज्ञान बहुत आगे बढ़ चुका है। अन्य देशों ने जो कार्य वर्षों मे सम्पन्न किया है, उसे हमे सप्ताहों ही में करना है। इतनी बड़ी आवश्यकता के लिए कितने कठोर प्रयास और अडिग विश्वास की आवश्यकता है, वह कहकर बताने की जरूरत नही है। इसके साथ अपने प्रयत्नों की तुलना कीजिए तो स्पष्ट मालूम होगा कि दिल्ली अभी बहुत दूर है। अभी हमने यात्रा पर चलने का संकल्प-भर किया है। वह पर्याप्त तो है ही नहीं, सन्तोषजनक होने की बात ही कहाँ उठती है?

हमारे देश में ऐसे विचारवान् लोग हैं जो सलाह देते हैं कि पहले सारा-का-सारा आवश्यक साहित्य तैयार हो जाये और तब हम अपनी देशी भाषाओं को अधिकार देने की बात सोचें। मैं अपनी सारी शक्ति से इस बात का प्रतिवाद करता हूँ। यह सोचने का गलत ढंग है और अपने प्रति अविश्वास के अभाव का द्योतक है। कविगुरु रवीन्द्रनाथ ने कहा है कि 'रास्ते पर निकल पड़ो। रास्ता ही तुम्हें रास्ता बतायेगा।' हमें देशी भाषाओं का प्राप्य अधिकार उन्हें तुरन्त दे देना चाहिए। काम करते-करते जो साहित्य-निर्माण होगा, वही सही और प्रामाणिक होगा। अपने ढंग से सोची हुई बात ही काम आती है। अंग्रेजी से उल्था करके अगर पोथियाँ लिख भी दी गयी तो वे पुस्तकस्था विद्या से अधिक मर्यादा नही पा सकेंगी। पुस्तकस्था विद्या कितनी बेकार होती है, यह हमारे पूर्वजों ने जान लिया था। मौका पड़ने पर कार्यकाल में, वह विद्या बेकार ही सिद्ध होती है :

पुस्तकस्था तु या विद्या, परहस्ते गतं धनम्।
कार्यकाले समुत्पन्ने, न सा विद्या, न तत् धनम्॥

इसलिए आज झिझक और संकोच छोड़कर दृढ़ विश्वास के साथ अपनी भाषा में काम करने में प्रयत्नशील होना चाहिए। देश के बहुत से बुद्धिमान् माने जानेवाले जीव अपने आलस्य और विश्वासहीनता को अच्छी-अच्छी सलाहों के रूप में सजाकर देश को गुमराह बना रहे हैं। उनके चित्त पर अंग्रेजी का रंग इस बुरी तरह छा गया है कि अब दूसरा रंग चढ़ने की उम्मीद ही नही रह गयी है। वे देश की कोटि-कोटि अशिक्षित और अल्पशिक्षित जनता की ओर बिल्कुल ही नही ध्यान देते। वे न जाने किस मोह-वश देश की बहुसंख्यक जनता की उपेक्षा करने की सलाह देते रहते हैं। इनमें बहुत-से लोग ऐसे हैं, जिन्हे स्वतन्त्रता की लड़ाई मे भी विश्वास नही था। और बहुत-से तो ऐसे [illegible] करने लगे थे कि अंग्रेजो के हट जाने पर [illegible] ठीक-ठीक

नही सँभाल सकेंगे। पिछले दस वर्षो मे यह सिद्ध हो गया है कि भारतीय अपने देश की कठिन समस्याओं को बहादुरी और दिलेरी से सँभाल सकते है और गयी-गुजरी हालत मे होने पर भी संसार को नया आलोक दे सकते है। बुद्धिमान् की तरह इन विचारशील लोगो ने भी अवस्था देखकर अपनी व्यवस्था बदली है। अब वे कहने लगे हैं कि अंग्रेज के हट जाने से तो किसी तरह चल गया, लेकिन अंग्रेजी के हट जाने से सर्वनाश हो जायेगा। अंग्रेजी हटी नही कि आफत आयी नही। ऐसी कठिन आसक्ति के बारे मे क्या कहा जाये? रीतिकालीन हिन्दी-कवि की नायिका ने, जिसकी आँखो मे गोपाललाल ने एक मुट्ठी अबीर फेंक दी थी और बड़े परिश्रम से सखी ने उसकी आँखो से अबीर के कण निकाले थे, पूछने पर कहा था :

एरी मेरी वीर जैसे तैसे इन आँखिन सौं,
कढ़ि गौ अबीर, पै अहीर को कढ़ै नही।

'ऐ मेरी प्यारी सखी, इन आँखो से अबीर तो जैसे-तैसे निकल गया, पर अहीर का छोकरा नही निकल पाया।' यही दशा इन बुद्धिमानों की है। अंग्रेज तो जैसे-तैसे निकल गया, पर अंग्रेजी का कोढ़ नहीं काढ़ा जाता। आसक्ति का यह चरम रूप है।

स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पूर्व हमारे देश के नेताओं ने एक भाषा की आवश्यकता पर जोर दिया। उस समय देश की पराधीनता ही सबसे बड़ी समस्या थी। उन दिनों अंग्रेजों को इस देश से हटाने की बात ही मुख्य थी। महात्माजी के चतुर्दश-सूत्री कार्य मे से सभी सबको स्वीकार नही था, फिर भी मुख्य उद्देश्य की प्राप्ति के लिए सबने उसे चुपचाप स्वीकार कर लिया। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद जब मुख्य उद्देश्य की प्राप्ति हो गयी तब उस कार्यक्रम के बारे मे ब्योरेवार ढग से सोचने की फुरसत मिली। जो लोग उत्साहपूर्वक एक ही झण्डे के नीचे काम कर रहे थे, उनमे कई श्रेणी के लोग निकले और छोटी-छोटी पार्टियों का जन्म हुआ। यह स्वाभाविक ही था। देखा गया कि कांग्रेस के विशाल परिवार में अनेक विचारो के व्यक्ति थे। गांधीजी के कार्यक्रम में ऐसी बहुत-सी बातें थी, जिन्हें स्वयं कांग्रेस ने ही बहुत महत्त्व नही दिया है। एक और बड़ा भारी समूह जो स्वतन्त्रता-प्राप्ति तक नियोज्य रूप मे काम कर रहा था, मौन ही बना हुआ था। इसमे देश के उच्च शिक्षा-प्राप्त अनुभवी प्रशासकों से लेकर छोटी-मोटी नौकरियों मे लगे हुए हजारों व्यक्ति थे। अंग्रेजों का शासन-यन्त्र ज्यों-का-त्यों बना रहा। इस शासन-यन्त्र में एकदम परिवर्त्तन करना कठिन था, और परिवर्त्तन करने से नयी समस्याओं के खड़ा हो जाने का खतरा भी था। जन-नेताओं में प्रशासन-कार्य की क्षमता थी, पर अनुभव नहीं था। परिणाम यह हुआ कि इन नेताओं को ही कई बार अपने को शासन-यन्त्र के अनुकूल बनाना पड़ा। इन सब बातो का रचनात्मक कार्यक्रम के प्रवर्त्तन पर प्रभाव पड़ा और विचारों मे भी परिवर्त्तन की आवश्यकता अनुभव हुई। पुराना शासन-यन्त्र अंग्रेजी-भाषा मे काम करने की ही दृष्टि से ही सगठित हुआ था, ऊपर-से-नीचे तक अंग्रेजी का ही बोलबाला था। उच्च शिक्षित और अधिकार-प्राप्त प्रशासको

को अंग्रेजी मे ही कार्य करने का अभ्यास था। यद्यपि गांधीजी के नेतृत्व में हिन्दी-प्रचार पर बहुत ध्यान दिया था तथापि स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद जो शासन-यन्त्र' हमारे हाथ आया था, उसे चलाने के लिए अंग्रेजी का आश्रय लेना परम आवश्यक था। जब संविधान-सभा ने हिन्दी को राजभाषा घोषित किया, तब यह समझा गया था कि 15 वर्षों में धीरे-धीरे अंग्रेजी के स्थान पर हिन्दी को प्रतिष्ठित करने मे कोई कठिनाई नही होगी। पर यह स्पष्ट होता जा रहा है कि कुछ लोगों ने इस रियायत का और ही अर्थ समझा था। उन्होंने समय चाहा था और वह उन्हें मिला। समय मिलने पर उनका प्रयास यही रहा कि यह प्रमाणित कर दिया जाये कि हिन्दी या कोई अन्य देशी भाषा राजकार्य के योग्य नही है। कहते हैं कि मनुष्य अपने विश्वासो और पूर्वाग्रहो को फिलासफी का रूप दिया करता है, धीरे-धीरे बुद्धिमत्तापूर्ण ढंग से और गुरु-गम्भीर शब्दो के आवरण में अपनी अक्षमता को भी बुद्धिमान् लोग तत्त्वदर्शन के रूप दे दिया करते हैं। इधर देशी भाषाओं को उपेक्षणीय समझने और अंग्रेजी को ही एकमात्र काम्य भाषा समझने का तत्त्ववाद निश्चित रूप ग्रहण करने लगा है। इसके लिए युक्ति और तर्क का भी अच्छा वातावरण प्रस्तुत किया गया है। यह बड़े दुर्भाग्य की बात है कि ऐसे शब्द-जाल की रचना की गयी है कि देखकर आश्चर्य होता है। अब तो यहाँ तक कहा जाने लगा है कि भारतवर्ष की राजभाषा अगर अंग्रेजी हो तो इसमें कोई शर्म या लज्जा की बात नही; क्योकि यह अपना है, यह पराया है—ऐसा सोचना तो हीन मनोवृत्ति का भावावेश मात्र है :

अयं निजः परोवेति गणना लघुचेतसाम्।

. फिर, कहा जाने लगा कि हिन्दी को प्रधानता देने से अन्य भाषाओ के प्रति अन्याय होगा। यदि अपनी भाषाओं मे साहित्य-रचना करने की छूट दी जाये, और अंग्रेजी को राष्ट्रभाषा माना जाये तो किसी भाषा के प्रति अन्याय नही होगा। मानो हिन्दी-भाषा का आन्दोलन अन्य देशी भाषाओ का विरोधी है। अंग्रेजी मे कहावत है कि किसी को फाँसी देना हो तो उसे बदनाम करो, इस नीति से हिन्दी का गला घोटने के लिए एक नये शब्द का आविष्कार किया गया है—'हिन्दी-साम्राज्यवाद'। इस प्रकार अंग्रेजी की रक्षा के लिए नयी पंतरेबाजी शुरू हुई है। यह भी कहा जाता है कि इस भाषा पर अधिकार होने के कारण ही भारतवर्ष का आज अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे सम्मान है। अर्थात् नेहरू की उदार नीति और विशाल चरित्र-बल इस सम्मान का कारण नही है, बल्कि अंग्रेजी बोलना इसका मुख्य हेतु है। कभी-कभी मैं सोचता हूँ—अंग्रेजी बोलने से ही अगर देश का सम्मान बढा होता तो साउथ अफ्रीका का क्यो नही बढ़ा, उसे तो राष्ट्रमण्डल मे सिर्फ अपना ही एक वोट मिला। वह अंग्रेजी हिन्दुस्तान से कम तो नही जानता। अंग्रेज का बच्चा तो है। लेकिन हमारे देश मे तो इस समय, अंग्रेजी रक्षावाद नामक विशिष्ट फिलासफी को रूप देने का प्रयत्न चल रहा है। इससे अपने देश के चरित्र-बल, आत्मविश्वास और मान-मर्यादा की तौहीनी भी हो जाये, तो कोई हर्ज नही है।

जहाँ बड़े सिद्धान्त और उदार आदर्श की बात है, वहाँ इन छोटी-छोटी बातों पर पड़ने से असुविधा पैदा होती है। इन छोटी बातों में न पड़ने को ही आजकल श्रेयस्कर समझा जाता है, परन्तु लोग यह भूल ही जाते हैं कि देश की करोड़-करोड़ जनता आज मालिक है, वही देश के भाग्य का फैसला करेगी। अपने घरौंदों को ही ससार समझनेवाले और मालिक समझनेवाली बातें शेखचिल्ली की ही बातें सिद्ध होंगी।

जनता ही लोकतन्त्र मे वास्तविक प्रभु है। उसी की भाषा इस लोकतन्त्र की भाषा हो सकती है। वे दिन बीत गये जब इंग्लैण्ड के राजराजेश्वर की ओर से शासन क्षरित होता हुआ वाइसराय से पटवारी तक पहुँचता था। आज वह शक्ति बदल गयी है। आज शक्ति का स्रोत राजराजेश्वर नही है; बल्कि इस देश की कोटि-कोटि जनता है, वही वास्तविक शक्ति का केन्द्र है, दीर्घ काल तक उसकी भाषा की उपेक्षा नही चलेगी। उसकी उपेक्षा पर पलनेवाली फिलासफी बालू की भीत की भाँति भहरा जायेगी। परन्तु इस बात का ध्यान रखना होगा कि इस विशाल जनसंख्या मे केवल हिन्दी बोलनेवाले ही लोग नही है, और भी शक्तिशाली *भाषाओं के बोलनेवाले हैं, उनको उचित अधिकार देना ही होगा।* हिन्दी-भाषा-आन्दोलन भारतीयकरण का आन्दोलन है, यह हमेशा से इसी अर्थ मे प्रयुक्त होता रहा है। दुर्भाग्यवश कभी-कभी हिन्दी के हिमायती ऐसी बातें कह देते है, जिससे यह अर्थ निकलता है कि एकमात्र हिन्दी ही देश की भाषा है और सब भाषाएँ मानो है ही नही। परन्तु यह गलत बात है और असावधानी के कारण कही जाती है। अंग्रेजी को हटाने का मतलब है देशी भाषाओं को उसके स्थान पर बैठाना। हम जनता की भाषा को समृद्ध और उन्नत बनाने का प्रयत्न करते है। हिन्दी-साहित्य के रगमंच से जब यह बात कही जाती है तो स्वभावतः हिन्दी-प्रदेशों की भाषा का ध्यान रखा जाता है, परन्तु इसका सही अर्थ यह है कि हम देश की अन्य भाषाओं को *भी समान रूप से उन्नत देखना चाहते है—सभी अपने-अपने क्षेत्र* मे नीचे-से-ऊपर तक उस प्रदेश की जनभाषा को ही प्रतिष्ठित करना चाहते है। केन्द्रीय व्यवहार के लिए हम एक भाषा की आवश्यकता अनुभव करते हैं और एक भाषा का अर्थ केवल इतना है कि हम देश को आपस मे जोड़े रहने का एक ऐसा सूत्र खोज रहे है, जिसे ग्रहण करने मे कम-से-कम कठिनाई और अधिक-से-अधिक सुविधा हो।

इस सीधी-सी बात को बेमतलब जटिल बनाने का प्रयत्न किया जा रहा है। हम स्पष्ट रूप से घोषणा करना चाहते हैं कि हमारा उद्देश्य प्रत्येक प्रदेश की भाषा को समृद्ध और उन्नत *बनाना है। उनकी उन्नति से हिन्दी का साहित्य समृद्ध* ही होगा। यह केवल बात-की-बात नही है, आधुनिक साहित्य का प्रथम सूत्रपात बँगला मे हुआ। यह दावे के साथ कहा जा सकता है कि बँगला के नवोदित साहित्य ने हिन्दी साहित्य को समृद्ध करने मे जितनी प्रेरणा और शक्ति दी थी, उतनी अंग्रेजी ने नही दी। पहले हिन्दी साहित्य में आधुनिकता का आरम्भ बँगला साहित्य की प्रेरणा से ही हुआ, अंग्रेजी का प्रत्यक्ष प्रभाव तो बहुत बाद में आया। मराठी,

गुजराती, उर्दू आदि भाषाओं में जो साहित्यिक उत्कर्ष हुआ, उसने भी हिन्दी-साहित्य को समृद्ध किया। भारतीय भाषाओं में किसी एक भाषा की उन्नति से अन्य भाषाओं की उन्नति निश्चित है। अंग्रेजी के हटने पर कोई कारण नहीं कि यह पारस्परिक सहयोग से और अधिक न बढ़े।

अंग्रेजी के हटने का यह अर्थ नहीं है कि हम अंग्रेजी-साहित्य-जैसे अत्यन्त समृद्ध साहित्य से अपना नाता ही तोड़ बैठेंगे, अंग्रेजी के हटने का अर्थ सिर्फ इतना ही है कि वह हमारे देश में पारस्परिक आदान-प्रदान का माध्यम नहीं रहेगी। उसका अध्ययन हम अत्यन्त वांछनीय समझते हैं, केवल उसी का नहीं, अन्यान्य विदेशी समृद्ध भाषाओं के साहित्य का भी अध्ययन देश के लिए निश्चित रूप से मंगलजनक होगा। हम इन सभी भाषाओं से शक्ति और प्रेरणा प्राप्त करेंगे। हमारा विरोध अंग्रेजी को अनुचित रूप से महत्त्व देने से है, उसकी उपयोगिता को हम अस्वीकार नहीं करते। निस्सन्देह उस भाषा में बहुत बड़े प्रतिभाशाली महामानवों की कृतियाँ सुरक्षित हैं और ऐसे पुण्यश्लोक मनीषियों की विचारधारा से अपरिचित रहना देश के लिए किसी प्रकार कल्याणकर नहीं होगा :

क उत्तमश्लोकगुणानुवादात्
पुमान् विरज्येत विना पशुघ्नात्।

परन्तु देश की सारी जनता को उस भाषा को रटाने का प्रयत्न करना और हर चिट और चिथड़े पर उसी को छापना देश का अपमान है। मैं उस भविष्य को देख रहा हूँ जब अच्छी अंग्रेजी जाननेवाले आज के अच्छे अंग्रेजी जाननेवालों से कई गुना अधिक होंगे, परन्तु वे अपने ज्ञान का उपयोग जनता के ज्ञान-स्तर को ऊपर उठाने में करेंगे। हमारे देश की विभिन्न भाषाओं का साहित्य अंग्रेजी के महान् साहित्यकारों की कृतियों से सम्पन्न होगा और देश-भाषा में हम अपना सारा कारबार करने की शक्ति संचारित कर सकेंगे। केवल अच्छी अंग्रेजी जाननेवाले ही नहीं, उस समय फ्रेंच, जर्मन, रसियन, चीनी, अरबी, फ़ारसी आदि भाषाओं के अच्छे ज्ञाता भी आज की तुलना में बहुत-बहुत अधिक होंगे। विश्व के समृद्ध साहित्य-भण्डार से ग्रहण करने में मुझे तनिक भी संकोच या झिझक नहीं। जिस समय अस्वाभाविक परभाषा की अधीनता का मोह कट जायेगा, उस समय इस देश के विभिन्न भाषाभाषी विद्वान् सहज भाव से संसार के समृद्ध साहित्य से प्रेरणा और शक्ति ग्रहण कर, अपनी-अपनी भाषाओं को समृद्ध करेंगे। वही दिन देश के लिए सच्चे कल्याण का दिन होगा। हम उत्सुकता और आग्रहपूर्वक उसी शुभ दिन को लाने का प्रयत्न करना चाहते हैं। यह तभी होगा जब हमारी देश-भाषाओं को अंग्रेजी के पत्थर के दबाव से मुक्त होने का अवसर मिलेगा और खुली हवा और खुले प्रकाश में सहज भाव से बढ़ने का सुयोग प्राप्त होगा, अपनी असमर्थता का रोना रोकर, हाथ-पर-हाथ धरे बैठना अत्यन्त लज्जाजनक है। साहस के साथ अपनी समृद्ध परम्परा पर विश्वास रखकर हमें इस कार्य को तुरन्त आरम्भ कर देना चाहिए। यदि और कहीं यह काम नहीं होता तो भी हिन्दी-भाषाभाषी प्रदेशों को तो इस

कार्य मे सर्वस्व लगा देने का निश्चय कर ही लेना चाहिए।

भाषा की लिखने और छापने की शिथिलताएँ है, जिन्हे हमे तुरन्त दूर करना चाहिए। इन शिथिलताओ के कारण यह भ्रम फैला हुआ है कि हिन्दी का कोई परिनिष्ठित रूप नही है। उदाहरण के लिए हिन्दी-वर्त्तनी के सम्बन्ध मे थोड़ा विचार करना यहाँ असगत नही होगा।

हिन्दी-वर्त्तनी के अनेक रूपो को लेकर काफी बहस हो चुकी है। बहस का काल बहुत पहले ही समाप्त हो गया है और इन दिनो हिन्दी-सेवा मे लगी हुई सस्थाएँ अपना-अपना सिद्धान्त भी निश्चित कर चुकी है। परन्तु अलग-अलग सिद्धान्तो के निर्णीत और व्यवहृत होने से नयी समस्या भी पैदा हो गयी है। सम्मेलन ने कुछ अलग नियम निश्चित किये है। नागरी प्रचारिणी ने कुछ और। ज्ञानमण्डल ने जो नियम स्थिर किये है, उनके साथ बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् के नियमो का कोई मेल नही है। बम्बई में एक तरह के नियम चले है और उत्तरप्रदेश मे दूसरे तरह के। वर्धा की राष्ट्र-भाषा-प्रचार-सभा जिस रास्ते पर चल रही है, विश्व भारती का हिन्दी-भवन उससे बिल्कुल भिन्न रास्ते पर चलता है। विदेशी और विभाषी पाठक के लिए इन सभी स्थानों से छपी पुस्तको मे अन्तर दिखायी देता है, और कभी-कभी वह बिल्कुल ही नही समझ पाता कि ग्राह्य क्या है। विभिन्न विश्व-विद्यालयों के प्रश्न-पत्रो मे भी वर्त्तनी का द्वन्द्व देखा जाता है। कोई विभक्तियो को मिलाकर छापता है, तो कोई अलग करके। कोई सर्वनाम में तो विभक्ति को मिलाता हैं, किन्तु संज्ञा शब्दों के साथ नही मिलाता। 'हुये' 'हुवे' 'हुए' सभी रूप प्रश्नपत्रो में खोजे जा सकते हैं। पाठ्य-पुस्तको मे 'गई' 'गयी' विशेषण भी भिन्न-भिन्न रूपों मे मिल सकते है। विभिन्न रूपों में भी यह रूप-भेद कही-कही लक्षित हो जाता है। चतुर्थी विभक्ति मे 'के लिये' 'के लिए' दोनों ही रूप मिल जा सकते हैं। संज्ञा शब्दो के बहुवचन-रूपो मे भी कही-कही वैविध्य दिखायी दे जाता है। उच्चतर कक्षाओ में पढायी जानेवाली पुस्तको मे भी 'विधियाँ' और 'विधिएँ' रूप मिल जाते है। शब्दो के रूप के बारे में भी बहुत-कुछ अस्थिरता बनी हुई है। केवल विदेशी भाषा से निकले हुए शब्दो की वर्त्तनी मे ही अन्तर नही है, संस्कृत से बने हुए शब्दो मे भी भेद दिखायी देता है। तद्भव रूपो मे अन्तर का कारण प्रादेशिक उच्चारण है। 'अँगुली' और 'उँगली' दोनों का मूल संस्कृत 'अंगुलि' है। पछाँह मे 'उँगली' बोला जाता है तो पूर्वी जिलों में 'अँगुली' या 'अँगुरी' दोनो ही रूप साहित्यिक हिन्दी में देखने को मिल सकते है। कुछ थोड़े शब्दों मे इस प्रकार का रूप-भेद बना रहे तो कोई हर्ज नही है। स्वयं संस्कृत मे प्रादेशिक उच्चारणभेद से 'वशिष्ठ' 'वसिष्ठ' 'उर्वशी' 'उर्वसी' आदि दो-दो रूपवाले शब्द वर्त्तमान है। एक जैन-प्रबन्ध में यह कहानी आती है कि किसी मुनि से राजसभा मे यह प्रश्न कर दिया गया था कि 'उर्वशी' और 'उर्वसी' मे से कौन-सा रूप शुद्ध है। संस्कृत व्याकरण की महिमा अपरम्पार है। दोनों ही रूपों के अर्थ निकल सकते हैं। जिस पण्डित से प्रश्न किया गया था, उसे परेशान होना पड़ा था। सौभाग्यवश जैनाचार्य हेमचन्द्र सभा

गति में भाषा का परिनिष्ठित रूप सहायता पहुँचाता रहे। मुझे सबसे अधिक चिन्ता हिन्दी में 'य' श्रुति की व्यवस्था पर है। लेकिन मुझे इसे ठीक अव्यवस्था भी नही कहना चाहिए। वस्तुतः हम लोगो के बोलने मे 'य' श्रुति समान भाव से सब जगह नही होती। कभी हल्के रूप मे आती है और कभी स्पष्ट रूप मे। कभी-कभी वह बिल्कुल ही नही सुनायी देती। जान पड़ता है कि पुरानी भारोपीय भाषा में भी यह कभी हल्के और कभी पूर्ण रूप स सुनायी दती था। लकिन सस्कृत म दो स्वरों का एक साथ रहना बिल्कुल निषेध हो गया है। दो स्वर आये नही कि उसके भीतर 'य' 'व' श्रुति का प्रवेश हुआ।

पाणिनि ने सिर्फ दो स्थलो पर सस्कृत के दो स्वर वर्णों को एक साथ रहने की अनुमति दी है, सो भी 'शाकल्य' नाम के प्राचीन आचार्य के सम्मान की रक्षा के लिए। उनके मत से तो इन दो स्थलो पर भी यकार का आगम हो ही जाता है। इन दोनों मे एक तो यह है कि पदान्त मे अकार के वाद यदि विसग आये, और उसके वाद अकार से भिन्न कोई और स्वर वर्ण आये तो पहले 'ए', 'अय्' और 'ओकार', 'अव्' वनता है। और वाद 'य' और 'व' लोप हो जाते है। पाणिनि मुनि ने बड़ी सावधानी से अपने व्याकरण मे कह रखा है कि यह 'यकार' की लोप होनेवाली बात शाकल्य मुनि की वतायी हुई, अर्थात् शाकल्य-जैसे बड़े आचार्य ने यदि न कह दिया होता तो पाणिनिजी यह व्यवस्था न करते। लौकिक सस्कृत का सारा व्याकरण इसी नियम द्वारा चालित है। शब्दो और धातुओ के रूप मे भी यह श्रुति स्वयमेव उपस्थित हो जाती है। तृतीया विभक्ति का रूप 'आ' है। यह 'ह्री' और 'श्री' के वाद यदि आये तो रूप होगा 'ह्रिया' और 'श्रिया'। अर्थात् 'इ' के बाद 'व' आया नही, कि 'य' आ उपस्थित हुआ। इसी प्रकार 'उकार' के वाद 'व' स्वयमेव आ जाता है। इन शब्दो मे इकार या उकार जो ह्रस्व हो जाते हैं, उसका भाषाशास्त्रीय कारण है। पाणिनि भगवान् ने ह्रस्व होने का और 'य' या 'व' के आने का भी नियम वना रखा है; परन्तु उन नियमो के अभाव मे भी हिन्दी मे ठीक उसी प्रकार 'लड़कियों' और 'आदमियो' मे न ह्रस्व होने मे वाधा पड़ी और न 'य' के आने में; क्योकि ये दोनों कार्य व्यापक भाषाशास्त्रीय नियमो के आधार पर हुए हैं। वस्तुतः 'धिया' 'ह्रिया' और 'श्रिया' मे अन्तिम अकार पर स्वरपात होता है, और इसी प्रकार 'आदमियो' और 'लड़कियो' मे भी अन्तिम स्वर पर स्वरपात होता है और पूर्ववर्त्ती स्वर ह्रस्व हो जाता है। इसी तरह दोनो ही भाषाओ में 'यकार' और 'अकार' के बीच 'य' श्रुति स्वाभाविक रूप से आ जाती है। यह किसी प्रकार के सूत्र-निर्देश की अपेक्षा नही रखते। संस्कृत के व्याकरण-शास्त्रियो ने भाषा को परिनिष्ठित रूप देने के लिए 'य' और 'व' श्रुति-नियमों का पालन किया है। भाषा को परिनिष्ठित रूप देने के लिए इस प्रकार की कठोरता आवश्यक है। वर्त्तमान साहित्यिक हिन्दी मे इन नियमों का पालन कठोरता से नहीं किया जाता। 'लड़कियों' के लिए जो नियम है, 'वहुओं' के लिए वैसा नहीं है। 'लड़कियों' मे तो 'य' श्रुति का पालन किया गया है; पर वहुओं में 'व' का पालन

में उपस्थित थे और उन्होंने अपने दोनों उरुओं की ओर इशारा करके परेशानी में पड़े पण्डित को समझा दिया कि 'उरौ शेते' वाला 'उर्वशी' शब्द अधिक ठीक है। उस पण्डित की परेशानी तो दूर हुई; किन्तु हमारी साहित्यिक हिन्दी में परेशानी मे डालनेवाले बहुत-से शब्द पड़े हुए हैं और किसी हेमचन्द्राचार्य की प्रतीक्षा कर रहे हैं कि वे उनके वास्तविक स्वरूप को स्पष्ट करें।

बहुतेरे तद्धित प्रत्ययान्त रूप और 'कृत्' प्रत्ययान्त रूप साहित्यिक हिन्दी में अलग-अलग ढग से छापे जाते है। लकड़हारा मे तो 'हारा' प्रत्यय सर्वत्र मिलाकर छापा जाता है। पर 'टोपीवाला' के पक्ष में यह बात मान्य नही हुई। कोई मिलाकर लिखता है, कोई अलग-अलग। यही दशा 'कृत्' प्रत्ययों के अन्तर्गत आनेवाले 'वाला' की है। कोई 'लिखने वाला' लिखता है तो कोई 'लिखनेवाला'। इस प्रकार की अनेकों अव्यवस्थाएं हमारी साहित्यिक भाषा में प्रचलित हैं। अभी जो मैंने 'अनेकों' शब्द का बहुवचन में प्रयोग किया, इसके सम्बन्ध में भी काफी वाद-विवाद हो चुका है। हमे अब एक निश्चित नियम बना लेना चाहिए। मेरा विचार है कि नियम निश्चित करते समय हम थोड़ा-बहुत भाषा-शास्त्रीय नियमों और व्युत्पत्ति सम्बन्धी तर्कों का आश्रय अवश्य लें, परन्तु इन बातों मे इतना उलझ जाने की आवश्यकता नही है कि ये ही मुख्य हो उठें और वर्तनी को परिनिष्ठित रूप देना गौण। हमारी अनेक साहित्यिक संस्थाओं ने जो अनेक नियम स्वीकार किये है, उन सबके मूल मे कुछ-न-कुछ युक्ति और तर्क है। उनको युक्ति और तर्क के बल पर समझाना व्यर्थ है। सबने गम्भीर अध्ययन और मनन के बाद अपने सिद्धान्त निश्चित किये है। सबकी सेवाएँ शिरोधार्य है, सब नमस्य हैं। आज हमें व्यवहार की सुविधा की ओर अधिक ध्यान रखना है, और जो रूप चल पड़े हैं, उनको स्वीकार कर लेना है, जो युक्ति के विरुद्ध भी नही है, और व्यवहार के अनुकूल भी है। ऐसा करते समय हमे किसी प्रकार के मोह का शिकार नही बनना चाहिए। यह समझना भी भूल है कि हम हू-ब-हू संस्कृत की परम्परा का पालन कर रहे हैं, और इससे भी बड़ा मोह यह है कि हिन्दी संस्कृत की परम्परा से विच्छिन्न हो करके एकदम स्वतन्त्र भाषा बन गयी है। न हिन्दी संस्कृत की परम्परा से पूर्ण रूप से विच्छिन्न हो गयी है और न पूर्ण रूप से अनुगामिनी है। इन उभय कोटियों से अपने को बचाये रखकर हिन्दी भाषा की प्रकृति का ठीक-ठीक अध्ययन करना चाहिए। बहुत-सी बातों मे संस्कृत की परम्परा हमारी सहायता कर सकती है और बहुत-सी बातों मे वह हिन्दी की परम्परा से बिल्कुल भिन्न कोटि की हो सकती है। फिर राष्ट्र-भाषा की अपनी आवश्यकताएँ भी है। यथासम्भव विकल्पों को कम करके और अपवादों को कम करके उस परिनिष्ठित रूप को प्राप्त कर सकते हैं जो राष्ट्र-भाषा के लिए आवश्यक है। फिर हमें इस बात का भी ध्यान रखना होगा कि इस युग मे साहित्य का मुख्य अंग छापे की मशीन है। इसी सवारी पर चढकर वह दिग्विजय के लिए निकलता है, इसलिए इस बात का भी ध्यान रखना होगा कि इस वाहन की गति कुण्ठित न हो जाये, और यथासम्भव उसकी स्फूर्ति और क्षिप्र-

नहीं किया है। इस देश में शिष्टाचार में 'बहुओं' की अपेक्षा 'लड़कियों' से दुलार किया जाता है, परन्तु कम-से-कम व्याकरण की दुनिया में तो ऐसा पक्षपात नहीं होना चाहिए। अस्तु।

हिन्दी में 'य' श्रुति के प्रयोग के लिए दो प्रकार के विचार हैं। इन विचारों से चालित होकर ही दो प्रकार की वर्तन-शैली प्रचलित हुई। एक पक्ष समझता है कि उच्चारण में 'य' की श्रुति मात्रा स्पष्ट और अधिक मात्रा में है, इसलिए उसका 'य' का लिखा जाना आवश्यक है। किन्तु 'गए' या 'गई' में यह श्रुति अस्पष्ट और अल्प मात्रा में है या नहीं के बराबर है। इसलिए इन पदों में 'य' का लिखा जाना उचित नहीं है। दूसरा पक्ष कहता है कि 'गया' में न तो हम 'य' श्रुति को हटा नहीं सकते, और बहुवचन या स्त्रीलिंग रूप आकार बदलकर ही निर्धारित हुआ है। 'पढ़ा' का बहुवचन 'पढ़े' और स्त्रीलिंग रूप 'पढ़ी'। इसी तरह 'बड़ा' का पुल्लिंग बहुवचन रूप 'बड़े' और स्त्रीलिंग 'बड़ी' तथा 'अपना' का पुल्लिंग बहुवचन रूप 'अपने' और स्त्रीलिंग रूप 'अपनी' है। इस प्रकार हिन्दी में संज्ञा, विशेषण और सर्वनाम में जहाँ कहीं तद्भव आकारान्त शब्द मिलता है, वहाँ बहुवचन 'आकार' के स्थान पर 'एकार' और स्त्रीलिंग में 'आकार' के स्थान पर 'ईकार' हो जाता है। ऐसी स्थिति में 'गया' जैसे क्रिया-रूपों में भी और 'नया' जैसे विशेषण-रूपों में क्यों न इस सामान्य नियम का पालन किया जाए? इन नियमों के पालन से भाषा में एकरूपता बनी रहेगी। इस प्रकार एक दूसरे पक्ष के लोग 'गया' 'गये' 'गयी' लिखा करते हैं। वस्तुतः दोनों ही पक्षों में कुछ सचाई है। अपभ्रंश कविता में ही 'य' श्रुति के लिखने की विभिन्नता दिखायी देने लगती है। दो स्वर वर्णों का एक साथ रहना अपभ्रंश में निषिद्ध नहीं है। ऐसा अपभ्रंश का दोहा शायद ही मिले जिसमें कहीं-न-कहीं दो स्वर वर्ण एक साथ न मिल जाते हों। हिन्दी में भी चाहे वह पुरानी हो या नयी, दो स्वर वर्णों का एक साथ अवस्थान निषिद्ध नहीं है, केवल शब्द के मध्य में जब दो स्वर साथ-साथ आते हैं तब तो 'य' श्रुति या 'व' श्रुति का कुछ स्पष्ट रूप दिखायी देता है। 'मदन' से जो 'मअन' रूप बनता है, उसमें 'य' श्रुति आ जाती है और उसका स्पष्ट उल्लेख भी कर दिया जाता है। इस प्रकार यह शब्द 'मयन' और आगे चलकर और भी घिसकर 'मैन' बन जाता है। किन्तु 'उपजइ', 'विनसइ' में 'य' श्रुति का कोई चिह्न नहीं दिखायी देता। वस्तुतः इस विषय में अपभ्रंश और हिन्दी दोनों ही संस्कृत की परम्परा से अलग हो गयी है। अपभ्रंश के पुराने लेखकों ने 'य' श्रुति के नियमों पर बहुत अधिक ध्यान नहीं दिया। कहीं 'लोअण' और कहीं 'लोयण' पाठ मिल जाया करता है। 'क्त' प्रत्ययान्त रूप अपभ्रंश में अकारान्त हो जाता है। कहीं इनके लिखने में 'य' श्रुति का प्रयोग मिल जाता है और कहीं नहीं मिलता। हेमचन्द्र ने अपने व्याकरण के निम्नांकित दोहे में 'विहलिय' (विह्वलित) में तो 'य' श्रुति को स्थान दिया है।:

जइ पुच्छह घर बड्डाइं तो बड्डा घर होइ।
विहलिय-जण-अब्भुद्धरणु कन्तु कुडीरइ जोइ॥

किन्तु निम्नांकित दोहे मे 'पूरिअ' में 'य' श्रुति का कोई आभास नही है :

वप्पीहा पिउ-पिउ भणवि कित्तिउ रुअहि हयास।
तुह जलि मह पुणु वल्लहउ बिहुँवि न पूरिअ आस॥

कहने का मतलब यह है कि 'य' श्रुति अपभ्रंश कविता मे अस्पष्ट हो उठी थी। अपनी रुचि के अनुसार लेखक लोग कही 'य' बैठा देते थे, कही छोड़ देते थे। जैन लेखक प्राय: 'य' श्रुति के पक्षपाती नहीं हैं, इसलिए कुछ विद्वानो का मत है कि इन पुस्तकों में जो 'य' श्रुति आ गयी है, वह अपवाद है। यह जैन लेखकों की आदत का परिणाम है। वस्तुत: अपभ्रंश की प्रवृत्ति 'य' श्रुति को लिखित रूप देने के बहुत पक्ष मे नही है। कभी-कभी तो एक ही पद्य मे ऐसे शब्द मिल जाते हैं जिनमे एक में 'य' श्रुति का प्रयोग किया गया है और एक मे नही। उदाहरणार्थ—

हिअइ खुडुक्कइ गोडी गयणि घुडुक्कइ मेहु।
वासा रति पवासुअ विसमा सकडु एहु॥

इसमें 'हिअइ' में 'य' श्रुति का पता नही है, लेकिन 'गयणि' में है। ऐसे प्रसगो को लेखक के प्रमाद के सिवा और क्या कहा जा सकता है? हिन्दी की प्राचीन कविता के ग्रन्थों के सुसम्पादित संस्करणों को देखने से पता चलता है कि वहाँ भी 'य' श्रुति की अव्यवस्था बनी रही। बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् क्या इस विषय में नेतृत्व नही करती? क्यों न सभी संस्थाएँ तर्क और बहस का मार्ग छोड़कर बहुप्रचलित नियमों से कुछ को सर्वसम्मति से स्वीकार कर लें। मेरी दृष्टि में यह बहुत आवश्यक कार्य है।

इस अवसर पर हिन्दी-भाषी राज्यों के कर्णधारो से मैं अत्यन्त विनीत भाव से निवेदन करना चाहता हूँ कि इस समय देश-भाषाओ को उनका वास्तविक जन्म-सिद्ध अधिकार दिलाने का पवित्र कर्त्तव्य उन्ही के कन्धो पर आ पड़ा है। यदि हिन्दी-भाषी राज्यों में ही हम हिन्दी को उचित आसन पर प्रतिष्ठित नही कर सकेंगे तो दूसरे राज्यो से क्या आशा की जा सकती है? इस कठिन द्विविधा के समय में हिन्दी-भाषी राज्य ही दृढ़ता और आत्मविश्वास के साथ भाषागत और विचारगत पराधीनता को दूर करने का कार्य कर सकते है। कठिनाइयाँ अवश्य है। लेकिन कठिनाइयों से जूझने का जो अदम्य उत्साह होता है, वही सच्ची शूरता है। मुझे खेद के साथ कहना पड़ता है कि हिन्दी-भाषी राज्यो मे भी द्विविधा और झिझक की मात्रा बनी हुई है और इसीलिए काम जितनी तेजी से होना चाहिए था, उतनी तेजी से हो नही रहा है। समय आ गया है कि ये राज्य सारी शक्ति लगाकर इस महत्त्वपूर्ण कार्य को सम्पन्न करें और देश मे फैली हुई स्तब्धता और अनिश्चय के वातावरण को समाप्त करने में नेतृत्व ग्रहण करें।

विश्वास रखिए कि हिन्दी-भाषी राज्य यदि इस कार्य में दुविधा और संकोच छोडकर आगे बढते हैं तो अन्य भाषावाले राज्यों को भी आगे बढने की प्रेरणा देंगे ही। यदि हम सचमुच यह विश्वास करते है कि एक भारतीय भाषा की उन्नति से अन्य भारतीय भाषाओं की उन्नति निश्चित है, तो इस कार्य में हमें एक क्षण का

भी विलम्ब न करना चाहिए। मेरा तो दृढ़ विश्वास है कि हिन्दी-भाषी राज्य यदि हिन्दी को उचित मर्यादा देंगे और साहित्य-निर्माण के कार्य में तथा प्रशासकीय कार्य में उसका व्यवहार करने लगेंगे तो उसका व्यापक प्रभाव पड़ेगा और जिन राज्यों में दुविधा और सकोच के कारण देशी भाषाओं की उन्नति में शिथिलता आ रही है, उनमें भी आत्मविश्वास और क्रिया-शक्ति जाग्रत होगी। जो भी राज्य इस महान् पुनीत कार्य को करेगा, वह समूचे देश का नेतृत्व करेगा, इसलिए मैं आज इस मंच से अपने क्षीण कण्ठ से समस्त देशवासियों को पुकार-पुकारकर कहना चाहता हूँ कि मित्रो, उठो, जागो, अपनी मातृभाषाओं को सच्चे गौरव और मर्यादा की अधिकारिणी बनाओ और देश को भाषा और विचारगत पराधीनता के पंक से उबारो, इसी में देश का कल्याण है। आधुनिक परिस्थिति में यही अर्थापि है। भगवान् सबको सुबुद्धि दे, हमारी देश की भाषाएँ समृद्ध होकर एक-दूसरे को सम्पन्न बनायें। तथास्तु!

[कुटज से—विहार राष्ट्रभाषा-परिषद् के सप्तम् वार्षिकोत्सव समारोह (29 मार्च, 1958 ई.) के सभापति-पद से दिया गया अभिभाषण]

सहज भाषा का प्रश्न

'विश्वभारती पत्रिका' में नयी समस्याओं के सम्बन्ध में मेरा जो विनम्र वक्तव्य प्रकाशित हुआ था, अधिकांश लोगों ने उस वक्तव्य का समर्थन करके मुझे उत्साहित किया है; कुछ लोगों ने नयी शंकाएँ भी उठायी हैं। एक प्रश्न मुझसे यह पूछा गया है कि क्या मैं सहज भाषा का पक्षपाती नहीं हूँ। मैं इस सम्बन्ध में अपना विचार प्रकट कर देना अपना कर्त्तव्य समझता हूँ। ये पंक्तियाँ इसीलिए लिखी जा रही हैं।

निस्सन्देह मैं सहज भाषा का पक्षपाती हूँ। परन्तु सहज भाषा मैं उसे समझता हूँ जो सहज ही मनुष्य को आहार-निद्रा आदि पशु-सामान्य धरातल से ऊँचा उठा
सके। सहज भाषा का अर्थ है, सहज ही महान् ब[illegible] भाषा।
मनुष्य को उसकी सामाजिक दुर्गति, दरिद्रता, [illegible]
न बचा सके किसी काम की नहीं है, भले ही उ[illegible]
याने अत्यन्त निम्नस्तर के लोगों के मुख से [illegible]
भाषा को मैं सहज भाषा नहीं कहता। तपस्या, [illegible]

माँगी हुई भाषा सहज भाषा है। बाजार की भाषा को, मोटे प्रयोजनों की भाषा को मैं छोटी नहीं कहता, परन्तु मनुष्य को उन्नत बनाने के लिए जो भाषा प्रयोग की जायेगी वह उससे भिन्न होगी। कबीरदास ने बड़ी व्यथा के साथ कहा था कि 'सहज-सहज' तो सभी कहते फिरते हैं, परन्तु सहज क्या है, यह विरले ही जान पाते हैं। सहज वे हैं जो सहज ही विषय-त्याग कर सके हैं :

सहज सहज सब कोइ कहै, सहज न बूझे कोइ।
जिन सहजै विषया तजी, सहज कहीजै सोइ॥

सहज ही विषय-त्याग करना सहज काम नहीं। कबीरदास ने इस रहस्य को समझा था। वे जानते थे कि सहज वस्तुतः व्यक्ति हुआ करता है, वस्तु नहीं। दाता के सहज होने से ही दान सहज होता है। जो लोग सहज भाषा लिखना चाहते हैं, उन्हें स्वयं सहज बनना पड़ेगा। तपस्या और त्याग से मनुष्य 'सहज' होता है और उसी हालत में वह सहज भाषा का प्रयोग कर सकता है। भाषा तो साधनमात्र है। साध्य मनुष्य का सर्वांगीण विकास है। सड़क पर चलनेवाला आदमी क्या बोलता है, यह बात भाषा का आदर्श नहीं होना चाहिए। देखना चाहिए कि क्या बोलने या न बोलने से मनुष्य उस उच्चतर आदर्श को प्राप्त कर सकता है जिसे संक्षेप में 'मनुष्यता' कहा जाता है। केवल संस्कृत या अरबी बोलने से यह उद्देश्य सिद्ध नहीं होगा और केवल अशिक्षित या अपढ़ लोगों की बोलियों से बटोरे हुए शब्दों से भी नहीं होगा। ये सभी आवश्यक हो सकते हैं, ये सभी अनावश्यक हो सकते हैं। जो व्यक्ति मनुष्यरूपी भगवान् के हाथों अपने-आपको निःशेष भाव से दान नहीं कर सका, उसे सहज भाषा के विषय में कोई सिफारिश करने का हक नहीं है। यह बात हम रोषवश नहीं कह रहे हैं। हमारा विश्वास है कि ऐसा करनेवाले लोग मनुष्य का कोई उपकार नहीं कर सकते, क्योंकि वे बाहरी ज्ञान उगला करते हैं। शास्त्र वे नहीं जानते यह बात मैं नहीं कहता, पर शास्त्रगत सत्य उनका अपना सत्य नहीं होता।

दुनिया में ज्ञान-विज्ञान की चर्चा बहुत हुई है। उसे प्राप्त करनेवाले और प्राप्त करने का प्रयत्न करनेवाले कम नहीं हैं, परन्तु समस्त ज्ञान-विज्ञान तब तक बाहरी सत्य ही होते हैं जब तक मनुष्य उनसे यह नहीं सीखता कि परमपुरुष के प्रति—जिसकी प्रत्यक्ष मूर्त्ति या दृश्यमान चराचर जगत् है—अपने-आपको निःशेष भाव से समर्पण कर देना ही वास्तविक सत्य है। अपने को दान कर देने से ही समस्त ज्ञान और विज्ञान 'अपने' सत्य बनते हैं। भागवत में इसी बात को इस प्रकार कहा गया है :

धर्मार्थकाम इति योऽभिहितस्त्रिवर्ग—
ईक्षात्रयी नयदमौ विविधा च वार्त्ता।
मन्ये तदेतदखिलं निगमस्य सत्य।
स्वात्मार्पण स्वसुहृदः परमस्य पुंसः॥

—भा. 7. 6. 26

अर्थात् धर्म, अर्थ, काम नाम से प्रसिद्ध जो त्रिवर्ग है उसके लिए आत्मविद्या, कर्मकाण्ड, तर्क, दण्डनीति और विविध वार्त्ताएँ कही गयी हैं; ये सब वेद के सत्य हैं। अपना सत्य तब होता है जब मनुष्य अपने सुहृद-स्वरूप 'परमपुरुष' को आत्म-समर्पण कर देता है; क्योंकि अपने को दे देना ही बड़ी वस्तु है। ज्ञान-विज्ञान सबकुछ तभी सार्थक होते हैं, जब मनुष्य अपने-आपको अपने सर्वश्रेष्ठ लक्ष्य के हाथों नि.शेष भाव से दे दे। ज्ञान-विज्ञान बड़ी चीज है—वे भागवत के शब्दों मे 'निगमस्य' है, परन्तु मनुष्य जब तक अपने को ही नही दे देता तब तक वे बड़ी चीजें भारमात्र हैं। उनसे मनुष्य का छोटा 'ममत्व' उद्भूत होता है; उनसे धन, ज्ञान और यश की लिप्सा उत्तेजित होती है। जब तक अपने-आपको ही दे देने का संकल्प मनुष्य नही करता, तब तक अपना आपा ही समूचे ज्ञान-विज्ञान का मालिक नही बन जाता है। जिसने अपने को ही नहीं दे दिया, वह ज्ञान का क्या पाठ पढ़ायेगा ? प्रह्लाद ने ठीक ही कहा था कि वही वस्तुएँ मनुष्य की अपनी होती हैं जिन्हें वह नि.शेष भाव से प्रभु को समर्पण कर दिये होता है—'यद्यज्जनो भगवते विदधीत मानं तच्चात्मने प्रतिमुखस्य यथा मुखश्री:' (भा. 7. 9. 11)। भाषा के विषय में भी यही बात सत्य है। सरकारी नौकरियों की ऊँची तनखाहे पाने के बल पर ही जो लोग भाषा के सहजत्व के विषय में फैसला देने के अभ्यस्त हैं, वे अगर इतनी-सी बात समझ लेते तो हमारा काम बहुत आसान हो जाता। जिन लोगों ने जनता-जनार्दन की सेवा के लिए अपने-आपको थोड़ा भी नहीं दिया वे जब सहज भाषा का उपदेश देने लगते हैं, तो अवश्य ही वाग्देवी अपना सिर धुन लेती होंगी। जिन लोगों ने कभी भी अपने-आपको नही दिया, वे भाषा-विषयक सलाह देने के अयोग्य और अनधिकारी हैं। कविवर रवीन्द्रनाथ टाकुर ने बहुत पहले गाया था कि "अरे ओ मेरे मन, क्यों तूने दोनों हाथ फैला रखे है, हमें दान नही चाहिए, दाता चाहिए। जब तू सहज ही दे सकेगा तभी सहज ही ले भी सकेगा"—

केन रे तोर दु हात पाता, दान तो ना चाइ, चाइ-जे दाता
सहजे तुइ दिबि जखन, सहजे तुइ सकल लबि।
ओरे मन सहज हबि॥

अपने को सहज ही दे देने की योग्यता कठोर तप और संयम से प्राप्त होती है। कबीरदास और तुलसीदास को यह योग्यता प्राप्त थी, हरिश्चन्द्र और प्रेमचन्द को प्राप्त थी; क्योंकि उन्होंने यह सत्य समझ लिया था कि मनुष्य जितना नि.शेष भाव से दे सकता है, उतना ही उसका अपना सत्य होता है।

जब मनुष्य सहज हो जायेगा तो वह संस्कारों से मुक्त होकर सोचने की अनाविल दृष्टि पा सकेगा। वह दृष्टि कैसी होगी यह मैं नही कह सकता; क्योंकि यह तर्क से सोचने की बात नही है। इतिहास हमें थोड़ा ही बताकर रह जाता है। उसके बल पर हम केवल अनुमान कर सकते हैं। इतना तो आसानी से समझ में आ जाता है कि जिन कारणों से भाषा-विषयक प्रश्न आज हमें व्याकुल किये हुए हैं वे नितान्त ऊपरी हैं। जब किसी विचार में उत्तेजना का स्थान महत्त्वपूर्ण हो उठे तो मानना

चाहिए कि संयम का अभाव उत्पन्न हो गया है। उत्तेजना मनुष्य के अन्ध संस्कारों का वर्तमान रूप है। जब हम यह सुनकर उत्तेजित हो जाते है कि अमुक व्यक्ति संस्कृत या अरबी-फ़ारसी से भरी हुई भाषा सुनना या बोलना पसन्द करता है, तो वस्तुतः हमारा रोष भाषा के ऊपर नहीं होता, उस भाषा के बोलने या सुनने-वाले के प्रति होता है। यह बात सिद्ध करती है कि हम उस मनुष्य से प्रेम नही करते। यदि हम इस देश के प्रत्येक मनुष्य को प्रेम करते तो हम उसकी रुचि और संस्कारों को भी समझने का प्रयत्न करते। यह सत्य है कि इस देश में करोड़ों मनुष्य है जो संस्कृत की परम्परा से घनिष्ठ भाव से परिचित होने पर *अन्ध संस्कारों के बोझ से मुक्त हो सकते हैं और आत्मगौरव अनुभव कर सकते* हैं और यह भी सत्य है कि इस देश में लाखों व्यक्ति हैं जिन्हें अरबी-मिश्रित भाषा से आत्मगौरव का अनुभव होता है। इसलिए संस्कृत या अरबी से चिढ़ने से हमारा प्रेम-दारिद्र्य सूचित होता है। हमे सावधानी से विचार करने पर मालूम पड़ेगा कि नाना प्रकार की ऐतिहासिक परम्पराओ के भीतर से गुजरने के कारण भिन्न-भिन्न जनसमूह के लिए भिन्न-भिन्न प्रकार की भाषा आवश्यक है। यदि हम अपने परम लक्ष्य को सदा ध्यान में रखें तो इन ऊपरी बातों से चिन्तित या उत्तेजित होने का कोई कारण नही है। हमारा परम लक्ष्य मनुष्यत्व है। मध्ययुग मे जिस बात को अध्यात्म कहा करते थे, वही वस्तुतः इस युग का मनुष्यत्व है। मनुष्य ही भगवान् का प्रत्यक्ष विग्रह है। मनुष्य बनाना ही समस्त ज्ञान-विज्ञान का लक्ष्य है। मनुष्य अर्थात् पशु-सामान्य क्षुद्र स्वार्थो से मुक्त, परमप्रेम-स्वरूप। जब तक हम इस मनुष्य को प्रेम नहीं करने लगते तब तक हम रंक बने रहेंगे—रंक, अर्थात् प्रवृत्तियो के गुलाम, उत्तेजनाओं के शिकार और क्षुद्र स्वार्थो के मुहताज ! प्रेम ही बडी वस्तु है, वही भगवान् का वास्तविक स्वरूप है। दादू ने कहा था :

> बिना प्रेम मन रंक है, जाँचे तीनउ लोक।
> मन लागा जब साँइ सौं, भगे दरिद्दर शोक॥

मैं जब उपर्युक्त 'पण्डितों' की भाषा के विषय में शिकायत करता हूँ तो वस्तुतः मैं उनके प्रेम-दारिद्र्य की ही शिकायत करता हूँ। वे प्रेमहीन रंक चित्त को लेकर सहज भाषा और सामान्य संस्कृत की बात करते है, उनके मन में मनुष्य के प्रति कोई सहानुभूति नही है और इसीलिए उनकी सारी विद्या और समूची कर्म-प्रचेष्टा व्यर्थ हो जाती है। वे स्वयं उत्तेजित होते हैं और सारे समाज को अन्याय-भाव से उत्तेजित करते हैं। काश, वे समझ सकते कि भावी मनुष्य के लिए वे कैसा काँटा बो रहे हैं !

इस देश में हिन्दू हैं, मुसलमान है, छूत हैं, अछूत है, अरबी है, फ़ारसी है, संस्कृत है, पाली है—विरोधों और संघर्षो की विराट् वाहिनी। परन्तु इन सबमें बड़ा सत्य यह है कि इस देश मे करोड़ों मनुष्यों के इन समस्त विरोधों और संघर्षों को छापकर विराज रहा है यह 'मनुष्य'। यदि हम इसी को ध्यान में रखकर समस्याओं का समाधान खोजें तो हमें आश्चर्य होगा कि संस्कृत भी हमारी सहायता कर रही

है और अरबी-फारसी भी। केवल उचित स्थान पर उचित वस्तु का प्रयोग करना चाहिए। सब अंगों पर एक ही दवा लेपनेवाला वैद्य अनाड़ी समझा जाता है। रोगी को स्वस्थ करना ही वैद्य का लक्ष्य होना चाहिए। एक ही दवा को हाथ पर भी मलना और आँख में रगड़ना कोई तुक की बात नहीं हुई। बौद्धदार्शनिक वसुबन्धु ने कहा था कि अस्थान में प्रयुक्त अमृततुल्य औषध भी विष हो जाता है—'औषधं युक्तमस्थाने गरलं ननु जायते।' जिस प्रकार औषधि रोगमुक्ति का साधन है, वैसे ही भाषा भी मनुष्य को उसकी दुर्गति से बचाने का साधन है। सामान्य औषध एक खास सीमा तक काम कर सकता है, सामान्य भाषा का क्षेत्र भी सीमित है। बंगाल के हिन्दुओं और पेशावर के पठानों के लिए एक सामान्य भाषा की कल्पना हास्यास्पद है। परन्तु जिस व्यक्ति के चित्त में मनुष्य के प्रति असाधारण प्रेम है, वह दोनों ही जगह अपना काम निकाल लेगा। शान्तिनिकेतन में प्रत्येक बंगाली ने खान अब्दुल गफ्फार खाँ की भाषा समझी। जहाँ कहीं शब्द समझ में नहीं आया वहीं उनकी सहज प्रेम मुद्रा ने शब्दकोश का काम किया। महात्माजी की हिन्दी अट्ट देहाती भी समझ जाता था। कारण स्पष्ट है। इन महापुरुषों ने अपने को निःशेष भाव से देकर अपने को मनुष्य मात्र का 'अपना' बना लिया। प्रेम बड़ी वस्तु है।

भाषा वस्तुतः वक्तव्य वस्तु का वाहन है। हम क्या कहना चाहते है, यही मुख्य बात है; कैसे कहना चाहते है, यह बाद की बात है। प्रायः आये-दिनों इस प्रकार का तर्क सुनायी देता है कि हम कोश बनायेंगे और नये 'हिन्दुस्तानी' प्रत्ययों की रचना कर जब लिखना शुरू कर देंगे तो भाषा मे वे प्रयोग आगे चलकर निश्चय ही गृहीत हो जायेंगे। पुराने इतिहास से इस प्रकार के उदाहरण खोज-खोजकर निकाले जाते है कि किसी लेखक के चला देने मात्र से कितने ही प्रयोग भाषा में चल गये हैं। यही 'दान' की मनोवृत्ति है। 'दाता' बनने की योग्यता पाये बिना 'दान' देना गृहीता का अपमान करना है, उसे तुच्छ समझना है। जो दान गृहीता के प्रति अश्रद्धा रखकर और अपने भीतर उद्धत अहमिका को पोसकर दिया जायेगा वह निष्फल होगा। शास्त्र ने कहा है 'श्रद्धया देयम्'—श्रद्धापूर्वक देना चाहिए, 'ह्रिया देयम्'—अपने अन्दर उद्धत गर्व न रखकर लज्जापूर्वक देना चाहिए। 'हमारे चला देने से चल जायेगा' वाली मनोवृत्ति में दानों का तिरस्कार है। वह दग्ध-बीज की भाँति—यह उपमा शास्त्रकार ने ही बतायी है—निष्फल होने को बाध्य है। चलाता वह है जिसने दीर्घ तप और कठिन समय के बाद चलाने की योग्यता प्राप्त की होती है।

कविवर रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने एक कविता लिखी है। उसका हिन्दी भावार्थ और मूल कविता दोनों ही नीचे दिये जा रहे हैं :

"तुम फूल नहीं खिला सकोगे, नहीं खिला सकोगे! जो कुछ भी कहो और जो कुछ भी करो, जितना भी उसे उठाकर पकड़ो और व्यस्त होकर रात-दिन उसके वृन्त पर जितनी भी चोट मारो—तुम फूल नहीं खिला सकोगे, नहीं खिला

सकोगे।

"बार-बार नजर गड़ाकर तुम उसे म्लान कर सकते हो, उसके दलो को तोड़कर धूल में रौंद सकते हो, तुम लोगों के तुमुल कोलाहल से यदि वह कली किसी प्रकार मुंह खोल भी दे—तो रंग नही आयेगा, तुम उससे सुगन्धि नहीं बिखरवा सकते। तुम फूल नहीं खिला सकोगे, नही खिला सकोगे।"

तोरा केउ पारबिने गो पारबिने फूल फोटाते।
जतइ बलिस् जतइ करिस्, जतइ तारे तुले धरिस्।
व्यग्र हये रजनी दिन आघात करिस् बोंटाते।
तोरा केउ पारबिने गो. ।।
दृष्टि दिये बारे बारे, म्लान करते पारिस् तारे,
छिड़ते पारि सेंदल गुलि तार धुलाय पारिस् लोटाते,
तोदेर विषम गण्डगोले, यदिइ वा से मुखटि खोले।
धरबे ना रंग—पारबे ना तार गंध टुकु छोटाते।
तोरा केउ पारबिने गो. ।।

"जो खिला सकता है वह अनायास ही खिला सकता है, वह फूल खिला सकता है। वह सिर्फ आँख खोलकर थोड़ा-सा देख लेता है, उसके आँखो की किरण लगते ही मानो पूर्णप्राण का मन्त्र उस वृन्त पर लग जाता है। जो खिला सकता है वह अनायास ही खिला सकता है, वह फूल खिला सकता है! उसकी नि:श्वास लगते ही फूल मानो तुरत उड़ जाना चाहता है, अपने दलों के पंख फैलाकर हवा मे झूमने लगता है, फिर तो न जाने कितने रंग, प्राणों की व्याकुलता के समान, खिल उठते हैं और न जाने किसे बुला के लाने सुगन्धित को चारों ओर दौड़ाने लगते हैं—जो खिला सकता है, वह फूल खिला सकता है।"

जे पारे से आपनि पारे, पारे से फूल फोटाते।
से शुधु चा नयन मेले, दुटि चोखेर किरन फेले,
अमनि जेन पूर्ण प्राणेर मंत्र लागे बोंटाते।
जे पारे से आपनि पारे, पारे से फूल फोटाते।
नि:श्वासे तार निमेषेते फूल जेन चाय उड़े जेते।
पातार पाखा मेले दिये, हावाय थाके लोटाते।
रङ्जे फोटे ओठे कतो, प्राणेर व्याकुलतार मतो,
जेन का'रे आनाते, डेके गन्ध थाके छोटाते।
जे पारे से आपनि पारे गो. ।।

भाषा चला देने का व्रत लेनेवाले इस सत्य को याद रखें तो अच्छा होगा।

जो लोग साहित्य-सृष्टि करके, भाषा के माध्यम से, जनतारूपी जनार्दन की सेवा करना चाहते हैं वे महान् हैं। उनका रास्ता प्रेम का रास्ता है। हमारा यह देश नाना प्रकार की जातियों-उपजातियों में विभक्त सम्प्रदायों और धर्मों से उद्भ्रान्त, शतच्छिद्र वसन के समान है। इसे सावधानी से प्रेमपूर्वक सम्भालने की

आवश्यकता है। ज्ञान इस पर लादना नहीं है। जितना भी मधुर रस आप इसे क्यों न दें, यदि सब समय इसके स्वरूप को ध्यान में न रखेंगे तो उसके बहकर गिर जाने का भय है। भाषा की साधना इनको इनकी वर्तमान हीनता से उद्धार करने की साधना है। जिन लोगों ने यह व्रत लिया है उनकी जिम्मेदारी बड़ी है, उन्हें अपने छोटे स्वार्थों और रञ्जित संस्कारों से मुक्त होने की आवश्यकता है। वे प्रेमवारि बरसानेवाले मेघ के समान हों, यही वाञ्छनीय है। परन्तु मेघ से पानी की ही उम्मीद की जाती है, वज्र की नहीं। जिन लोगों को संयोगवश भाषा और साहित्य के माध्यम से जनता की सेवा करने का सुयोग मिला है, उनसे हमारी नम्र प्रार्थना है कि वे यह न भूलें कि वे जनता की सेवा के लिए हैं। मेघ की शोभा यही है कि वह अपने को निःशेष भाव से दे दे। संस्कृत के कवि ने ठीक ही कहा था कि 'हे मेघ, पर्वत-कुल को आश्वस्त करके, दावाग्नि की ज्वाला से दहकती हुई वनभूमि को शान्त करके, नाना नद-नदियों को पूर्ण करके जो तुम रिक्त हो गये यह तुम्हारी उत्तम श्री है—अपने को सबके मंगल के लिए लुटा देना ही बड़ी सम्पत्ति है!'

आश्वास्य पर्वतकुल तपनोष्मतप्तं
दुर्दावविह्विविधुराणि च काननानि।
नानानदीनदशतानि च पूरयित्वा
रिक्तोऽसि यज्जलद सैव तवोत्तमश्रीः।

साहित्यकार की भी यही शोभा है कि वह अपने सर्वोत्तम से मनुष्य की सेवा करके रिक्त हो जाये, शून्य हो जाय। शून्यता ही पूर्णता है। रज्जबजी ने कहा है कि शून्य की शोभा देखना हो तो ताराभरे आसमान की ओर देखो, शून्य-रूपी इस वृक्ष में नक्षत्रों के फल लगे हैं, पर कैसी कमाल की पूर्णता है कि ये इतने नक्षत्र जहाँ-के-तहाँ खड़े हैं, कोई भी छितरा नहीं रहा है—'सुन्य तरीवर उड्गण क्यों हूँ बीटत नाही!'

दीर्घ साधना के बाद मनुष्य 'पशु' से विकसित होकर मनुष्य बना है। उसकी पशुसामान्य मनोवृत्तियाँ आज भी बनी हुई हैं। उनको उत्तेजित करने के लिए विशेष परिश्रम की जरूरत नहीं होती। ज़रा-सा छूने से ही वे झनझना उठती हैं। उन आहार-निद्रा प्रभृति पशु-सामान्य मनोरागों को बार-बार उत्तेजित करना कोई बड़े कृतित्व का काम नहीं है। कृतित्व का काम है उसमें संयम, त्याग और प्रेम की भावना को जगा देना। साहित्यिक यही करके धन्य होता है। आदिम युग से ही मनुष्य छोटे-छोटे स्वार्थों के लिए लड़ता आया है, काम-क्रोध का गुलाम बना रहा है। अगर साहित्यिक सेवा का अवसर पाकर उसी उड़नेवाली प्रवृत्ति को उत्तेजित किया गया और उस इन्द्रिय-परायणता को प्रश्रय दिया गया तो यह सेवा तो हुई ही नहीं, इससे निश्चित रूप से मनुष्य का अपकार हुआ। ऐसा साहित्यकार भी मेघ ही है, पर पानी बरसानेवाला नहीं वज्र बरसानेवाला! कवि ने बड़ी व्यथा से कहा था कि 'हे मेघ, इन दावाग्नि से जलते हुए वृक्षों पर अगर पानी नहीं बरसा सकते तो कम-से-कम वज्र तो न गिराओ!'

एतेषु हा तरुण मारुतधूयमान-
दावानलैः कवलितेषु महीरुहेषु !
अम्भो न चेज्जलाद मुञ्चसि मा विमुञ्च
वज्रं पुन. क्षिपसि निर्दय कस्त हेतोः।

भाषा सहज होनी चाहिए, साहित्य सहज होना चाहिए, पर सबके मूल मे और सबसे बड़ी बात यह है कि भाषा और साहित्य के साधक को सहज होना चाहिए। सहज हुए बिना परमप्राप्तव्य प्राप्त नही हो सकता। यह परम-दुर्लभ सहजत्व प्राप्त करने के लिए आदिम मनोवृत्तियों से ऊपर उठना होगा, कर्म और ज्ञान के इन्द्रियों को सन्तुष्ट करनेवाले मनोरागों को वश मे करना होगा और फिर अपने-आपसे ही रास्ता पूछ लेना होगा। बाहर से आकर कोई रास्ता क्या बतायेगा ! संयत और तपोनिष्ठ आत्मा ही कार्याकार्य के निर्णय मे प्रमाण है, क्योंकि वह राग और द्वेष से ऊपर उठा होता है। कबीर ने जो बात भक्तों के लिए कही है, वही बात साहित्यकारों के लिए भी कही जा सकती है; क्योंकि सत्य अविभाज्य है। कबीर ने कहा है :

चिता चित्त निवारिये, फिर बूझिये न कोय।
इन्द्री पसर मिटाइये, सहजि मिलेगा सोई।।

[विचार और वितर्क से]

नयी समस्याएँ

[1]

हिन्दी के साहित्यिको के सामने इस समय कई अत्यन्त महत्त्व के प्रश्न है। इन प्रश्नों को लेकर साहित्य-क्षेत्र मे कई दल बन गये हैं। प्रथम अत्यन्त जटिल प्रश्न उपस्थित हुआ है बोलियों का। कई बोलियो के बोलनेवाले अपनी विशेष बोली को स्वतन्त्र भाषा के रूप मे विकसित करना चाहते है। पूर्व में मैथिली और पश्चिम में राजस्थानी की ओर से वह दावा उत्थापित किया गया है कि वे हिन्दी की उपभाषा नही है और उन्हें अपने को स्वतन्त्र भाषा के रूप में विकसित करने का अवसर मिलना चाहिए। अब जहाँ तक किसी भाषा के विकसित होने का प्रश्न है, कोई भी उसमें बाधा नही पहुँचा सकता। यदि मैथिली क्षेत्र के प्रतिभाशाली कवि और

नाटककार अपनी भाषा मे काव्य-नाटक लिखें तो उन्हें कौन रोक सकता है? परन्तु बाधा यहां नही है। आजकल बड़े-बड़े विश्वविद्यालय हैं, अदालतें हैं, सरकारें हैं, रेडियो और प्रेस हैं; इन सबका आश्रय लिये बिना और इन सबकी छाया पाये बिना कोई भाषा ठीक तौर से पनप नही सकती। विद्यापति केवल प्रतिभा के बल पर चल पड़े थे यह ठीक है, परन्तु आज के विद्यापति के लिए और बहुत-कुछ अपेक्षित है। यह तो सिर्फ बात की बात है कि अनन्तकाल मे विद्यापति-जैसा प्रतिभाशाली कवि किसी-न-किसी दिन समादृत होकर ही रहेगा। जब कहा जाता है कि अमुक बोली या भाषा को पनपने का अवसर मिलना चाहिए तो उसका मतलब वस्तुतः यह होता है कि उसकी पुस्तकें पाठ्यतालिका में आनी चाहिए, विश्वविद्यालय को उस भाषा के माध्यम से ऊँची-से-ऊँची शिक्षा देनी चाहिए, उस भाषा के कवियों और नाटककारों का उच्चतर आलोचनात्मक अध्ययन होना चाहिए, उस प्रदेश की सरकारी अदालतो मे उस भाषा को स्थान मिलना चाहिए, उस देश के प्रेसों को, उस देश के रेडियो विभाग को, उस भाषा में सवाद-प्रचार करके उस भाषा के बोलनेवालों की उचित सेवा करनी चाहिए, इत्यादि। इनसे कम सुविधाओं को भोगने के लिए जो लोग आन्दोलन करते हैं, वे चूहे के लिए पहाड़ खोदते है। इस प्रश्न पर स्वभावतः ही दो दल हो गये है। एक दल कहता है, इससे अनर्थ हो जायगा; दूसरा कहता है, यही एकमात्र उत्तम मार्ग है। दोनों ओर से भाषाशास्त्रीय युक्तियाँ उपस्थित की जाती है, शास्त्रीय, सूक्ष्म तर्कों की अवतारणा की जाती है, आदर्श समझे जानेवाले देशों के इतिहास और आधुनिक विधान का हवाला दिया जाता है। साधारण पाठक युक्तियो के जाल में बुरी तरह फँस जाता है। सबकी युक्तियों में सार है, परन्तु कौन-सी ग्रहणीय है, इसका प्रमाण क्या है? खरे और खोटे के विवेक की कसौटी क्या है?

उत्पन्न हुए हैं कि हम लोगों ने हिन्दी के जिस भविष्य की मनोहर कल्पना की थी, वह भहराता नजर आता है। घड़ा कुम्हार के चाक पर टूट जायेगा, ऐसी आशंका हो रही है। उपाय क्या है?

[2]

आसमान में मुक्का मारना कोई बुद्धिमानी का काम नही समझा जाता। विना लक्ष्य के तर्क करना भी बुद्धिमानी नही है। हमे भलीभाँति समझ लेने की आवश्यकता है कि हमारा लक्ष्य क्या है। हम जो कुछ प्रयत्न करने जा रहे है, वह किसके लिए है। साहित्य हम किसके लिए रचते हैं, इतिहास और दर्शन क्यों लिखते और पढते हैं? राजनीतिक आन्दोलन किस महान् उद्देश्य की सिद्धि के लिए करते हैं? मेरा अपना विचार यह है कि मनुष्य ही वह बड़ी चीज है जिसके लिए हम यह सब किया करते है। हमारे सब प्रयत्नों का एक ही लक्ष्य है : मनुष्य वर्तमान दुर्गति के पंक से उद्धार पाये और भविष्य मे सुख और शान्ति से रह सके। साहित्य की सबसे बड़ी समस्या मानव-जीवन है। कभी-कभी इस प्रकार बात की जाती है मानो साहित्य की रचना दस अन्य भले कामों की अपेक्षा कुछ भिन्न वस्तु है। वस्तुतः अगर साहित्य की रचना कोई भला काम है तो दस अन्य भले कामो के समान ही उसका लक्ष्य भी मनुष्य-जीवन को सुखी बनाना है। वह शास्त्र, वह रसग्रन्थ, वह कला, वह नृत्य, वह राजनीति, वह समाज-सुधार और वह पूजापार्वण जजाल मात्र हैं जिनसे मनुष्य का भला न होता हो। मनुष्य आज हाहाकार के भीतर निरन्न-निर्वस्त्र बना हुआ त्राहि-त्राहि पुकार रहा है। उसके लिए अन्न और वस्त्र जुटाना अच्छा काम है। हमारे राजनीतिक और सामाजिक सुधारों और क्रान्तियो से इस अन्न-वस्त्र की समस्या सुलझ जा सकती है। फिर भी मनुष्य सुखी नही बनेगा। उसे सिर्फ अन्न और वस्त्र से ही सन्तोष नही होगा। वह उन अत्यन्त मोटे प्रयोजनों की पूर्त्ति पहले चाहता है जो उसकी आहार-निद्रा आदि पशु-सामान्य क्षुधाओं के निवर्त्तक है। इसके बाद भी उसका मनुष्य बनना बाकी रह जाता है। साहित्य वही काम करता है, साहित्य का यही काम है। जो साहित्य मनुष्य को उसके पशु-सुलभ सतह से ऊपर नही उठाता, वह 'साहित्य' की संज्ञा ही खो देता है। मनुष्य को हर तरह से उन्नत बनाना, उसे अज्ञान, मोह, कुसंस्कार और परमुखापेक्षिता के दलदल से निकालना और पशु-सामान्य धरातल से ऊपर उठाकर उसे प्राणिमात्र के दुःख-सुख के प्रति संवेदनशील बनाना ही साहित्य-रचना का लक्ष्य हो सकता है। दुनिया का कोई भी भला काम इसी लक्ष्य के लिए किया जाता है। शास्त्र इसी के लिए बने हैं, नियम-कानून इसी लक्ष्य के सहायक होने पर ही सार्थक होते है, मनुष्य की तर्क-परायण बुद्धि इसी उद्देश्य के लिए काम आकर कृतार्थ होती है। शास्त्रकार ने इसीलिए कहा है—न मानुषात्परतरं किंचिदस्तीह भूतले—मनुष्य से बढ़कर इस दुनिया मे और कुछ भी नही है!

इसी मनुष्य के सुख-दुःख का विचार करके हमें अपनी भाषा-विषयक नीति

स्थिर करनी चाहिए। इसी मनुष्य को दृष्टि में रखकर हमें अपनी साहित्यिक समस्याओं का समाधान खोजना चाहिए। यह अत्यन्त स्वाभाविक है कि विचार करते समय हमारी रुचि, हमारे संस्कार या हमारा विक्षोभ हमें अभिभूत कर दे। मैं भोजपुरी बोलता हूँ। भोजपुरी मे जितनी शक्ति और सहज स्वभाव मैं देख पाता हूँ उतनी अवधी या बुन्देलखण्डी मे नही देख पाता। यह व्यक्तिगत मत है, क्योंकि इसमें मेरी रुचि और संस्कार के सिवा कोई बड़ा तर्क मेरे पास नही है। परन्तु यदि मैं इस रुचि और संस्कार को कुछ अधिक ढील दूँ तो मैं तर्क से भी साबित कर सकता हूँ कि भोजपुरी ही इस देश की सबसे शक्तिशाली भाषा है। मैं इतिहास से इस विषय की गवाही ढूँढ सकता हूँ। भारतवर्ष का ज्ञात इतिहास भोजपुरियों से आरम्भ होता है। जिन सैनिकों के नाममात्र से सम्राट् सिकन्दर काँप उठे थे, वे भोजपुरी थे। जिन भिक्षुओ ने पर्वत और समुद्र लाँघकर चीन से लेकर जापान तक भारतीय सस्कृति की पताका फहरायी थी, वे अधिकांश भोजपुरी थे। चन्द्रगुप्त और कुमारजीव भोजपुर की सन्तान थे और मध्ययुग का सबसे बड़ा प्राणवान् महापुरुष भोजपुरी था: मेरा मतलब कबीर से है। मेरा तर्क इससे भी आगे बढ़ सकता है। पालि इसलिए प्राणवान् है कि उसमें भोजपुरी प्रतिभा का स्पर्श है और कबीर इसलिए मस्तमौला है कि उसने भोजपुरी का आश्रय लिया था। मैं कह सकता हूँ कि हिन्दी के समूचे क्षेत्र में एक भी उपभाषा इतनी शानदार और जानदार नही है। परन्तु यह तर्क उचित नही है। राजस्थानी या मैथिली भाषा के पक्षपाती भी ऐसे ही तर्क उपस्थित करते है या कर सकते हैं। प्रश्न यह नहीं कि भोजपुरी का पुराना इतिहास क्या है, या चन्द्रगुप्त भोजपुरी थे या नही, प्रश्न यह है कि आज यदि भोजपुरी को विश्वविद्यालयो की शिक्षा का माध्यम बनाया जाय, वह अदालतो की भाषा बना दी जाय (अर्थात् बनारस में कोई ऐसा हाईकोर्ट स्थापित किया जाय, जहाँ के जज लोग भोजपुरी में निर्णय लिखें), विदेशी विनिमय की भाषा करार दे दी जाय तो भोजपुरी बोलनेवालो और अन्यान्य ऐसी ही बोली बोलनेवालों का कोई लाभ होगा या नही? मेरा तो होगा, मेरे गांव-जवारवालो का भी होगा—परन्तु यही तक दुनिया समाप्त नहीं हो जाती। हम इस प्रश्न को जरा दूर तक सोचें। यदि हमारे तर्कों और युक्तियों के मूल मे कोई संकीर्ण स्वार्थ है या व्यक्तिगत रुचि-अरुचि का प्राबल्य है तो निष्कर्ष दोषयुक्त होगा।

हिन्दी केन्द्रीय भाषा है। बड़े परिश्रम से और बड़ी कठिनाइयों के भीतर से इसके उपासकों ने इसे सार्वदेशिक भाषा का रूप दिया है। इसे किसी केन्द्रीय राजशक्ति की अंगुली पकड़ाकर आगे नही बढ़ाया गया है। विरोधों, आघात-प्रत्याघातों के भीतर से ही इसकी शानदार सवारी निकली है। आज यह भारतवर्ष की सबसे जबर्दस्त भाषा हो गयी है। सो भी कितने दिनों मे? डॉ. ताराचन्द ने 'विश्ववाणी' की अक्टूबरवाली संख्या में बताया है कि "भाषा यानी अदब की जबान की हैसियत से उन्नीसवीं सदी से पहले इसका नाम और निशान भी नहीं था!" सौ-सवा सौ साल में इतनी शक्ति अर्जन करने का रहस्य क्या है? क्या कारण है कि देखते-

देखते इसकी धारा में सारा हिन्दुस्तान बह गया— मानो कोई विराट् शक्तिशाली पातालतोड़ कुआँ एकाएक फूट पड़ा हो। निश्चय ही सारा जनसमुदाय इसे ग्रहण करने के लिए व्याकुल बैठा था। उसने अपने-आपकी अपराजेय शक्ति से यह प्रभावविस्तार किया है। इस केन्द्रीय भाषा की लपेट में लगभग समूचा उत्तर भारत आ गया है। केन्द्र से दूर-दूर के प्रदेश भी इस केन्द्रीय भाषा को शिष्ट व्यवहार और साहित्यिक तथा अन्यान्य सार्वजनिक कार्यों की भाषा मानने लगे हैं। यह स्वाभाविक ही है कि वे केन्द्र से दूर रहनेवाले प्रदेशो की बोलियो की अपेक्षा इस सार्वदेशिक भाषा से अधिक दूरत्व अनुभव करें। मैं जिस प्रादेशिक बोली को बोलता हूँ वह केन्द्र से बहुत दूर पड़ती है। पूर्वी छोर पर मगही और मैथिली को छोड़कर और कोई उपभाषा ऐसी नही है जो भोजपुरी से अधिक दूर पड़ती हो। मैंने लक्ष्य किया है कि इन तीनो बोलियो के क्षेत्र में केन्द्रीय भाषा थोड़ी-बहुत गलत बोली जाती है। बहुत पढ़े-लिखे लोगों में भी कभी-कभी भाषा सम्बन्धी अशुद्धियाँ सुनने को मिल जाती हैं। इन बोलियो में 'ने' का प्रयोग नही है; विभक्तियाँ केन्द्रीय भाषा की कई विभक्तियों से भिन्न हैं और कई सर्वनाम भी एकदम अलग है। इन प्रदेशों की स्वाभाविक भाषा ही यदि यहाँ के बालको और अशिक्षित प्रौढ़ो को सिखाने की भाषा हो तो वे आसानी से शिक्षित बनाये जा सकते हैं। इन स्थानो मे शायद ही कोई शिक्षक केन्द्रीय भाषा की सहायता से शिशुओ को पढ़ाता हो और यद्यपि प्रौढ़ो की शिक्षा के लिए केन्द्रीय भाषा के माध्यम का सहारा लिया गया है, पर मैं व्यक्तिगत अनुभव के बल पर कह सकता हूँ कि यदि स्थानीय भाषा का सहारा लेकर काम शुरू किया जाय तो प्रौढ़-शिक्षण का काम तेजी से आगे बढ़ सकता है; अर्थात् जहाँ तक इन प्रदेशों के शिशुओ की तथा अनपढ़ प्रौढ़ों की शिक्षा का प्रश्न है, वहाँ तक प्रादेशिक बोलियो का सहारा लेना अत्यन्त आवश्यक है। पर ज्योंही शिशुओं की शिक्षा पूर्ण हुई और उन्हें वृहत्तर जीवन में आना पड़ा, त्योंही बोलियों का सहारा उनके विकास मे बाधक सिद्ध होने लगेगा। आखिर इस गरीब देश मे आप कितने विश्वविद्यालय और कितने हाईकोर्ट चलायेंगे ? एक-एक जिले का दावा अलग-अलग हो सकता है। ग्रियर्सन ने जिन लोगों की भाषा को 'स्टैण्डर्ड' भोजपुरी कहा है, वे लोग बनारसवाले हाईकोर्ट की भाषा क्यो मानेंगे और बनारसवाले ही अपनी सम्पूर्ण ऐतिहासिक परम्परा के बावजूद बलिया-आरा की बोली को क्यों 'स्टैण्डर्ड' मानेंगे ? झगडा तो वहाँ भी खड़ा होगा। जब कही-न-कही समझौता करना ही है तो इस समय दीर्घ प्रयत्न के बाद जो शक्तिशाली केन्द्रीय भाषा बनी है उसी का सहारा क्यो न लिया जाय ? जो हो, हम आगे चलकर देखेंगे कि आर्य भाषा बोलनेवालो में अपनी-अपनी बोलियो के प्रति प्रबल अनुराग का भाव कोई नयी बात नही है। 'लिंग्विस्टिक सर्वे' ने इस तथ्य को भली-भाँति सिद्ध कर दिया है।

कुछ इस प्रकार का तर्क भी उठाया गया है कि साहित्य की भाषा वह होनी चाहिए जिसका मनुष्य बिना प्रयत्न किये ही शुद्ध-शुद्ध प्रयोग कर सके, वह नहीं

आदमी एक अत्यन्त समृद्ध भाषा को जान जाता है और उसे एक बहुत बड़े ज्ञान-भाण्डार की कुञ्जी मिल जाती है। यह बात हल्की नही है। जिस दिन हिन्दी बहुत समृद्धिशाली हो गयी रहेगी, उस दिन भी अपने देशवासियो को अंग्रेजी भाषा सीखनी पड़ेगी। परन्तु यह निश्चित है कि देश-के-देश को प्रयत्न कराके अंग्रेजी का जानकार बना सकना असम्भव है। कुछ थोड़े-से लोग ही इस भाषा मे विशेषज्ञता उपार्जन के लिए छोड़े जा सकते है। हम जब कहते हैं कि प्रयत्न करना मनुष्य का स्वाभाविक धर्म है तो हमारा मतलब यह होता है कि वही प्रयत्न वस्तुतः प्रयत्न है जिससे मनुष्य को सुख-शान्ति की प्राप्ति हो। इस देश मे शताधिक भाषाओ के प्रचलन से हमारे अनेक प्रयत्न विच्छिन्न और अकारथ हो जायेंगे। हमे एक ऐसी भाषा का आश्रय लेना है जो इन बोलियों से समता रखती हो और थोड़े प्रयत्न मे वृहत्तर कल्याण-साधन की योग्यता से सम्पन्न हो। जिस प्रयत्न मे परिश्रम अधिक हो और कल्याण की मात्रा कम हो, वह वांछनीय नही है; क्योकि मनुष्य का कल्याण ही हमारा परम लक्ष्य है। यदि किसी दिन यही सत्य लगे कि अंग्रेजी सीखने से हिन्दी सीखने की अपेक्षा कम परिश्रम और ज्यादा कल्याण है, तो नि.संकोच हमें अंग्रेजी को ही अपना लेना चाहिए। परन्तु यह बात कभी भी साबित नही होगी। कितना बड़ा भी तार्किक यह साबित नही कर सकता कि माता के दूध से बढ़कर कल्याणकारक वस्तु जगत् मे दूसरी भी है। जिसे हम अब तक केन्द्रीय भाषा कहते आये हैं, उसे भी वस्तुतः ऐसा हो जाना पड़ेगा कि विक्षिप्त बोलियो के बोलनेवाले उसे अपनी भाषा समझ सकें। वस्तुतः ऐसा स्वयमेव हो गया है। कलकत्ते के बाजार में हिन्दी एक तरह की बन गयी है, पटने के दफ्तरो में दूसरी तरह की और राजस्थान मे भी उसने निश्चय ही अपना रूप बदला होगा। मनुष्य समस्त इतिहास, पुराणों और व्याकरण-न्यायो से बड़ा और शक्तिशाली है। वह अपना रास्ता स्वयं बना लेता है। दिल्ली और मेरठ की बोली का ढाँचा साहित्य मे भी बदला है, और प्रदेशों मे तो बदला ही है। संक्षेप में हम ऊपर के वक्तव्य को इस प्रकार रख सकते हैं : (1) शिशुओ और अनपढ़ प्रौढ़ो की शिक्षा का माध्यम स्थानीय बोलियाँ होनी चाहिए, पर इस बात का प्रयत्न सदा होना चाहिए कि वे लोग यथाशीघ्र केन्द्रीय भाषा सीख जायें; (2) उच्चतर शिक्षा और साहित्य का माध्यम केन्द्रीय भाषा ही होनी चाहिए और इस बात का सदा प्रयत्न होना चाहिए कि केन्द्रीय भाषा बोलियों से दूर न पड़ने पाये। इन पंक्तियो के लेखक का विश्वास है कि ऐसा होने से मनुष्य का कल्याण होगा।

[3]

लेकिन कठिनाई अब भी रह जाती है। यह समझना भूल है कि लोगो को पढना-लिखना सिखा देने मात्र से मनुष्य का कल्याण हो जायेगा। असली बात यह है कि उन्हे पढाया क्या जायेगा, उन्हे वस्तुओं के यथार्थ को समझाने के लिए कौन-सी दृष्टि देनी होगी। जैसा कि शुरू मे ही कहा गया है, मनुष्य अपने प्रयत्नो के फल

जिसमें उसे थोड़ा प्रयत्न करना पड़े। किन्तु मनुष्य अपनी अप्रयत्न-सिद्ध अवस्था में रहनेवाला प्राणी नहीं है। उसने जो सभ्यता और संस्कृति बनायी है वह प्रयत्न-पूर्वक परिश्रम करके ही। अगर वह अपनी स्वाभाविक अवस्था में ही रहता तो पशु-सामान्य धरातल से ऊपर नहीं उठता। आहार-निद्रा आदि प्राकृतिक प्रयोजनों से वह जो ऊपर उठ सका है उसका प्रधान कारण प्रयत्न ही रहा है। यह और बात है कि प्रयत्न की दिशा सब समय सही नहीं रही है और लुढ़कते-पुढ़कते वह एक ऐसी अवस्था में आ गया है जो उसकी उन्नति के अनुकूल तो है ही नहीं, उसे वर्त्तमान अवस्था में भी शान्ति नहीं पाने देती। दुनिया-भर के दीर्घदर्शी मनीषियों ने इस अवस्था का कारण-विश्लेषण किया है। मनुष्य में संकीर्ण स्वार्थों और अन्ध प्रतियोगिताओं के बाहुल्य से ही यह अवस्था उत्पन्न हुई है। संसार के औसत मनुष्य अपनी बनायी हुई व्यवस्था की बेड़ियों से बुरी तरह जकड़ गये हैं। फिर एक बार क्रान्तदर्शियों ने सावधान किया है। वे कहते हैं, प्रयत्नपूर्वक इस व्यवस्था को जड़मूल से बदल दो; कुछ भी ऊलजलूल तरीके से नहीं होना चाहिए। प्रत्येक वस्तु के उत्पादन की योजना होनी चाहिए, वितरण की योजना होनी चाहिए, व्यवहार की मर्यादा होनी चाहिए। वर्त्तमान महायुद्ध ने नितान्त अन्ध लोगों को भी यह अनुभव करा दिया है कि बिना योजना के उत्पादन, वितरण और व्यवहार का चलते रहना महानाश को निमन्त्रण देना है। परन्तु योजना किसके लिए? मैं कहता हूँ, मनुष्य की सुख-शान्ति के लिए, भविष्य की सुरक्षा के लिए और अशिक्षा, कुशिक्षा, दरिद्रता, कुसंस्कार और परमुखापेक्षिता के नाम और निशान मिटा देने के लिए। अब भी दुनिया के शक्तिशाली समझे जानेवाले लोग इस बात को नहीं समझ सके; वे सस्ती-महँगी के नियन्त्रण की योजना बना रहे है। पर यह गलती बढ़ती जायेगी। मनुष्य को चरमलक्ष्य न मानने का कुफल सौ बार भोगना पड़ा है—इस बार भी भोगना पड़ेगा। भाषा के मामले में भी हमें सावधानी से काम लेना है। हम भाषाओं की एक लस्टम-पस्टम रेलपेल न खड़ी कर दें जो भविष्य में हमारी सभी योजनाओं के लिए घातक साबित हो। भाषा भी हमारे भावी महालक्ष्य की पूर्त्ति का साधन है। हमे ऐसी भाषा बनानी है जिसके द्वारा हम अधिक-से-अधिक व्यक्तियों की शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक क्षुधा निवृत्ति का सन्देश दे सकें। हम मानें या न मानें, दुनिया बुरी तरह से छोटी होती जा रही है। आँख मूँद लेने से ही अँधेरा नहीं हो जाता। आपको अगर इस बुरी तरह धन-जन-बहुल होनेवाली पृथ्वी में मनुष्य के साथ सम्बन्ध बनाये रखना है, तो ऐसी भाषा सीखनी ही पड़ेगी जिसे अधिक-से-अधिक लोग समझते हों, नहीं तो आप विज्ञान और दर्शन के नवीन शोधों को जान भी न सकेंगे और इन नये आविष्कारों और नये दार्शनिक सिद्धान्तों के आधार पर बनी हुई व्यवस्था आपकी गर्दन पर सवार हो जायेगी। प्रयत्न आपको करना ही पड़ेगा। प्रयत्न मनुष्य का स्वाभाविक धर्म है।

एक तरह के लोग हैं जो इस प्रकार का तर्क भी उपस्थित करते हैं कि यदि हमें मेहनत करके ही भाषा सीखनी है तो अंग्रेजी ही क्यों न सीखें? अंग्रेजी सीखकर

आदमी एक अत्यन्त समृद्ध भाषा को जान जाता है और उसे एक बहुत बड़े ज्ञान-भाण्डार की कुञ्जी मिल जाती है। यह बात हल्की नहीं है। जिस दिन हिन्दी बहुत समृद्धिशाली हो गयी रहेगी, उस दिन भी अपने देशवासियों को अंग्रेजी भाषा सीखनी पड़ेगी। परन्तु यह निश्चित है कि देश-के-देश को प्रयत्न कराके अंग्रेजी का जानकार बना सकना असम्भव है। कुछ थोड़े-से लोग ही इस भाषा मे विशेषज्ञता उपार्जन के लिए छोड़े जा सकते है। हम जब कहते है कि प्रयत्न करना मनुष्य का स्वाभाविक धर्म है तो हमारा मतलब यह होता है कि वही प्रयत्न वस्तुतः प्रयत्न है जिससे मनुष्य को सुख-शान्ति की प्राप्ति हो। इस देश मे शताधिक भाषाओं के प्रचलन से हमारे अनेक प्रयत्न विच्छिन्न और अकारथ हो जायेंगे। हमे एक ऐसी भाषा का आश्रय लेना है जो इन बोलियो से समता रखती हो और थोड़े प्रयत्न मे वृहत्तर कल्याण-साधन की योग्यता से सम्पन्न हो। जिस प्रयत्न मे परिश्रम अधिक हो और कल्याण की मात्रा कम हो, वह वांछनीय नही है; क्योंकि मनुष्य का कल्याण ही हमारा परम लक्ष्य है। यदि किसी दिन यही सत्य लगे कि अंग्रेजी सीखने से हिन्दी सीखने की अपेक्षा कम परिश्रम और ज्यादा कल्याण है, तो नि:संकोच हमे अंग्रेजी को ही अपना लेना चाहिए। परन्तु यह बात कभी भी साबित नही होगी। कितना बड़ा भी तार्किक यह साबित नहीं कर सकता कि माता के दूध से बढ़कर कल्याणकारक वस्तु जगत् मे दूसरी भी है। जिसे हम अब तक केन्द्रीय भाषा कहते आये है, उसे भी वस्तुतः ऐसा हो जाना पड़ेगा कि विक्षिप्त बोलियों के बोलनेवाले उसे अपनी भाषा समझ सकें। वस्तुतः ऐसा स्वयमेव हो गया है। कलकत्ते के बाजार मे हिन्दी एक तरह की बन गयी है, पटने के दफ्तरो मे दूसरी तरह की और राजस्थान मे भी उसने निश्चय ही अपना रूप बदला होगा। मनुष्य समस्त इतिहास, पुराणों और व्याकरण-न्यायों से बड़ा और शक्तिशाली है। वह अपना रास्ता स्वयं बना लेता है। दिल्ली और मेरठ की बोली का ढाँचा साहित्य मे भी बदला है, और प्रदेशों में तो बदला ही है। संक्षेप में हम ऊपर के वक्तव्य को इस प्रकार रख सकते हैं: (1) शिशुओं और अनपढ प्रौढ़ों की शिक्षा का माध्यम स्थानीय बोलियाँ होनी चाहिए, पर इस बात का प्रयत्न सदा होना चाहिए कि वे लोग यथाशीघ्र केन्द्रीय भाषा सीख जायें; (2) उच्चतर शिक्षा और साहित्य का माध्यम केन्द्रीय भाषा ही होनी चाहिए और इस बात का सदा प्रयत्न होना चाहिए कि केन्द्रीय भाषा बोलियों से दूर न पड़ने पाये। इन पंक्तियों के लेखक का विश्वास है कि ऐसा होने से मनुष्य का कल्याण होगा।

[3]

लेकिन कठिनाई अब भी रह जाती है। यह समझना भूल है कि लोगों को पढ़ना-लिखना सिखा देने मात्र से मनुष्य का कल्याण हो जायेगा। असली बात यह है कि उन्हें पढाया क्या जायेगा, उन्हें वस्तुओं के यथार्थ को समझाने के लिए कौन-सी दृष्टि देनी होगी। जैसा कि शुरू मे ही कहा गया है, मनुष्य अपने प्रयत्नों के फल

से ही इस अवस्था तक आया है। उसके शरीर, मन और वुद्धि, नाना प्रकार के प्रयत्नों की सफलता के भीतर से विकसित हुए है। एक देश के रहनेवाले दूसरे देश के रहनेवालो से इसलिए भिन्न हो जाते है। यही भेदक वस्तु उस जाति का इतिहास है। भिन्न-भिन्न परिस्थितियो में से गुजरकर बड़ी होने के कारण जातियों की मानसिक और बौद्धिक सवेदनशीलता भी अलग-अलग हो जाती है। जिस प्रकार मनुष्य के बाह्य सौविध्यो को दृष्टि मे रखकर भारतवर्ष के लिए एक प्रकार के घर आवश्यक हैं और केमस्कटका के लिए दूसरे प्रकार के; हालैण्ड के लिए एक प्रकार की पोशाक आवश्यक है और फिजी के लिए दूसरे प्रकार की, उसी प्रकार भिन्न-भिन्न देशों की मानसिक सुख-शान्ति के लिए भी अलग-अलग प्रकार की व्यवस्था जरूरी है। व्यवस्था के लिए बहुत-कुछ जानने की आवश्यकता है। किसी देश का धर्म, आचार-परम्परा, वंश-वैशिष्ट्य, वर्ग-मनोविज्ञान आदि आवश्यक हैं। भारतवर्ष मे राम और सीता का नाममात्र ही आदर्श के उद्बोधन के लिए पर्याप्त है, पर अन्य देशो के लिए ये नाम-मात्र ही है। परन्तु इन सब भेदो के होते हुए भी ऊपरी सतह के नीचे मनुष्य सर्वत्र एक है। मनुष्य की सुख-शान्ति की स्थायिता के लिए हमें जहाँ मनुष्य के ऊपरी भेद-विभेदो और ऐतिहासिक विकासों को ध्यान में रखना आवश्यक है, उसी प्रकार और शायद उससे भी अधिक यह भी ध्यान में रखना आवश्यक है कि मनुष्य सर्वत्र एक है। अपने देश की भाषा और साहित्य-विषयक नीति स्थिर करते समय हमें अपने देश के विशाल इतिहास को याद रखना होगा। नाना कारणों से इस देश में और बाहर यह बार-बार विज्ञापित किया जाता है कि इस महादेश में सैकड़ों भाषाएँ प्रचलित हैं, और इसलिए इसमें अखण्डता या एकता की कल्पना नही की जा सकती। मैंने विदेशी भाषाओं के जानकारों और विदेश के नाना देशों में भ्रमण कर चुकनेवाले कई विद्वानों से सुना है कि तथाकथित एक राष्ट्र और स्वाधीन देशों मे भी दर्जनों भाषाएँ हैं और भारतवर्ष की भाषा-समस्या उनकी तुलना मे नगण्य है। परन्तु अन्य देशों में यह अवस्था हो या नहीं, इससे हमारी समस्या का समाधान तो नही हो जाता। दूसरों की आँख में खराबी सिद्ध कर देने से हमारी आँख मे दृष्टि-शक्ति नही आ जायेगी। भाषागत विभेद इस देश में सचमुच ही है; पर हमारे इस देश ने हजारों वर्ष पहले भाषा की समस्या हल भी तो कर ली थी। हिमालय से सेतुबन्ध तक, सारे भारतवर्ष के धर्म, दर्शन, विज्ञान, चिकित्सा आदि विषयों की भाषा कुछ सौ वर्ष पहले तक एक ही रही है। यह भाषा संस्कृत थी। भारतवर्ष का जो कुछ श्रेष्ठ है, जो कुछ उत्तम है, जो कुछ रक्षणीय है, वह इस भाषा के भाण्डार मे संचित किया गया है। जितनी दूर तक इतिहास हमें ठेलकर पीछे ले जा सकता है, उतनी दूर तक इस भाषा के सिवा हमारा कोई सहारा नहीं। इस भाषा में साहित्य की रचना कम-से-कम छः हजार वर्षों से निरन्तर होती आ रही है। इसके लक्षाधिक ग्रन्थों के पठन-पाठन और चिन्तन मे भारतवर्ष के हजारों पुश्त तक के करोड़ों सर्वोत्तम मस्तिष्क दिन-रात लगे रहे हैं और आज भी लगे हुए हैं। मैं नहीं जानता कि संसार के किसी देश में

इतने काल तक, इतनी दूर तक व्याप्त, इतने उत्तम मस्तिष्कों मे विचरण करनेवाली कोई भाषा है या नही। शायद नही है।

संस्कृत के विषय मे इधर कुछ गलत ढंग की बातें कही जाने लगी है। नामी विद्वानों तक ने बिना संकोच के इन बातों को दुहराना शुरू किया है। अभी हाल ही मे मैं डॉक्टर ताराचन्द जैसे प्रामाणिक विद्वान् के लेख मे यह पढकर आश्चर्य-चकित रह गया कि "आज संस्कृत का सम्मान इसलिए है कि वह हिन्दू सम्प्रदाय में देववाणी समझी जाती है। इस भाषा मे इस खास सम्प्रदाय की पूज्य पुस्तकें है।" सत्य का इससे बढ़कर अपप्रयोग नहीं हो सकता। संस्कृत का सम्मान आज इसलिए नही है कि वह किसी खास धर्म-सम्प्रदाय की देववाणी है। संस्कृत वह भाषा है जिसमें भारतवर्ष की साधना का सर्वोत्तम—उसका धर्म और दर्शन, ज्योतिष और चिकित्सा, अध्यात्म और विज्ञान, राजनीति और व्यवहार, व्याकरण और शिक्षा-शास्त्र, तर्क और भक्ति—प्रकट हुए हैं। इस भाषा के दर्शन और अध्यात्म ग्रन्थो ने सारे संसार को प्रभावित किया है, ज्योतिष और चिकित्सा ने ईरान और अरब के माध्यम से समूचे सभ्य जगत् को आलोक दिया है। कथा और आख्यायिकाओ ने आधुनिक जगत् को आन्दोलित किया है। विंटरनित्स ने लिखा है कि "लिट्रेचर (साहित्य) शब्द अपने व्यापक अर्थ मे जो कुछ भी सूचित कर सकता है वह सभी संस्कृत मे वर्तमान है। धार्मिक और ऐहिकता-परक (सेक्यूलर) रचनाएँ, महा-काव्य, लिरिक, नाटक, नीतिविषयक कविताएँ, वर्णनात्मक अलंकृत और वैज्ञानिक गद्य सबकुछ इसमे भरा पड़ा है।" क्या सचमुच कालिदास की 'शकुन्तला' और अश्वघोष के 'बुद्धचरित' का सम्मान इसीलिए है कि वे एक खास सम्प्रदाय की धर्म-भाषा मे लिखे गये हैं? क्या डायसन ने जब प्लेटो और काण्ट के साथ संसार के महामति दार्शनिको मे शंकर का नाम लिया था तो यही सोचकर कि शंकर ने एक 'खास धर्म सम्प्रदाय की देववाणी' मे अपनी पोथी लिखी है? ब्रह्मगुप्त और आर्यभट्ट के ज्योतिष-ग्रन्थों का अरबों ने इसीलिए अरबी मे अनुवाद किया था कि वे ग्रन्थ किसी सम्प्रदाय-विशेष की धर्म-भाषा मे लिखे गये थे? नहीं; संस्कृत का आज इस देश में इसीलिए सम्मान नहीं है कि वह एक 'खास धर्म-सम्प्रदाय की देव-वाणी' है। यह बात गलत है। यह जल्दी में निर्णय करके कही हुई बात है। संस्कृत भारतीय मस्तिष्क के सर्वोत्तम को प्रकाशित करनेवाली अतुलनीय भाषा है। भारत-वर्ष जब कभी गर्व से सिर ऊपर उठायेगा तो वह इसलिए कि उसके पूर्वजों ने ज्ञान का भाण्डार इस भाषा में रख छोड़ा है। दुनिया की दूसरी कोई भी प्राचीन भाषा इतनी समृद्ध नही है। इस भाषा को ठीक-ठीक समझे बिना और उसका आश्रय लिये बिना भारतवर्ष की आत्मा तृप्त नही हो सकती। संस्कृत के लिए प्रेम होना साम्प्रदायिकता का लक्षण नही है। इस देश के अधिकांश मुसलमानों और ईसाइयों के पूर्वज भी संस्कृत के ज्ञान-भाण्डार के संग्राहक रहे हैं। आज किसी कारणवश मुसलमान या ईसाई यदि इस सत्य को स्वीकार नहीं करते तो हमे क्षुब्ध होने की जरूरत नही। समय आयेगा जब वे सचाई को मानेंगे और विशाल और मह

से ही इस अवस्था तक आया है। उसके शरीर, मन और बुद्धि, नाना प्रकार के प्रयत्नों की सफलता के भीतर से विकसित हुए हैं। एक देश के रहनेवाले दूसरे देश के रहनेवालों से इसलिए भिन्न हो जाते हैं। यही भेदक वस्तु उस जाति का इतिहास है। भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में से गुजरकर बड़ी होने के कारण जातियों की मानसिक और बौद्धिक संवेदनशीलता भी अलग-अलग हो जाती है। जिस प्रकार मनुष्य के बाह्य सौविध्यों को दृष्टि मे रखकर भारतवर्ष के लिए एक प्रकार के घर आवश्यक हैं और केमस्कटका के लिए दूसरे प्रकार के; हालैण्ड के लिए एक प्रकार की पोशाक आवश्यक है और फिजी के लिए दूसरे प्रकार की, उसी प्रकार भिन्न-भिन्न देशों की मानसिक सुख-शान्ति के लिए भी अलग-अलग प्रकार की व्यवस्था जरूरी है। व्यवस्था के लिए बहुत-कुछ जानने की आवश्यकता है। किसी देश का धर्म, आचार-परम्परा, वंश-वैशिष्ट्य, वर्ग-मनोविज्ञान आदि आवश्यक हैं। भारतवर्ष मे राम और सीता का नाममात्र ही आदर्श के उद्बोधन के लिए पर्याप्त है, पर अन्य देशों के लिए ये नाम-मात्र ही है। परन्तु इन सब भेदों के होते हुए भी ऊपरी सतह के नीचे मनुष्य सर्वत्र एक है। मनुष्य की सुख-शान्ति की स्थायिता के लिए हमें जहाँ मनुष्य के ऊपरी भेद-विभेदों और ऐतिहासिक विकासों को ध्यान मे रखना आवश्यक है, उसी प्रकार और शायद उससे भी अधिक यह भी ध्यान मे रखना आवश्यक है कि मनुष्य सर्वत्र एक है। अपने देश की भाषा और साहित्य-विषयक नीति स्थिर करते समय हमें अपने देश के विशाल इतिहास को याद रखना होगा। नाना कारणों से इस देश में और बाहर यह बार-बार विज्ञापित किया जाता है कि इस महादेश में सैकड़ों भाषाएँ प्रचलित है, और इसलिए इसमें अखण्डता या एकता की कल्पना नही की जा सकती। मैंने विदेशी भाषाओं के जानकारों और विदेश के नाना देशों मे भ्रमण कर चुकनेवाले कई विद्वानों से सुना है कि तथाकथित एक राष्ट्र और स्वाधीन देशों में भी दर्जनों भाषाएँ हैं और भारतवर्ष की भाषा-समस्या उनकी तुलना में नगण्य है। परन्तु अन्य देशों मे यह अवस्था हो या नही, इससे हमारी समस्या का समाधान तो नही हो जाता। दूसरों की आँख में खराबी सिद्ध कर देने से हमारी आँख में दृष्टि-शक्ति नहीं आ जायेगी। भाषागत विभेद इस देश में सचमुच ही है; पर हमारे इस देश ने हजारों वर्ष पहले भाषा की समस्या हल भी तो कर ली थी। हिमालय से सेतुबन्ध तक, सारे भारतवर्ष के धर्म, दर्शन, विज्ञान, चिकित्सा आदि विषयों की भाषा कुछ सौ वर्ष पहले तक एक ही रही है। वह भाषा संस्कृत थी। भारतवर्ष का जो कुछ श्रेष्ठ है, जो कुछ उत्तम है, जो कुछ रक्षणीय है, वह इस भाषा के भाण्डार मे संचित किया गया है। जितनी दूर तक इतिहास हमें ठेलकर पीछे ले जा सकता है, उतनी दूर तक इस भाषा के सिवा हमारा कोई सहारा नहीं। इस भाषा मे साहित्य की रचना कम-से-कम छ: हजार वर्षों से निरन्तर होती आ रही है। इसके लक्षाधिक ग्रन्थों के पठन-पाठन और चिन्तन में भारतवर्ष के हजारों पुश्त तक के करोड़ों सर्वोत्तम मस्तिष्क दिन-रात लगे रहे हैं और आज भी लगे हुए है। मैं नहीं जानता कि संसार के किसी देश मे

इतने काल तक, इतनी दूर तक व्याप्त, इतने उत्तम मस्तिष्कों में विचरण करनेवाली कोई भाषा है या नहीं। शायद नहीं है।

संस्कृत के विषय मे इधर कुछ गलत ढंग की बातें कही जाने लगी हैं। नामी विद्वानों तक ने बिना संकोच के इन बातों को दुहराना शुरू किया है। अभी हाल ही में मैं डॉक्टर ताराचन्द जैसे प्रामाणिक विद्वान् के लेख मे यह पढकर आश्चर्यचकित रह गया कि "आज संस्कृत का सम्मान इसलिए है कि वह हिन्दू सम्प्रदाय मे देववाणी समझी जाती है। इस भाषा मे इस खास सम्प्रदाय की पूज्य पुस्तकें हैं।" सत्य का इससे बढ़कर अपप्रयोग नही हो सकता। संस्कृत का सम्मान आज इसलिए नहीं है कि वह किसी खास धर्म-सम्प्रदाय की देववाणी है। संस्कृत वह भाषा है जिसमें भारतवर्ष की साधना का सर्वोत्तम—उसका धर्म और दर्शन, ज्योतिष और चिकित्सा, अध्यात्म और विज्ञान, राजनीति और व्यवहार, व्याकरण और शिक्षाशास्त्र, तर्क और भक्ति—प्रकट हुए हैं। इस भाषा के दर्शन और अध्यात्म ग्रन्थो ने सारे संसार को प्रभावित किया है, ज्योतिष और चिकित्सा ने ईरान और अरब के माध्यम से समूचे सभ्य जगत् को आलोक दिया है। कथा और आख्यायिकाओं ने आधुनिक जगत् को आन्दोलित किया है। विंटरनित्स ने लिखा है कि "लिट्रेचर (साहित्य) शब्द अपने व्यापक अर्थ में जो कुछ भी सूचित कर सकता है वह सभी संस्कृत मे वर्त्तमान है। धार्मिक और ऐहिकता-परक (सेक्यूलर) रचनाएँ, महाकाव्य, लिरिक, नाटक, नीतिविषयक कविताएँ, वर्णनात्मक अलंकृत और वैज्ञानिक गद्य सबकुछ इसमे भरा पड़ा है।" क्या सचमुच कालिदास की 'शकुन्तला' और अश्वघोष के 'बुद्धचरित' का सम्मान इसीलिए है कि वे एक खास सम्प्रदाय की धर्म-भाषा में लिखे गये हैं? क्या डायसन ने जब प्लेटो और काण्ट के साथ संसार के महामति दार्शनिकों में शंकर का नाम लिया था तो यही सोचकर कि शंकर ने एक 'खास धर्म सम्प्रदाय की देववाणी' में अपनी पोथी लिखी है? ब्रह्मगुप्त और आर्यभट्ट के ज्योतिष-ग्रन्थों का अरबों ने इसीलिए अरबी मे अनुवाद किया था कि वे ग्रन्थ किसी सम्प्रदाय-विशेष की धर्म-भाषा मे लिखे गये थे? नहीं; संस्कृत का आज इस देश में इसीलिए सम्मान नही है कि वह एक 'खास धर्म-सम्प्रदाय की देववाणी' है। यह बात गलत है। यह जल्दी में निर्णय करके कही हुई बात है। संस्कृत भारतीय मस्तिष्क के सर्वोत्तम को प्रकाशित करनेवाली अतुलनीय भाषा है। भारतवर्ष जब कभी गर्व से सिर ऊपर उठायेगा तो वह इसलिए कि उसके पूर्वजों ने ज्ञान का भाण्डार इस भाषा मे रख छोड़ा है। दुनिया की दूसरी कोई भी प्राचीन भाषा इतनी समृद्ध नही है। इस भाषा को ठीक-ठीक समझे बिना और उसका आश्रय लिये बिना भारतवर्ष की आत्मा तृप्त नहीं हो सकती। संस्कृत के लिए प्रेम होना साम्प्रदायिकता का लक्षण नहीं है। इस देश के अधिकांश मुसलमानों और ईसाइयों के पूर्वज भी संस्कृत के ज्ञान-भाण्डार के संग्राहक रहे हैं। आज किसी कारणवश मुसलमान या ईसाई यदि इस सत्य को स्वीकार नहीं करते तो हमें क्षुब्ध होने की जरूरत नहीं। समय आयेगा जब वे सचाई को मानेंगे और विशाल और महा

संस्कृत-साहित्य के लिए उसी प्रकार गर्व अनुभव करेंगे जिस प्रकार इन पंक्तियों का लेखक कर रहा है। हमारी भाषा पर, हमारे विचारों पर और हमारे साहित्य पर संस्कृत के उत्कृष्ट साहित्य का प्रभाव पड़ना कोई लज्जा की बात नहीं है, नहीं पड़ना जरूर लज्जा की बात है। देश का एक खीझा जन-समूह यदि उचित बात से नाराज होता है तो हमें धैर्य से काम लेना होगा। यह हो नहीं सकता कि जिस भाषा के साहित्य, दर्शन और अध्यात्म से सात समुद्र पार के लोग प्रभावित हो रहे हैं, उसके प्रति अपने देश का ही एक बड़ा समुदाय उदासीन रहे। आज नहीं तो कल वे इस बात की सचाई स्वीकार करेंगे ही। तब तक हमें अपनी बात के औचित्य को सचाई के साथ सिद्ध करते रहना होगा।

पर संस्कृत-साहित्य ही हमारे पूर्वजों का एकमात्र संचित ज्ञान-भाण्डार नहीं है, यद्यपि यह बहुत गौरवपूर्ण और अन्यान्य भाण्डारों की तुलना में बहुत विशाल है। सन् 1840 मे एलफिस्टन नामक यूरोपियन पण्डित ने हिसाब लगाकर देखा था कि संस्कृत-साहित्य में जितने ग्रन्थ विद्यमान हैं, उनकी संख्या ग्रीक और लैटिन मे लिखे ग्रन्थो की सम्मिलित संख्या से कहीं अधिक है। मगर उस समय तक बहुत कम ग्रन्थ पाये गये थे; इसका अनुमान इसी से किया जा सकता है कि 1830 ई. में फ्रेडरिक जैसे साहित्यान्वेषी को केवल साढ़े तीन सौ संस्कृत-ग्रन्थों का पता था और बाद में 1852 ई. में वेबर ने अपने संस्कृत-साहित्य के इतिहास मे जिन ग्रन्थों की चर्चा की, उनकी संख्या पांच सौ के आसपास थी। बाद मे वेबर की संगृहीत पुस्तकों की संख्या सोलह सौ हो गयी थी और 1916 ई. में म. म. हरप्रसाद शास्त्री ने चालीस हजार ग्रन्थों की चर्चा की थी। इनकी संख्या अब आधे लाख से कहीं अधिक हो गयी है और फिर भी आज तिब्बत और नेपाल से, तो कल केरल या मलाबार से नयी-नयी पुस्तकें प्राप्त होती रहती है। इस विराट् साहित्य के अतिरिक्त देश में पालि, प्राकृत, अपभ्रंश, फारसी, आधुनिक भाषाओं और अंग्रेजी के ग्रन्थ भी है, जिनकी संख्या जितनी ही विशाल है सामग्री उतनी ही ठोस भी। ये सब ग्रन्थ इस देश के निवासियों की मन:स्थिति और बौद्धिक विकास के निदर्शक हैं। इन सबमें भारतीय मनीषा ने अपने को नाना भाव से अभिव्यक्त किया है। हमारी भाषा पर, हमारे साहित्य पर और हमारी विचार-पद्धति पर निश्चय ही इस समूचे वाङ्मय का प्रभाव पड़ेगा। यह भी परम स्वाभाविक है कि जो समुदाय जिस विशेष शाखा के अध्ययन में अधिक आसक्त रहेगा, उसकी भाषा और भावों पर उस विशेष शाखा का ज्यादा प्रभाव पड़ेगा। जो समुदाय संस्कृत की अधिक चर्चा करेगा उस पर संस्कृत का प्रभाव पड़ेगा, जो पालि-प्राकृत की चर्चा करेगा उस पर उनका असर होगा, जो फारसी के साहित्य का अध्ययन करेगा उस पर फारसी का असर पड़ेगा और जो अंग्रेजी का अध्ययन करेगा उस पर अंग्रेजी की छाप रहेगी। यह स्वाभाविक है। इससे चिन्तित होने की बात नहीं है। चिन्तित होने की बात तब उपस्थित होगी, जब प्रभाव इतना अधिक पड़ने लगे कि वे एक-दूसरे की बोली ही न समझ सकें।

[4]

यह विचारणीय विषय है कि किस बात को दृष्टि में रखने से भाषा पर पड़ा हुआ असर इतना अधिक नही होगा कि एक ही भाषा बोलनेवाले एक-दूसरे की बोली ही न समझें; यद्यपि अनुभव से यह सिद्ध है कि ऐसे मामलो मे कोई ठण्डे दिल से विचार नही करता और कोई किसी की सलाह मानने को तैयार नहीं होता है। अगर युक्ति और तर्क से यह सिद्ध भी हो जाय कि हिन्दुस्तान का कोई जन-समुदाय अपनी भाषा पर विदेशी भाषा का प्रभाव न आने दे या यदि आने भी दे तो केवल भावों में, भाषा मे नहीं; तो भी कोई सुनेगा नही। फिर भी यह बात विचारणीय अवश्य है, क्योकि इसमे हम मनुष्य को उसके सच्चे रूप में पहचान सकेंगे। भाषा ही मनुष्य का सबसे बड़ा आकर्षण नही है, उससे बडा भी कोई आकर्षण है जिसके कारण मनुष्य भाषा को छोड़ देता है। देखा जाय, वह कारण क्या हो सकता है।

एक जमाना था जब भाषाविज्ञान और नृतत्त्वशास्त्र की घनिष्ठ मैत्री में विश्वास किया जाता था। माना जाता था कि भाषा से नस्ल की पहचान होती है। परन्तु शीघ्र भ्रम टूट गया, देखा गया कि ये दोनों शास्त्र एक-दूसरे के विरुद्ध गवाही देते हैं। भारतवर्ष भाषाविज्ञान और नृतत्त्वशास्त्र के कलह का सबसे बड़ा अखाडा साबित हुआ है। वर्त्तमान हिन्दू समाज में एक-दो नहीं, बल्कि दर्जन ऐसी जातियाँ है जो अपनी मूल भाषाएँ भूल चुकी है और आर्य भाषा बोलती हैं। आर्य होने की प्रवृत्ति इतनी तीव्र है कि कई जातियों ने अपनी मूल परम्पराओं को नष्ट कर दिया है और कई अब भी नष्ट कर रही है। कुछ जातियों की मूलभाषाओ का पता कठिनाई से लगता है। कुछ ऐसी हैं जिनमें परिवर्त्तन एक बार ही नहीं, कई बार हुआ है। नाना भाँति की खानाबदोश जातियों की वर्त्तमान भाषाएँ आर्य जाति की ही हैं, परन्तु सर्वत्र यह अनुमान पुष्ट हुआ है कि मूलतः उनकी भाषा द्रविड़ श्रेणी की थी। मध्यप्रदेश की नहाल जाति की मूल भाषा मुण्डा श्रेणी की थी। कुछ दिन पूर्व तक वह द्रविड़ श्रेणी की भाषाओं के प्रभाव में रही, क्योंकि द्रविड़ भाषा (तेलुगु) बोलनेवाली उच्चतर जातियों से नहाल जाति प्रभावित रही, परन्तु आज-कल वह तेजी से आर्य भाषा होने की ओर बढ रही है। असम की कई जातियों ने सौ वर्ष पहले गौड़ीय वैष्णव धर्म को अपनाया। उनकी भाषा तेजी से बदली है और अब तो उनका सम्बन्ध सीधे वेदो से कायम किया जाने लगा है। ब्राह्मण-प्रधान धर्म ने जातियो का कुछ इस प्रकार स्तर-विभाग स्वीकार कर लिया है कि निचली श्रेणी की जाति हमेशा अवसर पाने पर ऊँचे स्तर मे जाने का प्रयत्न करती है। इस देश मे न जाने किस अनादिकाल से संस्कृत भाषा का प्राधान्य स्वीकार कर लिया गया है कि प्रत्येक नस्ल और फिर्के के लोग अपनी भाषा को सस्कृत श्रेणी की भाषा से बदलते रहे हैं। ग्रियर्सन ने अपने विशाल सर्वे मे एक भी ऐसा मामला नही देखा जहाँ आर्य-भाषा—संस्कृत श्रेणी की भाषा बोलनेवाले किसी जनसमुदाय ने किसी भाषा से अपनी भाषा बदली हो। यहाँ तक कि आर्य-भाषा की एक बोली को

बोलनेवालों ने भी दूसरी बोली को स्वीकार नहीं किया है। सर्वे करनेवालों को ऐसे भूभाग बराबर मिलते रहे हैं जहाँ दो बड़ी भाषाओं की सीमाएँ मिलती हैं और दो बोलियों के बोलनेवाले लोग एक ही गाँव में बसे मिले हैं; पर उन्होंने अपनी बोली नही बदली है। मालदा जिले (बंगाल) के एक गाँव में तीन बोलियों के बोलनेवाले थे, परन्तु तीनों ही अपनी-अपनी अलग बोली बोलते थे। आपसी व्यवहार के लिए इन लोगों ने एक सामान्य भाषा जरूर बना ली थी। यहाँ यह कह देना आवश्यक है कि इस मामले का केवल एक ही अपवाद ग्रियर्सन को मिला है। इस्लाम ने उर्दू को दूर-दूर तक पहुँचाया है। बंगाल और उड़ीसा में भी ऐसे मुसलमान मिले हैं जो अपने प्रदेश की भाषा के बदले उर्दू, यद्यपि गलत ढंग की, बोलते हैं ('लिंग्विस्टिक सर्वे आफ इण्डिया', भाग 1, पृ. 29-30)। सो मज़हब वह सबसे बड़ा हेतु है जो भाषा को बदलवा देता है।

भारतवर्ष में भाषा-सम्बन्धी प्रश्न पर विचार करते समय इन विशेषताओं को ध्यान में रखना होगा। यहाँ इतिहास या भाषा-विज्ञान या नृतत्त्व-शास्त्र की दुहाई देकर आप भाषा में परिवर्तन या सुधार की सलाह नही दे सकते। आप एक असमी कोच को उसके विशुद्ध क्षत्रियत्व के दावे से नहीं हटा सकते, चाहे भाषाशास्त्र और नृतत्त्वशास्त्र आपका जितना भी साहाय्य करें। इसी प्रकार आप एक मुसलमान को अरबी-फ़ारसी के व्यवहार से नही रोक सकते, चाहे उसकी वंशावली दिखाकर आप यही क्यों न सिद्ध कर दें कि वह गायत्री-मन्त्र के द्रष्टा विश्वामित्र का ही गोत्रज है! मैंने इसी बार 'लोकयुद्ध' में पढ़ा है कि महात्मा गांधी ने जो मि. जिन्ना को यह लिख दिया कि अधिकांश मुसलमानों के पूर्वज हिन्दू थे, इस कथन से सभी उर्दू पत्र नाराज हुए हैं। यह तथ्य है। इसे हमें स्वीकार करना ही पड़ेगा कि भारतवर्ष में धर्म का आकर्षण सबसे जबर्दस्त है और जाति-व्यवस्था ने इस देश में एक ऐसी हीनता भर दी है कि अधिकाश जनसमुदाय अपने प्राचीन संस्कारों और परम्पराओं को धो डालने मे विल्कुल नही हिचकते। हिन्दू भी नहीं, मुसलमान भी नही।

यह स्पष्ट है कि किसी जाति की भाषा पर जब दूसरी जाति का प्रभाव पड़ता है तो इसका सबसे बड़ा कारण जातिगत और धर्मगत हीनता का भाव होता है। अपने को हीन समझनेवाला जनसमुदाय उच्चतर समझी जानेवाली जाति की भाषा को स्वीकार कर लेता है। यह परिवर्तन शुरू-शुरू मे शब्द-भाण्डार में होता है और क्रमशः भाषा का सारा ढाँचा ही बदल जाता है।

[5]

अंग्रेजी के आगमन के साथ नवशिक्षित हिन्दुओं मे इसी प्रकार का चलन शुरू हुआ था। बाप-बेटे तक में पत्र-व्यवहार अंग्रेजी मे होता था। परन्तु देशी और विदेशी पण्डितो के प्रयत्न से जब भारतीय ज्ञान-भाण्डार उद्घाटित हुआ, हजारों वर्ष पुरानी समृद्धिशाली सभ्यता का परिचय हुआ, तो अवस्था फिरने लगी। आर्य-

समाज और ब्राह्मसमाज के जबर्दस्त आन्दोलनों ने हीनताग्रन्थि को उखाड फेंकने का व्रत लिया और देखते-देखते संस्कृत के साहित्य और दर्शन, कला और विज्ञान, ज्योतिष और चिकित्सा का प्रभाव बढने लगा। भारतवर्ष में आत्मचेतना का यह जो उदय हुआ, उसी ने संस्कृतमयी भाषा का प्रचलन किया। संयोगवश वह आन्दोलन धार्मिक ढंग से चलाया गया और इस देश के मुसलमान उसे बराबर सन्देह की दृष्टि से देखते रहे। जैसा कि पहले ही कहा गया है, किसी अज्ञात काल से ही संस्कृत का प्राधान्य स्थापित हुआ है। उसे दोष कहिए या गुण, भारतीय जनता की अनादिकाल से चली आती हुई मनोवृत्ति के अनुकूल होने के कारण ही संस्कृत-बहुल भाषा इतनी तेजी से बढ़ गयी। इस बात को केवल ऊपर-ऊपर से देखने से बराबर गलत निष्कर्ष निकाले जाने की सम्भावना है। यह बात साम्प्रदायिक सकीर्णता की सूचक नही है, यह आत्माभिमान का—या सच कहिए तो आत्म-स्वभाव का—निदर्शक है। यह प्रश्न इतिहास और भाषाशास्त्र की गवाहियो से सुलझनेवाला प्रश्न नही है। हिन्दुओं मे संस्कृत के प्रति जो गहरी श्रद्धा है वह स्वाभाविक भी है और संस्कृत के महान् साहित्य को देखते हुए उचित भी। भाषाशास्त्रीय सर्वे से एक दूसरी बात भी अत्यन्त स्पष्ट हुई है: अपनी-अपनी बोली के प्रति अत्यधिक प्रेम भी इस देश के लोगों का सनातन स्वभाव है। बोलियो का जो आन्दोलन उठा है, वह कोई नवीन नहीं है। संस्कृत के प्रति श्रद्धा-भाव और अपनी-अपनी बोलियों के प्रति अनुराग, दोनों बातें बहुत पुरानी है। इसीलिए मैंने ऊपर कहा है कि केन्द्रीय भाषा को इन बोलियो के नजदीक आना चाहिए। मेरे कहने का मतलब यह है कि केन्द्रीय भाषा में दूर-दूर की बोलियो के काव्य, गान-मुहावरे, रीति-रस्म आदि का पर्याप्त अध्ययन होना चाहिए। जब तक प्रत्येक बोली का बोलनेवाला जन-समुदाय यह नहीं अनुभव करेगा कि केन्द्रीय भाषा उसकी बोली का पर्याप्त सम्मान करती है और उसकी अच्छी बातों से अपने को सम्पन्न करती है, तब तक केन्द्रीय भाषा के प्रति वास्तविक प्रेम जागरित नही होगा। और जब तक वास्तविक और भीतरी प्रेम जागरित नही होता, तब तक मनुष्य उसके सम्पूर्ण लाभ से वंचित रहेगा। लेकिन बोलियो के अध्ययन को प्रोत्साहित करने के प्रश्न में जो अनेक हेतु हैं उनमें से यह केवल एक है, और भी कई कारण है। यहाँ इतना स्मरण करा दूं कि ऊपर जो मैंने भाषा पर प्रभाव पडने का कारण जातिगत और धर्मगत हीन भावना को बताया है, वह सबसे बड़ा कारण है, एकमात्र कारण नही। दो जातियाँ एक-दूसरे को समझने के लिए भी बहुत-से शब्द स्वीकार करती हैं, परन्तु उस अवस्था में भाषा, परभाषा के शब्दों के भार से बोझिल नही हो उठती।

[विचार और वितर्क से—विश्वभारती पत्रिका, 1945 ई.]

फिर से सोचने की आवश्यकता है

आजकल मेरे मन मे एक बड़ा सवाल उठा हुआ है। बहुत पहले मैं इसका जवाब पा चुका था, सन्तुष्ट भी था; लेकिन हाल मे देश के अनेक ज्ञानी-गुणी लोगों के सम्पर्क मे आने के बाद चित्त विचलित हो उठा है। मैंने जो उत्तर पाया था, वह क्या सही था ? यद्यपि भीतर से आवाज आती है कि जो उत्तर तुमने पाया था वही सही है और जो विचिकित्सा इस समय खड़ी है वह गलत है; तो भी मेरे चित्त में आज नये सिरे से उस प्रश्न का उत्तर पाने के लिए प्रयत्न शुरू हो गया है। सत्संगति की महिमा कम-से-कम इस देश मे नयी नहीं रह गयी है और मैं तो व्याकुलता के साथ अनुभव कर रहा हूँ कि सत्संगति ने मेरे अन्तरतर को आलोड़ित कर रखा है। भीतर की आवाज केवल आदत का नतीजा है। एक खास ढंग से सोचते रहनेवाला आदमी उसी ढंग की आवाज सुना करता है। जिन लोगों की वाणी पर विश्वास करके आज तक चलता रहा हूँ वे ऐसा नही मानते। रवीन्द्रनाथ ने कहा है कि 'तू लोगों की बात पर कान न दे, हजार-हजार आकर्षणों से खिचा-खिचा भटकता न फिर, ऐसा हो कि तेरा हृदय जाने। तेरे हृदय में ही तेरा राजा बैठा हुआ है' :

लोकेर कथा दिस ने काने,
फिरिस ने आर हाजार टाने,
जेन रे तोर हृदय जाने, हृदये तोर आछेन राजा !

बैठा होगा; लेकिन आज दुनिया की बातों को अनसुनी करने की शक्ति नही रह गयी है। हजार-हजार आकर्षण बुरी तरह खीच रहे है और हृदय-देश में स्थित राजा की आज्ञा के पालन में झिझक अनुभव हो रही है।

प्रश्न यह है कि काम निकाल लेना बुद्धिमानी है या मान के लिए मर मिटना मनुष्यत्व की निशानी है। पहला मत उन लोगों का है जो समझदार माने जाते हैं, जो भावुक नही होते, जिनकी दृष्टि सीधे परिणाम तक पहुँची होती है। वे हाथ पर रखे हुए आमलक फल के समान प्रत्येक वस्तु की उपयोगिता और अनुपयोगिता को स्पष्ट देख लेते हैं। उनकी दृष्टि में काम बड़ी चीज है, मान केवल भावुकता का नामान्तर है। ऐसे समझदार लोग काम को बड़ा मानते हैं, मान उनकी दृष्टि मे नगण्य है। पुराने काव्य की उतावली नायिका के समान वे कहते हैं :

मान घटै तें कहा घटिहैं
जो पै प्रान पियारे के दर्शन पैये।

दूसरे मत के माननेवाले लोग सचमुच भावुक होते हैं। उनकी दृष्टि में मान का बड़ा महत्त्व है। वे मान के साथ दिये गये विष को भी पी लेते हैं और गर्वपूर्वक घोषणा करते हैं :

मान सहित विष खाइके शंभु भये जगदीश।
विना मान अमृत पिये राहु कटाये शीश॥

ऐसे लोगों ने अनेक प्रकार के तत्त्व-दर्शन बना रखे है। केवल जीवन-धारण के लिए उपयोगी प्रयोजनों के पीछे दौड़ना पशु का धर्म है। मनुष्य प्रयोजनों के पीछे दौड़ने के लिए नही बना है; प्रयोजन से जो अतीत धर्म है, वही मनुष्यत्व है। शक्ति, प्रेम, दया, सहानुभूति आदि गुण, स्थूल प्रयोजनों की सिद्धि करें तो, और न करें तो, बड़े हैं और पालनीय हैं। आवश्यकता पड़ने पर मनुष्य को इन वास्तव धर्मों की रक्षा के लिए अपने-आपको बलि चढ़ा देना चाहिए। मनुष्य इसलिए मनुष्य है कि उसमे मनुष्यत्व-धर्म है।

जलदानेनहि जलदः नहि जलदो पुञ्जितो धूमः।

जलद वह है जो जल दे सके, पुञ्जित धूम को जलद नहीं कह सकते। पहली श्रेणी के लोग समझदार कहे जाते है, दूसरी श्रेणी के भावुक।

जो लोग समझदार हैं, उनकी बात सुनकर मन अचरज से अवाक् हो रहता है कि इस देश की राज्य-व्यवस्था यदि ठीक चलती है, दस पढ़े-लिखे आदमियो को अगर ठीक से अन्न मिल जाता है तो अंग्रेजी को क्यो छोडा जाये ? आखिर डेढ़ सौ वर्षों तक हम लोग अंग्रेजो के तावेदार रहे है ! इतिहास को धो-पोंछकर फेंक नही दिया जा सकता। सिर्फ इसलिए कि वह हमारे पुराने शासको की भाषा थी, अंग्रेजी को विदेशी नही कहा जा सकता है ! क्या यह तथ्य नही है कि इस देश के बीसियों बाप-बेटों का पत्र-व्यवहार अंग्रेजी में होता है ? बहुत-से ऐसे बाप-बेटे और पति-पत्नियों की नामावली आसानी से गिना दी जा सकती है। क्या हमारे नेतागण अपना काम इसी भाषा में नही चलाते थे ? डेढ सौ वर्षों के निरन्तर अभ्यास के कारण समूचे देश में यह एक भाषा प्रतिष्ठित हुई है, क्यों इसका निरादर किया जाये ? यह क्या भारतवर्ष का परम सौभाग्य नही है कि उसकी आधी फीसदी जनता इस संसार की सर्वश्रेष्ठ भाषा से परिचित है ? इस महिमामयी भाषा की तुलना मे देशी भाषाओं में क्या धरा है ! सिर गिनने से देश का काम नही चलता; दिमाग गिनना है। तुम कहते हो, देश की जनता सौ फीसदी देशी-भाषा जानती है। यह केवल सिर गिनना-मात्र है। गिनती दिमाग की होनी चाहिए। देश की आधी फीसदी की भी आधी फीसदी दफ्तर की फाइलों पर नोट लिखने की कला मे प्रवीण है और उस आधी फीसदी की आधी फीसदी की आधी फीसदी देश-विदेश मे लाज-हया छोडकर अंग्रेजी बोल लेने की कला मे पूर्ण दक्ष सिद्ध हो चुकी है; तो क्या हुआ ? दिमाग की गणना होनी चाहिए। अंग्रेजी अब इस देश में विदेशी भाषा नही है, वह भी हमारी राष्ट्रीय भाषा है। अब भी अंग्रेजों के बहुत-से बच्चे इस भाषा को बोलते है।

और देशी भाषाओं मे रखा ही क्या है ! तुलसीदास की रामायण से या तुकाराम के अभंगो से देश का शासन नही चल सकता। भारतवर्ष मे एक भी देशी भाषा ऐसी नही है जिसमे कोई समझदार न्यायाधीश फैसला लिख सके। वह फांसी की सजा दे सकता है, लेकिन दण्डित व्यक्ति को उसी की भाषा में समझा नही सकता कि क्यों उसे फाँसी दी गयी। यदि वह पूछे कि 'दयानिधान, मुझे यह तो

बता दीजिए कि मुझे फाँसी क्यों दी गयी'; तो उत्तर है यह कि 'तुम मूर्ख लोगों की भाषा में इतनी शक्ति नहीं कि हमारे निर्णय को व्यक्त कर सके। यदि जानना ही चाहते हो तो हमारी ही जैसी अंग्रेजी जाननेवाले किसी वकील को हजार-पाँच सौ रुपया देकर ठीक कर लो जो समझा सके कि क्यों तुम्हें फाँसी दी गयी। तुम्हें सिर्फ फाँसी पर झूल जाने का अधिकार है। क्यों और कैसे का निर्णय बड़े लोगों के बीच की बात है। देशी भाषाओं मे फैसला नहीं लिखा जा सकता।' जनता का शासन केवल बात-की-बात है। जनता की भाषा का नारा केवल वोट प्राप्त करनेवालो के लटकों मे से एक है। शासन की मशीन नारों पर नही चलती; फाइलों पर नोट लिखने की विद्या बड़ी मिहनत से सीखी जाती है। जनता की सुविधा की थोथी दलील पर परिवर्त्तन नही किया जा सकता।

ऊपर के वाक्यों के पढ़नेवाले व्यक्ति के मन में प्रतिक्रिया हो सकती है कि मैं व्यंग्य और विनोद की भाषा लिख रहा हूँ, परन्तु मैं सचाई के साथ कहता हूँ कि मैंने बुद्धिमान लोगों से जो बातें सुनी है उसका यही अर्थ हो सकता है। मैंने पण्डितो और प्रतिष्ठित व्यक्तियों के प्रति आजीवन श्रद्धा का भाव बनाये रखा है, मैंने ऐसे लोगों की प्रत्येक बात को आदर और श्रद्धा से सुनने का नियम बनाया है और इसीलिए आज मेरा चित्त बहुत चंचल है। मै व्याकुल भाव से सोचता हूँ कि आज से दस वर्ष पहले तक जिन दीवानों ने सर पर कफन बाँधकर देश की कोटि-कोटि जनता को शोषण और परमुखापेक्षिता से बचाने के लिए अचिन्तनीय यातनाएँ सही थी, उन्होंने क्या यही स्वप्न देखा? आज खुल्लमखुल्ला कहा जाने लगा है कि स्वतन्त्रताप्राप्ति के नवीन आवेश में संविधान बनानेवाले देशभक्तों ने देश की भाषा सम्बन्धी नीति को गलत ढंग से स्वीकार किया। अब नशा उतर गया है। पद-पद पर गोलियों के सामने सीना तान देनेवाले दीवानों की संख्या घट गयी है। उनको मूर्ख तो क्या कहा जाये, पर काम उन्होंने बुद्धिमानी का नही किया! स्वतन्त्रता-दिवस के अवसर पर जब बुद्धिमान लोग अपनी तरक्की का स्वप्न देखा करते थे, उस समय झण्डा लेकर चिल्ला-चिल्लाकर अपनी सांस्कृतिक स्वतन्त्रता की घोषणा करनेवाले 'अनपढ़' नवजवानों का जमाना लद चुका है; अब हमे धैर्य और विवेक के साथ विचार करना चाहिए। डेढ़ सौ वर्षों तक अनेक अपमान और तिरस्कार की छाया में सीखी हुई मालिकों की बोली को यों ही नही भुला देना चाहिए! वह वस्तुतः हमारी राष्ट्रीय जबान हो गयी है। आज जो विदेशों में हमारी धाक है, वह इसी बोली के कारण है। यह गलत बात है कि गाधी और नेहरू ने कोई बड़ी बात कही है, इसलिए दुनिया उनकी पूजा करती है। उनकी पूजा का प्रधान कारण अंग्रेजी बोली है। देखो, देश की इस बोली की पढ़ाई का स्तर गिरता जा रहा है; ऐसा न हो कि गाढ़े की यह कमाई यों ही नष्ट हो जाये। इसे बचाओ! दरिद्र देशी भाषाओं के आक्रमण से कही यह मार न डाली जाये! सुनता हूँ, और सुनकर सोचता हूँ कि सचमुच ही क्या कोई अनर्थ होने जा रहा है! सचमुच ही जिन लोगों ने अपने प्राणों की आहुति दी थी, उनमें पागलपन-ही-पागलपन था या कहीं होश

हवास भी था ? इतने बुद्धिमान लोगों की बात क्या यों ही टाल दी जाये ? आखिर ये लोग अनुभवी है। बिना सोचे-समझे कुछ नही कहते। इनकी बातों में कुछ-न-कुछ सार तो अवश्य होगा।

लेकिन फिर मैं सोचता हूँ कि प्राण देने का साहस जिन्होने किया था उनको इतनी आसानी से छोड़ा नही जा सकता। कितने लोग है जो किसी आदर्श के लिए कष्ट सहन कर सकते है ? कितने लोग है जो उसी प्रकार उठकर अनीति और अत्याचार का विरोध कर सकते हैं, जिस प्रकार स्वतन्त्रता की रट लगानेवाले भावावेशी नौजवानो ने किया था ? मनुष्य क्या केवल इसलिए पैदा हुआ है कि जो-कुछ जैसा है उसे चुपचाप स्वीकार कर ले ? क्या प्रयत्न और पुरुषार्थ केवल सिरफिरे लोगों की बकवास मात्र है ? मेरा अन्तरतर ऐसा नही मानना चाहता। केवल अक्लमन्दी से सिर छिपा लेना ही बड़ी बात होती तो मनुष्य कीड़े-मकोडों से अधिक न होता। मनुष्य इसलिए 'मनुष्य' है कि उसने सृष्टि की धारा को अपने पुरुषार्थ से अनुकूल दिशा में मोड़ा है। कई बार उस पर गलत ढंग की अक्लमन्दी का नशा छा जाता है। वह अपनी दुर्बलताओं को तत्त्वचिन्तक मनीषी की भाषा में महनीय बनाने का प्रयत्न करता है। अपनी आदतों को फलसफे का रूप देता है; परन्तु इससे गलतियां या दुर्बलताएँ बड़ी नही हो जाती। जो तर्क इस दृष्टि से दिये जाते है कि हमारी आदतें और लतें ही चारित्र्य का बाना धारण करके प्रकट हों, वे तर्काभास मात्र हैं। अन्तर्यामी सब समय तर्कों के द्वारा अपनी योजना नही प्रकट करते। भावावेग तर्कों की अपेक्षा अधिक गहराई से निकलते हैं। वे अन्तरतर में बैठे हुए अज्ञात देवता के तर्जनी-सकेत पर चलते हैं। तथाकथित अक्लमन्दी कई बार निष्क्रियता, लत और आदत के इंगित का नामान्तर मात्र होता है।

कदाचित् आज यह सोचने की आवश्यकता आ पड़ी है कि हम अपनी दुर्बलताओं को महनीय बनाने का यत्न तो नही कर रहे हैं, अपनी निष्क्रियता को तत्त्ववाद का रूप तो नही दे रहे हैं, अपनी अक्षमताओं को गौरव देने के लिए तर्काभासों का सहारा तो नही ले रहे है। क्या करोड़ो की उपेक्षा करके कुछ थोड़े-से लोगों की सुविधा को बहुत बड़ा लाभ माना जा सकता है ? क्या सचमुच स्वभाषा की उपेक्षा से देश महान् बनेगा ? हमे फिर से सोचना पड़ेगा।

[कुटज से]

हिन्दी : साध्य या साधन

सबसे पहले यह भली-भाँति समझ लेने की जरूरत है कि हिन्दी भाषा और साहित्य हमारा साध्य ही नहीं, साधन भी है, बल्कि हमारी वर्तमान परिस्थिति में हममें से अधिकांश के लिए साधन अधिक है, साध्य कम। हिन्दी की प्रतिद्वन्द्विता न तो किसी प्रान्तीय भाषा से ही है और न संस्कृत, प्राकृत आदि प्राचीन भाषाओं से ही। आज से कई सौ वर्ष पहले जो स्थान संस्कृत का था और आज जो स्थान अंग्रेजी का है, हिन्दी उसी की अधिकारिणी है। वह संसार के समस्त व्यावहारिक और पारमार्थिक ज्ञान-विज्ञान और यावत् विषयों को करोड़ों आदमियों तक पहुँचाने का साधन बनना चाहती है। भारतवर्ष में आंशिक रूप से किसी युग में संस्कृत इस कार्य को करने में समर्थ हो सकी थी; पर वह पण्डितों की भाषा थी, और इसीलिए जहाँ वह तत्तद् विषयों को योग्यतापूर्वक आलोचित कर सकी, वहाँ उन्हें करोड़ों तक तो क्या, हजारों तक पहुँचाने में भी असमर्थ रही। अंग्रेजी विदेशी भाषा है, इसलिए वह भी यह कार्य उस योग्यता के साथ इस देश में नहीं कर सकी, जिसके साथ इंग्लैण्ड आदि देशों में वह करती है। हिन्दी का दावा है कि वह इन दोनों भाषाओं के दोषों से मुक्त है। संस्कृत के समान वह केवल पण्डितों की भाषा नहीं है, फिर भी संस्कृत की समस्त सम्पत्ति की वह अपनी अन्यान्य भगिनी भाषाओं की भाँति स्वाभाविक अधिकारिणी है। दूसरी तरफ अंग्रेजी की भाँति वह विदेशी भाषा नहीं है, यद्यपि एक ही युग में पैदा होने के कारण वह अंग्रेजी के उन सभी गुणों को आत्मसात् करने का उचित दावा रखती है जिन्हें युग-धर्म ने अंग्रेजी में आरोपित किया है।

यह नितान्त भ्रम है कि फ़ारसी या अरबी भाषा भी कभी इस देश में उसी प्रकार सांस्कृतिक, पारमार्थिक और व्यावहारिक विषयों के विवेचन का साधन रही है, जिस प्रकार संस्कृत भाषा थी या अंग्रेजी भाषा है। यह जरूर है कि एक अत्यन्त सीमित काल में (जो संस्कृति की विशाल परम्परा की तुलना में अत्यन्त नगण्य है) फारसी अदालतों की भाषा थी और फारसी से मिली हुई हिन्दी बाजार की भाषा थी, पर इतना ही भर। उन दिनों भी संस्कृत भाषा ही भारतवर्ष की दर्शन, ज्योतिष, चिकित्सा, व्याकरण, न्याय, धर्म (कानून) आदि सांस्कृतिक और पारमार्थिक विषयों के सूक्ष्म विवेचन की भाषा थी, और आज भी उसने अपना यह दावा छोड़ नहीं दिया है। आज भी संस्कृत में इन विषयों पर ग्रन्थ लिखे जा रहे हैं, टीका-टिप्पणी की जा रही है और निष्ठापूर्वक पठन-पाठन हो रहा है। कुछ दिनों में अंग्रेजी भाषा इन विषयों के विवेचन का भार भी लेने की तैयारी कर रही है, और अगर आज भी हिन्दी इन विषयों को उससे नहीं छीन लेती, तो

अगली दो-तीन पीढ़ियों तक के लिए ही नहीं, आगे के लिए भी यह परमुखापेक्षी ही होकर रहेगी।

एक तरफ हजारो वर्षो की भारतीय ज्ञान-परम्परा और दूसरी तरफ आधुनिक युग की हजारो योजन-व्यापी जन-समुदाय की विराट् चिन्तनधारा का वाहन हिन्दी को बनना है। इसीलिए आज की परिस्थिति में हिन्दी-साहित्य हमारे लिए साध्य की अपेक्षा साधन अधिक है। संस्कृत और अंग्रेजी के आसन की योग्य और उचित अधिकारिणी यह भाषा केवल कविता और कहानी लिखनेवालों की सम्पत्ति नहीं है। उससे कही बडी है, कही व्यापक है, कही शक्तिगर्भा है। इस बात को समझे बिना जो सभाएँ की जाती हैं वे नितान्त उपहासास्पद, संकीर्ण और उथली होती है। इन सभाओ मे न तो संस्कृत के प्रसिद्ध विद्वान् और विश्वविद्यालयों के साधनाशील विद्वान् आवश्यक समझे जाते हैं और न वे दिलचस्पी ही लेते हैं। इसका कारण केवल यही है कि मन-ही-मन हम हिन्दी साहित्य को साध्य अधिक समझते हैं, हिन्दी-भाषा को साधन कम। यह वांछनीय नहीं है।

'हिन्दीवाला' : एक विचित्र विशेषण

व्यक्तिगत रूप से मुझे यह विशेषण अजीब-सा लगता है। हिन्दी बोलनेवाला आदमी इसका विशेष्य हो सकता है, और जब बंगाली या गुजराती लोग किसी को 'हिन्दीवाला' कहे, तो बात समझ में आ भी सकती है—हालांकि हम लोग किसी बंगाली को या गुजराती को 'बँगलावाला' या 'गुजरातीवाला' न कहकर सीधे बंगाली या गुजराती ही कहते हैं। लेकिन जब हिन्दी बोलनेवाले किसी को 'हिन्दीवाला' कहते हैं, तो बात अजीब हो जाती है। 'केमिस्ट्रीवाला', 'फिजिक्सवाला', 'साहित्यवाला' समझ मे आ जाते हैं, क्योंकि इनके विशेष्य ये लोग हैं जो संसार के किसी कोने में इन विषयों का अध्ययन-मनन कर रहे है। 'संस्कृतवाला' या 'लैटिनवाला' भी ठीक है। पर स्टेनकोनो को 'पोलिशवाला', मैक्समूलर को 'अंग्रेजीवाला' या बोगल को 'डचवाला' और के. पी. जायसवाल को 'अंग्रेजीवाला' कहना क्या ठीक है ? ये विद्वान् जिस किसी भाषा मे अपने विषय को क्यों न लिखें, ये 'पुरातत्त्ववाले' या 'भारतीय विद्यावाले' हैं। फिर तो जयचन्द्र विद्यालंकार और राहुल सांकृत्यायन 'हिन्दीवाले' क्यो कहे जायें ? क्या इसलिए कि ये जिस भाषा मे लिखते हैं उसमें भाषा ही प्रधान होती है, विषय गौण ? या क्या ये अपने विषय में इसी विषय के पण्डित समझे जानेवाले अन्यान्य पण्डितों से घटकर हैं ? दोनों ही बातें गलत हैं। सही बात यह है कि हमारी मानसिक कमजोरी ऐसी है कि हम मन-ही-मन ऐसा समझते हैं कि अग्रेजी या जर्मन में ही उक्त विषय की प्रामाणिक पुस्तकें निकलती है और हिन्दी में लिखना उक्त विद्वानों की किसी कमजोरी का परिचायक है। हम स्वीकार करें या नहीं, हमारे मन मे यह दुर्बलता है और हमने यह विचित्र विचार-पद्धति स्वीकार की है कि अंग्रेजी भाषा में लिख सकने की अक्षमता ऐसी बड़ी कमजोरी है जो किसी को योग्य नही होने देती। कम-से-

कम हिन्दी में जो-कुछ भी कोई लिखे, उसे अपने ही प्रान्त में 'हिन्दीवाला' कहना (जबकि कहनेवाला स्पष्टतः अपने को अ-हिन्दीवाला समझता रहता हो) इस बात का परिचायक जरूर है कि हम हिन्दी को साधन और विषय को साध्य न मानकर हिन्दी को साध्य और विषय को साधन मानते हैं। श्री जयचन्द्रजी को इतिहास का विद्वान् न कहकर 'हिन्दीवाला' कहने का अर्थ कुछ ऐसा है कि वे इतिहास की साधना नहीं कर रहे हैं, हिन्दी की साधना कर रहे हैं, और इतिहास नहीं, तो और कोई विषय ही उपलक्ष्य बनाकर वे हिन्दी जरूर लिखते रहेंगे, इतिहास लिखना चाहे छोड़ दें।

फिर संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश आदि भाषाओं के पण्डितों की तरह 'हिन्दी-भाषा का पण्डित' एक सीमित अर्थ में ही प्रयोज्य शब्द है। संस्कृत आदि भाषाएँ साधन हो सकने की शक्ति खो चुकी हैं, जबकि हिन्दी में साधन होने की शक्ति पूरी मात्रा में वर्त्तमान है, और प्रत्येक नया दिन हमें यह महसूस करायेगा कि यह भाषा साधन होने की ओर बड़े वेग से धावमान है, और इस कार्य के लिए जिस प्रचण्ड शक्ति की जरूरत है वह उसमें पूरे जोर पर है। ऐसी हालत में इन भाषाओं के साथ हिन्दी को एक हद तक ही बैठाया जा सकता है। वह हद है हिन्दी के प्राचीन साहित्य की जानकारी। आधुनिक युग के पूर्व का समस्त (ब्रजभाषा और अवधी आदि का) साहित्य प्राकृत और अपभ्रंश के प्राचीन साहित्य की भाँति ही प्राच्य-विद्या का अंग है। जबकि हरिश्चन्द्र के बाद का साहित्य संसार के आधुनिक साहित्य का अंग है। दोनों में प्रधान भेद यह है कि पहले में भौगोलिक सीमाएँ और राष्ट्रीय संस्कृति का प्राधान्य है, जबकि आधुनिक साहित्य क्रमशः भौगोलिक सीमाओं से अनाबद्ध और राष्ट्रीय संस्कृति से अनिरुद्ध होता जा रहा है। संस्कृत का सवाल प्राकृत, अपभ्रंश और प्राचीन हिन्दी से थोड़ा भिन्न भी है, जो विद्वानों के निकट काफी स्पष्ट है, और इसलिए उसकी चर्चा यहाँ छोड़ दी जा रही है। संक्षेप में यह समझ लेना चाहिए कि संस्कृत आज भी बहुत दूर तक नाना प्रकार के ज्ञान-विज्ञान की चर्चा का साधन बनी हुई है; पर हर साल के आँकड़ों से स्पष्ट है कि वह तेजी से यह रूप छोड़ती जा रही है।

ऊपर की बात का सीधा अर्थ यह है : (1) हिन्दी के रीतिकाल तक का साहित्य उस 'भारतीय विद्या' की जाति का है, जिसे अंग्रेजी में 'इण्डोलॉजी' कहते हैं, (2) यदि उक्त (प्राचीन हिन्दी) साहित्य के निर्माता हमारे 'अपने' हैं, तो ठीक उतने ही 'अपने' प्राकृत, अपभ्रंश, प्राचीन मराठी, प्राचीन बँगला, तमिल आदि के निर्माता भी हैं। ये सभी एक ही श्रेणी में आते हैं। जिन स्थानों पर हमारे स्थानीय सम्मेलन हों, उनमें यदि ऐसे किसी साहित्य-स्रष्टा की साधना-भूमि हो, तो स्थानीय कार्यकर्त्ताओं को उनके दर्शन और परिचय कराने की जरूर व्यवस्था करनी चाहिए। उदाहरणार्थ, काशी में यदि सम्मेलन हो, तो सम्मेलन की स्वागत-समिति को तुलसीदास और कबीरदास के स्थानों के दर्शन कराने की व्यवस्था कराने का आयोजन करना जितना जरूरी है, उससे किसी अंश में भी कम नहीं है नागेश भट्ट

या मधुसूदन सरस्वती के स्थानों का। जितना ही हम इस दिशा में अग्रसर होंगे, उतना ही हम अपनी प्रिय भाषा की वास्तविक शक्ति और अपनी वर्षीयसी संस्कृति की अमर महिमा अच्छी तरह हृदयंगम कर सकेंगे। जब तक हम ऐसा नहीं करते, तब तक हमारा दृष्टिक्षेत्र व्यापक नहीं हो सकता और न हमारी काम करने की प्रेरणा गम्भीर और स्थायी होगी। ऐसा न करके हम मानो अप्रत्यक्ष रूप से स्वीकार कर लेंगे कि 'हिन्दी' का आन्दोलन एक अत्यन्त सीमित कार्यक्षेत्र का आन्दोलन है और हमारा साहित्य-सम्मेलन बहुत-कुछ 'ओरियण्टल कान्फरेन्स' के हिन्दी-विभाग का एक स्वतन्त्र—और अधिक-से-अधिक ज्यादा मजबूत रूप है। जबकि होना यह चाहिए कि हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के एक अंशमात्र का रूप ओरियण्टल कान्फरेन्स है, जिसे इस देशवालों ने अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहार के लिए संगठित किया है।

हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन और ओरियण्टल कान्फरेन्स

सारे भारतवर्ष में प्राच्य-विद्याध्यायियों की एक सभा है, जो नियमित भाव से हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन की भाँति ही भारतवर्ष के भिन्न-भिन्न नगरों में प्रतिवर्ष बुलायी जाती है। इसी का नाम ओरियण्टल कान्फरेन्स है। इसकी कार्रवाई अंग्रेजी में होती है और भारतीय विद्या से सम्बन्ध रखनेवाले बहुत-से छोटे-छोटे इसके विभाग हैं। चूँकि 'भारतीय विद्या' आज सारे संसार के अध्ययन और चर्चा का विषय है, इसलिए कान्फरेन्स का, जिसकी आलोचना का माध्यम अंग्रेजी हो, बहुत जबरदस्त प्रयोजन है। मैंने ऊपर जो कुछ लिखा है, उस पर बहुत-से पाठक यह सन्देह कर सकते हैं कि मैं हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन को एक दूसरे 'ओरियण्टल कान्फरेन्स' के रूप में देखना चाहता हूँ। सही बात यह है कि दुर्भाग्य की विडम्बना से आज जो स्थान इस देश में यहाँ की भाषा में की गयी आलोचना का होना चाहिए था, वह नहीं है। कोई भी यह उम्मीद नहीं करता कि भारतीय विद्याओं के सम्बन्ध में जर्मनों ने जो कुछ जर्मन भाषा में लिखा है, वही कम महत्त्व का है, और जो कुछ अंग्रेजी में लिखा है, वही ज्यादा महत्त्व का है। पर इस देश में विचित्र बात है। सभी मानते हैं कि इस देश की भाषाओं के विषय में जो कुछ इस देश की भाषा में लिखा गया है, वह नगण्य है, और अंग्रेजी में जो कुछ लिखा गया है, वही श्रेष्ठ है! पर आज दुर्भाग्य की चाहे जैसी भी विडम्बना क्यों न हो, एक दिन अवस्था जरूर बदलेगी और हिन्दी में की गयी चर्चा निश्चय ही अपना उचित आसन पायेगी। ओरियण्टल कान्फरेन्स उस दिन भी जरूरी होगी, क्योंकि बहुत दिनों तक हमें अंग्रेजी के माध्यम से विदेश में बातचीत करनी पड़ेगी, और उस दिन हमारा यह कहना सत्य दिखेगा कि हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन उक्त कान्फरेन्स से बड़ी और जबरदस्त संस्था है; क्योंकि इसका मूल पृथ्वी में है, जहाँ से प्रतिकूल अवस्थाओं में भी यह प्रचुर खाद्य संग्रह कर रहा है। उस दिन इसी सम्मेलन-वृक्ष के चुने हुए फूल उक्त कान्फरेन्स विदेशी अतिथियों को समर्पण करेगी। वह दिन दूर नहीं है।

परन्तु जब मैं हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन को बड़ी संस्था कहता हूँ, तो इससे भी अधिक समझता हूँ। हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन उक्त कान्फरेन्स की भाँति केवल अतीत साहित्य की समस्याओ की आलोचना-भूमि नही है, वह वर्त्तमान और अनागत समस्याओं पर भी विचार करता है; और उसका यह रूप यद्यपि क्षीण है, फिर भी प्रतिवर्ष अधिकाधिक स्पष्ट होता जा रहा है। वह भावी साहित्य को—जो संसार का सबसे शक्तिशाली और स्वास्थ्यदाता साहित्य होगा—बनाने का स्वप्न देखता है। वह भावी राष्ट्र का और साथ ही भावी काल का निर्माण करना चाहता है। वह उस अदृष्टमूल अकुर को सींच रहा है, जो ससार का एक महान् छायादायक वृक्ष होनेवाला है। हमे इसी दृष्टि से सम्मेलन को देखना चाहिए।

काशी-सम्मेलन का अनुभव

गत वर्ष काशी मे हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन हुआ था। मैं इस सम्मेलन मे जाने का अवसर खोज रहा था, और पं. बनारसीदासजी की प्रेरणा से जाने मे समर्थ भी हुआ। फिर भी मैंने कभी यह नही सोचा था कि मैं उसमें कुछ क्रियात्मक हिस्सा लेने जा रहा हूँ। मैं बिल्कुल अध्ययन करने की इच्छा से गया था और यथाबुद्धि वह अध्ययन कर भी सका। वहाँ बहुत-से साहित्य-साधक, साहित्य-व्यवसायी और साहित्य-दलालों से मिलने का सौभाग्य हुआ। मेरे लिए यह एक नया अनुभव था। मैं नयी पीढ़ी मे दुर्दमनीय साधना का अंकुर देख सका, वृद्धों में तरुणोचित उत्साह अनुभव कर सका और साधारण जनता में हिन्दी के प्रति प्रेमान्ध आशंका का भाव भी लक्ष्य कर सका; लेकिन मैंने अत्यन्त स्पष्ट देखा कि यह सारा उत्साह लक्ष्यहीन है। भविष्य में हमे क्या करना या होना है, इस विषय मे यदि साहित्य-प्रेमियों मे ऐकमत्य होता तो गरमागरम बहसें और लम्बी-लम्बी वक्तृताएँ इस प्रकार व्यर्थ न की जातीं और विरोधी दलों मे किसी एक-न-एक बात पर जरूर समझौता हो जाता। हममे से अधिकाश जो एक-दूसरे को न समझ सके, इसका प्रधान कारण यह था कि असल मे हम अपने-आपको ही नही समझ सके थे।

काशी के हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के विषय में मैंने बहुत-से लिखित और कथित विचार पढ़े और सुने है; अधिकांश में शिकायत का स्वर ही ऊँचा है। मैं समझता हूँ, सम्मेलन के विषय में इस प्रकार की टीका करनेवाले उसके साथ न्याय नहीं करते। सम्मेलन एक जबर्दस्त शक्तिशाली संस्था है, और उसका काशीवाला अधिवेशन तो उसकी अद्भुत शक्ति का बड़ा ही सुन्दर परिचायक था। दोष उसमें इतना ही था कि उसके अधिकाश कार्यकर्त्ता (और बाहर से आये हुए प्रतिनिधि भी) अपने सामान्य लक्ष्य को भूल-से गये थे। सम्मेलन का कवि-सम्मेलन उसके किस उद्देश्य की पूर्ति के लिए था, यह समझ में नही आता। मनोरंजन उसका उद्देश्य हो सकता है, पर सम्मेलन मनोरजन के लिए नही बुलाया जाता। काव्य-विधा की चर्चा या आधुनिक काव्यगत प्रश्न उसमे विचारार्थ उपस्थित ही नहीं हुए। कवियों में से कितने ही ऐसे थे, जिन्होंने कलम पकड़ने का व्यवसाय अभी शुरू ही किया

था। प्रथम दिन के कवि-सम्मेलन में भगवान् की कृपा से पं. देवीदत्त शुक्ल-जैसे सरल प्रकृति के सर्वजनश्रद्धेय विद्वान् सभापति न होते, तो जाने कैसी लड़ाई छिड़ जाती। फिर भी कविता सुननेवालों और दाद देनेवालों ने उनकी वृद्धता, विद्वता और सरलता का लिहाज कम-से-कम किया। प्रसादजी का एक नाटक भी किसी अज्ञात उद्देश्य की सिद्धि के लिए खेला गया था। उसके लिए स्टेज पर जो पर्दे लगाये गये थे, उनके साथ 'काशी-कला-भवन' की मार्जित रुचि का कोई सामजस्य नहीं था। प्रसादजी के गुप्तकालीन नाटक के साथ तो उसका सामंजस्य और भी कम था। कभी-कभी तो आश्चर्य होता था कि हमारे अनेक गण्यमान्य शुक्लकेश वृद्धजन उस मत्स्यगन्धी नारियों के पर्दे से सजे हुए रंगमंच पर बैठने को राजी कैसे हो गये! क्यों नहीं शुरू में ही कहा गया कि इस पर्दे पर पर्दा डाल दिया जाय? फिर बीच-बीच में आदरणीय राय कृष्णदासजी की ओर दृष्टि घूम जाती थी कि किस प्रकार उन्होंने इसे बर्दाश्त किया। नीले-पीले रंगों से गुँदे हुए उस पर्दे का होना समस्त हिन्दी-साहित्यकारों की रुचि पर प्रश्नवाचक चिह्न था। क्या ही अच्छा होता, यदि कला-भवन की दो-चार गुप्तकालीन मूर्तियों के अनुलिखन वहाँ लगाये गये होते। आश्चर्य होता था कि मैदागिन की चौमुहानी पर जो फाटक बनाया गया था, उसकी कल्पना जिस आदमी के दिमाग में आयी थी, उससे क्यों नहीं राय ली गयी? इस विचित्र स्टेज पर आ-आकर जब हिन्दी की अविमिश्र शुद्धता के विषय में गरमागरम व्याख्यान होते थे और प्रस्ताव पास होते थे, तो सम्मेलन का समस्त असामजस्य मूर्तिमान हो उठता था। इस सामंजस्यहीन, लक्ष्य-हीन सम्मेलन के आयोजन के पीछे एक दुर्दमनीय शक्ति थी। उस शक्ति का प्रदर्शन हुआ; पर नियोजन की ओर कम ध्यान दिया गया। काशी-जैसी संस्कृति-सम्पन्न नगरी की कोई विशेषता मुश्किल से वहाँ विद्यमान थी।

इस समस्त जंजाल-जाल के भीतर कई बड़ी ही दिव्य विभूतियाँ सम्मेलन के रंगमंच पर दिख रही थीं। ये सब एकमत तो नहीं थे, पर अपने-अपने दृष्टिकोण से वे हिन्दी के भविष्य को हस्तामलक की भाँति देख रहे थे। सारी गरमागरम बहसों और आशंकाप्लवित पुकारों से निर्लिप्त थे। कोई भी सम्मेलन का दर्शक इनको सारी भीड़ से अलग कर सकता था—सर्वश्री पुरुषोत्तमदास टण्डन, रामचन्द्र शुक्ल, श्यामसुन्दरदास, अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी, काका कालेलकर, बाबूराव विष्णु पराड़कर और राजेन्द्रप्रसाद इत्यादि। यद्यपि हमने कविवर मैथिलीशरण गुप्त को कभी मञ्च पर नहीं देखा, पर उनकी अनन्य साधारण पगड़ी उन्हें दर्शकों से अलग कर रही थी। आश्चर्य होता था कि यह 'पगड़ी' टिकी कैसे है! अब गिरी, अब गिरी और फिर भी दुरुस्त! सबके पैर छूने को ललकती हुई और फिर भी सबके ऊपर। निश्चय ही उस ऊपर से श्लथ दिखनेवाली पगड़ी के भीतर कोई जबरदस्त ताकत थी। वह वर्षा की नदी नहीं थी, उसकी धारा गहराई से पोषण पा रही थी। सम्मेलन के व्याख्यान जब हमारी व्यक्तिगत रुचि-अरुचि को भीड़ की मनोवृत्ति का शिकार बना दिया करते थे, तब इन तपोनिष्ठ व्यक्तियों की ओर देखने से

चित्त शान्त हो जाता था। ना, हिन्दी वन्ध्या नहीं है, हिन्दी को शंकित होने की जरूरत नहीं है, हिन्दी रत्न-गर्भा है। मुझे इस विषय में कोई भी सन्देह नहीं रहा कि सम्मेलन साहित्य-स्रष्टा पैदा नहीं कर सकता। वह केवल उनका सम्मान ही कर सकता है। परन्तु यह निश्चित है कि साहित्य-स्रष्टाओं की एकान्त साधना ही उसे महामान्वित कर सकती है, गरमागरम बहसें नहीं। सम्मेलन को अगर ठीक-ठीक रास्ते पर जाना है, तो साहित्यकारों का सम्मान करे, साहित्य का प्रचार करे, साहित्य-सृष्टि के साधनों का आयोजन करे, जनता की मनोवृत्ति साहित्यिक बनाये। सम्मेलन की परीक्षाएँ ऐसा ही कर रही हैं; पर सम्मेलन को और भी आगे बढ़कर पुस्तकालयों का संगठन करना चाहिए, कोशों और विश्वकोशों का निर्माण करना चाहिए, प्राचीन और अर्वाचीन पुस्तकों का अनुवाद करना चाहिए, विद्या-विषयक व्याख्यानों की व्यवस्था करनी चाहिए। यही रास्ता है।

'साहित्य-सेवा का अधिकार सभी को है!'

एक तरुण साहित्यिक ने मुझसे सम्मेलन में बातचीत के प्रसंग में कहा था कि 'साहित्य-सेवा का अधिकार सबको है!' मैं उनकी नेकनीयती और सरलता का प्रशंसक हूँ। आयेदिन कविता और नाटक की पुस्तकों की भूमिका में नाना आलंकारिक शब्दों में यह कहा जाता है कि साहित्य-सेवा का अधिकार सबको है। कभी-कभी यह रूपक इस प्रकार प्रकट किया जाता है—'आपके हाथ में जो पुस्तक है, वह साहित्य-क्षेत्र के एक अनाड़ी माली की रचना है!' पुस्तक खोलकर पढ़िये, तो आपको इस कथन में रंचमात्र भी सन्देह नहीं रह जाता। हाय-हाय, इस अनाड़ी माली ने सभी फूल उखाड़ डाले, केवल काँटे ही छोड़े हैं! सही बात यह है कि साहित्य कोई गढ़कुण्डेश्वर के पुदीने का बगीचा नहीं है कि विन्ध्याटवी में भ्रमण करनेवाला प्रत्येक अराजकतावादी जन्तु उसमें नाक घुसेड़े। उसमें एक शृंखला है, एक विधान है, एक उद्देश्य है, एक साधना है। 'साहित्य-सेवा का अधिकार सबको है', यह ठीक है; पर साहित्य-सेवा का अर्थ पुस्तक लिखना ही नहीं है। साहित्य की सेवा करने के बहुत-से रास्ते हैं। नागरी प्रचारिणी सभा के पुस्तकालय में झाड़ू देनेवाला बहुतेरे कलम घिसनेवालों से कहीं अधिक साहित्य-सेवा करता है, और नित्य झाड़ू लेकर गन्दगी साफ करने का आदर्श उपस्थित कर वह पुस्तकालय का उपयोग करनेवाले साहित्यिकों को सच्चा मार्ग दिखाता है। 'सम्मार्जनी-चालना' सचमुच ही वहाँ 'समालोचना' से बड़ी बात है। सो, साहित्य-सेवा और पुस्तक-

पुरानी और नयी रीति-मनोवृत्ति

एक बार मुझे मध्य-भारत के एक नगर की साहित्य समिति में जा पड़ने का सौभाग्य हुआ था। उस दिन छायावादी कविता पर कोई बहस चल रही थी। बहस बड़ी मजेदार और साथ ही पाण्डित्यपूर्ण थी। परन्तु मुझे आश्चर्य हुआ कि आधुनिक कविता के प्रशंसक रीति-मनोवृत्ति के बुरी तरह शिकार थे। पन्त और प्रसाद के प्रत्येक प्रयोग को अलंकारशास्त्र के कठोर नियमों से विशुद्ध सिद्ध करने का प्रयत्न किया गया। निस्सन्देह ऐसा सिद्ध कर दिखानेवाले पण्डित थे। पर मैं सोचता रहा कि रीति-काल तो अब भी अपने बीच जी रहा है! किसी काव्य के वाक्यों और वाक्यांशों को परम्परा-समर्थित सहृदयता की कसौटी पर कस देना ही क्या कविता की सच्ची प्रशंसा है? क्या काव्य को जीवन की विशाल पट-भूमिका पर रखकर देखने का युग हिन्दी में अब भी नहीं आया है? दिल्ली और मेरठ की हिन्दी-परिषदों में मुझे एक दूसरी बात देखने को मिली। वहाँ कुछ मित्र आधुनिक अंग्रेजी समालोचकों और दार्शनिकों द्वारा प्रयुज्यमान कितने ही रूपहीन चिन्ताओं के परिचायक शब्दों से साहित्य-रस के आस्वादन कराने का प्रयत्न कर रहे थे। मैं वहाँ भी सोचता रहा कि क्या यह नयी रीति-मनोवृत्ति नहीं है? क्या इन अर्वाचीन अलंकारों से साहित्य को मापने की आदत पहले से कुछ अच्छी है? क्यों न आज का हिन्दी-साहित्य अपने ढंग से अपनी जीवन-व्यापिनी साधनाओं को देखे? जब कभी इन दोनों आदतों की बात सोचता हूँ तो यही समझ में आता है कि 'अरे इन दोउन राह न पायी!'

हम क्या न करें?

'हम क्या करें?' के अनेक उत्तर हैं। 'हम क्या न करें?' का एक। हम ऐसा कोई काम न करें, जिससे हमारी प्रिय भाषा का उदीयमान सम्मान-भाव कम हो। असंयत, निरुद्देश्य, ज्ञान-लव-दुर्विदग्ध रचनाएँ निश्चित रूप से उसके लिए हानि-कारक हैं। विभिन्न भाषाओं से सोच-समझकर ही उदाहरण देना उचित है। हमारे वृद्ध और लब्धप्रतिष्ठ लेखक भी जब मामूली-सी बातों की प्रामाणिकता बढ़ाने के लिए अन्य देशों और अन्य भाषाओं के छोकरों की अंटसंट बातें उद्धृत किया करते है, तो इस भाषा की महिमा निश्चित रूप से क्षुण्ण होती है। अदूरदर्शी पादरियों की लिखी पोथियों से जब हम अपनी रचनाओं की प्रामाणिकता बढ़ाने का हास्यास्पद प्रयत्न करते हैं, तो निस्सन्देह इस भाषा का अपमान करते हैं। उपनिषदों के उद्धरण भी जब हम अंग्रेजी मे उद्धृत करते हैं, तो अपने ज्ञान का दिवालापन प्रकट करते हैं, और रूसी, जापानी आदि ग्रन्थकारों का मत भी अंग्रेजी में ज्यों-का-त्यों उद्धृत करके न जाने हम क्या करते हैं! हिन्दी एक अत्यन्त शक्तिशाली जनसमुदाय की मातृ-भाषा है। उसको अपनी हरकतों से उपाहासास्पद बनानेवाला अक्षम्य अपराधी है, यह हमें भूलना नहीं चाहिए।

[कल्पलता से]

हिन्दी का वर्त्तमान और भविष्य

आज हम अपने देश के साहित्य और भाषा के इतिहास के बहुत महत्त्वपूर्ण मोड़ पर आ गये हैं। यहाँ बहुत सावधानी और साहस की आवश्यकता है। यहाँ से गलत कदम उठाने का मतलब है दीर्घकाल तक के लिए भटकने को बाध्य होना। इसीलिए आज के हमारे इस अधिवेशन का बड़ा ही महत्त्व है। मैं जानता हूँ कि इस महत्त्वपूर्ण समय में जिस सूझ, साहस और धैर्य की आवश्यकता है, वह मुझमें बिल्कुल नहीं है। किन्तु मैं यह भी जानता हूँ कि हमारी इस परिषद् में ऐसे अनेक विद्वज्जन हैं जिनमें ये गुण पर्याप्त मात्रा में विद्यमान हैं। इन विद्वानों के सम्मिलित बल का ही मुझे भरोसा है। मुझे इस अवसर पर सबसे बड़ा दुःख यह है कि आज हमारे बीच डॉ. अमरनाथ झा जैसे दीर्घ-दृष्टि-सम्पन्न और निर्भीक-साहसी पथ-प्रदर्शक नहीं हैं। झाजी सच्चे अर्थों में बौद्धिक नेता थे। वे अपने स्वर्गवास के समय काशी नागरी प्रचारिणी सभा जैसी गौरवशालिनी हिन्दी-संस्था के सभापति थे और राष्ट्रपति द्वारा नियोजित राजभाषा आयोग के महत्त्वपूर्ण सदस्य थे। विश्वविद्यालयों में साहित्य के शिक्षण का स्तर ऊँचा करने और नयी पीढ़ी के विद्यार्थियों में विद्या के प्रति सहज अनुराग और दृढ चरित्रबल उत्पन्न करने में उनकी अद्भुत शक्ति परीक्षित हो चुकी थी। यह हमारे लिए परम दुर्भाग्य का विषय है कि वे उसी समय महाकाल देवता के दरबार में बुला लिये गये, जिस समय उनकी सबसे अधिक जरूरत थी। मेरा विश्वास है कि इतिहास-विधाता अमंगल के भीतर से भी मंगल का निर्देश किया करते हैं और इसीलिए मैं सोच रहा हूँ कि झाजी के अचानक स्वर्गवास का भी उनकी दृष्टि में कुछ अर्थ होगा। जो हो, इस समय तो हम शोक से अभिभूत है और कुछ सूझ नही पड़ता कि ऐसे महान् बौद्धिक नेता का पथ-प्रदर्शन हमें कैसे प्राप्त होगा। भरे हृदय से हम भगवान् से प्रार्थना करते है कि झाजी का व्यक्तित्व परलोक से भी हमारा मार्ग-प्रदर्शन करता रहे।

हम लोग विश्वविद्यालयों में अध्यापन-कार्य करते हैं। हमारा मुख्य आलोच्य विषय यही है कि हम विश्वविद्यालयों में सम्प्रति होनेवाले अध्ययन और अध्यापन का स्तर किस प्रकार ऊँचा करें, शोध-कार्य को किस प्रकार अद्यावधिक, गम्भीर और उच्चस्तरीय बनायें। हिन्दी के अध्यापन और शोध-कार्य को, अन्यान्य विषयों के इन्हीं कार्यों की तुलना में अधिक महत्त्व मिलना चाहिए; क्योंकि हम केवल अध्ययन-अध्यापन और शोध का कार्य ही नही करते, भारतवर्ष के नये साहित्य का निर्माण भी कर रहे हैं। इसलिए अन्यान्य विषयों की भाँति हम केवल शुष्क छान-बीन से ही सन्तुष्ट नहीं रह सकते। हमारे द्वारा किया हुआ प्रत्येक काम नवीन भारतवर्ष के साहित्यिक निर्माण की ईंट का काम कर रहा है। इन दिनों नाना कारणों से हिन्दी की ओर लोगों की दृष्टि आकृष्ट हुई है और इसका प्रत्यक्ष या

अप्रत्यक्ष प्रभाव विश्वविद्यालयों के शिक्षण-कार्य पर पड़ रहा है। केवल इसी दृष्टि से हमें इस पर ध्यान देना आवश्यक है।

1. हिन्दीतर प्रान्तों के अनेक शिक्षार्थी छात्र हमारे विश्वविद्यालयों में हिन्दी की उच्च शिक्षा पाने के लिए आ रहे हैं और विभिन्न विषयों के शोध-कार्य में भी जुटे हुए हैं। यद्यपि हमारी केन्द्रीय सरकार ने इस प्रकार के साहित्यिक अध्यवसाय को उचित मात्रा में प्रोत्साहन नहीं दिया है, परन्तु इस बात के लक्षण दिखायी देने लगे हैं कि वह एकदम निश्चेष्ट भी नहीं है। आशा करनी चाहिए कि शीघ्र ही इस प्रकार के अध्यवसाय को सरकार की ओर से अधिकाधिक प्रोत्साहन और प्रश्रय दिया जायेगा और हिन्दीतर प्रान्तों से सैकड़ों विद्यार्थी हमारे विश्वविद्यालयों में ऊँची शिक्षा पाने के लिए और शोध-कार्य करने के लिए उत्साहित होंगे। विभिन्न प्रादेशिक साहित्यों के वातावरण में पले हुए ये शिक्षार्थी हिन्दी-साहित्य को नवीन पार्श्वों से देखने का अवसर पायेंगे। उनकी दृष्टि सब समय हमारी धारणाओं के साथ मेल नहीं भी खा सकती है। हम लोग जिस प्रकार से अपने साहित्य के इतिहास को देखते आ रहे हैं, वह इन नवीन कोणों से देखनेवाले जिज्ञासुओं द्वारा किस प्रकार आलोचित होगा, यह कहना बड़ा कठिन है; परन्तु मुझे इस बात में रंचमात्र भी सन्देह नहीं है कि नवीन सम्पर्कों के कारण हमारी बहुत-सी धारणाएँ बदलेंगी और भारतवर्ष के विभिन्न साहित्यों के साथ हिन्दी-साहित्य की युक्त वेणी निकट भविष्य में एक सर्व-भारतीय साहित्य की सृष्टि करेगी। यह बहुत महत्त्व-पूर्ण और मंगलजनक संवाद है।

2. यह सौभाग्य की बात है कि इन दिनों भारतवर्ष के प्रादेशिक साहित्यों के प्रति सर्वत्र प्रबल जिज्ञासा उत्पन्न हुई है। भारतवर्ष की प्रायः सभी भाषाओं में तदितर प्रान्तीय भाषाओं के साहित्य का थोड़ा-बहुत अनुवाद होने लगा है। हिन्दी में तो यह क्रम और भी पुष्ट होकर प्रकट हो रहा है। ऐसा जान पड़ता है कि थोड़े ही दिनों में प्रादेशिक भाषाओं का बहुत ही मूल्यवान् साहित्य संगृहीत हो जायेगा और इसी प्रकार दूसरे प्रदेशों में थोड़ा-बहुत हिन्दी का साहित्य संगृहीत होगा। मुझे ऐसा लग रहा है कि क्रम ठीक से चलता रहा तो आगामी दस वर्षों के भीतर केवल नवीन भारतीय साहित्य की रूपरेखा ही स्पष्ट न हो उठेगी, बल्कि हमें उस आधुनिक भारतीय दृष्टि का भी सन्धान मिलेगा जो पिछले डेढ़-दो सौ वर्षों के पश्चिमी सम्पर्क और संघर्ष से निखरी है। इस प्रकार भारतवर्ष के प्रत्येक क्षेत्र के साहित्यिक की दृष्टि अधिक परिष्कृत, अधिक उदार और अधिक परिमार्जित होती जायेगी। मेरी दृष्टि में यह दूसरा शुभ लक्षण है।

3. हिन्दी-आन्दोलन का स्वरूप भी बदलने जा रहा है। हमारे हिन्दी-प्रदेशों में संघर्ष का प्रथम रूप था: हिन्दी और उर्दू की प्रतिद्वन्द्विता। इसने अन्त में साम्प्रदायिक रूप धारण किया और दोनों ही भाषाओं के साहित्यिकों में अस्वस्थ मनोवृत्ति पैदा की। परिणाम यह हुआ कि हममें सहज भाषा के स्थान पर कृत्रिम और बोझिल भाषा गढ़ने की प्रवृत्ति बढ़ गयी। हिन्दी-क्षेत्र के बाहर इस

ऐतिहासिक विकास की अवस्था को समझने में प्रायः गलती की जाती है। सौभाग्य से अब वह अवस्था समाप्त हो गयी है और हम स्वस्थ और सहज गति को अपनाते जा रहे हैं। उर्दू हिन्दी से कोई भिन्न भाषा नहीं थी। सच पूछिए तो जिस खड़ी बोली को आज हमने अपने सामाजिक, सांस्कृतिक और साहित्यिक विचारों और व्यवहारों का वाहन बनाया है, उसे पहले-पहल मुसलमान भाइयों का ही आश्रय अधिक प्राप्त था। इस भाषा के पुराने अस्तित्व के बारे में शंका उत्पन्न करना हमारा उद्देश्य नहीं है। भाषा तो दिल्ली के आसपास ही विद्यमान थी—नाथों, निरंजनियों और निर्गुणियों के पुराने पदों में उसका थोड़ा-बहुत प्रयोग भी मिल जाता है; किन्तु उसे साहित्यिक और सामाजिक विचारों के लिए अपने क्षेत्र से बाहर ले जाने और लोकप्रिय बनाने में मुसलमान साहित्यकारों का बड़ा हाथ रहा। हिन्दू साहित्यकार अधिकतर ब्रजभाषा, अवधी, डिंगल, मैथिली आदि भाषाओं में ही अपने धार्मिक और काव्य-जातीय साहित्य का निर्माण करते रहे। वस्तुतः ये भाषाएँ ही प्राकृत और अपभ्रंश से प्राप्त साहित्यिक परम्परा की वास्तविक उत्तराधिकारिणी हैं। संयोगवश बाहर जिस खड़ी बोली को मुसलमान कवियों और लेखकों का आश्रय प्राप्त हुआ, वह पुरानी परम्परा से क्रमशः दूर ही हटती गयी। 18वीं शताब्दी के अन्त में हिन्दी के गद्य-लेखकों ने इस नयी भाषा को (अर्थात् मुसलमान भाइयों द्वारा साहित्यिक प्रयोग के लिए नवीकृत रूप को) ब्रजभाषा, अवधी, मैथिली आदि के साहित्य में उपलब्ध पुरातन सांस्कृतिक परम्परा के साथ जोड़ दिया। इस प्रकार मुसलमान भाइयों द्वारा सँवारी और माँजी हुई भाषा में जो कमी रह गयी थी, उसे 18वीं शताब्दी के अन्तिम भाग में पूरा कर दिया गया। ज्यों ही उसे यह सहारा प्राप्त हुआ, त्यों ही साहित्यिक वाहन के रूप में खड़ी बोली देखते-देखते समूचे उत्तर भारत में व्याप्त हो गयी। बीसवीं शताब्दी के प्रथम चरण में तो वह देश की सर्वाधिक शक्तिशालिनी भाषा के रूप में प्रकट हुई। कुछ लोगों को यह देखकर आश्चर्य होता है कि यह डेढ़ सौ वर्षों की भाषा कैसे इतनी व्यापक और महत्त्वपूर्ण हो गयी। वस्तुतः यह शक्तिशालिनी भाषा डेढ़ सौ वर्षों की नहीं थी। डेढ़ सौ वर्ष पहले यह विशाल भारतीय साहित्यिक परम्परा के साथ पुनर्मिलित हुई थी। जिस समय यह पुनर्मिलन हुआ, उस समय इस मिलन को गलत समझा गया। विदेशी शासकों की कृपा से इसके महत्त्व को अधिकाधिक गलत समझने का क्रम चलता रहा। जिस बात से मैत्री बढ़नी चाहिए थी, उससे द्वेष और शत्रुता का वातावरण उत्पन्न कर दिया गया। अब स्थिति बहुत-कुछ सुलझ गयी है और हम सहज भाव से सोचने और समझने की स्थिति में आ गये हैं। अब यह अनुभव किया जाने लगा है कि उर्दू का पूरा साहित्य देवनागरी अक्षरों में आ जाये तो हिन्दी भाषा के लिए बहुत बड़ा शक्ति का स्रोत सिद्ध होगा। वस्तुतः हिन्दी और उर्दू दो भाषाएँ हैं ही नहीं। केवल लिपि के कारण इन्हें दो भाषाएँ मान लिया गया है और मध्यवर्ती काल की संकीर्ण साम्प्रदायिकता के कारण अधिकाधिक कृत्रिम भाषा बनाने की रुग्ण मनोवृत्ति ने दोनों के व्यवधान को

आवश्यकता से अधिक बढ़ा दिया है। इस सहज और स्वाभाविक मनोवृत्ति का क्रमशः पुष्ट होना मुझे तीसरा शुभ लक्षण जान पड़ता है। हिन्दी और उर्दू का व्यवधान जितना ही कम होगा, उतना ही मंगलजनक होगा।

4. हिन्दी-प्रचार का एक दूसरा आन्दोलन देश की भाषागत विभिन्नता को दूर करने के उद्देश्य से चलाया गया। जिस समय देश में राष्ट्रीयता की लहर अपनी सर्वाधिक ऊँचाई पर थी, उस समय राष्ट्र-भाषा की आवश्यकता समझी गयी और किसी भी क्षेत्र में उसका कोई कड़ा विरोध नही हुआ। किन्तु ज्यों ही स्वाधीनता प्राप्त हुई और विदेशी शत्रु को उखाड़ फेंकने की लालसा तृप्त हुई, त्यों ही एक भाषा का प्रश्न अपने वास्तविक रूप में उपस्थित हुआ। वस्तुतः यह नया प्रश्न एक भाषा या राष्ट्रभाषा का नही है, बल्कि राजभाषा का है। राजकीय भाषा होने का मतलब है अनेक प्रकार की ऊँची सरकारी नौकरियों का विषय बनना। हाईकोर्ट-सुप्रीमकोर्ट के जज और वकील, पार्लियामेण्ट के सदस्य, विभिन्न क्षेत्रों से सर्व-भारतीय सेवाओं के प्रार्थी तथा विविध विश्वविद्यालयों के उच्चतर शिक्षा वितरण करनेवाले प्राध्यापक, सभी किसी-न-किसी प्रकार इसकी लपेट में आ जाते है। विदेशों के राजदूत, विभिन्न औद्योगिक अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के संचालक, विभिन्न वैज्ञानिक अनुसन्धानों के पुरस्कर्ता और विविध शिल्प-कौशलो के विशेषज्ञ भी राजभाषा की लपेट में आ जाते हैं। इसीलिए हिन्दी के इस नये रूप के सम्बन्ध में बड़ा मतभेद है। कुछ तो पुराने अभ्यास के कारण विदेशी भाषा को छोड़ना नही चाहते, कुछ ऐसे पुराणपन्थी हैं कि परिवर्त्तन मात्र से घबरा उठते हैं और कुछ लोग ऐसे हैं जिन्हे अपने देश की भाषाओं के प्रति किसी प्रकार की आस्था और विश्वास ही नही है। ऐसे लोग तरह-तरह के आरोप लगाने लगे हैं। कुछ लोग कहते हैं कि हिन्दी का कोई परिनिष्ठित (स्टैण्डर्ड) रूप ही नही है, न इसमें वाक्यगठन की कोई एकरूपता है, न किसी एक-रूप व्याकरण की सम्भावना ही। इस तर्क का वास्तविक अर्थ यह है कि हिन्दी कोई भाषा ही नही है! कुछ और लोग हैं जो इतना तो मान लेते हैं कि हिन्दी का एक रूप है, किन्तु उन्हें यह यकीन ही नही होता कि इस भाषा मे कोई साहित्य भी है। आज से कोई तीस या चालीस वर्ष पहले किसी ने कहा था कि आधुनिक खड़ी बोली मे साहित्य का अभाव है। तब से गंगा-जमुना का बहुत-सा जल समुद्र मे गिर चुका, किन्तु ये लोग भले आदमियों की तरह उसी पुरानी बात पर अड़े हैं। यदि तीस वर्ष पहले कोई साहित्य नही था तो आज भी नही है! इस प्रकार की बातें बिना समझे-बूझे ही की जाती है। एक तीसरी श्रेणी के लोग हैं जो यह कहते है कि प्रान्तीय भाषाओ मे कदाचित् सभी ऐसी हैं जिनका आधुनिक साहित्य हिन्दी के समकक्ष है और कुछ तो ऐसी है जिनका साहित्य अधिक समृद्ध भी है। ऐसी स्थिति में प्रादेशिक भाषाओ से हिन्दी में ऐसी कौन-सी विशेषता है जिसके कारण हम अपनी प्रान्तीय भाषाओं को छोड़कर इस असमृद्ध भाषा का सहारा लें? अगर हमें किसी बाहरी भाषा का आश्रय ही लेना है तो अंग्रेजी क्या बुरी है, उसी को क्यों न राजभाषा स्वीकार कर लिया जाये। अन्तिम विश्लेषण के

बाद ऐसा जान पड़ता है कि हिन्दी के राजभाषा होने के प्रश्न को अब दो दृष्टियों से देखना चाहिए, हिन्दी बनाम अंग्रेजी, और हिन्दी बनाम प्रादेशिक भाषाएँ। हिन्दी की अंग्रेजी के साथ तो अवश्य प्रतिद्वन्द्विता है, अन्य भारतीय भाषाओं की भी अंग्रेजी के साथ प्रतिद्वन्द्विता है, किन्तु हिन्दी का अन्य भारतीय प्रादेशिक भाषाओं से कोई संघर्ष नहीं है। जो लोग ऐसा समझते हैं, वे अकारण आशंकित हैं। मैं इस सम्बन्ध मे कोई निर्णय या फैसला देने नही जा रहा हूँ। मैंने इस विषय में अपने को सब प्रकार के पूर्वाग्रहों से मुक्त रखने का प्रयत्न किया है। हम विश्वविद्यालयों के अध्यापकों के लिए इस प्रश्न पर केवल उतनी ही दूर तक विचार केन्द्रित करने की आवश्यकता है, जितनी दूर तक वह हमारे विश्वविद्यालयों के अध्ययन-अध्यापन और शोध-कार्य को प्रभावित कर रहा है। मुझे जान पड़ता है कि यद्यपि इस दृष्टि से विचार करनेवालो का तर्क बहुत-कुछ गलतफहमी और गलत जानकारियों पर अवलम्बित है, तथापि हिन्दी के कार्यकर्त्ताओं के लिए वह एक चुनौती का भी काम करता है। क्या कारण है कि इस प्रकार का भ्रम अभी भी फैला हुआ है? क्या हमारे विश्वविद्यालयों के प्रोफेसरो ने और शोध-कार्य करनेवालों ने ऐसा कोई गम्भीर और ठोस प्रयत्न किया है, जिससे हम अहिन्दीभाषी विद्वानों को बता सकें कि हमारी भाषा का यह परिनिष्ठित रूप है, इस प्रकार का परिनिष्ठित व्याकरण है, और इसकी अमुक प्रकार की वाक्य-बन्ध की प्रणाली है। फिर मै पूछना चाहता हूँ कि हम लोगों ने क्या कोई ऐसा प्रयत्न किया है जिससे इस देश में अन्य क्षेत्रों मे काम करनेवाले विद्वान् या इस देश के बाहर के जिज्ञासु पण्डित समझ सकें कि हिन्दी के आधुनिक लेखक किन नवीन प्रेरणाओं से चालित हुए हैं, संसार की विचारधारा मे उनका उल्लेख-योग्य दान क्या है, किस प्रकार के साहित्य-रूपों और शैलियों के प्रयोग से उन्होंने भाषा में कौन-सी अभिव्यंजना प्रदान की है और ज्ञान-विज्ञान के विविध क्षेत्रों में इस भाषा ने क्या और कितना जोडा है, हमारे पास किस प्रकार का सूचनात्मक साहित्य है और किस श्रेणी का रचनात्मक साहित्य है। जब तक हम ऐसा कुछ प्रयत्न नही करते, तब तक बाहर के लोग यदि भ्रान्त धारणाएँ बना बैठें तो सिर्फ उन्हें ही दोष नही दिया जा सकता। साधारणतः मैं इस प्रकार की चर्चा से विरत ही रहता हूँ। लेकिन ये ऐसी बातें हैं कि इनसे विश्वविद्यालयों के अध्यापक चाहें भी तो नहीं बच सकते। यह उनका दायित्व है। इसीलिए मैंने यहाँ इसकी चर्चा की है। मैं भारतीय हिन्दी परिषद् के कर्मठ सदस्यों से अनुरोध करता हूँ कि वे इसे ध्यान में रखें और ऐसा कुछ करें, जिससे ये भ्रान्तियाँ अधिक न फैलने पायें।

निस्सन्देह अंग्रेजी बहुत समृद्ध भाषा है। आज लगभग आधी दुनिया में उसी का बोलबाला है। केवल अंग्रेजो ने ही उस भाषा को समृद्ध नही बनाया, बल्कि संसार-भर के समुन्नत देशों के पण्डितों ने उसको ज्ञान प्राप्त करने का सर्वोत्तम साधन बना दिया है। पिछले सौ-डेढ सौ वर्षों में हमारे देश के भी अनेक श्रेष्ठ पण्डितों ने इसी भाषा में अपने विचारों और खोजों को लिपिबद्ध किया है। हमारे

इस देश के धर्माधिकरण के क्षेत्र में और प्राचीन विद्याओं के शोध सम्बन्धी क्षेत्र में जो कुछ श्रेष्ठ है, वह सब इसी भाषा में सुरक्षित है। हमारे जन-समूह के परिगणन और विश्लेषण-सम्बन्धी साहित्य, हमारी भाषाओं के परिगणन और विश्लेषण-सम्बन्धी विवरण और हमारी प्राकृतिक सम्पति के सम्बन्ध में सारा लेखा-जोखा इसी भाषा के भाण्डार में सुरक्षित है। परन्तु इतने दिनों के सर्वग्रासी प्रभाव के होते हुए भी अंग्रेजी भारतवर्ष की एक प्रतिशत जनता से अधिक विस्तार में नहीं जा सकी है। अंग्रेजों के इस देश से हटते ही उसके अध्ययन और जानकारी का स्तर इतने वेग से नीचे उतरने लगा है कि हमारी पुरानी पीढ़ी के बुद्धिमान लोग अत्यन्त चिन्तित हो उठे हैं। यह निश्चित है कि अंग्रेजी भाषा हमारे सारे जन-समूह की भाषा नहीं हो सकती। विदेशी प्रभुत्व से आक्रान्त होने के कारण जो हमारी देशी भाषाएँ अब तक दबी हुई थीं, वे अब सिर उठा रही हैं। अब तो अंग्रेजी उतने से अधिक का दावा नहीं कर सकेगी जितना वस्तुतः उसे प्राप्य है। मेरे विचार से इस देश में कुछ-कुछ अंग्रेजी का प्राप्य अवश्य है। हम चाहें भी तो अंग्रेजी को अपने स्थान से हटा नहीं सकते। परन्तु उसका स्थान निश्चित और सीमित है। जो लोग हमारे पुराने इतिहास का शोध करेंगे या संसार के उन भागों से अपना सम्पर्क स्थापित करना चाहेंगे, जहाँ अंग्रेजी अन्तर्राष्ट्रीय भाषा के रूप में स्वीकृत है, उन्हें अवश्य अंग्रेजी पढ़नी होगी। परन्तु यह समझना कि सारा देश-का-देश इस विदेशी भाषा में विशेषज्ञता प्राप्त करेगा, अपने-आपको धोखा देना है। देशी भाषाएँ अपना उचित स्थान ग्रहण करेंगी और अंग्रेजी को उन सब स्थानों से हटना पड़ेगा, जहाँ उसने अनुचित रूप से और अस्वाभाविक रूप से प्रवेश किया है। इसलिए प्रश्न वस्तुतः हिन्दी और अंग्रेजी के झगड़े का नहीं है। यह अवश्य है कि हिन्दी को अंग्रेजी की समूची समृद्धि प्राप्त करने के लिए दीर्घकाल तक साधना करनी पड़ेगी। इस देश में ऐसे लोग हैं जिन्हें पर्याप्त रूप में अनुभवी और समझदार समझा जाता है, परन्तु जो इस मामूली-सी बात को नहीं समझ पाते कि हिन्दी प्रयत्न करके उसी प्रकार अंग्रेजी के समकक्ष हो सकती है जिस प्रकार अंग्रेज शासकों को हटाकर भारतीय लोग उनके समकक्ष, और कई बार उनसे बढ़कर भी हो गये हैं, ऐसे बुद्धिमान लोग मनुष्य की कर्मशक्ति में विश्वास ही नहीं रखते। कभी-कभी उच्च-पदस्थ लोग भी अंग्रेजी और संस्कृत आदि भाषाओं के पक्ष में ऐसी बहकी हुई बात कर जाते हैं, जो न तो उनकी मर्यादा के अनुकूल होती है और न भारतीय जनता की सम्मिलित सुबुद्धि द्वारा उद्भावित अपने संविधान के ही अनुरूप होती है। ये लोग अपने अविचारित वक्तव्यों के द्वारा जनता में यह भ्रम फैलाते हैं कि भारतीय जनता का कोई भी निर्णय अन्तिम निर्णय नहीं होता। उसे जब कभी और जिस किसी मौके पर बदल दिया जा सकता है। जो हो, कितना भी प्रयत्न क्यों न किया जाय, अब जनता की भाषाओं को उनके उचित अधिकार से वंचित नहीं किया जा सकेगा।

जहाँ एक ओर हमारी भाषाओं का यह दौर्बल्य है कि उनमें अपने देश को

अपने आधुनिक अर्थों में शिक्षित और सुसंस्कृत बनाने योग्य साहित्य नहीं है, वहाँ हमारी यह बड़ी भारी शक्ति भी है कि हमें संस्कृत जैसी एक ऐसी भाषा का उत्तराधिकार प्राप्त है जिसमें किसी भी विचार को स्पष्ट करने योग्य शब्द देने की अपार शक्ति है। संस्कृत भाषा कामधेनु के समान है। उससे आप जो चाहिए प्राप्त कर सकते हैं। अगर हमको अपने साहित्य में नये विचारों को व्यक्त करनेवाले शब्दभण्डार की आवश्यकता है, तो संस्कृत के सिवाय दूसरी गति नहीं। संस्कृत से निरन्तर प्रेरणा और शब्द-भण्डार पाते रहना परम सौभाग्य की बात है। परन्तु यह समझना कि संस्कृत कभी इस देश की राजभाषा बन सकेगी, गलत ढंग से सोचने का नतीजा है। संस्कृत सदा हमारी प्रेरणादात्री भाषा रही है और रहेगी। मुझे अत्यन्त खेद के साथ कहना पड़ रहा है कि आजकल हिन्दी के कुछ विद्वानों ने संस्कृत की उपेक्षा शुरू की है। वे कहते हैं कि हिन्दी संस्कृत से स्वतन्त्र भाषा है, इसलिए हिन्दी के विद्वान् के लिए संस्कृत की जानकारी आवश्यक नहीं है। मेरी समझ में यह बात नहीं आती कि स्वतन्त्र भाषा होने के कारण संस्कृत की जानकारी प्राप्त करने में क्या अड़चन आ जाती है। अंग्रेजी से भी तो हिन्दी स्वतन्त्र है। जितनी वह संस्कृत से है, उसकी अपेक्षा कहीं अधिक वह अंग्रेजी से स्वतन्त्र है। परन्तु क्या यह सत्य नहीं है कि आज भी हिन्दी भाषा और साहित्य की बारीकियों के विश्लेषण और चिन्तन के लिए और उन्हें ठीक-ठीक प्रकट करने के लिए अंग्रेजी की जानकारी आवश्यक है ? स्वतन्त्र भाषा होने मात्र से हिन्दी का विद्वान् अपने को संस्कृत की जानकारी से वंचित नहीं रख सकता। वस्तुतः हमारा वह समूचा ज्ञान और समस्त परम्परा--जो हमारे विचारों, शैलियों और शब्द-भण्डार को चरितार्थ कर रही है—संस्कृत में ही सुरक्षित है। इसलिए संस्कृत की पूर्ण जानकारी हिन्दी की सेवा के लिए आवश्यक है। उसकी उपेक्षा करने से हमारी भाषा और अभिव्यक्ति-शैली कमजोर हो जायेगी और अपने ही देश में दूसरे प्रदेशों में फैली हुई भाषाओं के यथार्थ स्वरूप को समझने में हमें कठिनाई होगी। जिस प्रकार संस्कृत या अंग्रेजी को राजभाषा के रूप में स्वीकृत करने की सलाह देनेवाले भ्रम पैदा किया करते हैं, उसी प्रकार हिन्दी को स्वतन्त्र भाषा मानने की आड़ में अंग्रेजी या संस्कृत को न पढ़ने की सलाह देनेवाले भी भ्रान्ति ही फैलाते हैं। हमें उन्मुक्त आधुनिक दृष्टि पाने के लिए जिस प्रकार अंग्रेजी का अध्ययन करना आवश्यक हो गया है, उसी प्रकार अपनी भाषा, शब्द-भण्डार, संस्कृति और परम्पराओं की गहराई में जाने के लिए संस्कृत भाषा की पढ़ाई परमावश्यक है। संस्कृत की उपेक्षा करने से हम उस विशाल साहित्य को उत्पन्न करने में एकदम अशक्त हो जायेंगे जिसकी आज सर्वाधिक आवश्यकता है।

सन् 1950 ई. में हमारी संविधान-सभा ने हिन्दी को भारतवर्ष की राजकीय भाषा बनाने का निश्चय किया था। जैसा कि मैंने पहले ही कहा है, राजकीय भाषा की लपेट में हमारे सभी श्रेष्ठ बौद्धिक स्थान आ जाते हैं। हमारे सबसे उच्च न्यायालय और विश्वविद्यालय भी इसकी लपेट में आ जाते है। बिना विश्व-

विद्यालयों मे उच्च शिक्षा प्राप्त किये न तो देश मे उत्तम श्रेणी के कानून-विशेषज्ञ पाये जा सकते है, न प्रथम श्रेणी के अध्यापक और प्रशासक ही। पांच वर्ष बीत गये, लेकिन हिन्दी को इस महान् पद के उपयुक्त बनाने की दिशा मे कुछ भी प्रयत्न नही किया गया। केन्द्रीय सरकार ने सिर्फ कुछ सौ 'प्रॉविजनल' शब्दो का निर्माण किया है। आज तक न अंग्रेजी के श्रेष्ठ ग्रन्थों का अनुवाद हुआ है, न लॉ रिपोर्टों और विश्वविद्यालयीन पाठ्यक्रमों को रूपान्तरित करने का प्रयत्न ही किया गया है। मैं अत्यन्त दुःख के साथ कहना चाहता हूँ कि पाँच मूल्यवान वर्षों को हमने व्यर्थ खो दिया है। न तो हिन्दी राज्यो की सरकारो ने ही लगन के साथ और सम्मिलित भाव से कोई प्रयत्न किया, न केन्द्रीय सरकार ने ही। अब हमारे पास केवल दस वर्ष रह गये है। इन दस वर्षों के ही भीतर हिन्दी को तथा अन्य देशी भाषाओं को उन सब उच्च स्थानों पर अधिकार करना है, जिन पर अनुचित और अस्वाभाविक रूप से अंग्रेजी भाषा ने अधिकार कर रखा है। मेरा अनुमान है कि आगामी दस वर्षों मे हमे कम-से-कम दो लाख शब्दो के बारे मे निर्णय करना पड़ेगा कि इनके स्थान पर देशी भाषाओं के कौन-से शब्द रखे जायें या कितनी दूर तक अंग्रेजी की शब्दावली ही देशी उच्चारण के अनुकूल बनाकर अपना ली जाय। इसका मतलब यह हुआ कि प्रतिवर्ष कम-से-कम हमे 20 हजार शब्दो के निर्माण की गति से चलना है। जहाँ तक अंग्रेजी भाषा का हिन्दी मे रूपान्तर करने का प्रश्न है, वहाँ तक हमे नवीन शब्दों के निर्माण की ओर प्रयत्नशील होना ही है। परन्तु मैं अपने अनुभव के बल पर कहना चाहता हूँ कि केवल शब्दो के स्थान पर प्रति-शब्द रख देने मात्र मे अनुवाद का कार्य नही चल सकता। हमें सैकड़ो वाक्यांशों का भी ललित और गठित हिन्दी मे रूपान्तर करना है। मेरा अनुमान है कि कम-से-कम छः हजार ऐसे वाक्यांशो का हमे तुरन्त अनुवाद करना पड़ेगा। इसी प्रकार अनेक कानूनी मसविदों का भी प्रामाणिक हिन्दी रूपान्तर प्रकाशित होना चाहिए। मैं इस विषय का जानकार नहीं हूँ, लेकिन अनुमान से कह सकता हूँ कि कम-से-कम पाँच सौ मसविदे जो विभिन्न प्रकार के कानूनी और राजकीय कार्यो मे निरन्तर व्यवहृत हो रहे है, तुरन्त हिन्दी मे आ जाने चाहिए। महत्त्वपूर्ण लॉ रिपोर्ट, हाई-कोर्ट और सुप्रीमकोर्ट के फैसले और पार्लियामेण्ट तथा प्रादेशिक धारा-सभाओ द्वारा पारित किये हुए कानूनो का हिन्दी रूपान्तर तुरन्त प्रकाशित होना चाहिए। पार्लियामेण्ट द्वारा स्वीकृत और अब भी व्यवहार मे आनेवाले कानून (un-repealed acts) लगभग दस हजार पृष्ठों के है। इनका भाषान्तर तो अवश्यमेव करना ही पड़ेगा। अनुमानतः लगभग दस से बीस हजार तक पारिभाषिक शब्द इनमे व्यवहृत हुए होगे। एक बार इस काम को हाथ मे ले लिया जाये तो कानूनी कार्यवाही के लगभग सभी शब्द अनायास बन जायेंगे। लगभग दस हजार पृष्ठों में अन्य महत्त्वपूर्ण कानूनी कार्यवाही को आरम्भिक कार्य के लिए समेट लेना पड़ेगा। यह बहुत आवश्यक काम है। इसके आरम्भ करने मे एक क्षण का भी विलम्ब नही होना चाहिए। जनता को अपनी भाषा मे न्याय प्राप्त करने के अधिकार से बहुत

देर तक वंचित नहीं किया जा सकता। मेरा अनुमान है कि इस कार्य को यदि लगन से किया जाये तो आगामी दस वर्षों में कम-से-कम बीस हजार पृष्ठ की सामग्री हिन्दी में रूपान्तरित करके छापनी पड़ेगी। अर्थात् कम-से-कम दो हजार पृष्ठों की छपाई और अनुवाद प्रतिवर्ष आवश्यक होगा। इस प्रकार हिन्दी को सरकारी दफ्तरों में प्रवेश कराने के लिए प्रतिवर्ष कम-से-कम बीस हजार नये शब्दों का निर्माण; छः सौ वाक्यांशों का गठन; लगभग सौ मसविदों का हिन्दी रूपान्तर और दो हजार पृष्ठों की कानूनी कार्यवाही-सम्बन्धी सामग्री हमें अविलम्ब प्रकाशित करनी पड़ेगी। ये काम साथ-साथ चलते रहेंगे। उदाहरणार्थ, जिन सौ रिपोर्टों और कानूनों का रूपान्तर होगा, उनसे नये शब्द और वाक्यांश प्राप्त होंगे और उनका निर्माण तत्काल कर लिया जायेगा। जब तक इस प्रकार की किसी कार्य समिति का संघटन नहीं किया जाता, तब तक यह कार्य ठीक गति से चल नहीं सकता। मैं तो इस बात के पक्ष में भी हूँ कि यदि उचित शब्द न प्राप्त होते हों तो अंग्रेजी के शब्द भी तब तक स्वीकार कर लिये जायें जब तक उनके लिए देशी भाषा का उपयुक्त शब्द नहीं प्राप्त होता। हमारे ज्योतिषशास्त्र के प्राचीन आचार्यों ने ग्रीक और अरबी भाषा से शब्द लेने में भी संकोच नहीं किया है। ज्ञान के क्षेत्र में छूत-छात का प्रश्न ही नहीं उठता। हाँ, शब्दों को लेने के समय इतना ध्यान रखना आवश्यक है कि वे हमारी उच्चारण-पद्धति के अनुकूल हों और देवनागरी लिपि में सरलता से लिखे जाते हों। मैं समझता हूँ कि हिन्दी को सरकारी भाषा बनाने के लिए यह कम-से-कम कार्य है। विभिन्न राज्यों और केन्द्र की सरकारों से हम अब भी आशा रखते हैं कि वे समय न नष्ट करें और निश्चित समयसारिणी बनाकर इतना कार्य कर दें। यह इतना महत्त्वपूर्ण कार्य है कि केन्द्रीय सरकार को इसके लिए एक पृथक् मन्त्रालय स्थापित करने में भी नहीं हिचकना चाहिए।

किन्तु यह नहीं समझना चाहिए कि केवल दफ्तरों में आ जाने से हिन्दी भाषा में वह शक्ति आ जायेगी, जो आधुनिक युग में उन्मुक्त और उदार दृष्टि की प्रतिष्ठा करती है और संसार के जटिलतर होते जानेवाले रूप को समझने और सहज बनाने में सहायक हो सकती है। हिन्दी का साहित्य भी पूर्ण रूप से समृद्ध होना चाहिए। इसके लिए कला, विज्ञान, दर्शन, सामाजिक विज्ञान, शिल्पशास्त्र, औद्योगिक शास्त्र आदि के सम्बन्ध में ऐसी पुस्तकों का निर्माण अति आवश्यक है, जिनका स्तर ऊँचा हो और भाषा सहज हो। सहज, अर्थात् विषय के गाम्भीर्य के और प्रवाह के अनुरूप। सरलता के नाम पर कृत्रिम और अशक्त भाषा के बनाने के पक्ष में मैं नहीं हूँ। वस्तुतः भाषा सहज होनी चाहिए, न कृ[illegible] न दुरूप।

बनानी चाहिए। यह संख्या मैंने 14 भाषाओं को दृष्टि में रखकर निश्चित की है। लेकिन जैसा कि मैंने पहले ही कहा है, अंग्रेजी की उपेक्षा नहीं की जा सकती। इसलिए कम-से-कम तीन विभिन्न आकारो के हिन्दी-अग्रेजी और अंग्रेजी-हिन्दी कोश भी बनने चाहिए। इस तरह यह सख्या डेढ़ सौ के आसपास पहुँच जायेगी। इसी प्रकार दो आकारों के विभिन्न भाषाओ के अच्छे व्याकरणों की भी आवश्यकता है। यह संख्या तीस होगी। फिर विश्वकोश की भी बहुत बड़ी आवश्यकता है। यदि हम पाँच हजार पृष्ठो के हिसाब से दस वर्षो में विश्वकोश के निर्माण और प्रकाशन को योजना बनायें तो 1956 ई तक बीस जिल्दो मे पचास हजार पृष्ठों का विश्वकोश तैयार कर सकते है। इन कार्यो को अर्थात् उत्तम साहित्य के अनुवाद, कोश और व्याकरण सम्बन्धी ग्रन्थ और विश्वकोश बनाने के काम को सरकार को स्वय अपने हाथ मे नही लेना चाहिए। इस कार्य को विभिन्न सस्थाओ को आर्थिक सहायता देकर करा लेना चाहिए। इसी कार्य के साथ एक महत्त्वपूर्ण कार्य और है। वह है ऐतिहासिक अभिलेखों और फरमान आदि का प्रामाणिक हिन्दी रूपान्तर। अनुमानतः लगभग पाँच हजार अभिलेख और फरमान हिन्दी रूपान्तर के साथ प्रकाशित हो जाने चाहिए। इस कार्य को भी किसी संस्था के द्वारा करवाना उचित होगा। कुछ विश्वविद्यालयो को भी इन कार्यो मे अग्रणी होना चाहिए। हमारे विश्वविद्यालयों में पिटे-पिटाये मार्ग पर चलने-चलाने की प्रवृत्ति ही जोरों पर है। समय आ गया है जब उन्हें अधिक निर्मातृ-शक्ति और उद्भाविनी वृत्ति का परिचय देना चाहिए।

यह जनता की कम-से-कम माँग है। यदि हम सचमुच भारतवर्ष की भाषाओं को उन्नत और समृद्ध बनाना चाहते हैं और अपने देशवासियो को देशी भाषा के माध्यम से शिक्षित और सुसंस्कृत बनाना चाहते हैं तथा देशी भाषा के द्वारा उनके झगड़ों का फैसला सुनाना चाहते है तो यह कम-से-कम करणीय कार्य है। मैं दृढ़ता के साथ कहना चाहता हूँ कि यह भारतीय जनता का जन्मसिद्ध अधिकार है। कोई सरकार इसकी उपेक्षा नही कर सकती। देश की जनता को अपनी भाषा में उच्चतर ज्ञान प्राप्त करने, कौशल सीखने और न्याय प्राप्त करने का जन्मसिद्ध अधिकार है। किसी कठिनाई का बहाना बनाकर इस अधिकार की उपेक्षा नही की जा सकती।

यहाँ यह उल्लेख आवश्यक है कि कई राज्यों की सरकारों ने उच्च स्तर के साहित्य-निर्माण में कुछ-कुछ योग भी दिया है। बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् ने बिहार राज्य सरकार की सहायता से अनेक मूल्यवान ग्रन्थों का प्रकाशन कराया है। श्रद्धेय श्री शिवपूजन सहायजी की तपस्या और सेवा ने इसे प्रथम श्रेणी का कार्य बना दिया है। मध्यप्रदेश की सरकार ने भी इस प्रकार की एक शासन-साहित्य-परिषद् स्थापित की है, और आशा की जानी चाहिए कि वह भी महत्त्वपूर्ण साहित्य का प्रकाशन करेगी। उत्तर-प्रदेशीय सरकार ने भी हिन्दी के श्रेष्ठ साहित्य के प्रकाशन के लिए एक बड़ी योजना बनायी है। हिन्दी के श्रद्धेय साहित्यकार

डॉ. सम्पूर्णानन्दजी की छत्रच्छाया में यह कार्य सुचारु रूप से सम्पन्न होगा, ऐसी आशा है। हमारी पुरानी संस्था नागरी-प्रचारिणी-सभा ने नवीन उत्साह के साथ बड़े-बड़े कार्यों को आरम्भ किया है। 'हिन्दी-शब्दसागर' के संशोधन के लिए केन्द्रीय सरकार ने उसे एक लाख रुपये की सहायता दी है। सभा ने हिन्दी-साहित्य के वृहद् इतिहास की भी योजना बनाकर काम शुरू किया है, जिसमें उसे अनेक राज्यों की सरकारों ने आर्थिक सहायता दी है। केन्द्रीय सरकार की सहायता से सभा ने आकर-ग्रन्थ-माला की योजना चालू की है और माननीय सेठ घनश्यामदासजी बिड़ला की सहायता से महत्त्वपूर्ण प्राचीन हस्तलेखों के प्रकाशन के लिए 'राजा बलदेवदास बिड़ला ग्रन्थमाला' की भी योजना बनायी है। उत्तरप्रदेश की सरकार की उदार सहायता से सभा ने 1926 ई. के बाद से पड़े हुए अमुद्रित खोज विवरणों की चार जिल्दें प्रकाशित कर दी हैं और आशा की जा रही है कि बाकी सामग्री के प्रकाशन के लिए उत्तरप्रदेश की सरकार से उसको उदार सहायता प्राप्त होगी। मुझे यह बताने मे अत्यन्त हर्ष हो रहा है कि हस्तलिखित-ग्रन्थों की खोज को प्रोत्साहन देने के लिए उत्तरप्रदेश की सरकार ने वार्षिक सहायता की मात्रा ढाई गुनी अर्थात् दो हजार के स्थान पर पाँच हजार कर दी है। सभा का यह महत्त्वपूर्ण कार्य कई वर्षों से शिथिल पड़ गया था। अब उसमे कुछ तेजी आने लगी है। परन्तु यह कार्य और भी बड़े पैमाने पर होना चाहिए। उत्तरप्रदेश की सरकार की सहायता से केवल उत्तरप्रदेश में ही ग्रन्थों की खोज की जा रही है, किन्तु अभी भी उत्तरप्रदेश के बाहर यह खोज का कार्य नही के बराबर ही हुआ है। विन्ध्यप्रदेश की सरकार की एक हजार की सहायता से सभा ने विन्ध्यप्रदेश में जो कार्य करवाया है वह बहुत ही महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुआ है। मुझे यह प्रसन्नता है कि विन्ध्यप्रदेश की सरकार ने इस सहायता को कुछ और बढ़ा देने का निश्चय किया है। हिन्दी साहित्य के इतिहास के शोध और पुनर्गठन की दृष्टि से यह कार्य बहुत आवश्यक और महत्त्व-पूर्ण है। बिहार राज्य की सरकार ने बिहार राष्ट्र-भाषा परिषद् को सहायता देकर यह कार्य शुरू किया है, किन्तु मुझे ऐसा लगता है कि हस्तलिखित ग्रन्थों के विवरण लेने का कार्य एक ही केन्द्रीय संस्था द्वारा हो तो अच्छा हो। संग्रह और सम्पादन का कार्य अलग-अलग राज्य करें तो उचित ही होगा, किन्तु जहाँ तक ग्रन्थों के विवरण लेने का प्रश्न है, वह यदि एक ही केन्द्रीय संस्था के द्वारा हो तो शोधकार्य को बहुत बल मिलेगा। मेरी दृष्टि में नागरी-प्रचारिणी-सभा इस कार्य के लिए सर्वाधिक अनुभवी और उपयुक्त संस्था है। वह सर्वभारतीय संस्था है, इसलिए उसके द्वारा हिन्दी-राज्यों की सभी सरकारें आसानी से काम करा सकती हैं। राजस्थान से भी हस्तलिखित ग्रन्थों के कुछ महत्त्वपूर्ण विवरण प्रकाशित हुए हैं, किन्तु मुझे ठीक पता नही कि राजस्थान की सरकार ने इसमें क्या सहायता की है। मैं समझता हूँ, इस कार्य को और अधिक उत्साह से बड़े पैमाने पर शुरू करना चाहिए। हमारी पुरानी संस्थाओ में हिन्दुस्तानी एकेडेमी भी महत्त्वपूर्ण साहित्य का प्रकाशन करती जा रही है। परन्तु मुझे इस बात का बड़ा दुःख है कि हमारा सबसे प्रमुख संघटन हिन्दी-

साहित्य-सम्मेलन अभी भी मुकद्दमे के दलदल में फँसा हुआ है। हमें बड़े खेद के साथ कहना पड़ता है कि इस मामले में हम हिन्दी-भाषियों ने अपने-आपको दुनिया की दृष्टि में ऊँचा नहीं उठाया है। जैसे भी हो, हमें अपनी इस महत्त्वपूर्ण संस्था को इस दलदल से उबारना ही चाहिए। मुझे यह जानकर हर्ष हुआ है कि हमारे साहित्य के मनीषियों ने इस समस्या को हल करने का दृढ़ निश्चय कर लिया है। आशा करनी चाहिए कि इस विषय में साधारण हिन्दी जनता की सम्मिलित इच्छा-शक्ति की विजय होगी, और सम्मेलन का मामला सुलझ जायेगा। जो लोग सम्मेलन के भाग्य का फैसला मुकद्दमा लड़के करना चाहते है, वे भी अपने ढग से सम्मेलन का कल्याण ही चाहते होंगे, किन्तु जिस हिन्दी-भाषी सामान्य जनता के सम्मिलित शुभ-संकल्प और अपराजेय निष्ठा के बल पर सम्मेलन शक्तिशाली संस्था बना है, वह निश्चिय रूप से चाहती है कि सम्मेलन की शक्ति छोटे-छोटे झगड़ों में समाप्त न होकर देश के लिए कल्याणजनक रचनात्मक कार्यों में लगे। आज का प्रत्येक दिन अत्यन्त मूल्यवान है। आपसी झगड़ों मे हम जितना भी समय नष्ट कर रहे हैं, वह हमारी प्रगति को अधिक-से-अधिक पीछे ढकेल रहा है। आशा की जाये कि अंग्रेजी नये वर्ष का प्रथम दिन सम्मेलन के दुर्दिन के अवसान का दिन होगा।

यद्यपि सम्मेलन पर ग्रहण लगा हुआ है, तथापि वह कुछ महत्त्वपूर्ण कार्यों का संचालन अब भी किये जा रहा है। यह प्रसन्नता की बात है कि सम्मेलन ने एक अच्छा अंग्रेजी-हिन्दी का वृहत् कोश इसी बीच तैयार कराया है। वस्तुतः हिन्दी मे कोश-रचना का कार्य अब भी बाल्यावस्था में ही है। इस प्रसंग में हमें इस बात का उल्लेख करते हुए हर्ष हो रहा है कि हमारे वयोवृद्ध कोशकार श्री रामचन्द्रजी वर्मा ने हिन्दी-पर्याय-मालाओं का कार्य आरम्भ किया है, जो बहुत उपयोगी है। उनकी 'शब्द-साधना' नाम की पुस्तक अभी प्रकाशित हुई है। इस वृद्धावस्था मे स्वास्थ्य ठीक न रहने पर भी वर्माजी जिस उत्साह से कार्य कर रहे हैं, वह अनुकरणीय है। मेरा विचार है कि वर्माजी को उत्साह-परायण नवयुवकों और आवश्यक द्रव्य की सहायता देकर यथाशीघ्र ही यह विशाल कार्य पूरा करा लेना चाहिए। केन्द्रीय सरकार ने साहित्य अकादमी की स्थापना करके सम्पूर्ण भारतीय साहित्य के प्रकाशित ग्रन्थों की सूची बनवाने का कार्य आरम्भ किया है जो निस्सन्देह अभिनन्दनीय है। अकादमी विभिन्न भारतीय भाषाओं को एक-दूसरे के निकट लाने का जो प्रयत्न कर रही है, वह श्लाघ्य है। हिन्दीभाषी क्षेत्र के बाहर 'दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा', 'राष्ट्र-भाषा-प्रचार समिति' आदि महत्त्वपूर्ण गैर-सरकारी संस्थाओं ने बहुत ही प्रशंसनीय कार्य किये हैं। यह सन्तोष की बात है कि हिन्दी-प्रचार के साथ-ही-साथ ये संस्थाएँ तत्तद् प्रदेशों में प्रादेशिक भाषाओं के साहित्य के उन्नयन और शोध का प्रयास भी कर रही हैं। हिन्दीभाषी प्रान्त के बाहर कई विश्वविद्यालयों ने हिन्दी को अनिवार्य या ऐच्छिक विषय बनाया है। कलकत्ता, विश्वभारती, पूना, बम्बई और हैदराबाद आदि विश्वविद्यालय तो इस विषय में

सबके अगुआ ही है। इस प्रकार प्रसार की दृष्टि से हिन्दी का काम थोड़ा-बहुत आगे ही बढ़ा है। परन्तु इससे हिन्दी की आवश्यकताएँ और भी बढ़ गयी हैं। और हमारा प्रयत्न-दारिद्र्य और भी नग्न रूप में प्रकट हुआ है। यह समय है जब हिन्दी के अध्यापकों और शोधप्रिय छात्रों को अक्लान्त भाव से काम करने की आवश्यकता है।

एक और आवश्यक और विचारणीय विषय की ओर मैं आपका ध्यान आकृष्ट करना चाहता हूँ। ज्यों-ज्यों हिन्दीतर प्रान्तों के विद्यार्थी विश्वविद्यालयों की उच्चतर शिक्षा प्राप्त करने के लिए अग्रसर होते जा रहे हैं, त्यों-त्यों यह स्पष्ट होता जा रहा है कि ऐसे विद्यार्थियों के लिए हिन्दी की अनेक उपभाषाओं के साहित्य को पढ़ाना कठिन होता जा रहा है। वस्तुतः उन्हें हिन्दी के नाम पर कई ऐसी भाषाएँ पढ़नी पड़ती हैं जिनसे हिन्दीभाषी विद्यार्थी तो पूर्ण परिचित होता है, लेकिन अहिन्दी-भाषी के लिए वे बहुत-कुछ नवीन भाषा के रूप में सामने आती हैं! मेरे एक दक्षिण भारतीय विद्यार्थी ने बताया कि आपके विश्वविद्यालयों में हमें अनेक भाषाएँ हिन्दी के नाम पर सीखनी पड़ती है। मुझे ऐसा लगता है कि गैर-हिन्दीभाषी विद्यार्थियों के लिए एक ऐसा पाठ्यक्रम निश्चित होना चाहिए जिसमें खड़ी बोली के साहित्य का प्राधान्य हो। हमारी अन्य उपभाषाओं के पूर्ववर्ती साहित्य का ज्ञान उन्हें हिन्दी साहित्य के इतिहास और आलोचना सम्बन्धी ग्रन्थों के माध्यम से ही कराना चाहिए।

आज आलस्य छोड़कर काम करने की आवश्यकता है। आपके सामने होनहार विद्यार्थी हैं, जो काम चाहते हैं। इस महान् जनशक्ति को उपयोगी कामों में लगाना आवश्यक है। विश्वास के साथ और दृढ़ता के साथ यदि हम काम करना चाहें तो संसार में कुछ भी असाध्य नहीं है। मैं हिन्दी को संसार की श्रेष्ठ भाषाओं के समकक्ष बनाने के कार्य को बिल्कुल ही असाध्य नहीं मानता। यदि यह असाध्य भी होता तो भी हमें करना तो पड़ता ही। हमारे सौभाग्य से हमें संस्कृत भाषा की अपार निर्मात्री शक्ति प्राप्त है और देशी भाषाओं में हजारों की संख्या में ऐसे अर्थप्रभु शब्द हैं जो अन्यत्र मिलना सम्भव नहीं है। कोई कारण नहीं कि हम अपनी भाषा को संसार की श्रेष्ठ भाषाओं के समकक्ष न बना सकें। हम महान् देश के निवासी हैं और महान् साहित्य और सांस्कृतिक परम्परा के उत्तराधिकारी हैं। हम हार मानने को तैयार नहीं हैं :

उत्थातव्यं जागृतव्यं योक्तव्यं भूतिकर्मसु।
भविष्यतीत्येव मनः कृत्वा सततमव्यथैः॥

[कुटज से—भारतीय हिन्दी परिषद् के नागपुर अधिवेशन के अध्यक्षीय पद से दिया गया भाषण]

वाले या करनेवालों की योग्यता; (3) तत्काल उपलब्ध साधन जिसमें कर्त्ता की मानसिक स्थिति भी शामिल है; (4) उस काल में और उस स्थान पर रहनेवाले लोगों या वस्तुओं की भिन्न-भिन्न प्रतिक्रियाएँ या चेष्टाएँ; और (5) ऐसी प्राकृतिक शक्तियाँ जो मनुष्य के नियन्त्रण में नही हैं, और जिन्हें किसी अच्छे शब्द के अभाव मे 'दैव' कहकर सन्तोष कर लिया जाता है। ये पाँचों कारण अतीत, वर्त्तमान और भविष्य मे किसी कार्य को घटित होने के लिए उत्तरदायी हैं। इतिहास की संरचना में जो गलतियाँ होती हैं, उनका कारण है इन पाँचों में से एक या दो या अधिक के विषय में जानकारी का अभाव। जब इनमे से कोई जानकारी अधिक स्पष्ट रूप मे मिल जाती है तब इतिहास में संशोधन की आवश्यकता हुआ करती है।

ईसवी सन् दो हजार मे हिन्दी साहित्य की क्या स्थिति होगी, उसका भी अन्दाजा इन्ही पाँच बातों को ध्यान मे रखकर लगाया जाना चाहिए। अब से लगभग एक तिहाई शताब्दी मे क्या कुछ होनेवाला है उसे, पिछली 2/3 शताब्दी में जो-कुछ हुआ है उसके आधार पर ही अनुमान का विषय बनाया जा सकता है।

आज से 33 वर्ष पहले किसी को यदि 1967 ई. के हिन्दी साहित्य की स्थिति पर विचार करना होता तो कदाचित् वह सोच भी नही सकता था कि 1967 ई. मे भारतवर्ष के दो टुकड़े हो गये रहेंगे और पाकिस्तान और हिन्दुस्तान नामक इन दोनों टुकड़ों में नित्य वैर-जैसा दिखनेवाला भाव पैदा हो गया होगा। सन् 1965 ई. में पाकिस्तानी आक्रमण के समय जिस प्रकार का विक्षोभ लेखकों के मन मे उत्पन्न हुआ और उसके कारण जिस प्रकार का साहित्य लिखा गया, वह उस समय के भविष्य-वक्ता के लिए अज्ञेय था। परन्तु इतना उस समय भी उसे पता था कि हिन्दू और मुसलमान, इन दो प्रमुख सम्प्रदायो में तनातनी बढ रही है और यह तनाव किसी-न-किसी अशुभ परिणाम की सृष्टि अवश्य करेगा। इसी प्रकार आज का मनुष्य कुछ विशेष प्रकार के तनाव का अनुभव जरूर कर रहा है और यह तनाव कोई-न-कोई रूप लेगा, यह भी निश्चित है। परन्तु क्या रूप लेगा, यह निश्चयपूर्वक कोई नहीं कह सकता।

हिन्दी भाषा और साहित्य का घनिष्ठ सम्बन्ध भारतवर्ष की अखण्डता, एकता और समृद्धि से है। क्या यह देश एक और अखण्ड बना रहेगा? जिस विषम आर्थिक संकट के भीतर से हम गुजर रहे हैं, उसका कही अन्त भी है या नही? क्या होनेवाला है इस देश का?

जब से भारतवर्ष स्वतन्त्र हुआ है तब से वह भाषा के क्षेत्र में एक प्रकार का मानसिक तनाव अनुभव करने लगा है। भाषावार प्रान्तों के पुनर्गठन के बाद पृथक्-पृथक् सभी क्षेत्रीय भाषाओं को समान महत्त्व देने की माँग बढ़ रही है। हर भाषा मे पब्लिक सर्विस कमीशन की परीक्षाएँ हों और विश्वविद्यालयों की उच्चतम

शिक्षा की व्यवस्था हो, यह आकांक्षा अधिकाधिक प्रबल रूप में प्रकट होने लगी है। पार्लियामेण्ट में हर भाषा को समान मर्यादा देने का प्रस्ताव भी क्रमशः दृढ़ स्वर में व्यक्त किया जाने लगा है। इसी प्रकार इस देश के विभिन्न खण्डों में अधिकाधिक स्वतन्त्र इकाई होने की लालसा निरन्तर बढ़ रही है। कई बार हिन्दी-प्रेमी इन बातों से चिन्तित होते हैं। परन्तु इससे हिन्दी की कोई हानि होगी, ऐसी आशंका मुझे नहीं है। वस्तुतः देश की अन्य सभी भाषाओं की स्वतन्त्र और समान मर्यादा की माँग अंग्रेजी के विरुद्ध जायेगी और हिन्दी 15 भाषाओं में एक होने पर भी इनमें सबसे अधिक समृद्ध और शक्तिशाली रहेगी—इस विषय में सन्देह की आवश्यकता नहीं है; क्योंकि लगभग आधे भारतवर्ष की भाषा वह तब भी रहेगी। और यदि इस माँग ने इतना उग्र रूप नहीं धारण किया कि इस देश की एकता ही संकट में पड़ जाय तो इतना निश्चित है कि वही सारे देश में सम्पर्क-भाषा के रूप में स्वीकृत होगी। कभी-कभी यह आशंका होती है कि स्वयं हिन्दी-प्रदेशों में स्थानीय बोलियों को भाषा की मर्यादा देने की माँग प्रबल हो रही है। यह प्रवृत्ति यदि अपनी तर्क-सम्मत परिणति की ओर जाय तो चिन्ता का विषय हो सकती है। लेकिन इससे भी निराश या चिन्तित होने की बात नहीं है। इन बातों से हिन्दी-प्रदेशों की एकता के नष्ट होने की सम्भावना या देश की अखण्डता के भी नष्ट होने की आशंका नहीं है। भाषाई विभेद और जाति-पाँति का मनोभाव अधिक दूर तक चल नहीं सकता। इसके दो कारण हैं। दोनों ही देश के दुर्भाग्य के निदर्शक हैं, परन्तु मेरा अनुमान है कि ये आगामी 10-15 वर्षों में कम होने लगेंगे। एक दुर्भाग्य तो हमारी वर्तमान आर्थिक स्थिति ही है। यह आर्थिक स्थिति कुछ तो हमारे देशवासियों के सामूहिक प्रयत्नों की शिथिलता, दुर्व्यवस्था और सामाजिक जीवन के प्रति अस्वस्थ दृष्टिकोणों के कारण उत्पन्न हुई है, परन्तु बहुत-कुछ विकासशील देश के लिए अनिवार्य भी है। व्यक्तिगत सम्पत्ति संचय करने की अस्वस्थ मनोवृत्ति, जड़ता, आलस्य, अनुशासनहीनता, अनास्था आदि से बहुत हानि हुई है। इसका बहुत बड़ा दुष्परिणाम हुआ है कि संवेदनशील युवकों के चित्त में एक विचित्र प्रकार का अजनबीपन, सन्त्रास, असहाय वृत्ति और निराशा का वातावरण प्रस्तुत हो रहा है। इस मनोवृत्ति से उत्पन्न हुआ साहित्य पुराने मूल्यों के अनुसन्धान को व्यर्थ का प्रयास मानने लगा है, और सम्पूर्ण सभ्यता को ही कृत्रिम, प्रपंचपूर्ण और मृगमरीचिका के रूप में देखने लगा है। इस भ्रष्टप्राय व्यवस्था के सामने कोई बहुत बड़ा लक्ष्य नहीं है। ऐसा लगने लगा है कि वह कुछ लोगों के हाथ का खिलौना मात्र है और इसके सामने किसी-न-किसी प्रकार अपना पेट भरने और तोंद फुलाने के अतिरिक्त और कोई लक्ष्य ही नहीं है। उसका संवेदन बिलकुल भोथा हो गया है। हृदय नाम की चीज उसके पास है ही नहीं। है तो केवल विकराल मुख और भयंकर पेट।

अजनबीपन प्रेम के अभाव का द्योतक है, सन्त्रास भविष्य की उज्ज्वलता के विषय में निराशा का परिणाम है और अनास्था समाज के प्रतिष्ठित कहे जानेवाले लोगों के आचरणों के भोग-परायण होने का फल है। इसमें आशा का केवल एक ही

वाले या करनेवालों की योग्यता; (3) तत्काल उपलब्ध साधन जिसमें कर्त्ता की मानसिक स्थिति भी शामिल है; (4) उस काल मे और उस स्थान पर रहनेवाले लोगों या वस्तुओं की भिन्न-भिन्न प्रतिक्रियाएँ या चेष्टाएँ; और (5) ऐसी प्राकृतिक शक्तियाँ जो मनुष्य के नियन्त्रण में नहीं हैं, और जिन्हें किसी अच्छे शब्द के अभाव में 'दैव' कहकर सन्तोष कर लिया जाता है। ये पाँचों कारण अतीत, वर्त्तमान और भविष्य में किसी कार्य को घटित होने के लिए उत्तरदायी हैं। इतिहास की संरचना में जो गलतियाँ होती हैं, उनका कारण है इन पाँचों में से एक या दो या अधिक के विषय मे जानकारी का अभाव। जब इनमें से कोई जानकारी अधिक स्पष्ट रूप में मिल जाती है तब इतिहास में संशोधन की आवश्यकता हुआ करती है।

ईसवी सन् दो हजार में हिन्दी साहित्य की क्या स्थिति होगी, उसका भी अन्दाजा इन्हीं पाँच बातों को ध्यान मे रखकर लगाया जाना चाहिए। अब से लगभग एक तिहाई शताब्दी में क्या कुछ होनेवाला है उसे, पिछली 2/3 शताब्दी मे जो-कुछ हुआ है उसके आधार पर ही अनुमान का विषय बनाया जा सकता है।

आज से 33 वर्ष पहले किसी को यदि 1967 ई. के हिन्दी साहित्य की स्थिति पर विचार करना होता तो कदाचित् वह सोच भी नहीं सकता था कि 1967 ई. में भारतवर्ष के दो टुकड़े हो गये रहेंगे और पाकिस्तान और हिन्दुस्तान नामक इन दोनों टुकड़ों में नित्य वैर-जैसा दिखनेवाला भाव पैदा हो गया होगा। सन् 1965 ई. मे पाकिस्तानी आक्रमण के समय जिस प्रकार का विक्षोभ लेखकों के मन में उत्पन्न हुआ और उसके कारण जिस प्रकार का साहित्य लिखा गया, वह उस समय के भविष्य-वक्ता के लिए अज्ञेय था। परन्तु इतना उस समय भी उसे पता था कि हिन्दू और मुसलमान, इन दो प्रमुख सम्प्रदायों में तनातनी बढ़ रही है और यह तनाव किसी-न-किसी अशुभ परिणाम की सृष्टि अवश्य करेगा। इसी प्रकार आज का मनुष्य कुछ विशेष प्रकार के तनाव का अनुभव जरूर कर रहा है और यह तनाव कोई-न-कोई रूप लेगा, यह भी निश्चित है। परन्तु क्या रूप लेगा, यह निश्चयपूर्वक कोई नहीं कह सकता।

हिन्दी भाषा और साहित्य का घनिष्ठ सम्बन्ध भारतवर्ष की अखण्डता, एकता और समृद्धि से है। क्या यह देश एक और अखण्ड बना रहेगा? जिस विषम आर्थिक संकट के भीतर से हम गुजर रहे हैं, उसका कहीं अन्त भी है या नहीं? क्या होनेवाला है इस देश का?

जब से भारतवर्ष स्वतन्त्र हुआ है तब से वह भाषा के क्षेत्र मे एक प्रकार का मानसिक तनाव अनुभव करने लगा है। भाषावार प्रान्तों के पुनर्गठन के बाद पृथक्-पृथक् सभी क्षेत्रीय भाषाओं को समान महत्त्व देने की माँग बढ़ रही है। हर भाषा में पब्लिक सर्विस कमीशन की परीक्षाएँ हों और विश्वविद्यालयों की उच्चतम

शिक्षा की व्यवस्था हो, यह आकांक्षा अधिकाधिक प्रबल रूप मे प्रकट होने लगी है। पार्लियामेण्ट में हर भाषा को समान मर्यादा देने का प्रस्ताव भी क्रमशः दृढ स्वर में व्यक्त किया जाने लगा है। इसी प्रकार इस देश के विभिन्न खण्डो मे अधिकाधिक स्वतन्त्र इकाई होने की लालसा निरन्तर बढ रही है। कई बार हिन्दी-प्रेमी इन बातों से चिन्तित होते है। परन्तु इससे हिन्दी की कोई हानि होगी, ऐसी आशंका मुझे नही है। वस्तुत: देश की अन्य सभी भाषाओं की स्वतन्त्र और समान मर्यादा की माँग अग्रेजी के विरुद्ध जायेगी और हिन्दी 15 भाषाओ में एक होने पर भी इनमें सबसे अधिक समृद्ध और शक्तिशाली रहेगी—इस विषय मे सन्देह की आवश्यकता नही है; क्योकि लगभग आधे भारतवर्ष की भाषा वह तब भी रहेगी। और यदि इस माँग ने इतना उग्र रूप नही धारण किया कि इस देश की एकता ही संकट में पड़ जाय तो इतना निश्चित है कि वही सारे देश में सम्पर्क-भाषा के रूप में स्वीकृत होगी। कभी-कभी यह आशका होती है कि स्वयं हिन्दी-प्रदेशो में स्थानीय बोलियों को भाषा की मर्यादा देने की माँग प्रबल हो रही है। यह प्रवृत्ति यदि अपनी तर्क-सम्मत परिणति की ओर जाय तो चिन्ता का विषय हो सकती है। लेकिन इससे भी निराश या चिन्तित होने की बात नही है। इन बातो से हिन्दी-प्रदेशों की एकता के नष्ट होने की सम्भावना या देश की अखण्डता के भी नष्ट होने की आशंका नही है। भाषाई विभेद और जाति-पाँति का मनोभाव अधिक दूर तक चल नही सकता। इसके दो कारण है। दोनो ही देश के दुर्भाग्य के निदर्शक है, परन्तु मेरा अनुमान है कि ये आगामी 10-15 वर्षो में कम होने लगेंगे। एक दुर्भाग्य तो हमारी वर्तमान आर्थिक स्थिति ही है। यह आर्थिक स्थिति कुछ तो हमारे देशवासियों के सामूहिक प्रयत्नों की शिथिलता, दुर्व्यवस्था और सामाजिक जीवन के प्रति अस्वस्थ दृष्टिकोणों के कारण उत्पन्न हुई है, परन्तु बहुत-कुछ विकासशील देश के लिए अनिवार्य भी है। व्यक्तिगत सम्पत्ति संचय करने की अस्वस्थ मनोवृत्ति, जडता, आलस्य, अनुशासनहीनता, अनास्था आदि से बहुत हानि हुई है। इसका बहुत बड़ा दुष्परिणाम हुआ है कि संवेदनशील युवकों के चित्त में एक विचित्र प्रकार का अजनबीपन, सन्त्रास, असहाय वृत्ति और निराशा का वातावरण प्रस्तुत हो रहा है। इस मनोवृत्ति से उत्पन्न हुआ साहित्य पुराने मूल्यो के अनुसन्धान को व्यर्थ का प्रयास मानने लगा है, और सम्पूर्ण सभ्यता को ही कृत्रिम, प्रपंचपूर्ण और मृगमरीचिका के रूप में देखने लगा है। इस भ्रष्टप्राय व्यवस्था के सामने कोई बहुत बड़ा लक्ष्य नहीं है। ऐसा लगने लगा है कि वह कुछ लोगो के हाथ का खिलौना मात्र है और इसके सामने किसी-न-किसी प्रकार अपना पेट भरने और तोंद फुलाने के अतिरिक्त और कोई लक्ष्य ही नही है। उसका संवेदन बिल्कुल भोथा हो गया है। हृदय नाम की चीज उसके पास है ही नही। है तो केवल विकराल मुख और भयंकर पेट।

अजनबीपन प्रेम के अभाव का द्योतक है, सन्त्रास भविष्य की उज्ज्वलता के विषय में निराशा का परिणाम है और अनास्था समाज के प्रतिष्ठित कहे जानेवाले लोगों के आचरणों के भोग-परायण होने का फल है। इसमें आशा का केवल एक ही

वाले या करनेवालो की योग्यता; (3) तत्काल उपलब्ध साधन जिसमें कर्ता की मानसिक स्थिति भी शामिल है; (4) उस काल में और उस स्थान पर रहनेवाले लोगो या वस्तुओं की भिन्न-भिन्न प्रतिक्रियाएँ या चेष्टाएँ; और (5) ऐसी प्राकृतिक शक्तियाँ जो मनुष्य के नियन्त्रण में नही हैं, और जिन्हे किसी अच्छे शब्द के अभाव मे 'दैव' कहकर सन्तोष कर लिया जाता है। ये पाँचो कारण अतीत, वर्त्तमान और भविष्य मे किसी कार्य को घटित होने के लिए उत्तरदायी हैं। इतिहास की संरचना मे जो गलतियाँ होती है, उनका कारण है इन पाँचों में से एक या दो या अधिक के विषय मे जानकारी का अभाव। जब इनमे से कोई जानकारी अधिक स्पष्ट रूप मे मिल जाती है तब इतिहास में संशोधन की आवश्यकता हुआ करती है।

ईसवी सन् दो हजार में हिन्दी साहित्य की क्या स्थिति होगी, उसका भी अन्दाजा इन्ही पाँच बातों को ध्यान मे रखकर लगाया जाना चाहिए। अब से लगभग एक तिहाई शताब्दी मे क्या कुछ होनेवाला है उसे, पिछली 2/3 शताब्दी मे जो-कुछ हुआ है उसके आधार पर ही अनुमान का विषय बनाया जा सकता है।

आज से 33 वर्ष पहले किसी को यदि 1967 ई. के हिन्दी साहित्य की स्थिति पर विचार करना होता तो कदाचित् वह सोच भी नही सकता था कि 1967 ई. मे भारतवर्ष के दो टुकड़े हो गये रहेंगे और पाकिस्तान और हिन्दुस्तान नामक इन दोनों टुकडों में नित्य वैर-जैसा दिखनेवाला भाव पैदा हो गया होगा। सन् 1965 ई. में पाकिस्तानी आक्रमण के समय जिस प्रकार का विक्षोभ लेखकों के मन मे उत्पन्न हुआ और उसके कारण जिस प्रकार का साहित्य लिखा गया, वह उस समय के भविष्य-वक्ता के लिए अज्ञेय था। परन्तु इतना उस समय भी उसे पता था कि हिन्दू और मुसलमान, इन दो प्रमुख सम्प्रदायों मे तनातनी बढ़ रही है और यह तनाव किसी-न-किसी अशुभ परिणाम की सृष्टि अवश्य करेगा। इसी प्रकार आज का मनुष्य कुछ विशेष प्रकार के तनाव का अनुभव जरूर कर रहा है और यह तनाव कोई-न-कोई रूप लेगा, यह भी निश्चित है। परन्तु क्या रूप लेगा, यह निश्चयपूर्वक कोई नहीं कह सकता।

हिन्दी भाषा और साहित्य का घनिष्ठ सम्बन्ध भारतवर्ष की अखण्डता, एकता और समृद्धि से है। क्या यह देश एक और अखण्ड बना रहेगा? जिस विषम आर्थिक संकट के भीतर से हम गुजर रहे हैं, उसका कही अन्त भी है या नही? क्या होनेवाला है इस देश का?

जब से भारतवर्ष स्वतन्त्र हुआ है तब से वह भाषा के क्षेत्र मे एक प्रकार का मानसिक तनाव अनुभव करने लगा है। भाषावार प्रान्तो के पुनर्गठन के बाद पृथक्-पृथक् सभी क्षेत्रीय भाषाओं को समान महत्त्व देने की माँग बढ़ रही है। हर भाषा मे पब्लिक सर्विस कमीशन की परीक्षाएँ हों और विश्वविद्यालयों की उच्चतम

शिक्षा की व्यवस्था हो, यह आकांक्षा अधिकाधिक प्रबल रूप में प्रकट होने लगी है। पालियामेण्ट में हर भाषा को समान मर्यादा देने का प्रस्ताव भी क्रमशः दृढ़ स्वर में व्यक्त किया जाने लगा है। इसी प्रकार इस देश के विभिन्न खण्डों में अधिकाधिक स्वतन्त्र इकाई होने की लालसा निरन्तर बढ़ रही है। कई बार हिन्दी-प्रेमी इन बातों से चिन्तित होते हैं। परन्तु इससे हिन्दी की कोई हानि होगी, ऐसी आशंका मुझे नहीं है। वस्तुत: देश की अन्य सभी भाषाओं की स्वतन्त्र और समान मर्यादा की माँग अंग्रेजी के विरुद्ध जायेगी और हिन्दी 15 भाषाओं में एक होने पर भी इनमें सबसे अधिक समृद्ध और शक्तिशाली रहेगी—इस विषय में सन्देह की आवश्यकता नहीं है; क्योंकि लगभग आधे भारतवर्ष की भाषा वह तब भी रहेगी। और यदि इस माँग ने इतना उग्र रूप नहीं धारण किया कि इस देश की एकता ही संकट में पड़ जाय तो इतना निश्चित है कि वही सारे देश में सम्पर्क-भाषा के रूप में स्वीकृत होगी। कभी-कभी यह आशंका होती है कि स्वयं हिन्दी-प्रदेशों में स्थानीय बोलियों को भाषा की मर्यादा देने की माँग प्रबल हो रही है। यह प्रवृत्ति यदि अपनी तर्क-सम्मत परिणति की ओर जाय तो चिन्ता का विषय हो सकती है। लेकिन इससे भी निराश या चिन्तित होने की बात नहीं है। इन बातों से हिन्दी-प्रदेशों की एकता के नष्ट होने की सम्भावना या देश की अखण्डता के भी नष्ट होने की आशंका नहीं है। भाषाई विभेद और जाति-पाँति का मनोभाव अधिक दूर तक चल नहीं सकता। इसके दो कारण है। दोनों ही देश के दुर्भाग्य के निदर्शक है, परन्तु मेरा अनुमान है कि ये आगामी 10-15 वर्षों में कम होने लगेंगे। एक दुर्भाग्य तो हमारी वर्त्तमान आर्थिक स्थिति ही है। यह आर्थिक स्थिति कुछ तो हमारे देशवासियों के सामूहिक प्रयत्नों की शिथिलता, दुर्व्यवस्था और सामाजिक जीवन के प्रति अस्वस्थ दृष्टिकोणों के कारण उत्पन्न हुई है, परन्तु बहुत-कुछ विकासशील देश के लिए अनिवार्य भी है। व्यक्तिगत सम्पत्ति संचय करने की अस्वस्थ मनोवृत्ति, जड़ता, आलस्य, अनुशासनहीनता, अनास्था आदि से बहुत हानि हुई है। इसका बहुत बड़ा दुष्परिणाम हुआ है कि संवेदनशील युवकों के चित्त में एक विचित्र प्रकार का अजनबीपन, सन्त्रास, असहाय वृत्ति और निराशा का वातावरण प्रस्तुत हो रहा है। इस मनोवृत्ति से उत्पन्न हुआ साहित्य पुराने मूल्यों के अनुसन्धान को व्यर्थ का प्रयास मानने लगा है, और सम्पूर्ण सभ्यता को ही कृत्रिम, प्रपंचपूर्ण और मृगमरीचिका के रूप में देखने लगा है। इस भ्रष्टप्राय व्यवस्था के सामने कोई बहुत बड़ा लक्ष्य नहीं है। ऐसा लगने लगा है कि वह कुछ लोगों के हाथ का खिलौना मात्र है और इसके सामने किसी-न-किसी प्रकार अपना पेट भरने और तोंद फुलाने के अतिरिक्त और कोई लक्ष्य ही नहीं है। उसका संवेदन बिल्कुल खोया हो गया है। हृदय नाम की चीज उसके पास है ही नहीं। है तो केवल विकराल मुख और भयंकर पेट।

अजनबीपन प्रेम के अभाव का द्योतक है, सन्त्रास भविष्य की उज्ज्वलता के विषय में निराशा का परिणाम है और अनास्था समाज के प्रतिष्ठित कहे जानेवाले लोगों के आचरणों के भोग-परायण होने का फल है। इसमें आशा का केवल एक ही

स्थान है—वह है साधारण जनता का स्वस्थ मनोबल। पिछली दशाब्दी की घटनाएँ संकेत करती है कि साधारण जनता इसे अधिक बर्दाश्त करने की स्थिति में नहीं है। मेरा विश्वास है कि आगामी 20-22 वर्षों मे निस्सन्देह साधारण जनता के गर्भ से शक्तिशाली महामानव उत्पन्न होगा। मनुष्य की जिजीविषा बहुत प्रबल होती है। जैसी स्थिति इस समय है, उसमें जीना ही दूभर हो गया है। इसलिए शीघ्र ही इसकी प्रतिक्रिया किसी-न-किसी रूप में प्रकट होगी। इस देश के इतिहास को देखते हुए मैं उस प्रकार की जन-क्रान्ति की बात नहीं सोच सकता जैसी कि पश्चिम के कई देशो मे हुई है। भारत की क्रान्ति सदा भोग-पराङ्मुख और त्याग-मूलक मूल्यों का अनुसरण करती रही है और वह अब भी उन्ही उपायो पर बल देगी जो रचनात्मक होगे। सौभाग्यवश उसका बीजारोप हो गया है। वह उपाय है आधुनिक वैज्ञानिक साधनों के प्रयोग से देश के पर्वतों और नदियो, जंगलों और रेगिस्तानों के भीतर दबी हुई अपार सम्पत्ति का उद्घाटन। जो महामानव नेता आगामी 20-25 वर्षो के भीतर ही आनेवाला है वह कानूनी बहसो के चक्कर मे नही पड़ेगा; इस और उस देश की प्रगति और उन्नति के मन्त्रो की खोज नही करता फिरेगा। वह देश की मिट्टी से पैदा होगा और देश की मिट्टी को अपना सम्बल बनायेगा। भारतवर्ष समस्त साधनो से परिपूर्ण अपने ढंग की अद्वितीय इकाई है। जिस आर्थिक अवसन्नता के चक्कर में हम फँस गये है, उससे उबरने का एकमात्र मार्ग देश की अखण्डता है। टुकड़ों में बँटकर यह देश छिन्न मेघ की तरह बर्बाद हो जायेगा। परन्तु एक बना रहकर अपार सम्पत्ति का अधिकारी होगा। बड़ी-बडी योजनाओं का सूत्रपात हो गया है, लेकिन भविष्य में इनसे भी अधिक महत्त्वपूर्ण और बड़ी योजनाएँ देश को एक सिरे से दूसरे सिरे तक कसकर बाँध देंगी। आज देश का काफी बड़ा हिस्सा प्रतिदिन, अनवरत रेलो और बसो मे यात्रा करता है। एक प्रदेश के लोग दूसरे प्रदेश मे जाने को बाध्य हैं- और भी अधिक बाध्य होंगे। भाषाओं की सकीर्ण सीमा निश्चित रूप से टूटेगी। एक प्रदेश दूसरे प्रदेश के निकट आने को बाध्य है। यह दुर्भाग्य आगामी बीस वर्षों में हमारे लिए वरदान सिद्ध होगा। भारतवर्ष अपने-आपको खोजने लगा है और जिस दिन खोज लेगा उस दिन अजनबीपन और सन्त्रास समाप्त हो जायेंगे। सुन्दर भविष्य के निर्माण का स्वप्न जब थोड़े-से सुविधाभोगी हाथो से निकलकर देश की कोटि-कोटि जनता के हाथो में आ जायेगा तो पुराने मूल्यों के प्रति विद्रोह तो होगा ही नही, उनके प्रति नयी आस्थाएँ उत्पन्न होंगी और उन्हे नये सन्दर्भ में नयी शक्ति प्राप्त होगी। मेरा विश्वास है कि ईसवी सन् 2000 आने के पहले आशा और उत्साह की लहर एक छोर से दूसरे छोर तक व्याप्त हो जायेगी। आर्थिक विषमता और दुर्व्यवस्था का जो घिनौना रूप आज प्रकट हुआ है, उसका पेट फाड़कर नयी व्यवस्था जन्म लेगी। और उससे प्रेरित नये साहित्य मे अधिक स्वस्थ और सबल स्वर सुनायी देगा।

इस प्रकार देश की विषम आर्थिक स्थिति जितनी भी भयंकर हो, उसी

मे भावी भारत की एकता और अखण्डता की आशा के बीज हैं। जो लोग भावुकता-वश क्षेत्रीय विलगाव का राग अलापने लगे थे, वे भी समझने लगे हैं कि कल्याण एकता और अखण्डता मे है। जैसे-जैसे उग्र राजनीतिक दल उत्तरदायित्व का काम सँभालने का अवसर पायेंगे वैसे-वैसे उनकी विलगाव की नीति समाप्त होती जायेगी।

एक दूसरी बात भी है। जाति-पाँति, प्रान्तीयता, क्षेत्रीयता आदि भी उभरी हैं। बीज जब नये अंकुर के रूप में प्रकट होता है तो छिलका उसके सिर पर सवार होता है। हमारी स्वाधीनता के अंकुर की भी यही हालत है। छोटी-छोटी जड़ता का खाल हमारे सिर पर सवार हो गया है। परन्तु अंकुर जरा शक्तिशाली होगा तो यह अपने-आप इस छिलके को झाड़कर फेंक देगा। स्वाधीन भारतवर्ष पर दो विदेशी आक्रमण हो चुके हैं और प्रच्छन्न विदेशी आक्रमणो का तो ताँता बँधा हुआ है। जो दो आक्रमण खुलकर हुए हैं, उन्होंने देश को एक सिरे से दूसरे सिरे तक झकझोरा है। पर बुद्धिमान कहे जानेवाले लोगों की अपेक्षा उपेक्षित जनशक्ति ने ही डटकर उनका मुकाबला किया है। देश पहले से शक्तिशाली हुआ है। इससे आशा बँधती है कि देश की प्राण-शक्ति अविच्छिन्न और अखण्ड है। वह समय पर जाग सकती है और उचित दिशा में आगे बढ सकती है। प्रच्छन्न आक्रमणो का पता साधारण जनता को लग ही नहीं पाता और लगता भी है तो देर से। जो साहसी नेतृत्व उत्पन्न होनेवाला है वह देश की जनता को गुप्त और प्रच्छन्न आक्रमणों के समय साथ लेकर चलेगा; क्योंकि वह झूठी कूटनीतियो में विश्वास नही करेगा।

इन सब बातों को देखने से लगता है कि आगामी 20-25 वर्षो मे देश के संवेदनशील चित्त में सन्त्रास की जगह आस्था, अजनबीपन की जगह प्रेम और आशंका के स्थान पर विश्वास की तरंगें हिल्लोलित होगी। दीर्घकाल तक हम साँस रोककर नही रह सकते। इस समय का विक्षुब्ध वातावरण फट जाने को बाध्य है। यह संचित विक्षोभ कुछ तोड़-फोड़कर नयी आस्था की संजीवनी को अपना स्थान देगा। निस्सन्देह उस समय साहित्य मे अपूर्व शक्ति आयेगी और इस समय जो पिछलगू बनने की प्रवृत्ति है, उसके स्थान पर संसार के साहित्य को नेतृत्व प्रदान करने की क्षमता आयेगी। आज हम अनुकर्ता है—दूसरों के अनुकरण पर सोचते, बोलते और लिखते है। हममे अपनी समृद्ध विरासत के प्रति न तो किसी प्रकार का प्रेम ही बच रहने के लक्षण दिखायी दे रहे है और न ममता का भाव ही शेष रह गया जान पड़ता है। जिस दिन हम अपने को अतीत के इतिहास के साथ सही अर्थों मे जोड़ देंगे उस दिन हमारा भविष्य भी सुनहरा और उज्ज्वल होकर प्रकट होगा।

ऊपर प्रसंगवश साहित्यकारों की थोड़ी-सी चर्चा हो गयी है। यहाँ उसे विशेष रूप से ध्यान मे रखकर कुछ कहने का प्रयत्न किया जा रहा है। अगर 20वी शताब्दी

को 3 हिस्सों में बाँट दें तो प्रथम तिहाई का साहित्य बहुत अधिक स्वदेशी जान पड़ेगा। उस समय के साहित्यकार विदेशी भाषा और रीति-नीति से उतने अधिक प्रभावित नहीं थे जितना कि दूसरी तिहाई में हो गये। दूसरी तिहाई में हिन्दी-भाषी प्रदेशों में अंग्रेजी शिक्षा पहले की अपेक्षा अधिक बद्धमूल हुई है। अंग्रेजी शिक्षा के कारण जहाँ नव-शिक्षितों में मानसिक क्षितिज का विस्तार हुआ, वहाँ एक नया दोष यह आ गया कि वे देश के वृहत्तर समाज से कटते गये। यह दुर्भाग्य ही कहा जाना चाहिए कि शिक्षित जनता के मानसिक क्षितिज का विस्तार साधारण जनता के लिए अपरिचित ही बना रहा। उनकी भाषा, शैली, वक्तव्य वस्तु, सभी कुछ ऐसे होने लगे जिनकी जड़ें देश की मिट्टी मे गहराई तक नही पहुँच पायी। परन्तु फिर भी उन्होने देश की जनता की संवेदना को कुछ-न-कुछ परिष्कृत किया अवश्य। सन् 1936 ई. के बाद हमारे साहित्य मे विस्तार तो बहुत आया, परन्तु ऐसी रचनाएँ बहुत कम हुई जो आगामी 33 वर्षों में याद की जा सकें। अधिक-से अधिक वे परीक्षाओं में बैठनेवाले उपाधि-कामी विद्यार्थियों के अध्ययन तक ही सीमित रही। परन्तु निश्चित रूप से उन्होने क्षेत्र-निर्माण का काम किया। यद्यपि उनकी भाषा और उपस्थापन-पद्धति अंग्रेजी से बहुत अधिक प्रभावित है और साधारण जनता की भाषा और उपस्थापन-पद्धति से बहुत दूर पड़ जाती है, तो भी नवीन अभिव्यक्ति देने मे समर्थ भाषा के निर्माण में उनका योगदान उपेक्षणीय भी नहीं है। यह और बात है कि कवि और लेखक अपने मन के किसी अन्तराल मे ऐसी आशंका को पोसते आये हैं कि उनकी बात साधारण जनता नही समझ सकेगी। यही कारण है कि प्रत्येक कवि और कहानी-लेखक अपनी कविता और कहानी के साथ लम्बे-लम्बे वक्तव्य दिया करते हैं। यह वक्तव्य उसी आशंका के फल हैं। इसका प्रमुख कारण यही है कि कवि या लेखक के मन मे अपनी कविता या कहानी के बारे मे यह सन्देह है कि वे उसकी बात स्पष्ट कर सकेंगी। इन वक्तव्यों से मूल कहानी या कविता की शक्ति का चाहे पता न लगा हो, परन्तु उनसे साधारण पाठक के मन का विस्तार अवश्य हुआ है और इसका शुभ परिणाम आगामी 30 वर्षों में दिखायी देगा। निस्सन्देह आगे चलकर कवि सवक्तव्य कविता लिखने की अपेक्षा कविता ही ऐसी लिखेंगे जिनमें सम्प्रेषणीयता, वक्तव्य की तुलना में, कहीं अधिक होगी। तभी साधारण जनता उसे अधिक उत्सुकता और आग्रह के साथ ग्रहण करेगी; क्योंकि ऐसी कहानियाँ और कविताएँ 'स्वस्थ' होंगी। 'स्व-स्थ' अर्थात् अपने-आपमे स्थित, किसी बाहरी वक्तव्य या शास्त्र-ज्ञान में नहीं।

इस बीच ज्ञान का साहित्य प्रचुर मात्रा में लिखा जायेगा। जब हिन्दी उच्चतम शिक्षा, उच्चतम न्याय और उच्चतम विधान की भाषा होगी, तो निस्सन्देह उसकी अभिव्यजना-शक्ति अकल्पनीय ढंग से शक्तिशाली होगी। इन दिनों शब्द-निर्माण के जो कृत्रिम प्रयत्न हो रहे हैं, उनके स्थान पर भाषा अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए सहज भाव से 'स्व-स्थ' शब्दों को अधिकाधिक अपनायेगी।

पद्य का साहित्य मुद्रण-यन्त्र के आविष्कार और प्रचलन के

परिवर्तित हुआ है; क्योंकि कविता कान का विषय न रहकर आँखों का विषय बनती गयी है। उसमें काकु, वक्रोक्ति आदि को प्रकट करने के लिए नये-नये चिह्नों का आविष्कार हुआ है। छपाई की प्राविधिक विशेषताओं से जैसे पंक्तियों को तोड़कर बीच में 'स्पेस' देकर, पर वाक्य निदर्शक, प्रश्नवाचक और विस्मय-वाचक चिह्नों की योजना करके भाव प्रकट करने के प्रयास हुए है। छन्द के बन्ध शिथिल हुए है और कवि-मानस में प्रवाहित होनेवाले लय को पाठक के चित्त मे दिगन्तरित करने का प्रयास हुआ है। वर्तमान काल में मुद्रण-यन्त्र के प्रतिद्वन्द्वी रेडियो आदि श्रुति-ग्राह्य यन्त्रों का आविष्कार हुआ है और उनके कारण काव्य, नाटक, कथा आदि की अभिव्यक्ति में कुछ थोड़े-थोड़े प्राविधिक परिवर्तनों का आभास मिला है। टेलीविजन के आविष्कार से चक्षुर्ग्राह्य विषयो की प्राविधिक विशेषताएँ भी सामने आयी हैं। भविष्य मे जब शब्द-संचार के अधिक शक्तिशाली साधन उपलब्ध होंगे, पृथ्वी के ऊपर उपग्रहीय स्टेशनों से विविध भाँति के राग-लय-समन्वित साहित्य का प्रसारण होगा, तो मुद्रण-यन्त्र का एकच्छत्र आधिपत्य उससे अवश्य प्रभावित होगा। इससे 'शब्द और अर्थ का साहित्य' नया रूप ग्रहण करेगा। जितना ही काव्य श्रुतिग्राह्य बनेगा, उतना ही उसमे छन्द और लय की महिमा प्रतिष्ठित होगी। यद्यपि यह आवश्यक नही है कि वह छन्द, पिंगल मुनि के छन्दोविधान के अनुकूल ही हो। परन्तु इतना निश्चित है कि मुद्रण-यन्त्र की महिमा का एकच्छत्र राज्य कम-जोर होगा और पद्य का साहित्य चक्षुर्ग्राह्य विषय बनने के बन्धन से बहुत दूर तक मुक्त होगा। इसका अर्थ यह नही समझना चाहिए कि कवि-सम्मेलनी कविताओं के दिन लौटेंगे। इसका मतलब केवल यह है कि कविता में शब्द का महत्त्व बढ़ेगा, वह छन्द और लय की सहायता से अभिधेयार्थ से कही अधिक को व्यक्त करने की ओर अग्रसर होगी।

क्या कविता उसी प्रकार का प्रमुख साहित्यांग बनी रहेगी जैसी अब तक रही है? सन्देह है। वह प्रमुख साहित्यांग नही रहेगी, परन्तु प्रभावशाली अवश्य रहेगी।

जब मनुष्य आदिम स्थिति मे था तो उसकी भाषा में वर्णों का इतना स्पष्ट विच्छेद नही था। वे बहुत-कुछ एक-दूसरे से मिले हुए संगीतात्मक स्थिति में थे। लेकिन जैसे-जैसे मनुष्य सभ्यता की ओर अग्रसर होता गया, वैसे-वैसे विविक्त ध्वनियोंवाले वर्णों और उन विविक्त वर्णों से बने हुए शब्दों का प्राचुर्य होता गया और भाषा अर्थप्रधान अर्थात् गद्यात्मक होती गयी। भाषा का संगीत अथवा शब्द-गुण-प्रधानता मद्धिम पड़ती गयी। भाषा में अर्थ-योजना का भार बढ़ता ही चला गया। कविता विविक्त ध्वनिवाले वर्णों की भाषा से खो गये हुए संगीत को पुनः प्राप्त करने का प्रयास था। इसी प्रयास को छन्द कहते है। आधुनिक युग मे गद्यात्मक भाषा की शक्ति और भी बढी है और उसकी खोयी हुई संगीतात्मकता और भी अधिक खोती जा रही है। यह गति और भी तीव्र होगी। ध्वनिगत

निबन्धों और कहानियों में जो अर्थातीत लय की सम्भावना अब भी बच रही है, वह धीरे-धीरे क्षीणतर होती जायेगी। सन् 2000 ई. में गद्य की और भी बहुत-सी विधाएँ प्रकट होंगी और काव्य में भी लय का स्थान सूक्ष्म से सूक्ष्मतर होता चला जायेगा। प्रतिक्रिया के रूप में कई बार गीत सिर उठायेंगे, परन्तु गीत-तत्त्व अधिकाधिक काव्य से बहिष्कृत होकर संगीत के क्षेत्र में चला जायेगा। कहानी में राग-तत्त्व क्रमशः शिथिल होता जायेगा और अर्थभार से बोझिल रचनाएँ बढ़ती जायेंगी।

परन्तु यथार्थवाद का जो वर्तमान रूप है वह बहुत दिनों तक ज्यों-का-त्यों नहीं बना रहेगा। यदि देश की स्थिति आर्थिक दृष्टि से कुछ सम्पन्न हुई, जिसकी पूरी सम्भावना है, तो मनुष्य की दृष्टि सतही यथार्थवाद से जरूर विद्रोह करेगी और मनुष्य-जीवन की सफलता (जिसे अंग्रेजी में 'सेक्स' कहा जाता है) के सम्बन्ध में अधिक चिन्तित न होकर उसकी चरितार्थता में बारे में सोचने को अग्रसर होगी। सन् 2000 ई. का साहित्य आधुनिक अर्थ में यथार्थ नहीं होगा। वह बहुत-कुछ चरितार्थवादी के रूप में प्रकट होगा। यथार्थवाद जीवन की सफलता या सार्थकता के बारे में परेशान रहता है, जबकि चरितार्थवाद मनुष्य-जीवन की चरितार्थता के बारे में दृढ़ आस्था रखेगा।

पुराने मूल्यों के प्रति जो अनास्था का भाव आया है, उसके मूल में विद्यमान विरूप परिस्थितियाँ हैं। इन मूल्यों का सन्दर्भ के अनुकूल रूपान्तरण होगा। भारतवर्ष में, और सच पूछिए तो सारे संसार में, ऐसा बराबर होता आया है। भारतवर्ष की विशेषता यह रही है कि यहाँ यह काम चुपचाप हुआ है, भाष्यों और व्याख्याओं के द्वारा। अब शायद उतना चुपचाप और उसी पद्धति से ऐसा नहीं होगा, पर ढोल पीटकर भी नहीं होगा। पुराने प्रतीकों को नये सन्दर्भों में नया अर्थ देकर ऐसा किया जाने लगा है। और भी अधिक मात्रा में किया जायेगा।

परन्तु यदि अणु-अस्त्रों की मारामारी शुरू हो गयी, संसार महाप्रलय का शिकार हो गया, तो इन मनमोदकों से क्या भूख मिटेगी? प्रश्न यह है कि क्या प्रथम दो महायुद्धों के समान तीसरा महायुद्ध भी निकट भविष्य में हो सकता है? जिस प्रकार मनुष्य-चित्त की संकीर्णता ऊपर उठती आ रही है, उसे देखते हुए लगता है कि आगामी 33 वर्षों में युद्ध के कई घिनौने दृश्य देखने को मिलेंगे। इसका कारण यह है कि यद्यपि आधुनिक साधनों ने विभिन्न देशों को बहुत नजदीक ला दिया है, तो भी पूरा मानव-समाज सभ्यता के एक ही स्तर पर नहीं है। कुछ लोग बहुत आगे बढ़ गये हैं, कुछ लोग बहुत छटपटा रहे हैं—बीच में न जाने कितने स्तर हैं। सबका स्वार्थ एक ही ओर बढ़ने और न बढ़ने में नहीं है। इसलिए संघर्ष अवश्यम्भावी है। परन्तु व्यापक विश्वयुद्धों की सम्भावना दिन-पर-दिन कम होती जा रही है। मनुष्य के पास ऐसे भयंकर मारणास्त्र आ गये हैं कि यदि बड़ी शक्तियों में सचमुच

का युद्ध छिड़ गया तो पूरी सभ्यता ही समाप्त हो जायेगी, और उस हालत मे इस प्रकार के ऊहात्मक लेखो का कोई मूल्य नही रह जायेगा। आशा करनी चाहिए कि सभ्यता विध्वस्त नही होगी, महायुद्ध नही होगा; और आशंका करनी चाहिए कि खण्ड-युद्धों का तांता बँधा रहेगा। विभिन्न देशो की आन्तरिक व्यवस्था मे भी रह-रहके विस्फोट होता रहेगा। परन्तु इससे साहित्य को नयी-नयी शक्ति भी प्राप्त होती रहेगी।

वस्तुतः खण्डयुद्ध आज के राष्ट्रों के लिए आवश्यक हो गये है। जब कभी भीतरी तनाव पैदा होता है तो उसको संयत करने के लिए बाहरी आक्रमणों का भय बहुत शक्तिशाली साधन के रूप मे काम करता है। प्रत्येक देश मे आन्तरिक तनाव के पर्याप्त कारण मौजूद हैं और इसीलिए प्रत्येक देश के लिए बाहरी शत्रु का बने रहना जरूरी हो गया है। साहित्य दोनो से ही अपना सम्बल संग्रह करता है और उसके लिए दोनो ही वरदान सिद्ध होते है। खुराक को पचाकर अपने रक्त का अंग बना लेने का नाम ही स्वास्थ्य है। जिन आन्तरिक और बाह्य सघर्षों से साहित्य को शक्ति प्राप्त होगी उन्ही को वह समाप्त करता जायेगा। यही उसके स्वास्थ्य की निशानी है। इसलिए यदि साहित्य स्वस्थ हुआ, तो वह प्रत्येक भीतरी तनाव और बाह्य संघर्ष को मानवीय सवेदना के अस्त्र से दुर्बल और मृत बनायेगा। और, मनुष्य-समाज में नयी आकांक्षाओ को उत्पन्न करेगा, जो आगे चलकर दूसरी नयी परिस्थितियों को पैदा करेंगी और साहित्य के लिए दूसरे प्रकार की खुराक की व्यवस्था करेंगी।

आगामी 33 वर्षों में हिन्दी साहित्य स्वस्थ होगा अर्थात् देश के भीतरी जन-जीवन की उगती हुई आकांक्षाओ के साथ कदम रखता हुआ आगे बढेगा। आज का साहित्य जितनी मात्रा मे जन-जीवन से विच्छिन्न है, उतनी मात्रा में वह अस्वस्थ भी है। परन्तु वह धरती को छोड़कर जी नही सकता और दीर्घकाल तक व्योम-विहारी बनने की स्थिति में नही रह सकता। जहाँ तक रचनात्मक साहित्य का प्रश्न है, वह अधिकाधिक जन-जीवन के सम्पर्क मे आयेगा और जन-जीवन की चरितार्थता की खोज मे अधिकाधिक संलग्न होगा। उसमे अजनबीपन, सन्त्रास और अनास्था का भाव क्षीण होगा, व्यक्ति-निष्ठा की जगह समाज-निष्ठा की वृद्धि होगी, सतही यथार्थ के स्थान पर गहराई मे स्थित सामाजिक जीवन की चरितार्थता की प्रतिष्ठा होगी।

परन्तु ये सब बातें ज्यों-की-त्यों नही घटेंगी। बहुत-सी बातें मनुष्य के नियन्त्रण से परे हैं, और, मनुष्य के सोचने की शक्ति के भी अतीत हैं। जैसा कि ऊपर कहा गया है, इस अतिमानवीय शक्ति को अधिक अच्छे शब्दो के अभाव में 'दैव' कहा गया है। न जाने कब से ज्योतिषी 'दैवज्ञ' होने का दावा करता आया है। लेकिन वस्तुतः 'दैव' मनुष्य की जानकारी के परे रहता है। वह अप्रतिरोध्य ही नहीं, अज्ञेय भी होता है। दैवज्ञ का मतलब है अज्ञेय को जाननेवाला, अज्ञेयज्ञ! इसलिए

यह शब्द स्वतोव्याहत एक सुश्राव्य शब्द-मात्र है। उसके बारे में मौन रहना ही अच्छा है।

[इसका संक्षिप्त रूप दिनमान के 13 अगस्त 1967 वाले अंक में प्रकाशित]

मुंशी प्रेमचन्द

प्रेमचन्द का जन्म बनारस के पास ही लमही नामक एक गाँव में एक निर्धन परिवार में हुआ था। उन्होंने आधुनिक शिक्षा पायी नहीं थी, बटोरकर संग्रह की थी। मैट्रिक पास करते-करते उनकी आर्थिक स्थिति यहाँ तक पहुँच चुकी थी कि अपना निर्वाह वे पुरानी पुस्तकें बेचकर भी नहीं कर सकते थे। उन्होंने स्कूल में मास्टरी कर ली थी और स्कूलों के डिप्टी इन्स्पेक्टर होने तक की अवस्था तक पहुँच चुके थे। महात्मा गांधी की पुकार पर उन्होंने सरकारी नौकरी छोड़ दी और जीवन की अन्तिम घड़ियों तक कशमकश और संघर्ष का जीवन बिताया। वे दरिद्रता में जनमे, दरिद्रता में पले और दरिद्रता से ही जूझते-जूझते समाप्त हो गये। फिर भी वे अपने जीवनकाल में समस्त उत्तरी भारत के सर्वश्रेष्ठ कथाकार बन गये थे।

उन्होंने अपने को सदा मजदूर समझा। बीमारी की हालत में भी, मृत्यु के कुछ दिन पहले तक भी, वे अपने कमजोर शरीर को लिखने के लिए मजबूर करते रहे। मना करने पर कहते, "मैं मजदूर हूँ, मजदूरी किये बिना मुझे भोजन करने का अधिकार नहीं है।" उनके इस वाक्य में अभिमान का भाव भी था और अपने नाकद्रदान समाज के प्रति एक व्यंग्य भी। लेकिन असल में वे इसलिए नहीं लिखते थे कि उन्हें मजदूरी करना लाजिमी था, बल्कि इसलिए कि उनके दिमाग में कहने लायक इतनी बातें आपस में धक्का-मुक्की करके निकलना चाहती थीं कि वे उन्हें प्रकट किये बिना रह नहीं सकते थे। उनके हृदय में इतनी वेदनाएँ, इतने विद्रोह-भाव और इतनी चिनगारियाँ भरी थीं कि वे उन्हें सम्हाल नहीं सकते थे। उनका हृदय अगर इन्हें प्रकट न कर देता तो वे शायद पहले ही बन्धन तोड़ देते। विनय की वे साक्षात् मूर्ति थे, परन्तु यह विनय उनके आत्माभिमान का कवच था। वे बड़े ही सरल थे, परन्तु दुनिया की धूर्तता और मक्कारी से अनभिज्ञ नहीं थे। उनके ग्रन्थ इस बात के प्रमाण हैं। ऊपर-ऊपर से देखने पर, अर्थात् राजा-महाराजा, सेठ-साहूकारों के साथ तुलना करने पर, वे बहुत निर्धन थे। लोग उनकी दस

निर्धनता पर तरस खाते थे, परन्तु वे स्वयं नीचे की ओर देखनेवाले थे। लाखों और करोड़ों की तादाद में फैले हुए भुक्खड़ों, दाने-दाने को और चिथड़े-चिथड़े को मुहताज लोगों की वे जबान थे। उन्हें भी देखते थे, इसलिए अपने को निर्धन समझकर 'हाय-हाय' नहीं करते थे। इसको वे वरदान समझते थे। दुनिया की सारी जटिलताओं को समझ सकने के कारण ही वे निरीह थे, सरल थे। धार्मिक ढकोसलों को वे ढोंग समझते थे, पर मनुष्यता को वे सबसे बड़ी वस्तु मानते थे।

प्रेमचन्द शताब्दियों से पददलित, अपमानित और निष्पेषित कृषकों की आवाज थे; पर्दे में कैद, पद-पद पर लांछित और असहाय नारी-जाति की महिमा के जबरदस्त वकील थे; गरीबों और बेकसों के महत्त्व के प्रचारक थे। अगर आप उत्तर भारत की समस्त जनता के आचार-विचार, भाषा-भाव, रहन-सहन, आशा-आकांक्षाओं, दुःख-सुख, और सूझबूझ जानना चाहते हैं तो प्रेमचन्द से उत्तम परिचायक आपको नहीं मिल सकता। झोपड़ियों से लेकर महलों तक, खोमचेवालों से लेकर बैंकों तक, गाँव से लेकर धारासभाओं तक, आपको इतने कौशलपूर्वक और प्रामाणिक भाव से कोई नहीं ले जा सकता। आप बेखटके प्रेमचन्द का हाथ पकड़कर मेड़ों पर गाते हुए किसान को, अन्तःपुर में मान किये प्रियतमा को, कोठे पर बैठी हुई वारवनिता को, रोटियों के लिए ललकते हुए भिखमंगों को, कूट परामर्श में लीन गोयेन्दों को, ईर्ष्या-परायण प्रोफेसरों को, दुर्बल-हृदय बैंकरों को, साहस-परायण चमारिन को, ढोंगी पण्डितों को, फरेबी पटवारी को, नीचाशय अमीर को देख सकते हैं और निश्चिन्त होकर विश्वास कर सकते हैं कि जो-कुछ आपने देखा वह गलत नहीं है। उससे अधिक सचाई से दिखा सकनेवाले परिदर्शक को अभी हिन्दी-उर्दू की दुनिया नहीं जानती। परन्तु सर्वत्र ही आप एक बात लक्ष्य करेंगे। जो संस्कृतियों और सम्पदाओं से लद नहीं गये हैं, जो अशिक्षित और निर्धन हैं, जो गँवार और जाहिल हैं, वे उन लोगों की अपेक्षा अधिक आत्मबल रखते हैं और अधिक न्याय के प्रति सम्मान दिखाते हैं जो शिक्षित है, जो सुसंस्कृत है, जो सम्पन्न हैं, जो चतुर हैं, जो दुनियादार है, जो शहरी हैं। यही प्रेमचन्द का अपना जीवन-दर्शन है।

प्रेमचन्द ने अतीत गौरव का पुराना राग नहीं गाया और न भविष्य की हैरत-अंगेज कल्पना ही की। वे ईमानदारी के साथ वर्त्तमान काल की अपनी वर्त्तमान अवस्था का विश्लेषण करते रहे। उन्होंने देखा कि बन्धन भीतर का है, बाहर का नहीं। एक बार अगर ये किसान, ये गरीब, यह अनुभव कर सकें कि संसार की कोई भी शक्ति उनको नहीं दबा सकती तो वे निश्चय ही अजेय हो जायेंगे। बाहरी बन्धन उन्हें दो प्रकार के दिखायी दिये—भूतकाल की सचित स्मृतियों का जाल और भविष्य की चिन्ता से बचने के लिए संगृहीत धनराशि। एक का नाम है संस्कृति और दूसरे का सम्पत्ति। एक का रथ-वाहक है धर्म और दूसरे का राज-नीति। प्रेमचन्द इन दोनों को मनुष्यता का बाधक मानते हैं। एक जगह अपने मौजी पात्र (मेहता) से कहलाते हैं—मैं भूत की चिन्ता नहीं करता, भविष्य की परवा

नहीं करता। भविष्य की चिन्ता हमें कायर बना देती है। भूत का भार हमारी कमर तोड़ देती है। हममें जीवनी शक्ति इतनी कम है कि भूत और भविष्य में फैला देने से वह क्षीण हो जाती है। हम व्यर्थ का भार अपने ऊपर लादकर रूढ़ियों और विश्वासों तथा इतिहासों के मलवे के नीचे दवे पड़े हैं। उठने का नाम नहीं लेते। वह सामर्थ्य ही नहीं रही। जो शक्ति, जो स्फूर्ति मानवधर्म को पूरा करने में लगनी चाहिए थी, वह सहयोग में, भाईचारे में, पुरानी अदावतों का बदला लेने और बाप-दादों का ऋण चुकाने में भेंट हो जाती है।

प्रेमचन्द के मत से प्रेम एक पावन वस्तु है। वह मानसिक गन्दगी को दूर करता है, मिथ्याचार को हटा देता है और नयी ज्योति से तामसिकता का ध्वंस करता है। यह बात उनकी किसी भी कहानी और किसी भी उपन्यास में देखी जा सकती है। यह प्रेम ही मनुष्य को सेवा और त्याग की ओर अग्रसर करता है। जहाँ सेवा और त्याग नहीं, वहाँ प्रेम भी नहीं, वहाँ वासना का प्राबल्य है। सच्चा प्रेम सेवा और त्याग में ही अभिव्यक्ति पाता है। प्रेमचन्द का पात्र जब प्रेम करने लगता है तो सेवा की ओर अग्रसर होता है और अपना सर्वस्व परित्याग कर देता है।

निराला केवल छन्द थे

आज हम उस महाप्राण निराला को श्रद्धांजलि अर्पित कर रहे हैं जो न कभी मरा है, न कभी मरेगा और न विश्व की कोई शक्ति उसे मार सकेगी। हमें गौरव है कि इस भारतभूमि पर एक ऐसा महामानव आया था, जिसके अन्दर अन्त तक जीवन-ही-जीवन व्याप्त था, उसके हृदय में एक अनन्त गतिशीलता थी और वाणी में अद्भुत ओज था।

उस वक्त की एक घटना स्मरण आ रही है कि जब नागरी प्रचारिणी सभा के पीछे एक मण्डप में लगभग 30,000 से भी अधिक लोग उपस्थित थे। उस समय हिन्दी और हिन्दुस्तानी पर बहस चल रही थी कि इतने में अचानक ही बिजली गुल हो गयी और घोर अन्धकार छा गया। श्रोताओं में बालक भी थे, स्त्रियाँ भी थीं इसलिए कार्यकर्त्ताओं को उनके कुचलने आदि की चिन्ता और आशंका ने घेर लिया। सभी किंकर्त्तव्यविमूढ़ हुए, बिजली के आने की राह देखने लगे, तभी एक ओर से अन्धकार को चीरता हुआ एक ओजस्वी स्वर सुनायी दिया और सबने एक घन-गम्भीर गर्जना सुनी जिसके कारण सभा में एकदम सन्नाटा छा गया और शीघ्र

ही सभा ने यह जान लिया कि वह स्वर निरालाजी का था।

उन्होंने ऊँचे स्वर से 'राम की शक्ति-पूजा' सुनाना प्रारम्भ किया और तब तक सुनाते रहे जब तक बिजली का प्रकाश न हो गया। (यहाँ पर लेखक ने उस कविता के कुछ अंश निरालाजी के ढंग से सुनाये थे।) सभा का यह हाल था कि अर्थों को न समझते हुए भी एकदम मन्त्रमुग्ध, स्तब्ध। केवल उनके ओजस्वी स्वर से जो छन्द की धारा बह रही थी, उसी का लोग रसपान कर रहे थे। मुझे अच्छी तरह याद है: उनका प्रवाह अद्‌भुत था, वाणी अत्यन्त ओजस्वी, और लग रहा था कि श्रोता बुद्धि की आँख से उनका शरीर स्पष्ट देख पा रहे हैं। यही लगता था कि वह छन्द क्या बोल रहे हैं, सारा शरीर ही ज्यों छन्दों से बना हो। और, था भी यह सत्य कि निरालाजी अर्थ के भार की परवा न करते हुए छन्दों की ऊर्ध्वगामी गति के साथ कूदकर या छलाँग लगाकर उड़ जाना चाहते थे। उनमें एक ऐसी शक्ति थी जिसको लेकर वे बहुत ऊपर उड़ जाना चाहते थे।

यह ठीक है कि उनकी कविता समझने के लिए बड़े-बड़े अध्ययन और अध्यापन करनेवालों को कठिनाई होती है, लेकिन उस समय सभा का यह हाल था कि प्रत्येक व्यक्ति उन्हें चुपचाप मन्त्रमुग्ध हुआ सुन रहा था। वे लोग रस उनके छन्द से ही ग्रहण कर रहे थे, कविता के अर्थ से उन्हें मतलब न था। है भी तो कविता केवल छन्द! आजकल जो लोग कविता को छन्दहीन समझते है, वे कविता का बिस्मिल्ला ही गलत समझते हैं। जिस कविता में छन्द नहीं है, उसके कवि से कहो कि वह और कुछ धन्धा ढूँढ़ ले।

भाषा में एक बाह्य व्यवस्था है, जिसके अन्दर शब्दों के मेल की सार्थकता रहती है और वाक्य का निश्चित अर्थ होता है। दूसरी व्यवस्था व्याकरण और 'सिंटैक्स' वग़ैरह की और तीसरी व्यवस्था काव्यमयता की है जिसमें लय, छन्द आते है। छन्द केवल गतिमात्र है और अगर इस आधार पर निराला को देखा जाये तो निराला केवल छन्द थे और इतने अधिक छन्द थे कि जब वह वेग में आते तो अर्थ को छोड़-छोडकर चलते थे, ठीक उसी तरह जैसे एक व्यक्ति ऊपर चढ़ने के लिए सीढ़ी छोड़-छोड़कर छलाँग लगाता चलता है। उनमें आँधी की गति थी और वह रुक सकते ही नहीं थे। सदा उचककर और उछलकर चलना चाहते थे। इसका एक कारण यह भी है कि छन्द एक चेतन तत्त्व है और जहाँ तक अर्थ का प्रश्न है, उसमें जड़त्व है जो नीचे को खींचता है। और, चूंकि उनके अन्दर चेतन तत्त्व अधिक मात्रा में था, इसलिए अर्थ की ओर उनका ध्यान नहीं जाता था। जो लोग अर्थ बता-बताकर निराला को समझने का प्रयत्न करते हैं, वह निराला को नहीं पकड़ पाते। निरालाजी ने कभी भी जीवन-भर ऐक्सटरनल रियलिटी में मेल बिठाने का प्रयत्न नहीं किया। इसी तरह उन्होंने व्याकरण और 'सिंटैक्स' की दृष्टि से कभी परवा नहीं की। यह बात उनके दैनिक जीवन में दिखायी देती थी और लोग समझते थे कि निराला विक्षिप्त हैं। वैसे पागल होना क्या है? पागल व्यक्ति का बाह्य अर्थसत्ता से मेल नहीं होता। निराला के भी ऐसे कई उदाहरण हैं जिनमें

उनकी बात बहुत बार समझ में नहीं आती थी कि वह ऐसा क्यों कह रहे हैं, अथवा कर रहे हैं।

एक बार वह ट्रेन में सफर कर रहे थे। उन्होंने एक स्थूलकाय बहिन को देखा तो पूछने लगे, "क्या आपका शरीर तीन मन का तो नहीं है!" और साथ ही कहने लगे, "क्या हुआ, अगर तीन मन का है; मेरा भी वजन तीन मन का हुआ करता था, और अब भी ढाई मन का है।" उन्हें अपने शरीर का अभिमान हुआ करता था। वह किसी को भी अपने से बाजी मार लेने का सुख नहीं लेने देते थे।

एक बार मुझे देखकर कहने लगे, "लगते तो ऐसे हो, जैसे कसरत किया करते हो?' मैंने धीरे से कहा, "हाँ, करता तो हूँ।" तो बोले, "फिर क्या गंगा पार कर सकते हो?" मैंने कह दिया कि "हाँ, कर सकता हूँ।" अभी एक मिनट भी नहीं हुआ था कि वह तो वस्त्र समेत गंगा में कूद पड़े और बात-की-बात में कहीं-के-कहीं पहुँचे। मैंने भी तैरना शुरू किया लेकिन उनका क्या मुक़ाबला था, तो मैंने थोड़ी दूर जाकर कहा कि "मैं हार मानता हूँ।" बस क्या था, फिर वह लौट आये और मुझे नाव में बिठाकर ले आये और बड़े स्नेह से बातें करते हुए हम लोग महादेवीजी के यहाँ पहुँचे।

जब गांधीजी की मृत्यु हुई तो बोले कि "द्विवेदीजी सुना कुछ?" मैंने कहा, "हाँ, गांधीजी की मृत्यु हो गयी।" लेकिन वह बड़े जोर से बोले, "नहीं, बिल्कुल गलत बात है। गांधी जीवित है। यह तो नेहरू ने गांधी की *ममी (शव) को मार दिया है। गांधी को तो बिड़ला-भवन में बन्द कर दिया गया है।*" मैंने बहुत सोचा कि यह कहना क्या चाहते हैं! मैंने इसलिए फिर कहा कि "नहीं, गांधी जीवित नहीं है, गांधीजी की मृत्यु हो गयी।" तब उन्होंने कहा कि "नहीं, गांधी को कौन मार सकता है? गांधी के असूल को कोई नहीं मार सकता, गांधी जीवित है, उसके सिद्धान्त जीवित हैं। यह तो केवल गांधी का शव मार दिया गया है और गांधीजी को बिड़ला-भवन में बन्द कर दिया गया है, *यानी उनके असूलों पर उस भवन से बाहर कोई नहीं चलता।*"

तो, इस तरह का उनका ढंग था जिसमें सुननेवाले को ऐक्सटरनल रियलिटी नहीं मालूम होती थी।

पाये। यह था उनका अभिप्राय, इस तरह की बात कहने का, जिसको लोग पागल-पन कहते थे।

एक और बात है। प्रिमिटिव माइण्ड में पद और पदार्थ में कोई अन्तर नहीं होता था आदिकाल में। यह जो अन्तर पड़ता गया यह सभ्यता के कारण; क्योंकि जब भाषा नहीं थी तब भी तो व्यक्ति अपने-आपको व्यक्त करता था ! उस समय उसमें पूरा-पूरा मेल नहीं होता था, लेकिन प्रकट सबकुछ होता था। बाद में भाषा का उद्भव हुआ, स्वरों का विकास हुआ, और शब्दों की सृष्टि होती गयी। लेकिन इतना नहीं हो पाया कि भाषा इतनी समर्थ हो जाती कि सभी कुछ अभि-व्यक्त हो जाता। आपने देखा होगा कि एक आदमी जब अपने-आपको पूर्ण रूप से व्यक्त करना चाहता है तो कभी हाथ हिलाता है, कभी गर्दन हिलाता है और कभी आँख से, कभी उँगली से कुछ इंगित करता जाता है। इससे यह प्रतीत होता है कि वह जो कुछ कहना चाहता है, उसके लिए भाषा के अतिरिक्त उसे कुछ और चाहिए; क्योंकि भाषा में इतना बल नहीं है। इसीलिए कवि एक राग छेड़ता है, एक 'रिदिम' उत्पन्न करता है और अपने-आपको व्यक्त करना चाहता है। यह 'रिदिम' क्या है ? यही 'रिदिम' छन्द है, और वह निराला में था। आजकल लोग कहते हैं, छन्द की अपेक्षा कविता मुख्य है; लेकिन छन्द तो दाल में नमक की तरह है। दाल के चाहे सभी अंग पूर्ण हों, किन्तु अगर नमक नहीं तो सब कुछ ठीक दिखायी देते रहने के बाद भी स्वाद नहीं आता। यह तो माना कि बँधे-बँधाये छन्दों से मुक्ति होनी चाहिए, लेकिन कविता में अर्थभारहीन गुण लाने के लिए छन्द की आवश्यकता है जो एक बड़ी शक्ति है। वही उसको वेग देती है, गति देती है, विद्रोह देती है। लेकिन यह देखा गया है कि कविता जब 'डिकेइंग पीरियड' में होती है तो यह शक्ति नष्ट हो जाती है, लेकिन छन्द मिलते ही फिर जीवन आ जाता है। वाल्मीकि को क्या था ? छन्द ही तो मिला था सबसे पहले और कविता फूट निकली। निराला भी यही कहते हैं, "मैं चंचल गति सुर सरिता"। निराला सदा उमड़कर चलना चाहते थे। जो कुछ भी था उनके अन्दर, वह बहुत वेगवान था। मुझे याद है कि एक बार महादेवीजी ने उन्हें एक बढ़िया-सा कोट दिया। लेकिन दूसरे दिन फिर जब आये तो उन्होंने देखा, फटेहाल। चूँकि वह बहिन का अधिकार रखती थीं। उन्होंने पूछा कि कोट का क्या किया, तो बोले, "वह जो बुढ़िया 'बेटा-बेटा' कह रही थी और ठण्ड से सिकुड़ रही थी, उसी को तो दे आया।" उनका तो व्यक्तित्व ही ऐसा था। और यह सही था कि कोई उन्हें कितनी ही बड़ी वस्तु देता उनमें तो वह भी दे डालने की सहजता थी। इसलिए यह सोचना कि उनके लिए हम यह नहीं कर पाये, वह नहीं कर पाये, ठीक नहीं है।

उनकी बात तो हरएक निराली ही थी। एक बार 'भारतेन्दु जयन्ती' मनायी जा रही थी और प्रिसाइड करनेवाला था मैं। निरालाजी अपटाक्षेप में सहसा पहुँचे। उस समय वार्ष्णेयजी भारतेन्दु पर एक गम्भीर निबन्ध पढ़ रहे थे। विद्यार्थियों ने निरालाजी की उस कविता के लिए आग्रह किया जो 1964-65 में

वन्द हो गयी थी। मैंने भी कहा, "निरालाजी, कविता पढ़िए।" लेकिन कहने लगे कि "मैं कविता नहीं पढ़ूँगा, मैं भाषण दूँगा।" हम लोगों ने कहा, "अच्छा, चलिए भाषण ही दीजिए।" तो उन्होंने इस तरह कहना प्रारम्भ किया : "जानते हो भारतेन्दु कौन थे ? उनका नाम तो सुना ही होगा। हम उसी खानदान के हैं। और क्या यह भी जानते हो कि जब महारानी विक्टोरिया ने स्वेज नहर पर अपना घोड़ा दौड़ाया था तब किसने उसकी लगाम को पकड़ा था, किसने उस घोड़े को रोका था ? मैंने उसको रोका था और मैंने ही उसकी लगाम पकड़ी थी। महारानी विक्टोरिया, बाबू हरिश्चन्द्र और मैं, यह एक ही परम्परा के हैं" साथ ही वार्ष्णेय की ओर देखते हुए मुझसे बोले, "देखिए, हम साहित्यकार हैं, साहित्य में साहित्य ही होना चाहिए। इसमें गिनती न आने दीजिए।" यह सब ऐसा था कि कहीं अवसर से मेल नहीं खाता था, लेकिन इसका एक अर्थ था और वह यह कि साहित्य में वह अपने को भारतेन्दु के बराबर मानते थे, और जागतिक क्षेत्र में महारानी विक्टोरिया से कम नहीं समझते थे। इन सब बातों में उनका अपना प्रतिबिम्ब झलकता था। जहाँ आपको उनकी बात में और कविता में अर्थ की कड़ी टूटी हुई मालूम पड़े कि वहाँ निरालाजी के व्यक्तित्व को जोड़ दीजिए—कड़ी जुड़ जायेगी, अर्थ पूरा हो जायेगा।

उनके बारे में एक बात बहुत विशेष थी। उन्हें कभी किसी ने खरीदने की हिमाकत नहीं की। जब कभी किसी ने ऐसा किया भी, तो उन्होंने ऐसा ठुकराया कि उसे छठी का दूध याद आ गया। लेकिन जहाँ वे पुरुष थे, वहाँ उनके अन्दर अन्तःसलिला स्रोत था। एक दफा जब मैं महादेवी के यहाँ पहुँचा तो आप साथ ही थे। पहुँचते ही तीन कुर्सियाँ आ गयी। हम लोगों ने यानी एक महादेवीजी ने और एक मैंने अपनी-अपनी कुर्सी ले ली, किन्तु निरालाजी को कब चैन मिलना था। वह इधर-उधर घूमने लगे। और बार-बार महादेवी के पास जाकर कुछ बुदबुदाकर इधर-उधर जाते। यह स्थिति थी। मैंने देखा तो महादेवीजी ने पूछा, "आखिर ऐसी कौन-सी बात है जिसके लिए बार-बार यह आते हैं और कुछ कहकर लौट जाते हैं ?" तो उन्होंने हँस दिया और मुस्कराते हुए कहा, "कह रहे हैं, मेहमान आया है, खातिर अच्छी होनी चाहिए।" और जब तक व्यवस्था नहीं हो गयी, तब तक उनकी व्याकुलता न मिटी।

जब वह यह देखते थे कि किसी तरह सम्मान ठीक नहीं हो पाया, तो स्वयं आगे आते थे और एक बार जब उन्हें यह अनुभव हुआ कि मेरा सम्मान ठीक से नहीं हुआ तो स्वयं अपने हाथ से बनाकर खाना खिलाया। इस सबके पीछे एक विशेष बात जो है, जैसा कि मैंने अभी पहले भी कहा है, वह उनके अन्दर की कोमलता थी, और इतनी गत्वरता थी कि वह स्थिर नहीं हो पाते थे। वह समूची प्रकृति के रूप को देखकर नहीं—जैसा कि पन्तजी में है—बल्कि धनुष से जो तीर निकले और उसकी ध्वनि हो तो वह तो उस ध्वनि को व्यक्त करना चाहनेवालों में से थे।

है भी यह कि नाद जो है वह गति है। और, पदार्थ त[illegible]

जिससे वह बँध नहीं पाता। इसीलिए उनकी कविता मे स्थल-स्थल पर लगता है कि वह छन्द की पुकार लेकर जैसे उड़े जा रहे हों।

निराला की प्राणशक्ति अद्भुत थी। वह जीवित किसी सुख के आकर्षण की शक्ति से नहीं झुके। पृथ्वी जैसे चीजों को अपनी ओर खीच लेती है और उन चीजों को जल्दी खीचती है जिनके अन्दर जीवनी-शक्ति नहीं होती। आप देखेंगे कि एक अंकुर भी जिसके अन्दर जीवनी शक्ति होती है वह पृथ्वी की छाती को फोड़कर ऊपर उठ जाता है, लेकिन जिस क्षण उसकी जीवनी शक्ति समाप्त हो जाती है तो वह मुरझा जाता है और जमीन मे झुक जाता है। लेकिन निराला मे एक महाप्राण, महागतिशील तत्त्व इतनी मात्रा म था कि जीवित वह कभी कहीं झुके नहीं। उनकी प्राणशक्ति कभी नहीं झुकी और वह एक अखण्ड ज्योतिशिखा की तरह ऊपर-ही-ऊपर प्रज्वलित होते रहे। मुझे आज उन्हे श्रद्धांजलि देते हुए जो प्रसन्नता हो रही है उसका कारण यह है कि वह एक महामानव, महाप्राण थ और उनके अन्दर एक विशिष्ट आदमी था।

एक बार उनके पास मद्रास से एक विद्यार्थी आया जो इस बात की चिट्ठी किसी से लाया था कि वह निरालाजी को देखना चाहता है। उन्होंने उसे पढ़ी और कहने लगे कि क्या देखना चाहते हो, क्या आदमी देखने आये हो? आदमी देखने आये हो तब तो ठीक है लेकिन अगर फासिल्स देखना चाहते हो तो महादेवी के पास चले जाओ या किसी म्यूजियम मे चले जाओ। बात असली यह थी कि वह अपने को एक आदमी मानते थे जो उनके लिए सबसे मूल्यवान वस्तु थी।

[1963]

निरालाजी

कविवर निरालाजी का व्यक्तित्व अत्यन्त सरल, तेजस्वी और सहृदयतापूर्ण था। वे सरलता की प्रत्यक्ष मूर्ति थे। अन्याय, दिखावा और नकली आचरण से उन्हें सख्त नफरत थी, परन्तु उपेक्षित और अज्ञात मनुष्यता के प्रति गहरी सहानुभूति थी। उनका व्यक्तित्व गतिशील था। ऐसा शक्तिशाली व्यक्तित्व देखने में कम आता है। मैं जब-जब उनसे मिला हूँ उनकी सहृदयता देखकर चकित रह गया हूँ। वे जितने बड़े कवि थे, उतने बड़े सहृदय भी थे। उनमे एक विचित्र प्रकार का निर्भीक भाव था। वे किसी से दबते नहीं थे। यह विचित्र प्रकार का इसलिए था

कि वे जहाँ बड़े-से-बड़े आदमी का विरोध कर सकते थे, वहीं मानवीय मर्यादा के विरुद्ध किसी भी व्यक्ति के विरुद्ध कुछ सहन भी नहीं कर सकते थे। कई बार मुझे इसका प्रमाण मिला है। एक बार उन्होंने मुझे रास्ते में ही पकड़कर एक प्रसिद्ध नेता के बारे में बहुत कड़ी-कड़ी बातें कहीं। मैंने बताया कि मैं उनसे मिलने जा रहा हूँ। बहुत कठोर आलोचना के बाद वे आगे बढ़ गये और मैं अपने मित्र के साथ उक्त नेता के घर की ओर चला। कोई दस मिनट बाद मैंने देखा, निरालाजी प्रायः दौड़ते हुए चले आ रहे हैं। उन्होंने मुझे रोककर कहा, "देखो, एक बात कहना मैं भूल गया। जिनसे मिलने जा रहे हो उनकी पत्नी बीमार हैं, उनका कुशल-क्षेम पूछना मत भूलना। और देखो, मैंने उनकी आलोचना की है, उसमें एक पक्ष ही कहा है। वे बड़े भावुक और सहृदय हैं। कुशल-क्षेम पूछते समय भी यह ध्यान रखना कि कोई ऐसी बात न कह दो कि उनको कष्ट पहुँचे।" इतना कहकर मेरे उत्तर की प्रतीक्षा किये बिना वे तेजी से जिधर से आये थे, उधर चले गये। मैं अवाक् रह गया। ऐसे अनेक अवसर आये हैं, जबकि उनकी अद्भुत सहृदयता को जानने का अवसर मिला है।

निरालाजी क्रान्तिकारी विचार और मर्मभेदी दृष्टि के धनी थे। यह हिन्दी साहित्य का दुर्भाग्य ही कहा जाना चाहिए कि वे जल्दी ही भगवान् के दरबार में बुला लिये गये। वे सच्चे अर्थों में फक्कड़ भी थे और मस्तमौला भी। उनके जैसा प्रतिभाशाली कवि कभी-कभी ही पृथ्वी पर दिखायी देता है।

सुमित्रानन्दन पन्त

कविवर सुमित्रानन्दन पन्त का जन्म 20 मई, 1900 ई. को हुआ था। यद्यपि इनकी प्रथम रचना (उछ्वास) 1922 में प्रकाशित हुई—उसके बाद की लिखी एक और रचना (ग्रन्थि) बाद में प्रकाशित हुई थी किन्तु उनका दूसरा प्रकाशन और तीसरी रचना 'पल्लव' ने ही सहृदयों का ध्यान विशेष रूप से आकर्षित किया। इस पुस्तक का प्रकाशन आधुनिक हिन्दी साहित्य की एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण घटना है। इस पुस्तक की भूमिका में पहली बार खड़ी बोली की प्रकृति को पहचानने का प्रयत्न किया गया। इसके पहले खड़ी बोली को काव्य-भाषा के रूप में स्वीकार करने का आन्दोलन शुरू हो चुका था। यह एक विचित्र संयोग है कि खड़ी बोली को काव्य-भाषा के रूप में ग्रहण करने का आन्दोलन करीब-करीब पन्तजी के जन्म के साथ ही शुरू होता है। महावीरप्रसाद द्विवेदी के नेतृत्व में इस आन्दोलन के हिन्दी साहित्य में एक नये

युग का प्रवर्त्तन किया था। अनेक कृती कवियों ने इस बोली को अपने काव्य का वाहन बनाया। इसके पहले काव्य की भाषा व्रजभाषा थी। अनेक महान् कवियों के हाथों मँजी हुई व्रजभाषा, सुकुमार भावों की अभिव्यक्ति के साथ-साथ शब्द-कौतुक के लिए भी अच्छा साधन बन गयी थी। उन दिनों के अनेक सहृदय विश्वास ही नहीं कर पाते थे कि खड़ी बोली भी काव्य-भाषा हो सकती है। उसे कोमल अभि-व्यंजना के लिए असमर्थ भाषा माना जाता था। एक विचित्र भाषा-सांकर्य का दौर चल रहा था। गद्य की भाषा खड़ी बोली और पद्य की भाषा व्रजभाषा। उस समय देश में नयी चेतना का उदय हुआ था। महावीरप्रसाद द्विवेदी के नेतृत्व में नवीन चेतना से उद्बुद्ध साहित्यकारों ने इस विसंगति को दूर करने का प्रयत्न किया। वे कहते थे कि नयी चेतना को खड़ी बोली ही अभिव्यक्त कर सकती है। मैथिलीशरण गुप्त, अयोध्यासिंह उपाध्याय, नाथूराम शंकर शर्मा, रामनरेश त्रिपाठी, गोपालशरण सिंह आदि कवियों ने सफलता के साथ इस बोली का काव्य-भाषा के रूप में प्रयोग किया। परन्तु इसमें गद्यात्मकता बनी हुई थी। परम्परा-प्राप्त छन्दोयोजना, शास्त्र-सम्मत अलंकार-विधान, परिपाटी-विहित रस-दृष्टि और पुरानी नैतिक भावना से ये प्रयोग बँधे हुए थे। यह माना जाता था कि किसी भी बात को किसी भी छन्द में कहा जा सकता है। यद्यपि विशेष-विशेष कवि अपनी रुचि के छन्दों का चयन कर रहे थे परन्तु कथ्य और छन्द के अन्तर्ग्रथित सम्बन्ध की ओर कम ही ध्यान दिया गया था। संस्कृत के वर्णवृत्तों का खुलकर प्रयोग किया जा रहा था। इस परिप्रेक्ष्य में सुमित्रानन्दन पन्त की देन का महत्त्व समझ में आ सकता है। पहली बार उन्होंने खड़ी बोली की प्रकृति को पहचानने का फलप्रद प्रयास किया। पहली बार उन्होंने उसके शब्दों की अन्तर्निहित शक्ति को पहचानने पर बल दिया। पहली बार उन्होंने मात्रावृत्तों को खड़ी बोली का सहज छन्द स्वीकार किया। अपनी बातें उन्होंने अपनी रचना द्वारा प्रमाणित की और नवीन भाव-बोध के लिए बहुत ही उपयुक्त भावभूमि बनायी।

'पल्लव' बिल्कुल नये काव्यगुणों को लेकर हिन्दी साहित्य-जगत् में आया। इस पुस्तक में प्रकृति और मानव के सौन्दर्य के प्रति आदिम मनोभाव के-से औत्सुक्य, आश्चर्य और कुतूहल के भाव हैं। सौन्दर्य के प्रति अत्यन्त कोमल मनोभाव ने कवि को कहीं भी बहकने नहीं दिया है। इसकी भूमिका से पन्त की उस महत्त्वपूर्ण बौद्धिक प्रक्रिया का पता लगता है जिसके द्वारा उन्होंने शब्दों की प्रकृति, उनकी अर्थबोधन-क्षमता, उनके अर्थों में भेदक पहलुओं की विशिष्टता, छन्दों की प्रकृति, तुक और ताल का महत्त्व आदि को समझा था और समझने के बाद काव्य में प्रयोग किया था। शब्दों और अर्थों की इस विवेचना ने नवशिक्षित सहृदय के चित्त में इस नयी कविता के प्रति श्रद्धा का भाव उत्पन्न किया और संवेदनशील तरुण साहित्यिकों को नये सिरे से सोचने की शक्ति दी। इस भूमिका ने संस्कृत के वर्ण-वृत्तों को हिन्दी से हटा दिया, छन्दों की गति के सम्बन्ध में नयी दृष्टि दी और छन्द परिवर्तन के प्रति नया मनोभाव पैदा किया। पन्त में कल्पना शब्दों के

से ही शुरू होती है। छन्दो के निर्वाचन और परिवर्तन में भी वह व्यक्त होती है। उसका प्रवाह अत्यन्त शक्तिशाली है। इसके साथ जब प्रकृति और मानव-सौन्दर्य के प्रति कवि के बालकोचित औत्सुक्य और कुतूहलभावों का सम्मिलन होता है तो ऐसे सौन्दर्य की सृष्टि होती है जो पुराने काव्य के रसिकों के निकट परिचित नहीं होता। कम संवेदनशील पुराने सहृदय इस नयी कविता से बिदक उठे थे और अधिक सवेदनशील सहृदय प्रसन्न हुए थे। 'पल्लव' के भावों की अभिव्यक्ति मे अद्भुत सरलता और ईमानदारी थी। कवि बँधी रूढ़ियों के प्रति कठोर नहीं है, उसने उनके प्रति व्यंग्य और उपहास का प्रहार कहीं किया, पर वह उनकी बाहरी बातों की उपेक्षा करके अन्तराल-स्थित सहज सौन्दर्य की ओर पाठक का ध्यान आकृष्ट करता है। मनुष्य के कोमल स्वभाव, बालिका के अकृत्रिम प्रतिस्निग्ध हृदय और प्रकृति के विराट् और विपुल रूपों में अन्तर्निहित शोभा का ऐसा हृदय-हारी चित्रण उन दिनो अन्यत्र नहीं देखा गया।

'पल्लव' के 'प्रवेश' में कवि ने लिखा था---'हम खड़ी बोली से अपरिचित हैं। उसमें हमने अपने प्राणों का संगीत अभी नही भरा। उसके शब्द हमारे हृदय के मधु से सिक्त होकर अभी सरस नही हुए। वे केवल नाम-मात्र हैं। उनमें हमें रूप, रस, गन्ध भरना होगा। उनकी आत्मा से अभी हमारी आत्मा का साक्षात्कार नही हुआ। उनके हृत्-स्पन्दन से हमारा हृत्-स्पन्दन नहीं मिला। वे अभी हमारे मनो-वेगों के चिरालिंगनपाश में नहीं बँधे। इसलिए उनका स्पर्श अभी हमे रोमांचित नहीं करता। वे हमें रसहीन, गन्धहीन लगते हैं। जिस प्रकार बड़ी चुवाने के पहले उड़द की पीठी को मथकर हल्का तथा कोमल कर लेना पड़ता है, उसी प्रकार कविता के स्वरूप मे भावो के ढाँचे में ढालने के पूर्व भाषा को भी हृदय के ताप में गलाकर कोमल, करुण, सरस, प्रांजल कर लेना पड़ता है।" उन्होने यही किया। खड़ी बोली जो आज सुकुमार भावों को अभिव्यक्ति देने में इतनी सशक्त हुई है, उसमें पन्त के इस साधु-संकल्प का बड़ा महत्त्वपूर्ण योगदान है।

'वीणा' से 'पल्लव' तक और किसी हद तक 'गुंजन' तक पन्तजी के काव्य का क्रमिक विकास देखा जा सकता है। इन काव्य-कृतियों में प्रकृति और मानव-सौन्दर्य के अनेक मनोरम तथा रंगमय चित्र मिलते हैं। हिमालय के रंग-बिरंगे शिखर उसके पाददेश में फैले हुए झील, ताल, कोमल-कण्ठ, वन-पाखी आदि उनके बाल्य सहचर रहे हैं। इसलिए प्रकृति के प्रति उनका सहज महत्त्व जगह-जगह मुखर हो उठा है। पन्त के प्रकृति-वर्णन में जो तन्मयता और प्रकृत उल्लास दिखायी पड़ता है, वह अन्य किसी छायावादी कवि की रचना मे नहीं आ पाया है। बीच-बीच में रहस्यमय संकेतों के कारण इन चित्रो में जिस अभूतपूर्व विराटता का सन्निवेश हुआ है, वह इन चित्रो को महनीय बनाने के साथ-साथ इन्हें अलग श्रेणी भी प्रदान करती है। पन्तजी का नारी-सौन्दर्य-चित्रण भी व्यक्ति-निष्ठ, ऐन्द्रिय तथा विराट् है जो रीतिकालीन टिपिकल नारी-सौन्दर्य के चित्रों की मांसलता और स्थूल ऐन्द्रिय-बोधात्मकता से एकदम अलग हो जाता है।

सुमित्रानन्दन पन्त का सम्पूर्ण व्यक्तित्व गीतिमय है। वे मूलतः गीतिकाव्य के कवि हैं। उनके 'ज्योत्स्ना' आदि नाटकों के सभी पात्र वस्तुत. गीतिकाव्यात्मक (लिरिकल) हैं। शुरू में 'ग्रन्थि' में जो प्रबन्ध-योजना का प्रयत्न है, वह भी मूलतः गीतिकाव्यात्मक और रोमाण्टिक है। किन्तु इसका यह अर्थ नही कि उनके व्यक्तित्व में गतिशीलता नहीं है। उनका दृष्टिकोण बराबर सास्कृतिक सामूहिक उत्थान का रहा है। उनके विकास के तीन उत्थान है। प्रथम मे वे छायावादी कवि है, दूसरे में वे समाजवादी आदर्शों से चालित है और तीसरे मे आध्यात्मिक। दूसरे उत्थान की कविताओं में वे समाजवादी सिद्धान्तों से चालित हुए थे। ग्राम्या और युगवाणी में उन्ही आदर्शों द्वारा चालित किन्तु बौद्धिक चिन्तन से आयतीकृत भावों का सन्निवेश है। समाजवाद पन्त की दृष्टि में कोई राजनीतिक मत नही था, यह सांस्कृतिक अभ्युत्थान का साधनमात्र था। उन्होने कहा है—

राजनीति का प्रश्न नही रे आज जगत के सम्मुख।
एक वृहत् सांस्कृतिक समस्या जग के निकट उपस्थित ।।

पन्तजी शिल्पी कवि थे। भावानुरूप शब्दों का चयन, संवेगात्मक सम्मूर्त्तन और सशक्त प्रतीकों की योजना में वे अप्रतिम है। पर युगान्त तक उनका शिल्प उनके संवेगों और संवेदनाओ का वाहक बनकर आया है तो परवर्त्ती रचनाओं मे वे दार्शनिक भावों के चित्रण के समय अनासक्त दिखते हैं। इसीलिए परवर्त्ती शिल्प एक निखार और प्रौढता के बावजूद भी संवेग का वेग शिथिल प्रतीत होता है।

पन्त निरन्तर गतिशील कवि रहे हैं। प्रारम्भिक रचनाओ मे प्रकृति के प्रति उनकी बाल-सुलभ जिज्ञासा और कुतूहल इतने आकर्षक सिद्ध हुए कि लोगो ने पन्त को प्रकृति का कवि ही कहना शुरू किया पर पन्त मानवीय सौन्दर्य और अन्तश्चेतना के भी उतने ही निपुण कवि है। धीरे-धीरे वे मनुष्य के सामूहिक उत्थान के विश्वासी हुए हैं। निस्सन्देह वे समाजवादी मान्यताओं से प्रभावित हुए थे। परन्तु वे विशुद्ध मार्क्सवादी नही कहे जा सकते। उनके चेतना के तृतीय विकास में वे आध्यात्मिक साधना के कवि लगते हैं। उन्होने अपने युग के महान् भारतीय मनीषियो—महात्मा गांधी, कविवर रवीन्द्रनाथ ठाकुर, स्वामी विवेकानन्द, स्वामी रामतीर्थ और श्री अरविन्द से प्रेरणा पाते रहे है पर वे हू-ब-हू किसी के प्रतिरूप नही हैं। ये सारे महापुरुष उनकी अन्तश्चेतना को जाग्रत करते है।

शब्द और अर्थ, शैली और कथ्य तथा छन्द और आवेग की अविच्छेद्य आत्मीयता उनकी रचना की महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है। उनकी सौन्दर्याभिव्यक्ति में एक इस प्रकार की निस्संगता है कि उसमें आवेश और रागलिप्तता आयासपूर्वक ढूंढनी पड़ती है। इसका कारण छन्द और भाव की अन्योन्याश्रित तादात्म्य है। उनकी कविता सहज होने के कारण संयत, स्निग्ध और सरस बनी।

'युगान्त' तक आते-आते पन्त के मन में नवीन चेतना प्रबल हो जाती है। 'द्रुत झरो जगत के जीर्ण पत्र'-जैसी कविताओं में पुरातन-समाप्ति-कामना के साथ-

आध्यात्मिकता है। यह आध्यात्मिकता आधुनिक काल के विचारों के मन्थन से निर्मल बनी हुई मानस-गंगा में स्नान करके अनेक कलुषों को धोकर निकली हुई नयी कान्ति से समृद्ध होकर आयी है। कवि ने स्वयं कहा है—"मेरी काव्यचेतना मुख्यतः नवीन संस्कृति की चेतना है, जिसमें आध्यात्मिकता तथा भौतिकता का नवीन मनुष्यत्व के धरातल पर संयोजन है। मेरा काव्य प्रथमतः इस युग के महान् संघर्ष का काव्य है। जो लोग युगसंघर्ष को वर्गसंघर्ष तक ही सीमित रखकर उसे केवल बाहरी आर्थिक राजनीतिक स्तरों पर ही देख सकते हैं, उनकी बात मैं नहीं करता, अन्यथा 'युगवाणी' से 'वाणी' तक मेरा समस्त काव्य युगमानव एवं नवमानव के अन्तरतम संघर्ष का काव्य है। मेरी काव्यचेतना केवल मध्ययुगीन नैतिक बौद्धिक अन्धकार तथा जीवन के प्रति तज्जनित सीमित दृष्टिकोण से ही नहीं संघर्ष करती रही, वह भावी मानवता के पथ के बहिरन्तर के दुर्गम अवरोधों से भी निरन्तर जूझती रही है।"

पन्तजी इस काल की रचनाओं को अपने द्वितीय उत्थान की कविता कहते हैं। 'चिदम्बरा' में इन्हीं रचनाओं का संग्रह है। इसमें 'युगवाणी' से लेकर 'अतिमा' तक की रचनाओं का संग्रह है। उन्होंने लिखा है—" 'चिदम्बरा' मेरी काव्य-चेतना के द्वितीय उत्थान की परिचायिका है, उसमें 'युगवाणी' से लेकर 'अतिमा' तक की रचनाओं का संचयन है, जिसमें 'युगवाणी', 'ग्राम्या' तथा 'स्वर्णकिरण', 'स्वर्ण-धूलि', 'युगपथ' के अन्तर्गत 'युगान्तर', 'उत्तरा', 'रजत शिखर', 'शिल्पी', 'सौवर्ण', 'अतिमा' की चुनी हुई कृतियों के साथ 'वाणी' की अन्तिम रचना 'आत्मिका' भी सम्मिलित है। 'पल्लविनी' में सन् '18 से लेकर '36 तक, मेरे उन्नीस वर्षों के कृतित्व के पदचिह्न हैं, और 'चिदम्बरा' में सन् '37 से '58 तक, प्रायः बीस वर्षों की विकासश्रेणी का विस्तार।" इन कविताओं में मनुष्य के अन्तर के शक्तिमय अमृतत्व के प्रति कवि की अडिग आस्था व्यक्त हुई है। निपुण शब्दशिल्पी की परिपक्व लेखनी ने इस आस्था को प्रभावशाली रूप दिया है। कवि ने स्वयं कहा है—वर्तमान के संघर्ष और संहार की विभीषिका से भी अधिक महत् तथा शक्तिमय जो अमृतत्व का सागर आज संवेदनशील हृदयों के भीतर नवीन चेतनाज्वारों में उठकर मानव-अन्तर के नवजीवन-बोध के स्तरों को स्पर्श कर रहा है, उसका मंगल सन्देश कैसे भुलाया जा सकता है? आज के भू-व्यापी संघर्ष, विरोध, अनास्था, निराशा, विषाद तथा संहार की यही वास्तविकता है कि वह मानव-समाज को नवीन मान्यताओं के क्षितिजों, नवीन जीवन-बोध के धरातलों तथा महत्तर सामंजस्य की भूमिकाओं की ओर अग्रसर कर रहा है। निस्सन्देह, अकल्पनीय सिद्धियों तथा महान् विनिमयों का है हमारा युग। आज के विज्ञान, दर्शन और सृजनप्रेरणा का श्रेय उसी को है।

"इस युग के विक्षोभ का मुख्य कारण है मानव-जीवन के ऊर्ध्व तथा समतल संचरणों में सामंजस्य अथवा सन्तुलन का अभाव। आज हमें भूत-अध्यात्म, यथार्थ-आदर्श-सम्बन्धी अपनी पिछली धारणाओं को अधिक व्यापक बनाकर उन्हें एक-

दूसरे के निकट लाना है। यथार्थ अथवा आदर्श के व्यापक सत्य के बारे मे या तो हम मध्ययुगीन अभावों एवं निषेधों के कुहासों के पार न देख पाने के कारण उदासीन हैं, या पश्चिम के अन्ध अनुकरण के कारण बाह्य युग-जीवन के अन्धकार में भटक गये हैं। आज के बड़े राष्ट्रों को, जो भू-जीवन के विकास तथा उन्नयन को अवरुद्ध किये हुए हैं, वैज्ञानिक चेतना या मानवीय जीवन-यथार्थ का प्रतिभू मानना हमारा भ्रम है। वे अभी धरती की प्राचीन ऐतिहासिक बर्बरता ही का प्रतिनिधित्व कर रहे हैं और विज्ञान को जीवन-निर्माण तथा मनोविकास का माध्यम बनाने के बदले, उसके पंखों के ताप में आणविक डिम्बों एवं विनाशक विस्फोटकों को लेकर, अपनी अणुसामर्थ्य का नग्न प्रदर्शन कर रहे हैं। जिस प्रकार कभी भारतवर्ष अपनी आध्यात्मिक शक्ति के सम्मोहन से दिग्भ्रान्त हो गया था, उसी प्रकार आज के शिखर-राष्ट्र भौतिक क्षमता से मदोन्मत्त हो विश्वजीवन एवं मानवता को विनाश की ओर ले जाने की स्पर्धा कर रहे हैं। मुझे मानव-चेतना पर विश्वास है, वह इस अणुसंहार के नृशंस हिंस्र नाटक को अवश्य ही नवीन निर्माण तथा रचना-मंगल की दिशा एवं भूमिका देकर मानवता की प्रगति का द्वार उन्मुक्त कर सकेगी।"

सुमित्रानन्दन पन्त आधुनिक हिन्दी के युगप्रवर्त्तक कवि है। उन्होंने भाषा के परिमार्जन, उसकी आन्तरिक शक्ति की खोज और उसे ललित मनोहर रूप देने के साथ-ही-साथ उसे ऐसे महान् भावों की सम्पदा दी है जो कोई क्रान्तदर्शी कवि ही दे सकता है। पिछली आधी शताब्दी से उन्होंने निरन्तर गतिशील और क्रियाशील रहकर काव्य-जगत् को अमूल्य रत्नों से जगमगा दिया है। उन्होने हिन्दी भाषा को और उसके माध्यम से सम्पूर्ण काव्य चेतना को अपूर्व महिमा से मण्डित किया है। उनका परवर्त्ती काल का महाकाव्य 'लोकायतन' भाषा की शक्ति, भावसम्पदा, चरित्रों की योजना और युगजीवन की अन्तश्चेतना को विशाल पटभूमि पर चित्रित करता है। इसमें पन्त की विश्वमानव की आन्तरिक और बाह्य विकास की परिकल्पना अपूर्व लालित्य और गरिमा के साथ प्रकट हुई है। पन्त केवल शब्द-शिल्पी ही नही, महान् भावशिल्पी हैं और सौन्दर्य के निरन्तर निखरते सूक्ष्म रूप को वाणी देनेवाले एक सम्पूर्ण युग को प्रेरणा देनेवाले प्रभावशिल्पी भी।

नयी चेतना का महान् गायक चला गया!

सुमित्रानन्दन पन्त सही अर्थों में हिन्दी के युगप्रवर्त्तक कवियों में शीर्षस्थानीय कहे जा सकते हैं। उन्होंने भाषा, छन्द और वक्तव्य-विषयों में क्रान्तिकारी परिवर्तन किये

थे। इस बात में उनका नाम केवल सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' के साथ ही लिया जा सकता है। वैसे तो बहुत पुराने संस्कृत कवियों में परिपाटी-विहित चरित्रों और आचरणों के 'टाइप' प्रधान हो गये थे, परन्तु हिन्दी में आधुनिक काल आरम्भ होने के पूर्व पूरा साहित्य लक्षणोत्थ साँचों में ढलने लगा था। संस्कृत के कवियों में राजा, रानी, भृत्य, पुरोहित, दास, दासी आदि सभी व्यक्ति बाद में हैं, 'टाइप' पहले हैं। रीतिकालीन कवियों में यह प्रवृत्ति चरमसीमा पर थी। आधुनिक हिन्दी साहित्य में—तत्रापि खड़ी बोली के साहित्य में वक्तव्य-वस्तु को लक्षणोत्थ साँचों से मुक्त करने का प्रयास अवश्य किया गया था, पर परिपाटी-विहित नैतिकता का बन्धन स्वीकार कर लिया गया था। तथाकथित नयी उदार शिक्षा के प्रभाव से साहित्य के क्षेत्र में वैयक्तिकता और निर्बन्धता की ओर झुकाव बढ़ने लगा था। अंग्रेजी के रोमाण्टिक कवियों की भावधारा नवशिक्षित तरुण साहित्यकारों को आकृष्ट करने लगी थी, पर सशक्त और स्वकीयता के अनुरूप अभिव्यक्ति निराला और पन्त ने दी। पन्तजी के 'पल्लव' के प्रकाशन से केवल भावाभिव्यक्ति के क्षेत्र में ही नहीं, विचारों के तर्कसम्मत उपस्थापन के क्षेत्र में भी बहुत जबर्दस्त आलोड़न हुआ। वह केवल परिपाटी-विहित भावाभिव्यक्ति के प्रति विद्रोह नहीं था, अपनी भाषा की सहज प्रकाशन-भंगिमा के प्रति आस्था का उद्घोष भी था। 'पल्लव' की भूमिका में पन्तजी ने व्याकरण, छन्द, वक्तव्य-वस्तु और अभिव्यक्ति-कौशल के प्रति भी नये सिरे से सोचने का आह्वान किया। पहली बार भाषा की स्वकीयता और छन्दों की विषयानुवर्तितता पर इतने प्रभावशाली ढंग से विचार किया गया था। शुरू-शुरू में इसका जमके विरोध किया गया, पर अन्त तक विरोध शान्त हो गया। पन्तजी ने नये युग का प्रवर्तन करने में सफलता प्राप्त की। खड़ी बोली अब सुकुमार भावों के प्रकाशन का वाहन मान ली गयी। सुमित्रानन्दन पन्त इस प्रकार नयी चेतना के प्रमुख गायक के रूप में स्वीकार कर लिये गये। हिन्दी कविता नये प्राण, नये स्वर, नयी सुषमा से समृद्ध हुई। यह बहुत ही महत्त्वपूर्ण मोड़ था।

इस नयी काव्यधारा का नाम 'छायावाद' दिया गया। ऐसा नहीं समझना चाहिए कि उस युग के सभी छायावादी कहे जानेवाले कवियों की स्वकीयता एक ही श्रेणी की थी, या उनका कोई एक दल था। इस बात का प्रमाण पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध है कि उनके विचार कई बार एक-दूसरे के विरुद्ध जाते थे और कुछ में एक-दूसरे के प्रति एक हद तक वैयक्तिक असहनशीलता भी थी। पर नये कवियों में कुछ बातें बहुत मिलती थीं। सबमें परिपाटी-विहित अभिव्यक्ति के प्रति विद्रोह था, सबमें भावावेग की मात्रा युक्ति-तर्क की अपेक्षा अधिक थी, सबमें थोड़ा-बहुत अतीन्द्रिय सत्ता की ओर झुकाव था और जो बात इनकी दुर्बलता कही जायेगी वह थी—प्रायः इन्द्रिय-ग्राह्य ठोस रूप की तुलना में 'सूक्ष्म' कहे जानेवाले विचारों की स्थापना का आग्रह।

सुमित्रानन्दन पन्त अत्यन्त मृदु प्रकृति के सौम्य-सुशील सहृदय व्यक्ति थे। उनके जीवन में 'सुन्दर' के प्रति अत्यन्त आदर और श्रद्धा का भाव था।

सीमा में चली जाती है। एक हद तक यह बात ठीक है। अंग्रेजी के बहुत-से रोमाण्टिक कवियों के बारे में यह आक्षेप किया गया था कि वे आवेगतरल आवेश में मनुष्य की सम्पूर्णता को खण्डित करते हैं। मनुष्य केवल भावना द्वारा चालित नहीं होता, वह युक्ति-तर्क की भी प्रेरणा स्वीकार करता है। ऐसा न हो तो मनुष्य पशुसुलभ वासनाओं का शिकार होकर रह जायेगा। लेकिन पन्तजी के बारे में यह आक्षेप ठीक नहीं था। पन्तजी का पूरा काव्य-लोक इस बात का साक्षी है कि वे केवल भावावेग से चालित नहीं हुए। मनुष्य को वे परिपूर्ण रूप में देख सके थे। वे कभी भी उस सन्देहात्मक स्थिति की अनुशंसा नहीं करते जो मनुष्य को आदिम सहजावस्था में फिरा लेने से बन सकती है। वे बौद्धिक जागरूकता और आत्मचेतना के प्रति बराबर सचेत रहे हैं। उनकी कविताओं में एक प्रकार की जो अनासक्त तटस्थता दिखायी देती है, वह सौन्दर्य के प्रति कठोर आदर-भाव के कारण है।

पिछले साठ वर्षों तक अमृतवर्षा करनेवाला सौन्दर्य का चितेरा, नवचेतना का गायक, अतिमानस का आकांक्षी, सुदूर को प्राप्त करने की उस अपार व्याकुलता का कवि, महान् कलाकार चला गया। उस महान् आत्मा के प्रति हार्दिक श्रद्धांजलि।

[आलोचना, अक्तूबर-दिसम्बर 1977]

दिनकरजी अमर हैं

कविता मे भी 'सुन्दर' आदर और श्रद्धा का विषय है, इतना कोमल जैसे छूने से ही मुरझा जायेगा। 'सुन्दर' के प्रति उनके कौतूहल और जिज्ञासा का अन्त नहीं था। 'पल्लव' की कविताओं में उनका औत्सुक्य और जिज्ञासा इतनी तरह से प्रकट हुई है कि उसे देखकर यह आशंका होती है कि कवि कही आदिम अवस्था के प्रति लौट जाने का आग्रह तो नही दिखा रहा है। वस्तुतः लोगों ने शुरू-शुरू मे यह आक्षेप सच-मुच किया था, परन्तु उनकी काव्य-यात्रा का अवलोकन करनेवाला यह जानता है कि ऐसा नही था। उनकी जिज्ञासा और कुतूहली वृत्ति की इयत्ता नहीं है। वे इसी अवार्य जिज्ञासा से चालित होकर मार्क्स, गाधी, अरविन्द के विचारो से प्रभावित होते रहे। सर्वत्र उनकी विकल जिज्ञासा नाना रूपों में मुखर हुई है। वे रुके कही नही। उनके भीतर का महाजिज्ञासु निरन्तर बढ़ता ही गया। मानो वे रवीन्द्रनाथ के शब्दों मे कह रहे है—'अजी मैं चंचल हूँ, मैं सुन्दर का प्यासा हूँ'''आमि चंचल हे, आमि सुदूरेर-पियासी।'

'सुदूर' की व्याकुल आह्वान-वाणी ने उन्हे चंचल बनाया था। वे सत्य के विभिन्न पहलुओं की तलाश में निरन्तर आगे बढते गये। कही थकान नही, कही रुकावट नही। नवचेतना को वे निरन्तर पृथ्वी पर बरसने का आह्वान करते रहे। कभी लोगों ने समझा, कभी नही समझा, पर अवार्य औत्सुक्य का आह्वान इतना प्रबल था कि वे रुक नही सके। चलते ही गये। 'सुदूर' का साक्षात्कार हुआ कि नहीं, कौन बता सकता है?

उनके प्रधान सम्बल थे : (1) सत्य को अपनी आंखों से देखने की दुर्वार आकांक्षा जो किसी प्रकार के साहित्य-बन्धन को स्वीकार नही करती, और (2) सत्य को तथ्य के आवरण मे नग्न रूप मे देखने के स्थान पर उसे भावना के आवरण मे सजाकर 'सुन्दर' बनाकर देखने की उत्कट अभिलाषा।

पहली बात वैयक्तिक निजी बात को उभारती है और नियम, परिपाटी, आप्तवचन और परम्परा के प्रति उपेक्षा और कभी-कभी विद्रोह के भाव को बढ़ावा देती है; जबकि दूसरी बात तत्काल व्युत्पन्न भावावेग, कलात्मक सौष्ठव, सौन्दर्य-सर्जना और प्राण की उद्वेल-शक्ति को जाग्रत करती है। पन्तजी के दोनों पक्षों का विरोध हुआ। पहली बात का विरोध छिछला था। इतिहास गवाह है कि कवि हमेशा बन्धनों का विरोध करता है, कभी उपेक्षा के रूप में, कभी विद्रोह के रूप में। ऐसा न होता तो प्राकृत की वे गाथाएँ नही बन सकती जो 'सत्तसई' में संगृहीत हैं और अपनी ताजगी से आज भी सहृदयों को मुग्ध करती हैं। अपभ्रंश का लाड़ला छन्द 'दोहा' और उसमे कही गयी 'पारिगहिं णावइ शराबि जिण' मे सरसता नही पैदा हो पाती और न कबीर की वेधक रूढ़ि-विरोधी उक्तियाँ इतनी सशक्त शैली मे उभर पाती। यह बराबर होता रहा है। पन्तजी ने सच्चे कवि का करणीय ही किया था। दूसरी बात का विरोध कुछ अधिक समझदारी का परिचय देता है।

कहा जाता है कि भावातिरेक और कल्पना एक सीमा तक ही ग्राह्य है। जब वे युक्ति और तर्क को धक्का देकर गिरा देना चाहती हैं तो अनुचित आचरण की

सीमा में चली जाती है। एक हद तक यह बात ठीक है। अंग्रेजी के बहुत-से रोमाण्टिक कवियों के बारे में यह आक्षेप किया गया था कि वे आवेगतरल आवेश में मनुष्य की सम्पूर्णता को खण्डित करते हैं। मनुष्य केवल भावना द्वारा चालित नहीं होता, वह युक्ति-तर्क की भी प्रेरणा स्वीकार करता है। ऐसा न हो तो मनुष्य पशुसुलभ वासनाओं का शिकार होकर रह जायेगा। लेकिन पन्तजी के बारे में यह आक्षेप ठीक नहीं था। पन्तजी का पूरा काव्य-लोक इस बात का साक्षी है कि वे केवल भावावेग से चालित नहीं हुए। मनुष्य को वे परिपूर्ण रूप में देख सके थे। वे कभी भी उस सन्देहात्मक स्थिति की अनुशंसा नहीं करते जो मनुष्य को आदिम सहजावस्था में फिरा लेने से बन सकती है। वे बौद्धिक जागरूकता और आत्मचेतना के प्रति बराबर सचेत रहे हैं। उनकी कविताओं में एक प्रकार की जो अनासक्त तटस्थता दिखायी देती है, वह सौन्दर्य के प्रति कठोर आदर-भाव के कारण है।

पिछले साठ वर्षों तक अमृतवर्षा करनेवाला सौन्दर्य का चितेरा, नवचेतना का गायक, अतिमानस का आकांक्षी, सुदूर को प्राप्त करने की उस अपार व्याकुलता का कवि, महान् कलाकार चला गया। उस महान् आत्मा के प्रति हार्दिक श्रद्धांजलि।

[आलोचना, अक्तूबर-दिसम्बर 1977]

दिनकरजी अमर हैं

दिनकरजी महान् विचारक और कवि थे। मेरी उनके साथ गाढ मैत्री थी और मैं अपने अनुभव के आधार पर कह सकता हूँ कि ऐसा सहृदय मित्र आजकल की दुनिया में दुर्लभ है। वे हिन्दी के गौरव तो थे ही, सारी भारतीय भाषाओं के सन्दर्भ में भी उनके अनुपम व्यक्तित्व की महिमा ज्यों-की-त्यों रहती है। उनका अध्ययन भी बहुत व्यापक था। अपनी बात को वे स्पष्ट और प्रभावकारी ढंग से कह सकते थे। वे जितने कवि-रूप में सफल थे, उतने ही वाग्मी और विचारशील लेखक के रूप में भी। ऐसे महान् कवि और विचारक का हमारे बीच से उठ जाना सचमुच बड़ा दुर्भाग्य है।

लगभग पैंतालीस वर्ष पहले मुझे उनसे मिलने का सौभाग्य मिला था। तब से उनकी मैत्री पाने का सौभाग्य रहा है। यह मैत्री निरन्तर गाढ़ होती गयी। उनके समान तेजस्वी क्वचित्-कदाचित् ही धरती पर आते हैं। वे जितने उच्च कोटि के कवि थे, उतने ही बड़े विचारक और वाग्मी भी। गद्य और पद्य दोनों के वे

कविता में भी 'सुन्दर' आदर और श्रद्धा का विषय है, इतना कोमल जैसे छूने से ही मुरझा जायेगा। 'सुन्दर' के प्रति उनके कौतूहल और जिज्ञासा का अन्त नहीं था। 'पल्लव' की कविताओं में उनका औत्सुक्य और जिज्ञासा इतनी तरह से प्रकट हुई है कि उसे देखकर यह आशंका होती है कि कवि कहीं आदिम अवस्था के प्रति लौट जाने का आग्रह तो नहीं दिखा रहा है। वस्तुतः लोगों ने शुरू-शुरू में यह आक्षेप सचमुच किया था, परन्तु उनकी काव्य-यात्रा का अवलोकन करनेवाला यह जानता है कि ऐसा नहीं था। उनकी जिज्ञासा और कुतूहली वृत्ति की इयत्ता नहीं है। वे इसी अवार्य जिज्ञासा से चालित होकर मार्क्स, गांधी, अरविन्द के विचारों से प्रभावित होते रहे। सर्वत्र उनकी विकल जिज्ञासा नाना रूपों में मुखर हुई है। वे रुके कहीं नहीं। उनके भीतर का महाजिज्ञासु निरन्तर बढ़ता ही गया। मानो वे रवीन्द्रनाथ के शब्दों में कह रहे है—'अजी मैं चंचल हूँ, मैं सुन्दर का प्यासा हूँ···आमि चंचल हे, आमि सुदूरेर-पियासी।'

'सुदूर' की व्याकुल आह्वान-वाणी ने उन्हें चंचल बनाया था। वे सत्य के विभिन्न पहलुओं की तलाश में निरन्तर आगे बढ़ते गये। कहीं थकान नहीं, कहीं रुकावट नहीं। नवचेतना को वे निरन्तर पृथ्वी पर बरसने का आह्वान करते रहे। कभी लोगों ने समझा, कभी नहीं समझा, पर अवार्य औत्सुक्य का आह्वान इतना प्रबल था कि वे रुक नहीं सके। चलते ही गये। 'सुदूर' का साक्षात्कार हुआ कि नहीं, कौन बता सकता है?

उनके प्रधान सम्बल थे : (1) सत्य को अपनी आँखों से देखने की दुर्वार आकांक्षा जो किसी प्रकार के साहित्य-बन्धन को स्वीकार नहीं करती, और (2) सत्य को तथ्य के आवरण में नग्न रूप में देखने के स्थान पर उसे भावना के आवरण में सजाकर 'सुन्दर' बनाकर देखने की उत्कट अभिलाषा।

पहली बात वैयक्तिक निजी बात को उभारती है और नियम, परिपाटी, आप्तवचन और परम्परा के प्रति उपेक्षा और कभी-कभी विद्रोह के भाव को बढ़ावा देती है; जबकि दूसरी बात तत्काल व्युत्पन्न भावावेग, कलात्मक सौष्ठव, सौन्दर्य-सर्जना और प्राण की उद्वेल-शक्ति को जाग्रत करती है। पन्तजी के दोनों पक्षों का विरोध हुआ। पहली बात का विरोध छिछला था। इतिहास गवाह है कि कवि हमेशा बन्धनों का विरोध करता है, कभी उपेक्षा के रूप में, कभी विद्रोह के रूप में। ऐसा न होता तो प्राकृत की वे गाथाएँ नहीं बन सकतीं जो 'सत्तसई' में संगृहीत हैं और अपनी ताजगी से आज भी सहृदयों को मुग्ध करती हैं। अपभ्रंश का लाड़ला छन्द 'दोहा' और उसमें कही गयी 'पारिगहिं णावइ शरावि जिण' में सरसता नहीं पैदा हो पाती और न कबीर की वेधक रूढ़ि-विरोधी उक्तियाँ इतनी सशक्त शैली में उभर पातीं। यह बराबर होता रहा है। पन्तजी ने सच्चे कवि का करणीय ही किया था। दूसरी बात का विरोध कुछ अधिक समझदारी का परिचय देता है।

कहा जाता है कि भावातिरेक और कल्पना एक सीमा तक ही ग्राह्य है। जब वे युक्ति और तर्क को धक्का देकर गिरा देना चाहती हैं तो अनुचित आचरण की

सीमा मे चली जाती है। एक हद तक यह बात ठीक है। अंग्रेजी के बहुत-से रोमाण्टिक कवियों के बारे में यह आक्षेप किया गया था कि वे आवेगतरल आवेश मे मनुष्य की सम्पूर्णता को खण्डित करते हैं। मनुष्य केवल भावना द्वारा चालित नही होता, वह युक्ति-तर्क की भी प्रेरणा स्वीकार करता है। ऐसा न हो तो मनुष्य पशुसुलभ वासनाओं का शिकार होकर रह जायेगा। लेकिन पन्तजी के बारे मे यह आक्षेप ठीक नही था। पन्तजी का पूरा काव्य-लोक इस बात का साक्षी है कि वे केवल भावावेग से चालित नही हुए। मनुष्य को वे परिपूर्ण रूप में देख सके थे। वे कभी भी उस सन्देहात्मक स्थिति की अनुशंसा नही करते जो मनुष्य को आदिम सहजावस्था मे फिरा लेने से बन सकती है। वे बौद्धिक जागरूकता और आत्मचेतना के प्रति बराबर सचेत रहे हैं। उनकी कविताओं में एक प्रकार की जो अनासक्त तटस्थता दिखायी देती है, वह सौन्दर्य के प्रति कठोर आदर-भाव के कारण है।

पिछले साठ वर्षों तक अमृतवर्षा करनेवाला सौन्दर्य का चितेरा, नवचेतना का गायक, अतिमानस का आकांक्षी, सुदूर को प्राप्त करने की उस अपार व्याकुलता का कवि, महान् कलाकार चला गया। उस महान् आत्मा के प्रति हार्दिक श्रद्धांजलि।

[आलोचना, अक्तूबर-दिसम्बर 1977]

दिनकरजी अमर हैं

दिनकरजी महान् विचारक और कवि थे। मेरी उनके साथ गाढ मैत्री थी और मैं अपने अनुभव के आधार पर कह सकता हूँ कि ऐसा सहृदय मित्र आजकल की दुनिया मे दुर्लभ है। वे हिन्दी के गौरव तो थे ही, सारी भारतीय भाषाओं के सन्दर्भ में भी उनके अनुपम व्यक्तित्व की महिमा ज्यों-की-त्यों रहती है। उनका अध्ययन भी बहुत व्यापक था। अपनी बात को वे स्पष्ट और प्रभावकारी ढंग मे कह सकते थे। वे जितने कवि-रूप में सफल थे, उतने ही वाग्मी और विचारशील लेखक के रूप मे भी। ऐसे महान् कवि और विचारक का हमारे बीच से उठ जाना सचमुच बड़ा दुर्भाग्य है।

लगभग पैंतालीस वर्ष पहले मुझे उनसे मिलने का सौभाग्य मिला था। तब से उनकी मैत्री पाने का सौभाग्य रहा है। यह मैत्री निरन्तर गाढ होती गयी। उनके समान तेजस्वी क्वचित्-कदाचित् ही धरती पर आते हैं। वे जितने उच्च कोटि के कवि थे, उतने ही बड़े विचारक और वाग्मी भी। गद्य और पद्य दोनों के वे

सव्यसाची थे। भगवान् ने उन्हें जैसी वाणी की सम्पत्ति दी थी, वैसा ही चारुदर्शन भव्य रूप दिया था। वह ओजस्वी वाणी और भव्य रूप इस नश्वर जगत् से हमेशा के लिए चला गया।

इतना सहज प्रेममय उनका हृदय था कि कभी-कभी उनकी सरलता पर आश्चर्य होता था। पर अन्याय देखकर वे दीपशिखा के समान जल उठते थे। हिन्दी के विरुद्ध षड्यन्त्रों से वे सचमुच जल उठते थे। मुझे याद है कि एक बार भाषा आयोग मे एक श्रद्धेय विद्वान् की अनुचित बातों का विरोध करने के लिए वे कितने प्रदीप्त हो उठे थे। विरोध मैंने भी किया था, पर दिनकरजी तो एकदम अग्निशिखा हो उठे थे। लेकिन उसके पहले भी और बाद में भी वे श्रद्धेय को श्रद्धा देने मे रंचमात्र नही झिझकते थे। सच तो यह है कि उन्हें बाद मे अपनी कही बातो के लिए पश्चात्ताप भी हुआ था। उनका हृदय 'मृदु प्रकृत्या चलसारमेव च' का प्रत्यक्ष रूप था। कभी आवेग मे आकर वे कड़ा बोल जाते थे। एक प्रसंग में वे बाद मे इतने खिन्न हुए कि अपनी डायरी मे लिखा था—

"हे नेदिष्ठ, तुमको प्रणाम है। हे दविष्ठ, तुमको प्रणाम है। हे क्षोदिष्ठ, तुमको प्रणाम है। हे महिष्ठ, तुमको प्रणाम है। हे वर्षिष्ठ, तुमको प्रणाम है। हे जोविष्ठ, तुमको प्रणाम है।

"कल सुबह जो दुर्वचन मुख से निकला, उसका परिताप आज सारा दिन जलाता रहा। मरने के करीब आ गया हूँ, किन्तु वाणी का संयम अब भी अधूरा है। क्यो ऐसी बात बोलना, जिसके लिए अपने-आपको इतना अधिक दण्ड देना पड़े?"

दिनकरजी ब्रिटिश शासनकाल में सरकारी नौकर थे। परन्तु नौकरी उनकी स्वतन्त्र अभिव्यक्ति में कभी बाधक नही बनी। वे उस समय भी अन्याय के विरुद्ध बोलने की शक्ति रखते थे और बाद में स्वाधीनता के समय भी सरकारी नौकरी करते समय हमेशा उन बातो का डटकर विरोध करते थे जिन्हे अनुचित समझते थे। उनकी एक धारणा बन गयी थी कि 'परशुराम की प्रतीक्षा' लिखकर वे सरकार के कोपभाजन बने थे। इस धारणा के बारे में मैं कुछ कह नही सकता, परन्तु मैंने स्वयं देखा है कि एक शक्तिशाली की हिन्दी-विरोधी नीति का कड़ा विरोध उन्होने किया था, जिसकी शिकायत पण्डितजी तक पहुँचायी गयी थी। हिन्दी के प्रश्न पर वे सदा दृढ रहे, पर उनके तर्क सदा कटुता से दूर और यथार्थवादी होते थे। वे अहिन्दीभाषी जनता मे भी बहुत लोकप्रिय थे; क्योकि उनका हिन्दीप्रेम दूसरो की अपनी मातृभाषा के प्रति श्रद्धा और प्रेम का विरोधी नही था, बल्कि प्रेरक था।

यहाँ हिन्दी के बारे में जो कहा गया, उससे यही नही समझना चाहिए कि वे केवल हिन्दी के प्रति किये गये अन्यायों के विरोध में ही अपनी शक्ति लगा देते थे। उनका विरोध उन सब नीतियो से था जो उन्हे अनुचित लगती थी। कभी-कभी मुझे उनकी मान्यताओं का विरोध करने का अवसर भी मिला था—व्यक्तिगत

रूप से। परन्तु मैंने सदा पाया कि उनका मत तर्कपूर्ण सुचिन्तित होता था। उनके मत से सहमत न होनेवाला भी उनके विचारों की सच्चाई से प्रभावित होता था।

अवस्था में वे मुझसे थोड़े ही छोटे थे, पर आदर सदा बड़े भाई का देते थे। उनका हृदय बहुत शिष्ट और उदार था। कर्त्तव्यवश बड़ी बात कह जाते थे, पर सदा कटुता धो देने को तत्पर रहते थे। भाषा आयोग में एक बार मुझे लगा कि वे सीमा का अतिक्रम कर गये है। यद्यपि मुझे वे सम्मान देते थे और हमारे सम्बन्ध इतने मीठे थे कि किसी बात पर उन्हें कुछ कह सकने की मुझे पूरी स्वतन्त्रता थी। पर मेरे मन मे उनके प्रति बहुत सम्मान का भाव था, इसलिए कुछ कहने के पूर्व मैं कई प्रकार से बात को हल्की बना देने की तैयारी कर लेता था। इंगित अवश्य समझ लेते हैं, ऐसा मेरा विश्वास था। उस दिन शाम को मैं उनसे कहना चाहता था कि वे कुछ अनुचित कह गये है। कैसे कहूँ यही सोच रहा था। वे जब मिले तो बहुत प्रसन्न थे। मुझसे आते ही पूछा, "क्या सोच रहे हैं?" मैंने कहा, "हिसाब लगा रहा हूँ।" प्रसन्न भाव से उन्होंने पूछा, "काहे का हिसाब?" मैंने कहा, "भर्तृहरिजी ने कहा है कि जब आदमी विवेक से भ्रष्ट हो जाता है तो उसका शतमुख विनिपात होता है। मैंने हिसाब लगाकर देखा है कि मेरा अडतीस मुख विनिपात हो चुका है, आपका कितना मुख हुआ है? मेरा अनुमान है कि अभी एकमुख ही हुआ है। या शायद उतना भी न हुआ हो।" दिनकरजी ठठाकर हँसे। बोले, "दूसरी ही बात ठीक है। मेरे हिस्से विधाता ने विवेक दिया ही नहीं। इसलिए हिसाब लगाने की जरूरत ही नही। हो, तब न भ्रष्ट होने का प्रश्न उठेगा!" मगर वे इशारा समझ गये। उनका चेहरा वैसा ही सहज-प्रसन्न बना रहा। उन्होने सहज भाव से स्वीकार किया कि उनसे सचमुच गलती हो गयी थी!

हाय, वह उल्लसित सहज मुख अब देखने को नही मिलेगा!

उन्होने हिन्दी साहित्य को दो दर्जन से अधिक अमूल्य ग्रन्थ दिये हैं जिनमे आधे गद्य हैं। 'उर्वशी', मेरी दृष्टि में, उनकी सर्वश्रेष्ठ देन है। स्वयं दिनकरजी ने कही कहा है कि उन्हे ऐसा लगता है कि काव्य पहले से लिखा पड़ा था, उन्हे मिल गया था। इसका अर्थ यह हुआ कि स्वयं कवि इसे दैवी प्रेरणा का ग्रन्थ मानता है। दिनकरजी का तत्त्व-चिन्तन इस काव्य में सशक्त भाषा में सहज प्रवाह के रूप में अभिव्यक्त हुआ है। उन्होने कहा है:

"काम के प्रति सन्तों की दृष्टि निषेधात्मक रही है। शारीरिक कृत्य का तो निषेध है ही, सन्त मानस-चित्रो का भी निषेध सिखाते है। इससे शरीर और मन की एकता का भंजन होता है। मन वास्तव मे शरीर का ही एक अंश है।

"ईश्वर और प्रकृति, इन दोनों के बीच प्रतियोगिता नही है कि मनुष्य एक को ग्रहण करे और दूसरे को त्याग दे।

"शरीर का काम, संयत काम, सामाजिक मर्यादा को मानकर एक घाट पर बहनेवाला काम पाप नही है। पाप वह तब हो जाता है, जब काम मन को अपने वश में कर लेता है और मन शरीर को हाँकने लगता है, जबर्दस्ती हाँकने लगता है।

तन का काम अमृत है, लेकिन मन का काम गरल है।

"आनन्दातिरेक प्रकृति का धर्म होना चाहिए। जब यह आनन्द जीवन के अन्य क्षेत्रों में नही मिलता, तब मनुष्य बलपूर्वक, इच्छापूर्वक उसकी खोज काम में करने लगता है, यही पाप है।

" 'उर्वशी' में जितना कहा गया है, उससे शायद कुछ अधिक कहा जाना चाहिए था। लेकिन उस अकथ्य की भाषा उर्वशी के पास नही है, क्योंकि वह मेरे पास नही है। मैं सिर्फ यह इंगित करना चाहता था कि प्रकृत जीवन बिताकर भी आदमी सन्त हो सकता है। अगर आपको मुझ पर विश्वास नही हो, तो कन्फूशियस का विश्वास कीजिए। वे भी मानते थे कि जो और कुछ न करके प्रकृत जीवन बिताता है, वह भी सन्त है।"

मस्ती दिनकरजी का स्वभाव भी थी, जिन्दगी भी। आनन्दोल्लास से वे सदा प्रफुल्ल दिखायी देते थे। बीमारी के कारण अन्तिम वयस मे उनका देवोपम शरीर क्षीण होने लगा था। तिस पर वाम विधाता ने उनके ऊपर पुत्रशोक का दारुण आघात किया। पारिवारिक चिन्ताओ से वे परेशान लगने लगे थे। कभी-कभी वे निराश स्वर मे बोलने लगते थे। इधर जब-जब उनसे मिलने का अवसर मिला, वे चिन्तित ही दिखे। भीतर से टूटने लगे थे, पर आनन्द का उत्स कभी भी नही सूखा।

दिनकरजी के समान वाग्मी भी कम ही होते हैं। साधारण तथ्यों से भी वे बड़ा सन्देश प्रेषण कर देते थे। उनकी तेजस्विता सदा विद्यमान रहती थी। उनके अभाव की पूर्त्ति करनेवाला कोई नही दिखायी देता। हिन्दी भाषा उन्हे पाकर धन्य हुई थी, खोकर शोचनीय हो गयी है।

दिनकर अस्त हो गया। जिन्होंने भेजा था, उन्होने ही बुला लिया। क्या कहा जाय! उनका पार्थिव शरीर चला गया। वह मृण्मय वपु था—विनश्वर शरीर। परन्तु उनका एक चिन्मय वपु भी है। चैतन्य का, ज्ञान का, विचार का, भावाभिव्यक्ति का चिन्मय वपु! उनका साहित्य वही चिन्मय वपु है। जब उनकी कोई रचना पढता हूँ तो लगता है, वे उसी सजीव रूप में बोल रहे हैं। यह ज्ञानमय शरीर सौभाग्य से हमारे पास है, सदा रहेगा। इस रूप मे दिनकरजी अमर हैं। सदा अमर बने रहेंगे।

[20 सितम्बर 1975]

कथाकार रेणु का विलक्षण वैशिष्ट्य

फणीश्वरनाथ रेणुजी के असामयिक देहावसान से एक अत्यन्त प्रतिभाशाली कथाकार हमारे बीच से उठ गया। अभी कुछ ही दिन पहले यशपालजी का उठ जाना हिन्दी साहित्य के लिए एक दारुण आघात था और उससे हम सम्हल भी नही पाये थे कि रेणुजी भी चल बसे। यह साल ही हिन्दी के दुर्भाग्य का साल कहा जायेगा।

रेणुजी ने हिन्दी कथा-साहित्य को नयी समृद्धि दी थी। आज का युग ही उपन्यास का युग हो गया है। जितनी यह विधा लोकप्रिय सिद्ध हुई है, उतनी अन्य कोई विधा नही सिद्ध हुई। उपन्यास तेजी से लिखे और छापे जा रहे है। कितने ही शक्तिशाली लेखक उपन्यास लिखने मे अत्यन्त फुर्तीले और दक्ष साबित हुए है। नतीजा यह हुआ कि उपन्यास का साहित्यिक सृष्टि की दृष्टि से अवमूल्यन होता जा रहा है। अधिकांश उपन्यास बँधी परिपाटियो पर लिखे जा रहे हैं। उनका उद्देश्य साहित्यिक से अधिक व्यावसायिक होता जा रहा है। आज से सौ-सवा सौ वर्ष पहले फ्लाबेंर (Flaubert) के बारे मे कहा जाता था कि वह साल में औसत चालीस पृष्ठ लिखा करते थे। लेकिन उनके ईषत् परवर्त्ती उपन्यासकार ट्रोलोप (Trollop) इतने ही पृष्ठ एक सप्ताह मे लिख मारते थे। उन दिनों ही साहित्य-क्षेत्र में साहित्यिक उपलब्धि और व्यावसायिक सफलता शब्द चल पड़े। आज तो अवस्था और विषम हो उठी है। साहित्यिक उपलब्धि अब अनुपात मे बहुत कम रह गयी है, व्यावसायिक सफलता अधिक मुखर हो गयी है। हिन्दी इस बात मे किसी से भी बहुत पीछे नही है। यहाँ भी साहित्यिक उपलब्धि की ओर कम ध्यान दिया जा रहा है, व्यावसायिक दृष्टि प्रबल से प्रबलतर होती जा रही है।

रेणुजी के उपन्यास साहित्यिक उपलब्धि है। इसका अर्थ क्या है?

संख्या की दृष्टि से यद्यपि आधुनिक हिन्दी भाषा में उपन्यास बहुत लिखे गये है, पर साहित्यिक उपलब्धिवाले उपन्यासों की संख्या थोड़ी ही है। निस्सन्देह संसार के अनेक प्रतिभाशाली लेखको ने बहुत ही गहरी अन्तर्दृष्टि का परिचय दिया है और वे इस युग के अत्यन्त मर्मस्पर्शी मानवीय आशा-आकाक्षाओं के विश्वसनीय और प्रभावोत्पादक दस्तावेज प्रस्तुत कर गये है। यह एक विचित्र बात है कि जहाँ एक ओर सस्ते और सतही उपन्यासो का प्राचुर्य रहा है, वहीं कुछ प्रतिभासम्पन्न लेखको ने न केवल मानव-जीवन के यथार्थ को ही खोलकर सामने ला दिया है, बल्कि उनकी कलात्मक सम्प्रेषणशीलता इतनी शक्तिशाली रही है कि उन्होंने मनुष्य को जकड़नेवाली सामाजिक और मानसिक रूढ़ियों और कुण्ठाओ को समाप्त करने मे आश्चर्यजनक सफलता पायी है।

उपन्यासो का क्षेत्र बहुत विस्तृत हो गया है। अतीत के रचनात्मक पुनर्गठन से लेकर भविष्य की सम्भावित कल्पनाओ तक और नरलोक मे वैश्वानर-लोक तक उसकी व्याप्ति है। परन्तु उपन्यास किसी-न-किसी प्रकार के यथार्थ या यथार्थाभास

का आश्रय अवश्य लेता है। उपन्यास का पाठक तर्कसम्मत बाह्य यथार्थ के नियमों की बहुत उपेक्षा नही बर्दाश्त कर सकता। उसे विश्वास होना चाहिए कि वह जो कुछ पढ रहा है वह युक्ति-तर्क से ग्राह्य तथ्यो मे ग्रहण किया जा सकता है। यह आधुनिकतम जानकारी पर आधृत यथार्थ उपन्यास का अपना सत्य होता है। परन्तु, केवल इतना ही पर्याप्त नही है कि उपन्यास से पाठक के कुतूहली चित्त की उत्कण्ठा शान्त हो जाये, उसे कलात्मक ऊँचाई या साहित्यिक उपलब्धि की मर्यादा तक ले जाने के लिए सुन्दर—या और सही शब्दो मे सुषमायुक्त—भी बनाना आवश्यक है। 'सु+समा' (=सुषमा-युक्त) वह तत्त्व है जो हर ओर से—आन्तरिक और बाह्य रूप से—उसमें साम्य (बैलेंस) बनाये रखता है। अंग्रेजी में इसे 'वेल बैलेंस्ड' कहा जा सकता है। इस प्रकार सत्य और सौषम्य का सामंजस्य उपन्यास को कराकृति का गौरव देता है और कथाकार को साहित्यिक उपलब्धि का अधिकारी बनाता है। फणीश्वरनाथ रेणु इस गौरव के अधिकारी थे। लेकिन इस बात को ज़रा और स्पष्ट करना आवश्यक जान पड़ता है।

रेणुजी का पहला प्रसिद्ध उपन्यास 'मैला आंचल' जब प्रकाशित हुआ तो उसकी बडी चर्चा हुई थी। उनका सम्मान करने के लिए दिल्ली मे एक आयोजन भी हुआ था। निमन्त्रित मैं भी था, पर जा नही सका था। उस समय मेरे मन में एक बड़ा संकोच यह था कि मैंने तब तक 'मैला आँचल' पढ़ा ही नही था। बाद में मैंने उसे पढा। पढ़कर बड़ी प्रसन्नता हुई, पर उस प्रसन्नता का कारण मैं तब भी ठीक से समझ नही सका। गुलाबजामुन खाने में बडा आनन्द आता है, पर आज तक मैं यही नही सोच पाया कि क्या आनन्द आता है। 'मैला आंचल' से मन प्रसन्न हुआ, यही मेरे लिए पर्याप्त था। बाद में रेणुजी से मेरी पहली मुलाकात हुई। उनसे भी मैंने कहा कि मुझे यह उपन्यास बहुत अच्छा लगा। रेणु के समान शिष्ट और विनीत साहित्यकार कम ही होंगे। साधारणत: नये लेखकों से मिलता हूँ तो वे अपनी रचना का स्वयं विश्लेषण कर देते है और कई बार तो रचना जो बात नही बताती उसे भी वे तर्कसम्मत और शक्तिशाली भाषा मे प्रकट कर देते हैं, तभी बात साफ होती है। रेणुजी ने ऐसा कुछ नही किया। शायद वे मान बैठे थे कि जो कुछ कहना है, रचना ही बता देगी! और सच तो यह है कि लेखक को नये सिरे से कुछ कहने की कोई आवश्यकता नही है। शील के वह साक्षात् मूर्त्ति थे। बहुत ही धीरे से उन्होने कहा कि पता नही किस बात को लोग उसमे पसन्द करते हैं।

उस समय मुझे लगा था कि यह भी सोचना चाहिए था कि मुझे उस पुस्तक मे क्या बात अच्छी लगी और क्यों। मगर सोचने का बहुत अवसर नही मिला। मैंने उस पुस्तक की कई आलोचनाएँ पढ़ी और प्रायः उनमे उसकी 'आचलिकता' की प्रशंसा की गयी थी या कभी उसकी अधिकता को बुरा भी कहा गया था। दो-एक विद्यार्थी तो 'आंचलिक' उपन्यासों पर शोध करने के लिए भी आग्रही दिखायी दिये। कुछ ने किया भी—मेरी देख-रेख में तो नहीं, पर और विद्वानो की देख-रेख में। आंचलिकता का इतना हल्ला मचा कि मेरे लिए सोचने का कोई

अवसर ही नही रहा । रेणुजी आंचलिक उपन्यासों के प्रवर्त्तक घोषित हुए। कुछ लोगों ने तो और-और उपन्यासकारो मे, जो रेणु के पूर्ववर्त्ती थे, आचलिकता ढूंढ निकाली। पर मैं सोचता रहा कि क्या मुझे जो चीज प्रभावित कर पायी थी वह यह तथाकथित आंचलिकता ही है। मन कहता था, नही।

तो फिर क्या चीज थी वह ? मैंने एक बार फिर वह पुस्तक पढी। तब तक 'परती परिकथा' भी प्रकाशित हो गयी। मैंने उसे भी रस लेकर पढा। मुझे अब कोई सन्देह नही रहा कि जो चीज मुझे मुग्ध कर रही थी, वह आचलिकता तो नही ही थी। कुछ सोचना-समझना जरूरी होगा। उसे लिखके दुनिया के सामने लाना उद्देश्य नही था, स्वय को समझना ही उद्देश्य था। इसी को गोरखनाथजी कह गये हैं—'यत्र मनसा मनः समीक्ष्यते', अर्थात् जहाँ मन से मन को देखा जाता है !

यथार्थ और सौपम्य, ये दो ऐसे मानदण्ड है जो उपन्यास के यथार्थ गुण की मात्रा निर्धारित करते हैं। इन्ही दो कसौटियो पर कसे जाने पर किसी भी काल या किसी भी श्रेणी के उपन्यास के वास्तविक गाम्भीर्य का पता चलता है। केवल यथार्थ उपन्यास को अपेक्षित गुरुता नही दान करता।

जीवन के साथ गाढ नैकट्य यथार्थ पक्ष को गुरुता प्रदान करता है, जबकि उसको देखने की मर्मोद्घाटिनी अन्तर्दृष्टि कथाकार की सौन्दर्यबोधिनी शक्ति को उजागर करती है। केवल जीवन का गाढ परिचय पाठक की उत्सुकता और जिज्ञासा को सन्तुष्ट कर सकता है, पर मनुष्य के उपरले आवरण के अन्तराल में विद्यमान ऐक्य की अनुभूति के द्वारा संवेदना उत्पन्न कराने की क्षमता अन्तर्दृष्टि के बिना सम्भव नहीं है। रेणुजी का जनजीवन के प्रति गाढ नैकट्य तो था ही—'मैला आँचल' में वह बहुत उभरकर सामने आया है, पर साथ ही उन्हें अत्यन्त मर्मभेदी दृष्टि भी प्राप्त है। यद्यपि तुलना करने पर जीवन का नैकट्य अधिक सशक्त है, अन्तर्दृष्टि कम; पर 'मैला आंचल' को केवल कुतूहल-शामकता से ऊपर उठाकर साहित्यिक गरिमा देने मे वह अवश्य सहायक है। जीवन के साथ गाढ़ नैकट्य को यह अन्तर्दृष्टि—जो अपेक्षाकृत कम सशक्त है—औपन्यासिक सौपम्य के निकट पहुँचा देने मे समर्थ है।

लेकिन उपन्यास का यथार्थ केवल जीवन के साथ गाढ नैकट्य से ही पूरा नही होता। रेणुजी का यह पक्ष बहुत प्रबल तो है, परन्तु वही अकेला सही यथार्थ नहीं हो सकता। यह भी होना चाहिए कि उस गहराई के साथ निरीक्षण करने की परिधि के लिए काफी विस्तृत क्षेत्र मिले। इस विषय मे 'मैला आंचल' मुझे बहुत कमजोर जान पड़ा था। जो बात इस संकीर्णता की क्षतिपूर्त्ति करती है वह है निरीक्षित दृष्ट और अनुभूत तथ्य और घटना-प्रवाह के व्यक्ति या व्यक्तिसमूह के साथ टकराव से उद्भूत प्रतिक्रियाओं की सही पकड़। इस सही पकड़ से जीवन का विलक्षण अन्तर्ग्रथन और परस्पर-सापेक्षिता यथार्थ को सुन्दर और मनोरम बना देते हैं। निरीक्षण की परिधि की संकीर्णता भी जीवन के अन्तर्ग्रथन के बोध से मनोरम होकर पाठक को प्रभावित करती है।

दृष्ट और अनुभूत घटनाप्रवाह और व्यक्ति या व्यक्तियों पर होनेवाली प्रतिक्रियाओं का चित्रण या उपस्थापन-कौशल औपन्यासिक यथार्थ का महत्त्वपूर्ण पक्ष है, परन्तु यह सार्थक तभी होता है जब अनुभव को, जानकारी को एक महान् उद्देश्य की ओर मोड़ दिया जाय। आजकल के आलोचक इस बात को उद्देश्य कहने में झिझकते है। ऐसा कहा जाने लगा है कि 'उद्देश्य' शब्द बुरा है; क्योंकि इसमें कला की अबाध अभिव्यक्ति के प्रतिरोधक होने की बू आती है। पर, यथार्थ को कलात्मक मर्यादा तक पहुँचाने के लिए ऐसे किसी तत्त्व को नकारा भी नही जा सकता। इसलिए अब इसे नये नाम से कहा जाने लगा है—भगिमा या 'पैटर्न'! सो, यथार्थ को निश्चित पैटर्न की ओर मोड़ना आवश्यक है।

रेणु का जनजीवन के साथ सामीप्य अवश्य ही बेजोड़ है। घटना-प्रवाह का व्यक्ति या व्यक्तिसमूह के साथ टकराव उनके उपन्यास मे जीवन्त रूप में आया है और विशेष रूप से दृष्टिगोचर भी होता है, पर असाधारणता उसमें भी नही है। रेणुजी की विलक्षणता जो सहृदय को मुग्ध करती है वह दूसरी बात मे लगती है। यह मेरा निजी मत है और इसके बारे मे मेरा कोई दावा नही है। मैं सच्चाई के साथ अनुभव करता हूँ कि रेणु की विशेषता इन यथार्थ-व्यापक बातो में ऐसी नही है जितनी उनकी अन्तर्दृष्टि और दृष्ट और अनुभूत सत्य को, जीवन्त रूप में अन्तर्ग्रथित मनुष्यता को निश्चित और मोहन भगिमा में परावर्त्तित करने में है।

पंजाब की देन : वैदिक साहित्य

पजाब का सर्वाधिक प्राचीन, सर्वाधिक महान् और सर्वाधिक प्रेरणादायक साहित्य वेदों के रूप मे सुरक्षित है। जिन लोगों ने आधुनिक गवेषणात्मक दृष्टि से वैदिक साहित्य का अध्ययन-मनन किया है, वे बताते हैं कि 'ऋग्वेद' के सूक्तों मे समकालीन भारत की जो झांकी मिलती है, उससे जान पड़ता है कि भारतीय आर्य उन दिनो अभी सम्पूर्ण भारत तो क्या, सम्पूर्ण उत्तरापथ पर भी नही छा पाये थे। उन दिनों वे सिन्ध और पजाब की अन्य नदियों से सींचे जानेवाले मैदान तक ही पहुँच पाये थे। सन् 1865 ई. मे ई. डब्ल्यू. हापकिन्स ने 'द पंजाब एण्ड द ऋग्वेद' (J. A. O. S., 19, 19-28) में इस बात की स्थापना की थी और तब से यह मत मान्य हो गया है। उन्होंने बताया था कि हिन्दूकुश के दर्रों के रास्ते पश्चिम की ओर से आनेवाले आर्य कबीले पंजाब तक ही पहुँच पाये थे। यहाँ उन्हे आर्येतर जातियों से लोहा लेना पड़ा। 'ऋग्वेद' मे इन्हें दस्यु या दास कहा गया है। इन्हें

नास्तिक, अधार्मिक और अविश्वासी बताया गया है। दस्युओं के साथ आर्यों का संघर्ष काफी दिनो तक चलता रहा और आर्य लोग पजाब से आगे बढने मे दीर्घ काल तक समर्थ नहीं हुए। यह तथ्य काफी सकेतपूर्ण है कि 'ऋग्वेद' मे गगा का नाम एकाध बार ही आ सका है। जिन स्थलों पर यह नाम आया भी है, वे परवर्त्ती काल के बताये जाते है। जिस महिमामयी गगा के नाम के साथ भारतवर्ष की सम्पूर्ण धार्मिक और आध्यात्मिक साधना गुँथी हुई है, उसका नाम 'ऋग्वेद' मे बहुत कम परिचित जान पडता है। यहाँ यह सब कहने का उद्देश्य सिर्फ यह है कि 'ऋग्वेद' की वाणी का मुख्य भाग पजाब की धरती की देन है। ससार की प्राचीनतम यथावत् सुरक्षित कृति होने के कारण, संसार के सैकड़ो मनीषियों को यह ग्रन्थ आकृष्ट और भावाभिभूत कर सका है। भारतवर्ष को तो सहस्रों वर्ष से यह ज्ञान के प्रत्येक क्षेत्र में प्रेरणा देता रहा है और आज भी दे रहा है।

आज की वार्त्ता का विषय इसका साहित्यिक पक्ष है। यद्यपि दीर्घकाल तक धर्मसाधना और दर्शन के क्षेत्र में समाहित रहने के कारण कुछ विद्वान् इसके कर्मकाण्डवाले पक्ष को ही अधिक महत्त्व देते है, पर अब इस बात को अधिक विवादास्पद नही माना जाता कि कवित्व की दृष्टि से 'ऋग्वेद' का बडा महत्त्व है। उसके प्रत्येक मन्त्र का किसी कर्मकाण्ड के लिए विनियोग परवर्त्ती कल्पना है। यह कहना कि उनकी रचना कर्मकाण्ड के कृत्य-विशेष को ध्यान मे रखकर ही की गयी थी, अतिशयोक्तिपूर्ण है। विण्टरनित्स ने ठीक ही कहा था कि *"भारतीय धर्म के पुराकालिक उद्भव और विकास को जानने के लिए तथा भारोपीय जातियों के मिथक तत्त्व को समझने के लिए और संसार-भर के प्रागैतिहासिक चित्र को हृदयंगम करने के लिए 'ऋग्वेद' के इन गीतों से बढकर और कोई प्रमाण-ग्रन्थ हमारे पास नहीं है।"* आगे चलकर वे कहते है कि *"एक शब्द मे इस बात को हम यो कह सकते है कि इन सूक्तों का मूल्य हमारी दृष्टि मे इसलिए है कि इनमें अभी देवताओं का निर्माण-सा ही हो रहा है—देवताओं के नेपथ्य धीमे-धीमे खुल रहे है। सचमुच कभी-कभी ऐसा प्रतीत होता है कि ये देवता हमारी आँखों के सामने देवत्व प्राप्त कर रहे हों। इन सूक्तों के उद्गार सूर्य, चन्द्र, अग्नि, द्यौः, मरुत, आपः, उषा, पृथ्वी आदि देवताओं के प्रति नहीं हैं, अपितु दिन में दमकता हुआ सूर्य, रात मे चमकता चांद, रसोई में जलती आग—या फिर, अग्निकुण्ड से निकलती ज्वाला या काले बादल मे से फूट निकलती विद्युल्लेखा, निःस्तब्ध आकाश, ताराकित विभावरी, गडगड़ाते तूफान, स्वच्छन्दवाहिनी नदियाँ, वर्षा की फुहार, सद्यःस्फुटा उषा, पुष्प फलाच्छादित धरित्री—ये प्रकृति के रूप हैं जो इन सूक्तों में स्तुति-उपासना और प्रार्थना के जैसे स्वयं रूप बन जाते हैं।"* कविता और होती क्या है?

वैदिक सूक्तों को केन्द्र करके हजारों वर्ष तक भारतीय साहित्य मे व्याख्या-विवेचना चलती रही है। उसके प्रत्येक शब्द के इर्दगिर्द विशाल अर्थ-सम्पत्ति जमा हो गयी है। यही कारण है कि आधुनिक काल का विचारक इन शब्दों के

दृष्ट और अनुभूत घटनाप्रवाह और व्यक्ति या व्यक्तियों पर होनेवाली प्रतिक्रियाओं का चित्रण या उपस्थापन-कौशल औपन्यासिक यथार्थ का महत्त्वपूर्ण पक्ष है, परन्तु यह सार्थक तभी होता है जब अनुभव को, जानकारी को एक महान् उद्देश्य की ओर मोड़ दिया जाय। आजकल के आलोचक इस बात को उद्देश्य कहने में झिझकते हैं। ऐसा कहा जाने लगा है कि 'उद्देश्य' शब्द बुरा है; क्योंकि इसमें कला की अबाध अभिव्यक्ति के प्रतिरोधक होने की बू आती है। पर, यथार्थ को कलात्मक मर्यादा तक पहुँचाने के लिए ऐसे किसी तत्त्व को नकारा भी नहीं जा सकता। इसलिए अब इसे नये नाम से कहा जाने लगा है—भंगिमा या 'पैटर्न'! सो, यथार्थ को निश्चित पैटर्न की ओर मोड़ना आवश्यक है।

रेणु का जनजीवन के साथ सामीप्य अवश्य ही बेजोड़ है। घटना-प्रवाह का व्यक्ति या व्यक्तिसमूह के साथ टकराव उनके उपन्यास में जीवन्त रूप में आया है और विशेष रूप से दृष्टिगोचर भी होता है, पर असाधारणता उसमें भी नहीं है। रेणुजी की विलक्षणता जो सहृदय को मुग्ध करती है वह दूसरी बात में लगती है। यह मेरा निजी मत है और इसके बारे में मेरा कोई दावा नहीं है। मैं सच्चाई के साथ अनुभव करता हूँ कि रेणु की विशेषता इन यथार्थ-व्यापक बातों में ऐसी नहीं है जितनी उनकी अन्तर्दृष्टि और दृष्ट और अनुभूत सत्य को, जीवन्त रूप में अन्तर्ग्रथित मनुष्यता को निश्चित और मोहन भंगिमा में परावर्तित करने में है।

पंजाब की देन : वैदिक साहित्य

पंजाब का सर्वाधिक प्राचीन, सर्वाधिक महान् और सर्वाधिक प्रेरणादायक साहित्य वेदों के रूप में सुरक्षित है। जिन लोगों ने आधुनिक गवेषणात्मक दृष्टि से वैदिक साहित्य का अध्ययन-मनन किया है, वे बताते हैं कि 'ऋग्वेद' के सूक्तों में समकालीन भारत की जो झांकी मिलती है, उससे जान पड़ता है कि भारतीय आर्य उन दिनों अभी सम्पूर्ण भारत तो क्या, सम्पूर्ण उत्तरापथ पर भी नहीं छा पाये थे। उन दिनों वे सिन्ध और पंजाब की अन्य नदियों से सींचे जानेवाले मैदान तक ही पहुँच पाये थे। सन् 1865 ई. में ई. डब्ल्यू. हापकिन्स ने 'द पंजाब एण्ड द ऋग्वेद' (J. A. O. S., 19, 19-28) में इस बात की स्थापना की थी और तब से यह मत मान्य हो गया है। उन्होंने बताया था कि हिन्दूकुश के दर्रों के रास्ते पश्चिम की ओर से आनेवाले आर्य कबीले पंजाब तक ही पहुँच पाये थे। यहाँ उन्हें आर्येतर जातियों से लोहा लेना पड़ा। 'ऋग्वेद' में इन्हें दस्यु या दास कहा गया है। इन्हें

नास्तिक, अधार्मिक और अविश्वासी बताया गया है। दस्युओं के साथ आर्यों का संघर्ष काफी दिनों तक चलता रहा और आर्य लोग पंजाब से आगे बढ़ने मे दीर्घ काल तक समर्थ नही हुए। यह तथ्य काफी सकेतपूर्ण है कि 'ऋग्वेद' मे गगा का नाम एकाध बार ही आ सका है। जिन स्थलों पर यह नाम आया भी है, वे परवर्त्ती काल के बताये जाते है। जिस महिमामयी गगा के नाम के साथ भारतवर्ष की सम्पूर्ण *धार्मिक और आध्यात्मिक साधना गुँथी हुई है, उसका नाम 'ऋग्वेद' मे* बहुत कम परिचित जान पडता है। यहाँ यह सब कहने का उद्देश्य सिर्फ यह है कि 'ऋग्वेद' की वाणी का मुख्य भाग पजाब की धरती की देन है। ससार की प्राचीनतम यथावत् सुरक्षित कृति होने के कारण, संसार के सैकड़ो मनीषियो को यह ग्रन्थ आकृष्ट और भावाभिभूत कर सका है। भारतवर्ष को तो सहस्रो वर्ष से यह ज्ञान के प्रत्येक क्षेत्र मे प्रेरणा देता रहा है और आज भी दे रहा है।

आज की वार्त्ता का विषय इसका साहित्यिक पक्ष है। यद्यपि दीर्घकाल तक धर्मसाधना और दर्शन के क्षेत्र में समाहित रहने के कारण कुछ विद्वान् इसके कर्मकाण्डवाले पक्ष को ही अधिक महत्त्व देते हैं, पर अब इस बात को अधिक विवादास्पद नही माना जाता कि कवित्व की दृष्टि से 'ऋग्वेद' का बड़ा महत्त्व है। उसके प्रत्येक मन्त्र का किसी कर्मकाण्ड के लिए विनियोग परवर्त्ती कल्पना है। यह कहना कि उनकी रचना कर्मकाण्ड के कृत्य-विशेष को ध्यान मे रखकर ही की गयी थी, अतिशयोक्तिपूर्ण है। विण्टरनित्स ने ठीक ही कहा था कि "भारतीय धर्म के पुराकालिक उद्भव और विकास को जानने के लिए तथा भारोपीय जातियों के मिथक तत्त्व को समझने के लिए और संसार-भर के प्रागैतिहासिक चिन्न को हृदयंगम करने के लिए 'ऋग्वेद' के इन गीतो से बढकर और कोई प्रमाण-ग्रन्थ हमारे पास नही है।" आगे चलकर वे कहते है कि "एक शब्द में इस बात को हम यों कह सकते है कि इन सूक्तों का मूल्य हमारी दृष्टि मे इसलिए है कि इनमें अभी देवताओं का निर्माण-सा ही हो रहा है—देवताओं के नेपथ्य धीमे-धीमे खुल रहे है। सचमुच कभी-कभी ऐसा प्रतीत होता है कि ये देवता हमारी आँखों के सामने देवत्व प्राप्त कर रहे हों। इन सूक्तों के उद्गार सूर्य, चन्द्र, अग्नि, दवौः, मरुत, आपः, उषा, पृथ्वी आदि देवताओं के प्रति नहीं हैं, अपितु दिन में दमकता हुआ *सूर्य, रात में चमकता चाँद, रसोई में जलती आग—या फिर, अग्निकुण्ड से* निकलती ज्वाला या काले बादल मे से फूट निकलती विद्युल्लेखा, नि.स्तब्ध आकाश, तारांकित विभावरी, गड़गडाते तूफान, स्वच्छन्दवाहिनी नदियाँ, वर्षा की फुहार, सद्य स्फुटा उषा, पुष्प फलाच्छादित धरित्री—ये प्रकृति के रूप हैं जो इन सूक्तों मे स्तुति-उपासना और प्रार्थना के जैसे स्वयं रूप बन जाते हैं।" कविता और होती क्या है?

वैदिक सूक्तो को केन्द्र करके हजारों वर्ष तक भारतीय साहित्य मे व्याख्या-विवेचना चलती रही है। उसके प्रत्येक शब्द के इर्दगिर्द विशाल अर्थ-सम्पत्ति जमा हो गयी है। यही कारण है कि आधुनिक काल का विचारक इन शब्दों के

साथ ऐसा बहुत-कुछ देखने लगता है जो मूल रचना के समय कवि के चित्त में कदाचित् न रहे हों। निस्सन्देह इन सूक्तों में स्तुतियाँ है, पर कभी-कभी इन स्तुतियों मे ऐसी निश्छल आत्माभिव्यक्ति मिलती है कि उसे उत्तम कविता के सिवा और कुछ कहने को जी नही करता। इन्द्र 'ऋग्वेद' का बहुत बड़ा देवता है। इतना बडा कि 'जिसकी प्रभुता और पौरुष के सामने दोनों लोक थर्राते है' (ऋ. 2-12), पर उसी इन्द्र को एक सूक्त मे इस प्रकार पुकारा गया है :

और, यदि हे इन्द्र,
मैं तेरी तरह इन वस्तुओं का अधिप होता
तो (नियत यह जान ले) मैं कभी भी वंचित न करता
प्रचुर पशुधन से मुझे जो पूजता, जो स्तवन करता,
उस पुजारी को सदा सब भाँति के वरदान से मैं पुष्ट करता नित्य
—यदि हे इन्द्र, मैं तेरी तरह इन वस्तुओं का अधिप होता !

इसी प्रकार अग्नि का स्तोता कवि कहता है (8-19, 25-26) :

अग्नि, तुम यदि होते मरणधर्मा
तथा मैं अमर होता, और तुम होते हमारे मित्र-से,
तो मानना यह सच कि मैं आने न देता रंच-भर अभिशाप तुम पर !
दीनता, अवमानना या हानि की कुछ आँच भी मैं कभी
अपने मित्र पर लगने न देता !

उदाहरण देने से विस्तार बढ़ जायेगा, परन्तु इसमे कोई सन्देह नही कि वैदिक सूक्तों मे कविता के पर्याप्त उदाहरण खोजे जा सकते है।

आजकल जो लोग ससार की मिथकीय गाथाओं का अध्ययन करते हैं, उनके लिए 'ऋग्वेद' के इन सूक्तों ने एक अद्भुत ससार का उद्घाटन किया है। यहाँ प्राकृतिक शक्तियाँ धीरे-धीरे देव-देवी का रूप धारण करते दिखायी देते हैं। किस प्रकार आदिमानव ने प्राकृतिक शक्तियों को देवत्व प्रदान किया होगा, किस प्रकार उसके अपने ही अन्तर्द्वंद्वों ने मिथकीय गाथाओं के बहुविभिन्न रूप का निर्माण किया होगा और किस प्रकार उनके आत्मनिर्मित देवताओं ने उनके मानसपटल पर नयी भावधारा का उन्मेष कराया होगा—इन बातों के अध्ययन के लिए इन सूक्तों का प्रचुर उपयोग किया गया है। वैदिक भाषा एक विशाल भारत-यूरोपीय भाषा का ही रूप है। इस सूत्र का सहारा लेकर अनेक पण्डितों ने इस भाषा की विभिन्न शाखाओं के सुरक्षित साहित्य का और वर्तमान काल मे प्रचलित भाषाओं का अध्ययन किया है, और नवीन आलोक में ससार की भाषाओं और उनके वाङ्मय को देखा है। वैदिक साहित्य ने हजारों वर्षों से भारतीय चिन्तन-मनन को तो प्रभावित-प्रेरित किया ही है, अन्यान्य अनेक देशों के साहित्य को भी नयी दृष्टि और नया आलोक दिया है।

'ऋग्वेद' का कवि आश्चर्यपूर्ण उल्लास के साथ प्रकृति की हर चेष्टा को उदात्त स्वर मे भरता है। सूर्य पर्जन्य (मेघ), मरुत्, उषा—सब उसके सामने

अचरजभरे जीवन्त उल्लास को मुखर करते है। उषा प्रकृति की रंगस्थली पर अपूर्व दीप्ति और कान्ति लेकर नृत्य करती है। मेघ जलभरे मशक के समान फूटकर धरती को जीवनरस से स्नान करा देते है। सूर्य तेज की वर्षा करता है। सर्वत्र उसे उल्लास की घटा छायी दिखती है। जो लोग काव्यरस की दृष्टि से इस साहित्य का आस्वादन करते हैं, वे चकित रह जाते हैं।

परन्तु 'ऋग्वेद' केवल काव्यग्रन्थ ही नही है। वह भारतवर्ष का जो कुछ उत्तम और महान् है, उसका उद्गम-स्रोत है। 'वेद' का शब्दार्थ 'ज्ञान' है। विण्टरनित्स ने लिखा है कि "वेद से हमारा अभिप्राय हमेशा एक ऐसे विपुल वाङ्मय से होता है, जिसका उदय, सम्पादन और सरक्षण भारतवासियों की मौखिक परम्परा मे निरन्तर सदियों तक होता रहा। वेद की प्राचीनता मे तथा ईश्वरीयता में यह श्रद्धा हिन्दुओं मे प्राय. स्वाभाविक ही रही है। इसके विषय मे कभी भी किसी भारतीय को सन्देह उठा हो, ऐसा नही लगता। वेदो के इस रूप का निर्धारण किसी प्राचीन सगीति अथवा अधिवेशन मे नही हुआ था।" इस समूचे वाङ्मय को तीन साहित्यिक विभागो में बाँटा जाता है—सहिता भाग, ब्राह्मण भाग और उपनिषद् तथा आरण्यक भाग। इसके अतिरिक्त कल्पसूत्रों के उस विपुल साहित्य को भी, जो श्रौत सूत्र, गृह्य सूत्र और धर्म सूत्रो के रूप मे उपलब्ध होते है, विशाल वैदिक साहित्य का ही अग माना जाता है। इसका बहुत कुछ अंश लुप्त हो गया है। आज से दो हजार वर्ष पहले से ही यह बात कही जाने लगी थी कि इस विपुल वाङ्मय का बहुत-कुछ खो गया है। फिर भी जितना उपलब्ध है, वह पर्याप्त रूप से विस्तृत और महत्त्वपूर्ण है।

इस वाङ्मय का अधिकाश पजाब की उर्वर धरती की देन है। यद्यपि 'ऋग्वेद' से ही यह प्रकट होने लगता है कि उसके कुछ अंश पजाब के बाहर गंगा-यमुना के मैदान में लिखे गये होगे। विद्वानो ने 'अथर्ववेद' से ऐसे अश ढूँढ निकालने का प्रयत्न किया है, जिनसे प्रकट होता है कि आर्य लोग पूरब की ओर काफी आगे बढ चुके थे। फिर भी वैदिक साहित्य का मुख्य भाग पंजाब मे ही लिखा गया था। इसमे सन्देह करने की कम गुजायश है। आरण्यकों और उपनिषदो मे भारतवर्ष के पूर्वी प्रदेशो की देन स्पष्ट है। परन्तु उसमे अधिकाश भाग के देश-काल-निर्णय का प्रश्न शायद कभी भी इदमित्य करके निश्चित नही किया जा सकेगा। वैदिक साहित्य पर पजाब को उचित रूप से अभिमान है।

भारतवर्ष के सम्पूर्ण ज्ञानवैभव की उत्सभूमि होने के कारण संसार के अनेक मनीषियों ने इस वाङ्मय का ठीक-ठीक स्वरूप समझने का प्रयास किया है। मत-भेद बहुत है, परन्तु नितान्त आधुनिक काल मे इस साहित्य को लेकर संसार की विभिन्न भाषाओं में—विशेषकर यूरोप की समृद्ध भाषाओं में—जो साहित्य निर्मित हुआ है, वह देखकर आश्चर्य से चकित हो जाना पड़ता है। इस प्रकार इस साहित्य ने नये सिरे से साहित्यनिर्माण की महती प्रेरणा दी है।

[1967 ई., आकाशवाणी केन्द्र, जालन्धर से प्रसारित वार्त्ता]

पंजाब की देन : हिन्दी साहित्य

हिन्दी सारे देश की भाषा है। विभिन्न प्रदेशों के कवियों, विचारकों और लेखकों ने इसे वह रूप दिया है जो आज समूचे देश में स्वीकृत हुआ है। हिन्दी भाषा के दो रूप हैं--एक तो इसका पुराना साहित्यिक रूप, जिसमें उच्चकोटि के कवियों और सन्तों ने बहुत भव्य और समृद्ध साहित्य लिखा है। दूसरा आधुनिक खड़ी बोली का रूप, जो इन दिनों सम्पूर्ण देश में प्रचलित है। मैं पहले पुराने रूप को लूंगा।

हिन्दी का यह पुराना रूप कितना पुराना है, इस विषय में एक मत नही है। कुछ लोग पुरानी हिन्दी का आरम्भ वहाँ से मानते है, जहाँ से भाषा संयोगात्मक अवस्था पार करके वियोगात्मक रूप में आने लगी। ऐसे विद्वान् अपभ्रंश और अवहट्ट के पुराने साहित्य को भी पुरानी हिन्दी का साहित्य मानते हैं। पंजाब के सुप्रसिद्ध भाषामर्मज्ञ स्वर्गीय चन्द्रधर शर्मा गुलेरी ऐसा ही मानते थे। इस मत को स्वीकार किया जाये तो अपभ्रंश के अनेक सरस कवि इस भाषा के कवि मान लिये जा सकते है। 'सन्देश रासक' के रससिद्ध कवि अद्दहमाण या अब्दुल रहमान इनके मुकुटमणि सिद्ध होंगे। पर सबको यह मत स्वीकार नही होगा, इसलिए इस प्रसग को अधिक बढाना उचित नही होगा। परन्तु नाथ सिद्धो की अनेक रचनाएं निर्विवाद रूप से हिन्दी के पुराने रूप में प्राप्त होती हैं। मैंने अपनी पुस्तक 'नाथ सम्प्रदाय' में दिखाया है कि नाथ मत के प्राचीन चार आचार्य—मछन्दरनाथ, गोरखनाथ, जालन्धरपाद और कृष्णपाद या कान्हपा में से दो अर्थात् गोरखनाथ और जालन्धर निस्सन्देह पंजाब के थे। तीसरे कृष्णपाद भी हो सकते हैं। इनके लिखे बताये जानेवाले अनेक पद पुरानी हिन्दी के नमूने है। गोरखनाथ युगगुरु थे। उनका प्रभाव बहुत व्यापक और दूरगामी था। यद्यपि उनके नाम पर चलनेवाली सभी रचनाएँ प्रामाणिक नही मानी जा सकती, तो भी कुछ-न-कुछ उनमें ऐसी अवश्य हैं जो बहुत पुरानी है। पंजाब की उर्वरा भूमि ने अगर एक गोरखनाथ को ही दिया होता, तो भी इस देन की तुलना और किसी से नही हो सकती। परन्तु पंजाब ने और भी महत्त्वपूर्ण विभूतियों को देकर हिन्दी को समृद्ध और सम्पन्न बनाया है। सिद्ध चौरंगीनाथ और अन्य कई नाथ कवियों की परम्परा पंजाब से सम्बद्ध बतायी जाती है। नाम गिनाने का प्रयत्न यहाँ नही किया जायेगा। नाथ सिद्धों की रचनाओं की सबसे बड़ी देन है स्वतन्त्र चिन्तन की परम्परा। आप्त वाक्यों को प्रमाण मानकर हर बात की सगति लगाने की प्रवृत्ति इनमे नही है। इनमे खरी-खरी सुनाने की चेष्टा बलवती है। हिन्दी में जो रचनाएँ इनकी उपलब्ध होती हैं उनमें रूढ़ियो के प्रति विद्रोह और सहज मानवजीवन की महिमा बतायी गयी है। यह परम्परा पंजाब के भक्त कवियों में भी बनी रही। स्वतन्त्र चिन्तन की धारावाही परम्परा पंजाबी सन्त-काव्य की विशिष्ट देन है। गोरखनाथ और समसामयिक सिद्धों का

इस दृष्टि से विशेष महत्त्व है।

नाथ मत ने परवर्ती निर्गुण साहित्य को बहुत प्रभावित किया है। नाथ सिद्धों की बानियों मे समाज की रूढ़ियों और बाह्य प्रपच मे उलझने की प्रवृत्ति का विरोध उग्र रूप में था। परन्तु उसमे बड़ी त्रुटि यह थी कि एक तो उसमे रागात्मिका वृत्ति के उदात्तीकरण का प्रयास नही था, दूसरे ये सिद्ध अपने को जनसमूह से अलग समझने की प्रवृत्ति के शिकार थे। भक्त कवियों ने इन त्रुटियों को दूर किया। एक ओर जहाँ उन्होने साधनामार्ग मे प्रेमतत्त्व को स्थान दिया, वहाँ दूसरी ओर अपने को जनसमूह मे अलग नही होने दिया। भक्ति का आन्दोलन विराट् जन-आन्दोलन के रूप मे प्रकट हुआ। सिख गुरुओं ने निर्गुण भक्तिमार्ग का प्रचार किया। इस बात मे ये अन्यान्य निर्गुणमार्गी सन्तो से एक बात मे विशिष्ट बने रहे। मध्यकाल मे भाष्यो-टीकाओ और मन्त्रों से उपलक्षित भक्ति-सम्प्रदायो का बड़ा जोर था। कोई भी भक्ति-सम्प्रदाय तब तक मान्य नहीं होता था, जब तक किसी-न-किसी प्रस्थानत्रयी-समर्थित सम्प्रदाय का आश्रय न लेता था। पंजाब के भक्त कवियों ने इस पराधीनता को अस्वीकार किया। नाभादासजी ने अपने 'भक्तमाल' मे उन्ही निर्गुणमार्गी सन्तों को स्थान दिया, जो इन सम्प्रदायों से सम्बद्ध माने जाते थे। कबीरदास को इसलिए स्थान मिला कि वे रामानन्द के शिष्य थे और इस प्रकार रामानुज सम्प्रदाय से दूर से सम्बद्ध थे। गुरु नानक को स्थान नही मिला; क्योंकि उनका सम्बन्ध किसी से नहीं जोड़ा जा सका। पजाब के सन्त कवियों ने इस बात की परवा न की। उन्होने उन समस्त सन्त-कवियों की बानियों का आदर किया जो अनुभव-सिद्ध सत्य के गायक थे। सम्प्रदाय या आचार्य या ग्रन्थ-विशेष के समर्थन के लिए उन्होने रुकना उचित नही समझा। यह विशेष दृष्टि उनकी बहुत महत्त्वपूर्ण देन है। इसमे स्वाधीन चिन्तन और आत्मानुभव-हेतुक उपलब्धि पर बल दिया गया है। पंजाब मे बहुत महत्त्वपूर्ण भक्ति-साहित्य लिखा गया, पर हिन्दी को सबसे बड़ी देन इनकी स्वाधीन चिन्तना ही मानी जायेगी। पंजाब के लेखक आज भी उस परम्परा को सुरक्षित रखे हुए हैं।

पटियाला, नाभा आदि राज्यों ने हिन्दी कविता को बहुत प्रोत्साहन दिया है। साहित्य को समृद्ध करने में इन दरबारों के कवियो का महत्त्वपूर्ण योग है। परन्तु स्वाधीन चिन्तन की जो परम्परा सन्त कवियों ने स्थापित की, वह अपने ढंग की निराली ही है।

आधुनिक हिन्दी का जो भाषागत ढाँचा है, वह खड़ी बोली का है। दिल्ली के आस-पास की बस्तियों में जो भाषा बोली जाती थी, उसी से उसका विकास बताया जाता है। पंजाब का एक हिस्सा भी इस क्षेत्र में आता है। यदि इस दृष्टि से विचार किया जाये तो हिन्दी का आधुनिक रूप ही पंजाब की देन कहा जा सकता है।

पंजाब ने शुरू से ही इस बोली के परिमार्जन और संवर्द्धन में महत्त्वपूर्ण भाग

लिया है। पटियाला दरबार के रामप्रसाद निरंजनी शुद्ध परिमार्जित हिन्दी लिखनेवाले प्रारम्भिक लेखकों मे महत्त्वपूर्ण स्थान के अधिकारी हैं। श्रद्धाराम फिल्लौरी के 'सत्यामृत प्रवाह' आदि ग्रन्थ और हिन्दी का सबसे पहला उपन्यास 'भाग्यवती' प्रसिद्ध ही है। परन्तु हिन्दी के लिए आर्यसमाज ने जो कार्य किया है, उसकी तुलना नही हो सकती। आर्यसमाज के संस्थापक ऋषि दयानन्द का जन्म-स्थान तो नही, पर मुख्य कार्यक्षेत्र पंजाब ही रहा। उन्होंने हिन्दी को 'आर्यभाषा' का गौरव दिया। उन्नीसवीं शताब्दी मे आर्यसमाज ने पुस्तकों, व्याख्यानों, भजनों और शास्त्रार्थों की धूम मचा दी थी। उसने अनेक पत्र-पत्रिकाओं का प्रकाशन किया। व्यंग्यो, कटाक्षों, उत्तर-प्रत्युत्तरों से निकलनेवाली सूक्तियों और व्यंग्योक्तियों से भाषा को समृद्ध बनाने में आर्यसमाज की देन अमूल्य है। आर्यसमाज के द्वारा चलाये गये स्कूलों, कालेजों, गुरुकुलों ने हिन्दी भाषा को शक्तिसम्पन्न बनाने में बडा महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। स्वामी श्रद्धानन्द द्वारा स्थापित गुरुकुल विश्वविद्यालय हिन्दी माध्यम से उच्चतम शिक्षा की व्यवस्था करनेवाली बहुत शक्तिशाली संस्था रही है। यहाँ से निकले हुए स्नातकों ने हिन्दी भाषा-साहित्य को बहुमूल्य ग्रन्थ दिये है। इनमे अधिकाश पंजाबी हैं। विपरीत परिस्थितियों मे भी इन्होने हिन्दी को समृद्ध और सम्पन्न बनाने का महान् कार्य किया है। स्वामी सत्यदेव, भाई परमानन्दजी, सन्तरामजी आदि की सेवाएँ सर्वविदित हैं। वस्तुतः आर्यसमाज ने हिन्दी को शक्तिशाली बनाने में बहुत महान् योग दिया है और आर्यसमाज के नेताओ में बड़ी भारी संख्या पंजाब के सपूतों की है।

सरदार पूर्णसिंह, चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, सुदर्शन, जयचन्द्र विद्यालंकार, चन्द्रगुप्त विद्यालकार, श्रीमती सत्यवती मलिक, यशपाल, उपेन्द्रनाथ अश्क, अज्ञेय, इन्द्रनाथ मदान, पृथ्वीनाथ शर्मा आदि साहित्यकार पंजाब की ही देन हैं। सबका नाम *गिनाना सम्भव नही है। केवल इतना ही कहना पर्याप्त है कि इन तथा इसी* प्रकार के अन्य महान् लेखको ने हिन्दी भाषा और साहित्य को सम्पन्न बनाया है।

जो बात विशेष रूप से लक्ष्य करने की है, वह यह है कि पंजाब के लेखकों ने स्वाधीन चिन्तन की परम्परा कायम रखी है। रसपरक साहित्य ही नही, अन्यान्य सूचनामूलक साहित्यों मे भी पंजाब के लेखक अपेक्षाकृत रूढिमुक्त होकर लिख सके हैं। दूसरी विशेषता उनकी यह है कि ये लेखक यथार्थ पर सदा दृष्टि रखते हैं। वे यथासम्भव काल्पनिक मायालोक के निर्माण की चिन्ता छोड़कर दुनिया जैसी दिख रही है और उससे जैसी समस्याएँ सचमुच ही उद्भूत हो रही हैं, उन्ही के सम्मुखीन होते है। मिथ्या कुहेलिका की सृष्टि करके वास्तविक प्रश्नों की चुनौती को तह दे जाने की कला उनमे नही है। पंजाब के लेखकों ने हिन्दी को यथार्थवादी साहित्य दिया है।

कम लोग जानते हैं कि पंजाब के विचारशील मनीषियों ने तत्त्ववाद के क्षेत्र में भी मार्गदर्शन किया है। पजाब के पूर्वी भाग मे पैदा हुए साधु निश्चलदास ने हिन्दी मे वेदान्त-दर्शन की नयी व्याख्या दी है। स्वामी विवेकानन्द जैसे मनीषी ने

साधु निश्चलदास के 'विचारसागर' ग्रन्थ के विषय में लिखा था कि "भारत मे जितना प्रभाव इस पुस्तक का है, उतना पिछली तीन शताब्दियों मे लिखी गयी किसी दूसरी भाषा-पुस्तक का नही है। इस पुस्तक का अंग्रेजी, बँगला, मराठी आदि भाषाओं में अनुवाद हो चुका है। आधुनिक काल के साहित्य में भी पंजाबी लेखकों ने स्वानुभूत सत्य को स्वाधीन भाव से अभिव्यक्त करने की परम्परा स्थापित की है, काल्पनिक भावुकता को छोड़कर यथार्थ परिस्थितियों के सम्मुख खड़ा होने की परम्परा कायम की है और ज्वलन्त प्रश्नों के सम्मुखीन होने का साहस दिखाया है। आधुनिक युग में पंजाब ने कविता की अपेक्षा गद्य के क्षेत्र में अधिक दिया है। इस भाषा को उसने ओज और वेग दिया है और ज्वलन्त जाग्रत प्रश्नों की चुनौती स्वीकार करने की दृढ़ता दी है। हिन्दी को पजाब की देन पर उचित गर्व है।

[कुटज से]

हिन्दी की समृद्धि

आपने इस सम्मेलन का सभापतित्व करने के लिए निमन्त्रित करके मुझे जो गौरव दिया है, इसके लिए आपका कृतज्ञ हूँ। इस कृपा को स्वीकार करने मे मेरे मन मे झिझक थी। मैंने सुना है कि हमारे राज्य मे कई 'उत्तर प्रदेश हिन्दी साहित्य सम्मेलन' हैं, उनमें एक का अधिवेशन हाल ही में सम्पन्न हो चुका है। मुझे बिल्कुल नही मालूम कि क्यो एक ही नाम की कई संस्थाएँ इस राज्य में काम कर रही हैं। जहाँ तक हिन्दी के गौरव का प्रश्न है और उच्चकोटि के साहित्यनिर्माण का लक्ष्य है, वहाँ तक देश के श्रद्धेय साहित्यकारों में क्या मतभेद हो सकता है, यह मेरी समझ में नही आता। जो भी हो, मैं साहित्य में दलबन्दियों को बहुत अच्छा लक्षण नही मानता और साहित्यिक व्यक्ति का मुख्य कर्त्तव्य यह मानता हूँ कि वह विभेदों की सृष्टि न करके प्रेम और मैत्री का मार्ग प्रशस्त करे। साहित्य के स्वरूप के विषय मे और उसकी उत्कृष्टता की कसौटी के बारे मे थोड़ा मतभेद सदा रहा है और रहेगा भी; क्योंकि वह बहुत-कुछ रुचि और संस्कार तथा मानव-कल्याण-विषयक धारणाओं की भिन्नता के कारण पैदा होता है। किन्तु मत-वैभिन्न्य के रहते हुए भी एक मंच पर मिलित होना सदा कल्याणकारी ही होता है, ऐसा मेरा विश्वास है। इसलिए हर साहित्यकार को प्रयत्न करना चाहिए कि हम साहित्यिक

आदर्शों के प्रति मतभेद रखते हुए भी एक स्थान पर मिलित हों और एक-दूसरे के विचारों को सहानुभूतिपूर्वक जानने व समझने का प्रयत्न करें। जब ऐसा नही होता तो मेरे मन मे आशंका होती है कि साहित्य के आदर्श मिलन के बाधक नही हैं, कोई और चीज बाधा उत्पन्न कर रही है। इसलिए मैं विभाजित संस्थाओं से बचने का प्रयत्न करता हूँ। मित्रों के आग्रह से यहाँ इसलिए आ सका हूँ कि इससे मिलन की भूमि प्रस्तुत होगी और अलग-अलग कैम्पो में बँटे हुए श्रद्धेय साहित्यकार फिर से एक ही मंच पर एकत्र हो सकेंगे। ऐसी आशा मुझे अपनी योग्यता के कारण नही हुई है, बल्कि यह जानकर हुई है कि सभी साहित्यकारों में ऐसी भावना है। यहाँ उपस्थित सज्जनो से मेरी पहली अपील यही है कि जो बाधाएँ इस मार्ग मे आती हों, उन्हे प्रयत्नपूर्वक दूर कर दें। मुझे इस विषय में रंचमात्र भी सन्देह नही है कि सभी साहित्य-सेवको के मन मे एक ही अभिलाषा काम कर रही है और वह यह कि हिन्दी अपना उचित स्थान जल्दी-से-जल्दी प्राप्त करे और उसका साहित्य सारे देश की आशा-आकांक्षा और चिन्तन-मनन का उत्तम-से-उत्तम प्रतिनिधित्व करे।

इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए सयम, अध्यवसाय और चित्तगत औदार्य बहुत आवश्यक है। मैं त्याग को भी इसमे जोडना चाहता हूँ; केवल सम्पत्ति का त्याग नही, मानसिक कुण्ठा और आग्रह का भी त्याग। परन्तु इस बात को कहने मे मुझे इसलिए संकोच हो रहा है, क्योंकि मैं ऐसा कहने का अधिकारी नही हूँ। फिर भी पूर्वजों का यह निर्देश तो है ही कि अनधिकारी से सुनी हुई अच्छी बात ग्रहण कर लेनी चाहिए।

हिन्दी स्वतन्त्र और स्वाभिमानी देश की राष्ट्रभाषा है। इसे अपना उचित प्राप्य जो नही मिल रहा है, उसके मूल में राष्ट्रनायकों की मानसिक कुण्ठा मुख्य कारण है। हमारी जो पीढ़ी इस समय कुछ करने की स्थिति में है, उसके मानसिक संस्कार सब समय साहसपूर्वक स्वभाषा को अपनाने के अनुकूल नही है। यद्यपि पिछले पच्चीस वर्षों में जनता ने हर विपत्ति के समय अदम्य आत्मविश्वास का परिचय दिया है, फिर भी अधिकारप्राप्त लोगों में जन-साधारण के प्रति अविश्वास का भाव बना हुआ है। वे उसकी भाषा, भावना और सूझ-बूझ के प्रति आश्वस्त नही हो सके हैं। कही कोई ऐसी कुण्ठा अवश्य है, जो समझदार लोगों को जन-साधारण की आशा-आकाक्षाओं को ठीक-ठीक समझने मे बाधा उत्पन्न कर रही है। अब भी ऐसा अनुभव नही किया जा रहा है कि 'भारत भाग्य विधाता' साधारण जनता है; वे लोग नही जो ऊँची-ऊँची नौकरियों की गद्दी सँभाले हुए हैं। यही मुख्य कारण है जो देशी भाषाओं को अपना उचित स्थान ग्रहण करने मे बाधा पहुँच रहा है। जो लोग स्वभाषा के गौरव को प्राप्त कराने के लिए व्याकुल हैं, वे जब तक इससे अधिक अकुण्ठ मनोवृत्ति का परिचय नही देंगे, तब तक वे इस विषम कुण्ठा की मनोवृत्ति को परास्त भी नहीं कर सकेंगे। इसीलिए दूसरो को कमजोरी दिखाने की नही, अपनी कमजोरी को दूर करने की जरूरत अधिक है।

सौभाग्यशाली सिद्ध हुई है। अब हिन्दी भाषा के सहारे भारतवर्ष के सभी प्रदेशों के साहित्य के उत्तम पक्ष का परिचय पा लेना सम्भव होता जा रहा है। बँगला, उड़िया, असमिया, तमिल, तेलुगु, मलयालम, कन्नड़, मराठी, गुजराती, पंजाबी और उर्दू के उत्तम साहित्य प्रचुर मात्रा में अनूदित हुए है और हो रहे है। यह इस बात की आशा उत्पन्न करते है कि निकट भविष्य में केवल हिन्दी भाषा के द्वारा हम देश के हर भाग के साहित्य का आस्वादन कर सकेंगे। संसार की अन्य समृद्ध भाषाओ के साहित्य की भी थोड़ी-बहुत बानगी हमें मिलने लगी है, पर इस दिशा में अभी बहुत काम बाकी है। अंग्रेजी हमारी सबसे अधिक परिचित भाषा है और उसके अनेक उत्तम ग्रन्थों का अनुवाद हो जाने पर भी हम नही कह सकते कि उसके साहित्य के सभी या अधिकांश बहुमूल्य ग्रन्थो का समावेश हमारे साहित्य में हो चुका है। रूसी, जर्मन, जापानी, फ्रांसीसी, चीनी आदि समुन्नत भाषाओं का बहुत थोडा ही हिन्दी में आ सका है। पर इस दिशा मे हमारे साहित्यकार कुछ-न-कुछ सचेष्ट है अवश्य। पिछले वर्षो मे केवल रसात्मक या रागात्मक साहित्य के संग्रह में ही हम उलझे नहीं रहे है। अनेक विचार-प्रधान, दार्शनिक और समाज-शास्त्रीय साहित्य की ओर भी हमारा ध्यान गया है।

यह सब आशाजनक है, पर सन्तोषजनक नही है। असन्तोष सर्वत्र है और वह हमारी साहित्यिक चेतना का सूचक है।

प्रशासन के क्षेत्र में भी हिन्दी का प्रवेश हुआ है। हमारे अपने राज्य में वर्तमान मुख्य मन्त्री पं. कमलापति त्रिपाठी के नेतृत्व में इस दिशा में उल्लेख-योग्य प्रगति हुई है। बिहार और मध्यप्रदेश आदि अन्य हिन्दीभाषी प्रदेशों में भी प्रशासन के क्षेत्र मे हिन्दी को बहुत-कुछ उचित स्थान प्राप्त हुआ है, पर उच्च न्यायाधिकरणों में अभी पुराना ढर्रा ही चल रहा है।

एक बात चिन्ताजनक है। हिन्दी को अंग्रेजी के साथ बुरी तरह बँधना पड़ रहा है। हिन्दी जब तक केवल अंग्रेजी की अभिव्यक्तियों और वाक्य-विन्यास से बँधी रहेगी, तब तक उसका सही विकास नही हो सकेगा।

हिन्दी के साहित्य को समृद्ध करने और उसे व्यवहार योग्य बनाने के लिए जो प्रयत्न हो रहे हैं, वे बहुत धीर-मन्थर गति से चल रहे हैं। फिर भी जो कुछ हुआ है, वह उपयोगी है; ऐसा मेरा विश्वास है। जो लोग हिन्दी मे लिखने का प्रयत्न नही करते, वे ऐसा समझते है कि अंग्रेजी के पारिभाषिक शब्दों के लिए हिन्दी प्रतिशब्द बना देने से ही सब काम चल निकलेगा। परन्तु केवल यान्त्रिक रूप से प्रतिशब्द गढ़ देने से काम नही चलता। अनुवाद का कार्य उन लोगों को करना चाहिए, जो भाषा की स्वकीयता के पारखी हैं, उसके सही रूप से परिचित हैं और उस भाषा को भी अच्छी तरह समझते हैं, जिससे उन्हे अनुवाद करना है। अनुवाद अवश्य होना चाहिए, परन्तु मुख्य रूप से स्वतन्त्र ग्रन्थों का निर्माण होना चाहिए। हर भाषा की अपनी स्वतन्त्र अभिव्यजना-प्रणाली होती है और हर विषय के अपने स्वतन्त्र मुहावरे होते हैं। हमारे समर्थ विद्वानों को स्वतन्त्र रूप से लिखने का प्रयत्न

करना चाहिए। अंग्रेजी के साथ छोटे-बड़े सभी कामों में हिन्दी को बाँध देने से कठिनाई ही उत्पन्न हुई है। इससे हिन्दी के प्रवाह में बाधा पड़ी है। नौसिखिए अंग्रेजी-शिक्षित लेखक पहले अंग्रेजी में सोचते है, फिर हर बात के लिए उसका प्रतिशब्द खोजने लगते हैं। कई बार अंग्रेजी के जटिल वाक्य-विन्यास का हिन्दी-करण बहुत ही हास्यास्पद हो जाता है। अब हमारा सारा प्रयत्न ऊँची बात को स्वतन्त्र भाव से प्रवाहमयी भाषा मे लिखने का होना चाहिए। नये पारिभाषिक शब्द हमारी सहायता अवश्य कर सकते हैं, परन्तु भिन्न-भिन्न सन्दर्भों में भाषा की प्रकृति के अनुकूल समझ मे आनेवाले शब्दों का प्रयोग अधिक उचित होगा। कुछ अर्थप्रसू अंग्रेजी शब्द अपने उच्चारण के अनुकूल बनाकर स्वीकार कर लेना चाहिए।

मित्रो, आपका अधिक समय न लेकर सिर्फ एक बात की ओर आपका ध्यान आकृष्ट करके छुट्टी लूँगा। किसी जमाने में हिन्दी साहित्य सम्मेलन ने साहित्यिक चेतना जगाने का अद्‌भुत काम किया है। अब अनेक विश्वविद्यालयों और शासकीय अभिकरणों ने साहित्य-निर्माण का कार्य हाथ मे ले लिया है और साहित्य-निर्माण का कार्य अब काफी मात्रा में विश्वविद्यालयों और राष्ट्रीय शासन-अभिकरणों द्वारा होने लगा है। यद्यपि इस प्रकार के संगठित प्रयत्न अभी बिल्कुल शैशवावस्था मे हैं, परन्तु इतना निश्चित है कि वे क्रमशः शक्तिशाली होंगे। यह कार्य पहले सरकार से स्वतन्त्र साहित्यिक संगठनों ने आरम्भ किया था। किसी जमाने मे काशी नागरी प्रचारिणी सभा तथा हिन्दी साहित्य सम्मेलन ने साहित्य-निर्माण और साहित्यिक चेतना जगाने का अद्‌भुत काम किया। आज भी उनके प्रयत्न जारी हैं, लेकिन बदलते हुए सन्दर्भ में हमें नये सिरे से सोचना होगा कि साहित्य-निर्माण का कार्य सरकारी और गैर-सरकारी सस्थाओं द्वारा मिल-जुलकर योजनाबद्ध रूप मे किस प्रकार किया जाय। जहाँ तक साहित्यिक चेतना जगाने और बढाने का काम है, गैर-सरकारी संगठन अधिक प्रभावशाली और कार्यकारी सिद्ध होंगे। हमें इसी ओर प्रयत्न करना चाहिए। अपनी भाषा के प्रति प्रेम और साहित्यिक नव-निर्माण की चेतना जगाने का कार्य बहुत महत्त्वपूर्ण है और निश्चित रूप से सरकारी संस्थाओं की तुलना मे गैर-सरकारी संस्थाएँ उसको अधिक सुचारु रूप से कर सकती हैं। वस्तुतः साहित्यिक चेतना और भाषा-विषयक स्वाभिमान को जाग्रत करने में हिन्दी साहित्य सम्मेलन ने बहुत ही महत्त्वपूर्ण काम किया है। उत्तरप्रदेशीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन का भी यह कर्त्तव्य है कि यह जनता की आशा-आकांक्षाओं के अनुरूप प्रशासकीय और न्यायाधिकरण आदि के क्षेत्र में एक ओर तो स्वभाषा का आग्रह विकसित करे और दूसरी ओर ऐसे साहित्य के निर्माण का प्रयत्न करे, जो इन कार्यों के लिए आवश्यक हो। जहाँ तक रचनात्मक साहित्य का प्रश्न है, कोई भी महत्त्वपूर्ण रचनात्मक साहित्य, मात्र समारोहों से निर्मित नहीं हो सकता। उसके लिए प्रतिभाशाली लेखकों को प्रोत्साहित करने की आवश्यकता होगी। बदले हुए सन्दर्भ में गैर-सरकारी साहित्य-संगठनों का यह कर्त्तव्य

होना चाहिए कि वे उगती हुई प्रतिभाओं की खोज करें। उनके लिए साहित्यिक कार्य करने की सुविधाएँ दें और उन्हें दैनन्दिन जीवन-निर्वाह करने की चिन्ताओं से मुक्त करने का प्रयत्न करें।

मित्रो, हिन्दी संसार की परमशक्तिशाली भाषाओं में से एक है। वह अपना स्थान लेकर रहेगी। परन्तु हमारा देश बहुत विशाल है और उसकी समस्याएँ बहुत जटिल है। अन्य देशों की तुलना में इस देश में अनेक समृद्धिशाली भाषाओं की साहित्यिक-परम्पराएँ है। हिन्दी का पूर्ण विकास इन सभी साहित्यिक परम्पराओं के विकास से सम्बद्ध है। हमे ऐसा कोई काम नही करना चाहिए, जिससे अन्य देशो भाषाओं के बोलनेवालों के मन में किसी प्रकार का अन्यथाभाव उत्पन्न हो। दुर्भाग्यवश ऐसी आशका के कारण ही प्रादेशिक भाषाओं के साहित्य-प्रेमी हिन्दी के प्रश्न पर ऐसी गलत धारणा बनाये हुए हैं, जो हमारे लिए कठिनाइयाँ पैदा करती हैं। हिन्दी का आन्दोलन भारतीयकरण का आन्दोलन है, इसलिए हमे समूचे देश को साथ लेकर चलना होगा। सबके प्रति आदर और सम्मान का भाव रखना होगा और ऊपर-ऊपर से दिखनेवाली कठिन और प्रतिकूल परिस्थितियों में भी धैर्य से काम लेना होगा। देश में बोली जानेवाली सभी भाषाओं के विकास को आदर की दृष्टि से देखना होगा और सक्रिय समर्थन देना होगा; तभी देश का कल्याण हो सकता है।

मुझे ऐसा लगता है कि हमारी भाषाएँ बहुत शीघ्र ऐसी स्थिति में आयेंगी कि वे एक ही साथ जनता की आशा-आकांक्षाओ को अभिव्यक्ति देने मे समर्थ भी होंगी और हर प्रकार के प्रशासकीय, वैधानिक और अन्य नीतियों के संचालन मे भी समर्थ होंगी। पढ़े-लिखे लोग जितना समझते है, उतने से कहीं कम समय मे ऐसा होने जा रहा है। 'कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात् करिष्यस्यवशोऽपि तत्।' हमें उस महान् दिन को निश्चय ही देखने का अवसर मिलेगा। इस बीच हमें अपनी चित्त-शुद्धि कर लेनी होगी और सारी बिखरी हुई शक्तियों को समेटकर दृढ़ता के साथ काम करना होगा।

[उत्तरप्रदेशीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग का अध्यक्षीय भाषण—
16 दिसम्बर 1972]

साहित्यिक संस्थाएँ क्या कर सकती है ?

दिल्ली मे होनेवाली हिन्दी-परिषद् के निमन्त्रण पर जब मैं बोलपुर से दिल्ली के लिए रवाना हुआ तो मेरे मन में कोई स्पष्ट धारणा न थी कि मैं किस कार्य के

गों देता है, बल्कि उससे भी अधिक यह कि उसने
स्त्री-शरीर को इतना महत्त्व दिया। तीन बजे तक महुओं को संग्रह करके 'मुँभुरि
स्त्री-रूप को सचमुच क्यों नहीं ! लोगों के लिए इस वधू ने इतना आत्मदान किया
डाढ़े' पैरों से न जाने किन-किन-सतोष का भाव नहीं है। वास्तविक भारतवर्ष की
है। उसके चेहरे पर कहीं भी अ, प्रेम में, कर्म में अपने-आपको हँसते-हँसते खपा
नारी-मूर्ति ऐसी ही है—सेवा मेरा भारतीय स्त्री-समाज प्रतिबिम्बित है। रीति
देनेवाली। इस ग्राम-वधूटी में भेद का पाठ पुस्तक से पढ़ा था, जीवन से नहीं।
मनोवृत्तिवाले कवि ने नायिका-मानस यह कहने का साहस करता है कि हिन्दी
इसीलिए हर रास्ते-चलता भला मैं ऐसा नहीं मानना चाहता। इसीलिए मेरा मन
का साहित्य तीसरे दर्जे का है। । से भविष्य के उस सुनहले युग की ओर दौड़
मेरी ट्रेन से भी कहीं अधिक तेजीसाहित्यिक सीधे जिन्दगी की ओर ताकेगा। उस
पड़ता है, जब हमारा कवि और । से मेरा मन सिहर उठता था।
दिन की सम्भावनाओं की कल्पनर धक्का लगा। कानपुर स्टेशन पर दो खद्दर-
, विचारों को फिर एक बार आलोचना करते दीख गये। अमुकजी की
धारी युवक आपस में साहित्य है, और अमुकजी जब कवि-सम्मेलनों में खड़े
कविता कितनी गजब की होती। ठीक तो है। मैं अब तक पुस्तकी विद्या से
हो जाते हैं, तो समाँ बँध जाता है बाँधनेवाले अमुकजी का तो उस विद्या से कोई
नाराज हो रहा था, पर इन समाँ धारणा है कि इन युवकों में भी कोई-न-कोई
सम्बन्ध ही नहीं है। मेरी निश्चि हुए केश और धँसी आँखें कवि होने के सबूत हैं।
अमुकजी जरूर हैं। ये छितराये पुस्तकी विद्या की गन्ध नहीं। मैं मन-ही-मन
पर इनकी आलोचना में भी कहीं जो हिन्दी-परिषद् के सामने दूँगा। विचारों को
वह व्याख्यान तैयार करने लगा, थोड़ा-थोड़ा करने लगा। मेरी बुद्धि अब पुस्तकी
कागज पर लिख रखने का प्रयत्न त न कर सकी। कुछ तो पहले से ही लिखा पड़ा
विद्या के नागपाश से अपने को मुक्‍रे सामने उस विषय की एक निश्चित रूप-रेखा
था, कुछ नया भी जोड़ने लगा। विषय था : संस्थाएँ क्या कर सकती है? विचार
तैयार हो गयी। मेरे वक्तव्य का रि सन्ध्या उतरने लगी। हिन्दी-भाषी प्रदेश अब
एक-दूसरे को ठेलने लगे। धीरे-धीरे ही पड़ा हुआ था। अब भी उसका ओर-छोर
भी विशाल अजगर की भाँति साम गयी थी, मैं भी थक गया था और सुदूर के धूसर
नहीं मिल रहा था। ट्रेन भी उकतासी हँस रहे थे। अलीगढ़ तक आते-आते पूरी रात
मैदान अब भी कुछ व्यंग्य की हँसी-र-ही-भीतर जारी था। गाड़ी जब रुकी, तब
हो चुकी थी। मेरा व्याख्यान भीत परिचित स्वर ने पुकारा—"ज्योतिषीजी!"
भी वह नहीं रुका। इसी समय एकने अब मुझे छोड़ दिया है, पर मेरे पुराने मित्रों
यह मेरा पुराना उपनाम था। उस! यह एक व्यंग्य-सा लगा। शायद उसमें उस
ने उसे नहीं छोड़ा है। ज्योतिषीजी तो हिन्दी-परिषद् में होनेवाली थी, जबकि मेरा
भावी घटना की ओर इशारा था, ज की ममताहीन, पक्षपातहीन और द्विधाहीन
यह यत्न-लालित व्याख्यान सभापति था। मानो मेरे पुराने मित्र ने मुझे सजग
घण्टी की वेदी पर कुरबान होनेवाल

किया—साहित्यिक चिन्ता करनेवाले ज्योतिषी, तुम्हें कुछ भविष्य का भी ज्ञान है ?

अपने मित्र से मैं दो ही मिनट बातें कर सका। अचानक हो जानेवाले साक्षात्कार को केवल दो मिनट में समाप्त करके हमारी ट्रेन निष्ठुरतापूर्वक भाग खड़ी हुई। इस समय मेरा हृदय कुछ कोमल हो गया होगा, कुछ संवेदनशील बन गया होगा; शास्त्र पर से फिर मेरी दृष्टि मनुष्य पर आ गयी होगी; पर मुझे अब कोई परवा नहीं थी। मेरा व्याख्यान समाप्त हो आया था, उसमें मनुष्य प्रधान था, शास्त्र गौण। फिर भी शास्त्र-रचना को महत्त्वपूर्ण कहा गया था; क्योंकि संस्थाएं मनुष्य नहीं बना सकतीं, शास्त्र बना सकते हैं। और मेरी उस मनःस्थिति मे भावों का जो रूप व्याख्यान बनकर खड़ा हुआ, वह इस प्रकार था :

"मित्रो, हम जो यहां आज एकत्र हुए हैं, उसका उद्देश्य यह नहीं है कि हम हिन्दी को किसी प्रतिष्ठित पद पर बिठायें, बल्कि इसलिए कि वह जिस प्रतिष्ठित पद पर पहले से ही आसीन है, उसके योग्य बनने में जो त्रुटियां रह गयी हों, उन्हें सुधारें! हमे किसी प्रकार के भुलावे में नहीं रहना चाहिए। हिन्दी के विषय में लिखते-बोलते समय हम राष्ट्र-भाषा शब्द का प्रयोग करते हैं। यह जान पड़ने लगा है कि यह बात नितान्त भ्रान्तिमूलक है। इस देश की राष्ट्र-भाषा हिन्दी नहीं, बल्कि एक प्रकार की कामचलाऊ कृत्रिम भाषा होने जा रही है। वह भाषा उस संस्कृति द्वारा चालित और प्रभावित नहीं होगी, जो हमारे साहित्य का प्राण है। इस बात से न तो हमें चिन्तित होना चाहिए और न किसी प्रकार की शिकायत करनी चाहिए। भारतवर्ष न तो केवल हिन्दुओं का देश है और न केवल हिन्दी-भाषियों का। इसकी राष्ट्रभाषा में विभिन्न संस्कृतियों, भाषाओं और समुदायों का साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व रहे, तो हमें झगड़ने की कोई जरूरत नहीं है। इसीलिए हमारे मन से यह भ्रान्ति सदा के लिए दूर हो जानी चाहिए कि जिस प्रतिष्ठित पद पर हिन्दी बैठ चुकी है, वह राष्ट्र-भाषा का पद है। उस राष्ट्र-भाषा पद अर्थात् राजनीति, व्यवसाय तथा [illegible] बातों के [illegible] के लिए गढ़ी हुई एक पँचमेल कृत्रिम भाषा के पद के लिए आपको तपस्या करने की विशेष जरूरत नहीं है। कामचलाऊ चीज बनते-बनते बन जाती है। रेलवे-स्टेशनों पर वह बन चुकी है, कलकत्ते के बाजार में वह चल निकली है। केन्द्रीय सरकार के दफ्तरों में भी बिना आपकी सहायता के ही वह [illegible] कर लेगी।

"आप पूछ सकते हैं कि फिर वह प्रतिष्ठित पद क्या है, जिस पर हिन्दी आसीन हो चुकी है। वह यही है कि हिन्दी आज भारतवर्ष के हृदय के [illegible] प्रदेशों की मातृभाषा है, करोड़ों नर-नारियों की आशा-आकांक्षा, [illegible] और रुदन-हास्य की भाषा है। उसी में वह शक्ति है जो भारतवर्ष के [illegible] दुःख-सुख को प्रकट कर सकेगी। संक्षेप में, यह भारतीय महाद्वीप के [illegible] है। भारतवर्ष की राष्ट्र-भाषा अंग्रेजी हो या हिन्दुस्तानी [illegible] लेकिन जो बात निर्विवाद है, वह यह कि भारतवर्ष की [illegible]

जिसका आश्रय लिये बिना कोई आन्दोलन, चाहे वह धार्मिक, सामाजिक या राजनीतिक हो, असफल होने को बाध्य है—हिन्दी है। उसमें साहित्य लिखने का अर्थ है भारतवर्ष के तीन-चौथाई आदमियों की मानसिक शक्ति को उत्तेजित करना, उनके चरित्र का निर्माण करना और भारतवर्ष के भाग्य को विशेष दिशा की ओर ले जाना। हम इसी कार्य के लिए यहाँ एकत्र हुए हैं। उस भाषा को दृष्टि में रखकर ही साहित्य-निर्माण करना है। अगर यही भाषा राष्ट्र-भाषा बना दी गयी, तो हमें खुशी ही होगी; और इसे अगर राष्ट्र-भाषा नही माना गया, तो हमें नाराज होने की कोई जरूरत नही रहेगी।

"हमें एक दूसरे प्रकार के भ्रम का शिकार भी नही होना चाहिए। सभा-सोसाइटियों के संगठन करके और उनमें पार्टियाँ खड़ी करके हम हुल्ला चाहे जितना कर लें, साहित्य नही बना सकते। साहित्य देश के कोनों में बिखरे हुए लोग अलग-अलग बैठकर लिखते है। सभा करके आप उनको सम्मान दे सकते हैं, शक्ति नही; प्रोत्साहन दे सकते है, प्रतिभा नहीं। मौलिक साहित्य के रचयिता प्रायः सभाओं के संचालक नही हुआ करते, इसलिए इस सभा को संगठित करने के लिए हम लोगो को अपना कर्त्तव्य भी स्पष्ट रूप से समझ लेना चाहिए। हमें किसी प्रकार की गलत दुराशा को अपने मन मे आश्रय नही देना चाहिए।

"हमें साहित्य का निर्माण आज की परिस्थिति को देखकर नही करना है। समय बड़ी तेजी से बदल रहा है। आज से दस वर्ष बाद हिन्दी भारतवर्ष की सबसे अधिक साहित्यशून्य भाषा लगेगी, इसलिए नही कि वह अन्यान्य प्रान्तीय भाषाओं से पिछडी हुई है, बल्कि इसलिए कि उसके प्रयोजन अत्यधिक है। लाखो वर्गमील मे फैले हुए करोड़ों आदमियों की साहित्यिक और वैज्ञानिक पिपासा मिटाने का महान् व्रत उसे लेना है। इतनी वडी जिम्मेदारी किसी अन्य भाषा की नही है। हमारे अन्दर जो-कुछ भी गम्भीरता है, उसके साथ हमें सोचना होगा कि समय के भागते हुए वेग से हिन्दी की गति का सामजस्य किस प्रकार होगा।

"आप मौलिक रचयिताओं अर्थात् कवियों, औपन्यासिकों और कहानीकारो को नही बना सकते; पर ऐसे बुद्धिमान युवक आपके देश में भरे पड़े हैं, जिन्हें उपयुक्त नेतृत्व और साधन मिले, तो साहित्य को नाना प्रकार की परिचितिमूलक पुस्तकों से भर सकते हैं। जिस साहित्य मे भिन्न-भिन्न संस्कृतियों, इतिहासों, कलापरिचायक ग्रन्थों, मनोवैज्ञानिक और मानव-विज्ञानादि शास्त्रों की पुस्तकें नही हैं, उसमें आज के युग मे उपयुक्त हो सकनेवाला कवि या नाटककार हो ही नही सकता। ये शास्त्र ही कवि के दिमाग को उर्वर बनाते हैं। प्राचीन साहित्य का मेरुदण्ड पौराणिक कथाएँ थी, आज के साहित्य की रीढ़ विज्ञान और इतिहास हैं। कविता और नाटक के क्षेत्र को सूना देखकर आह भरनेवाले ठीक उसके कारण को हृदयंगम करते, तो पहले इन विषयों की पुस्तक के अभाव पर ही दु:ख प्रकट करते। अब तक हमारे कवि और अन्य कलाकार इन विषयों का ज्ञान विदेशी भाषा के माध्यम से पाते रहे हैं। इसी का नतीजा यह है कि इस विदेशी माध्यम से

कवि की जमीदारी के एक 25) माहवार पानेवाले मुनीम थे। कवि ने उन्हें देखकर ही अपने मैनेजर से कहा था कि 'तुम्हारा मुनीम मुझे दूसरे काम के योग्य जान पड़ता है, उसे शान्तिनिकेतन भेज देना।' आपके सुपरिचित अध्यापक क्षितिमोहन सेन यद्यपि पहले से ही घुमक्कड़ प्रकृति के सन्त थे, तथापि कवि के स्नेह ने उनको आज भारतवर्ष का अन्यतम सन्त-विशेषज्ञ बना दिया है। बाबू जगदानन्द राय कवि की जमींदारी के एक ओरवलर्क थे, जो पारस पत्थर के संस्पर्श मे आकर ऐसा कार्य कर गये है, जो जब तक बँगला जीती रहेगी, तब तक अविचल बना रहेगा। उन्होंने विज्ञान की हर शाखा पर बच्चों के योग्य साहित्य लिखा है। इनमें से कइयों का अनुवाद हिन्दी मे भी हुआ है। मैं नामो को गिनाकर आपको थका देने का अपराध नही करूँगा, पर हिन्दी के प्रौढ़ और वृद्ध साहित्यिकों से निवेदन करूँगा कि वे भी इसी उदारता के साथ नये युवकों को उत्साहित करें। वे देखेंगे कि दस वर्ष मे हिन्दी का कोई भी क्षेत्र लहलहाने से बाकी नही रह गया है।

"परन्तु मैं एक बात की ओर आपका ध्यान आकृष्ट किये बिना नहीं रह सकता। वृद्धो के स्नेह और सभाओं की सहायता से जो युवक ग्रन्थ लिखेंगे, उनके उत्साह को आप तब तक अक्षुण्ण नही रख सकते जब तक उनकी रचनाओं के प्रकाशित करने की व्यवस्था नही करें। युवक काम करना चाहता है, पर साथ ही अपनी रचनाओं को प्रकाशित भी देखना चाहता है। अगर उसकी रचना प्रकाशित नहीं हुई, तो उसे बड़ा धक्का लगता है। आपकी सभाएँ इस विषय में भी उसे सहायता दे सकती हैं। वे प्रकाशकों से सम्बन्ध रख सकती हैं, उन्हें अभिनव विषयों की पुस्तको को प्रकाशित करने की ओर उत्तेजित कर सकती हैं और प्रकाशित होने पर उनके प्रचार का भी उपाय कर सकती हैं।

"साथ ही मैं उन लोगों से भी निवेदन करना नहीं भूलूंगा, जो सौभाग्यवश हिन्दी-भाषा के साहित्य का प्रकाशन कर रहे हैं। उन्हे भी आज से दस वर्ष बाद की अवस्था सोचकर ही पुस्तकें प्रकाशित करनी चाहिए। इस विषय में उन्हें साहित्यिकों और साहित्यिक संस्थाओं के साथ सहयोग करना चाहिए। येन-केन-प्रकारेण पैसा कमा लेना कोई बड़ी बात नही है, किन्तु साहित्य का प्रकाशित करना निश्चय ही बड़ी बात है। यह एक पवित्र कर्त्तव्य है, समाज के प्रति एक महान् उत्तरदायित्व का पालन करना है। उन्हें सदा स्मरण रखना चाहिए कि छोटा दिल लेकर बड़ा कार्य नही किया जा सकता। साहित्य का प्रकाशन इतना पवित्र और इतना बड़ा कार्य है कि उसके लिए विशाल-से-विशाल हृदय की आवश्यकता है। इस बात की सख्त जरूरत है कि ऐसे विषयो पर पुस्तकें प्रकाशित की जायें, जो केवल मनोरंजक ही नही, ज्ञान और सम्पत्ति के बढ़ाने मे सहायक हो।

"मैं कुछ ऐसे विषयों की ओर आपका ध्यान आकृष्ट करना चाहता हूँ, जिनके अभाव में हमारा साहित्य कभी फल-फूल नही सकता। वृद्धों को इन विषयों के लिए प्रोत्साहन देना चाहिए, सभाओं को आदमी चुनने चाहिए और इनके

अध्ययन को सुलभ करने की व्यवस्था करनी चाहिए और प्रकाशको को इन्हें प्रकाशित करना चाहिए। यह सर्वजन-विदित बात है कि इस शताब्दी में, और यह भी विशेष करके महायुद्ध के बाद, विज्ञान की नाना शाखाओं के अध्ययन और प्रयोग से आधुनिक विचारधारा अत्यधिक प्रभावित हुई है। नये शोध-अध्ययन और प्रयोगों ने केवल नये ज्ञानों की वृद्धि ही नही की है, उससे कही अधिक किया है। उसने समूचा दृष्टिकोण ही उलट दिया है। डार्विन की जीवविज्ञान-सम्बन्धी खोजो से प्रोत्साहन पाकर और बहुत-कुछ उसी के ऊपर निर्भर करके भौतिकवाद और यान्त्रिकता ने पिछली शताब्दी की मनोवृत्ति को अभिभूत कर दिया था। महायुद्ध के बाद, प्रो. विलियम रोज के शब्दो मे, वे उन विचारों के लिए स्थान खाली करते जान पड रहे हैं जिनके सम्बन्ध मे भय है कि कहीं रहस्यवाद के अतल गर्भ मे निमज्जित न हो जायें। फिर भी वह वस्तु, जिसे वैज्ञानिक और तत्त्वज्ञलोग 'मैटर' कहते हैं, जो प्रकृति की विकृति है, जो गुण-संघात है, वह जैसा था वैसा ही बना हुआ है। हमारे दृष्टिकोण के परिवर्तन से उस वस्तु मे परिवर्तन नही हो सकता है, और मनुष्य अपने समस्त वैज्ञानिक प्रयोगो और तत्त्वचिन्ताओं द्वारा केवल एक ही महालक्ष्य की ओर बड़े वेग से धावित हो रहा है। वह महालक्ष्य है अपनी ही सत्ता और प्रकृति का रहस्योद्घाटन और उस विश्व के साथ अपने सम्बन्ध का यथार्थ ज्ञान प्राप्त करना जिसकी एक अप्रतिहन्यमान और क्रियात्मक शक्ति वह स्वयं है। इस महालक्ष्य को सामने रखकर हम अपने साहित्य का निर्माण कर सकते हैं। इसकी पूर्ति के लिए विचार करें, तो 5 पदवियों को अतिक्रम करने की जरूरत है:

समग्र मानव-समाज—उसका संगठन, जीवन और अन्तर्हित एकता।

व्यष्टि रूप से मनुष्य—उसका अन्तर्निहित प्राण, मन, आत्मा।

जीवनी शक्ति—मनुष्य के भीतर और बाहर, मनुष्य और अन्य जीवों का पारस्परिक सम्बन्ध।

भौतिक-विज्ञान—शक्ति, उसकी परिणति और रूपान्तरीभवन।

रसायन-शास्त्र—मैटर, उसका परिवर्त्तन।

"इन्हीं पाँच मुख्य विषयों से नाना शाखा-प्रशाखाएँ फूटी है और भविष्य में निरन्तर फूटती जायेंगी। मानव-बुद्धि जितना ही इनको पकड़ने के लिए हाथ-पैर मारती जा रही है, उतना ही ये अपने विराट् रूप को बढ़ाते जा रहे है। मानव-बुद्धिरूपी सुरसा के सब कौशल इस विज्ञान-रूप हनुमान् के सामने मानो प्रतिहत हो रहे हैं। फिर भी मनुष्य हारा नहीं है। वैज्ञानिक शाखाएँ इतनी अधिक विस्तृत हो गयी हैं कि एक आदमी के लिए सबका अध्ययन तो सम्भव नही है, किसी एक शाखा का सम्पूर्ण अध्ययन भी असम्भव है। उत्तरोत्तर उपशाखाओं की विशेषता प्राप्त करने के प्रयत्न बढ़ते जा रहे है। शाखाएँ और उपशाखाएँ एक-दूसरे से विच्छिन्न होती जा रही हैं, यद्यपि एक-दूसरी के बिना आगे बढ भी नही सकती। ऐसा जान पड़ता है कि केवल एक ही बात इनको परस्पर मिला सकेगी। वह यह

कवि की जमींदारी के एक 25) माहवार पानेवाले मुनीम थे। कवि ने उन्हें देखकर ही अपने मैनेजर से कहा था कि 'तुम्हारा मुनीम मुझे दूसरे काम के योग्य जान पड़ता है, उसे शान्तिनिकेतन भेज देना।' आपके सुपरिचित अध्यापक क्षितिमोहन सेन यद्यपि पहले से ही घुमक्कड़ प्रकृति के सन्त थे, तथापि कवि के स्नेह ने उनको आज भारतवर्ष का अन्यतम सन्त-विशेषज्ञ बना दिया है। बाबू जगदानन्द राय कवि की जमींदारी के एक और क्लर्क थे, जो पारस पत्थर के संस्पर्श में आकर ऐसा कार्य कर गये है, जो जब तक बँगला जीती रहेगी, तब तक अविचल बना रहेगा। उन्होंने विज्ञान की हर शाखा पर बच्चों के योग्य साहित्य लिखा है। इनमें से कइयों का अनुवाद हिन्दी में भी हुआ है। मैं नामों को गिनाकर आपको थका देने का अपराध नहीं करूँगा, पर हिन्दी के प्रौढ़ और वृद्ध साहित्यिकों से निवेदन करूँगा कि वे भी इसी उदारता के साथ नये युवकों को उत्साहित करें। वे देखेंगे कि दस वर्ष में हिन्दी का कोई भी क्षेत्र लहलहाने से बाकी नहीं रह गया है।

"परन्तु मैं एक बात की ओर आपका ध्यान आकृष्ट किये बिना नहीं रह सकता। वृद्धों के स्नेह और सभाओं की सहायता से जो युवक ग्रन्थ लिखेंगे, उनके उत्साह को आप तब तक अक्षुण्ण नहीं रख सकते जब तक उनकी रचनाओं के प्रकाशित करने की व्यवस्था नहीं करें। युवक काम करना चाहता है, पर साथ ही अपनी रचनाओं को प्रकाशित भी देखना चाहता है। अगर उसकी रचना प्रकाशित नहीं हुई, तो उसे बड़ा धक्का लगता है। आपकी सभाएँ इस विषय में भी उसे सहायता दे सकती हैं। वे प्रकाशकों से सम्बन्ध रख सकती हैं, उन्हें अभिनव विषयों की पुस्तकों को प्रकाशित करने की ओर उत्तेजित कर सकती हैं और प्रकाशित होने पर उनके प्रचार का भी उपाय कर सकती है।

"साथ ही मैं उन लोगों से भी निवेदन करना नहीं भूलूँगा, जो सौभाग्यवश हिन्दी-भाषा के साहित्य का प्रकाशन कर रहे है। उन्हें भी आज से दस वर्ष बाद की अवस्था सोचकर ही पुस्तकें प्रकाशित करनी चाहिए। इस विषय में उन्हें साहित्यिकों और साहित्यिक संस्थाओं के साथ सहयोग करना चाहिए। येन-केन-प्रकारेण पैसा कमा लेना कोई बड़ी बात नहीं है, किन्तु साहित्य का प्रकाशित करना निश्चय ही बड़ी बात है। यह एक पवित्र कर्त्तव्य है, समाज के प्रति एक महान् उत्तरदायित्व का पालन करना है। उन्हें सदा स्मरण रखना चाहिए कि छोटा दिल लेकर बड़ा कार्य नहीं किया जा सकता। साहित्य का प्रकाशन इतना पवित्र और इतना बड़ा कार्य है कि उसके लिए विशाल-से-विशाल हृदय की आवश्यकता है। इस बात की सख्त जरूरत है कि ऐसे विषयों पर पुस्तकें प्रकाशित की जायें, जो केवल मनोरंजक ही नहीं, ज्ञान और सम्पत्ति के बढ़ाने में सहायक हों।

"मैं कुछ ऐसे विषयों की ओर आपका ध्यान आकृष्ट करना चाहता हूँ, जिनके अभाव में हमारा साहित्य कभी फल-फूल नहीं सकता। वृद्धों को इन विषयों के लिए प्रोत्साहन देना चाहिए, सभाओं को आदमी चुनने चाहिए और इनके

अध्ययन को सुलभ करने की व्यवस्था करनी चाहिए और प्रकाशकों को इन्हें प्रकाशित करना चाहिए। यह सर्वजन-विदित बात है कि इस शताब्दी में, और वह भी विशेष करके महायुद्ध के बाद, विज्ञान की नाना शाखाओं के अध्ययन और प्रयोग से आधुनिक विचारधारा अत्यधिक प्रभावित हुई है। नये शोध-अध्ययन और प्रयोगों ने केवल नये ज्ञानों की वृद्धि ही नही की है, उससे कही अधिक किया है। उसने समूचा दृष्टिकोण ही उलट दिया है। डार्विन की जीवविज्ञान-सम्बन्धी खोजों से प्रोत्साहन पाकर और बहुत-कुछ उसी के ऊपर निर्भर करके भौतिकवाद और यान्त्रिकता ने पिछली शताब्दी की मनोवृत्ति को अभिभूत कर दिया था। महायुद्ध के बाद, प्रो. विलियम रोज के शब्दों मे, वे उन विचारों के लिए स्थान खाली करते जान पड़ रहे हैं जिनके सम्बन्ध मे भय है कि कही रहस्यवाद के अतल गर्भ मे निमज्जित न हो जायें। फिर भी वह वस्तु, जिसे वैज्ञानिक और तत्त्वज्ञ लोग 'मैटर' कहते है, जो प्रकृति की विकृति है, जो गुण-सघात है, वह जैसा या वैसा ही बना हुआ है। हमारे दृष्टिकोण के परिवर्त्तन से उस वस्तु मे परिवर्त्तन नही हो सकता है, और मनुष्य अपने समस्त वैज्ञानिक प्रयोगों और तत्त्वचिन्ताओं द्वारा केवल एक ही महालक्ष्य की ओर बड़े वेग से धावित हो रहा है। वह महालक्ष्य है अपनी ही सत्ता और प्रकृति का रहस्योद्घाटन और उस विश्व के साथ अपने सम्बन्ध का यथार्थ ज्ञान प्राप्त करना जिसकी एक अप्रतिहन्यमान और क्रियात्मक शक्ति वह स्वय है। इस महालक्ष्य को सामने रखकर हम अपने साहित्य का निर्माण कर सकते हैं। इसकी पूर्त्ति के लिए विचार करें, तो 5 पदवियों को अतिक्रम करने की जरूरत है :

समग्र मानव-समाज—उसका संगठन, जीवन और अन्तर्हित एकता।

व्यष्टि रूप से मनुष्य—उसका अन्तर्निहित प्राण, मन, आत्मा।

जीवनी शक्ति—मनुष्य के भीतर और बाहर, मनुष्य और अन्य जीवों का पारस्परिक सम्बन्ध।

भौतिक-विज्ञान—शक्ति, उसकी परिणति और रूपान्तरीभवन।

रसायन-शास्त्र—मैटर, उसका परिवर्त्तन।

"इन्ही पाँच मुख्य विषयों से नाना शाखा-प्रशाखाएँ फूटी है और भविष्य मे निरन्तर फूटती जायेंगी। मानव-बुद्धि जितना ही इनको पकड़ने के लिए हाथ-पैर मारती जा रही है, उतना ही ये अपने विराट् रूप को बढ़ाते जा रहे है। मानव-बुद्धिरूपी सुरसा के सब कौशल इस विज्ञान-रूप हनुमान् के सामने मानो प्रतिहत हो रहे हैं। फिर भी मनुष्य हारा नही है। वैज्ञानिक शाखाएँ इतनी अधिक विस्तृत हो गयी है कि एक आदमी के लिए सबका अध्ययन तो सम्भव नही है, किसी एक शाखा का सम्पूर्ण अध्ययन भी असम्भव है। उत्तरोत्तर उपशाखाओं की विशेषता प्राप्त करने के प्रयत्न बढते जा रहे है। शाखाएँ और उपशाखाएँ एक-दूसरे से विच्छिन्न होती जा रही हैं, यद्यपि एक-दूसरी के बिना आगे बढ़ भी नही सकती। ऐसा जान पड़ता है कि केवल एक ही बात इनको परस्पर मिला सकेगी। वह यह

कि इन सबकी भूमिका में मनुष्य का मस्तिष्क है।

"शुरू में ही मैं स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि यहाँ मैं विज्ञानों और उनकी शाखाओं के प्रयोगमूलक अध्ययनों के प्रस्तुत करने की बात नहीं करूँगा। यह काम विज्ञान-परिषद् के जिम्मे ही रहे, तो अच्छा हो। आज के युग में ये बातें किस अवस्था तक पहुँच चुकी है, कौन-से सिद्धान्त उन्होंने निश्चय किये हैं, इत्यादि विषयक जानकारी का संग्रह करना ही हमारा उद्देश्य है। मेरे प्रस्तावित विषय ये है :

1. दर्शन और विज्ञान की आरम्भ से लेकर अब तक की प्रगति का विवेचन।
2. धर्म-विज्ञान और परमात्म-स्वरूप।
3. विश्व की जड़ प्रकृति।
4. ज्योतिर्विज्ञान की अब तक की पहुँच।
5. गणितशास्त्र की प्रकृति।
6. सापेक्षवाद।
7. जीव-विज्ञान ने मानव-जाति की अग्रगति में क्या सहायता पहुँचायी है।
8. जीव-विज्ञान का रहस्यमय पहलू।
9. यौन-विज्ञान।
10. जनसख्या का प्रश्न।
11. मनोविज्ञान।
12. मनोविश्लेषण-शास्त्र के सिद्धान्त।
13. नैतिकता और सस्कृति का उद्गम और विकास।
14. मानव-जाति का विभाजन और विविध रेसों के विशेष लक्षण।
15. पुरातत्त्व ने क्या किया है।
16. दर्शन-शास्त्र की आधुनिक विचारधाराएँ।
17. अर्थशास्त्र का असली स्वरूप।
18. सम्पत्ति-विस्तार।
19. उद्योग-धन्धों के सगठन के आधुनिक विचार।
20. राजनीतिक संघटनों के सिद्धान्त और व्यवहार।
21. इतिहास का वैज्ञानिक रूप।
22. वैज्ञानिक दृष्टिकोण।
23. आधुनिक भौगोलिक परिकल्पना।
24. साहित्य में आधुनिकता।
25. चित्रांकन, मूर्तिशिल्प और वास्तुकला की विवेचना।
26. संगीत का स्वर-विज्ञान।
27. सभ्यता के लक्षण।

"इन सत्ताईस विषयों पर आप दो-दो, चार-चार पुस्तकें लिखायें, तो हिन्दी-भाषी जनता को आधुनिक जगत् को देखने की आँख देंगे। ये पुस्तकें विशुद्ध वैज्ञानिक

दृष्टि से लिखी जानी चाहिए। किसी प्रकार की प्रचारक वृत्ति का सम्पूर्ण अभाव होना ही श्रेयस्कर होगा। अंग्रेजी में इन विषयों पर लोक-बोधगम्य बहुत-सी पुस्तकें छपी हैं। एक ही पुस्तक मे विभिन्न पण्डितों की लिखी हुई और इनसे सम्बद्ध विषयों की रचनाएँ बहुत मिलेंगी। विशेषज्ञ लोग अगर इन पुस्तकों का निर्वाचन कर दें तो आप आसानी से उनका अनुवाद करा सकते है।

"मैंने ऊपर आधुनिक शास्त्रों की बातें की है; पर मैं और भी अधिक जोर देकर आपको प्राचीन ग्रन्थों के हिन्दी अनुवाद करने की बात की सिफारिश करूँगा। आजकल हम इस दिशा में केवल काम बन्द ही नहीं किये बैठे है, जो लोग कहीं-कहीं कुछ कर रहे हैं, उनकी उपेक्षा भी कर रहे है। राहुलजी और इनके मित्रों ने पाली के ग्रन्थों का अनुवाद करके हिन्दी-साहित्य को जितना समृद्ध किया है, वह कहकर नही समझाया जा सकता। जैन-ग्रन्थों के अनुवाद और सम्पादन मे पं. सुखलालजी, मुनि जिनविजयजी आदि महात्माओं ने जो श्रमसाध्य, तपस्यामूलक कार्य किया है, उस ओर किसी साहित्यिक संस्था ने ताकना भी उचित नही समझा है। महायान-बौद्ध-धर्म के एक भी ग्रन्थ का हिन्दी अनुवाद प्रकाशित नही हुआ। किसी भी संस्कृत के उच्च कोटि के दार्शनिक, आलंकारिक और धार्मिक ग्रन्थ का पण्डितजनोचित अनुवाद शायद ही हुआ है। गीता प्रेस से 'शांकर-भाष्य' का और नागरी-प्रचारिणी सभा से 'रसगंगाधर' का अनुवाद निकला है। उनके लिए हमें लेखकों और प्रकाशकों का कृतज्ञ होना चाहिए; परन्तु इतने से क्या हमारा आँसू पुँछ गया? न्याय, मीमांसा, वेदान्त, सांख्य, आदि के सैकड़ों प्रामाणिक ग्रन्थ क्या अंग्रेजी और जर्मन मे अनूदित होने के लिए ही लिखे गये थे? संस्कृत और प्राकृत के काव्यो और नाटको के कितने अनुवाद आपके पास हैं? हिन्दी-भाषा की भयंकर दरिद्रता इस क्षेत्र में अक्षम्य है। सारे संसार के विद्वान् हिन्दी-भाषी पण्डितों से पढ़कर इन ग्रन्थों का अनुवाद, व्याख्या आदि लिखकर अपनी-अपनी भाषा के साहित्य भर रहे है और हमे पता भी नहीं है। यह असह्य अवस्था है। मेरा विचार है कि हिन्दी की संस्थाएँ हिन्दी-साहित्य का अंश बहुत ही संकीर्ण कर देती है। हिन्दी के पुराने ग्रन्थों के सम्पादन और टिप्पणी-लेखन तक ही हमारे साहित्यिक शोध सीमित है। हमें दृढ़तापूर्वक अपना शोध-क्षेत्र विस्तृत करना होगा। नागरी-प्रचारिणी सभा ने इस दिशा में रास्ता दिखाया था। आप उस दिशा मे और भी दृढ़ता से चलें, यही मेरी प्रार्थना है।"

दिल्ली आ गयी थी। मुझे और बातों की फिक्र करनी थी। मैं उतर पड़ा।

[कल्पलता से]

जनपदों की साहित्य-सभाओं का कर्त्तव्य

मित्रो, अपने इस वार्षिक अधिवेशन का सभापति चुनकर आपने मेरे प्रति जो प्रेम और सम्मान का भाव प्रकट किया है, उसके लिए मैं अत्यन्त कृतज्ञ हूँ। मैं जानता हूँ कि मुझे इस अधिवेशन का सभापति चुनकर आपने बहुत अच्छा चुनाव नहीं किया है। परन्तु मेरा विश्वास है कि यह गलती जितनी बड़ी भी क्यों न हो, इससे आपका कोई विशेष नुकसान नहीं होगा। आपकी सभा दीर्घकाल से साहित्य और भाषा की सेवा करती आ रही है। उसने निश्चय ही अपने में स्वस्थ और सबल प्राणशक्ति विकसित कर ली है। मनुष्य में यदि भीतर और बाहर यह सबल और स्वस्थ प्राणधारा हो तो छोटी-मोटी गलतियाँ स्वयं सुधरती रहती हैं। आपकी सभा अपनी भीतरी महिमा के द्वारा निस्सन्देह इस गलती का परिमार्जन कर लेगी।

आपकी सभा ने जिन दिनों हिन्दी भाषा और साहित्य की सेवा का संकल्प लेकर जन्म ग्रहण किया था, उन दिनों देश में राजनीतिक पराधीनता दृढ़मूल होकर विराज रही थी। हिन्दी उन दिनों घर-बाहर सर्वत्र उपेक्षित थी, देवनागरी जैसी सुन्दर और उपयोगी लिपि भी न्यायालयों तक से बहिष्कृत थी, हमारी प्यारी मातृभाषा को उच्चतर शिक्षा का माध्यम होने का सौभाग्य तो मिला ही नहीं था—इस पद को प्राप्त करने की दृढ़ आकांक्षा भी उसमें नहीं थी। अब अवस्था बहुत सुधर गयी है। हिन्दी अब उतनी उपेक्षित नहीं है। थोड़ी उपेक्षित तो अब भी है, लेकिन अब हम निश्चित रूप से मान ले सकते हैं कि देर-सबेर हमारे देश के इतिहास का सबसे बड़ा लांछन धुल अवश्य जायगा। हिन्दी अपनी सम्पूर्ण महिमा के साथ अपने न्याय्य आसन पर अवश्य सुशोभित होगी। यद्यपि समय लगेगा, किन्तु अब इस तथ्य की उपेक्षा दीर्घकाल तक नहीं की जा सकती कि जनभाषा हमारे छोटे-बड़े सभी क्षेत्रों के विचार का वाहन अवश्य बनेगी। इस अवस्था-परिवर्त्तन के लिए असंख्य वीरों ने अपना सर्वस्व होम दिया है। देश-भर में मुस्तैदी से काम करनेवाली जिन छोटी-बड़ी संस्थाओं ने इस शुभ दिन को ले आने के लिए साधना की है, उनमें आपकी यह सभा भी है। मैं आपकी सभा के पुराने और नये सभी कार्यकर्त्ताओं को अपनी विनम्र ति निवे ।

अपने को सीमित नहीं रख सकते। आपकी इस सभा को इस जनपद की भाषा और साहित्य का उन्नयन और प्रकाशन तो करना ही होगा, साथ ही इर्द-गिर्द के इतिहास, पुरातत्त्व, कला-कौशल, जनता, खेत-खलिहान, आर्थिक कठिनाइयाँ, भूगोल आदि विविध विषयों के ज्ञान-संचय का केन्द्र भी बन जाना होगा।

मित्रो, प्रेम परिचय से गाढ़ा होता है। जिस मातृभूमि के प्रेम के नाम पर हमने इतना बलिदान किया है, इतने कठिन संघर्षों में अपने-आपको झोंक दिया है, देश के सर्वश्रेष्ठ जगमगाते हीरों को न्योछावर कर दिया है, वह मातृभूमि क्या है? क्या यह कोई मानचित्र-मात्र है? क्या हम उसे ठीक-ठीक जान सके हैं? क्या हमारी भाषा में उसके नदी, पहाड़ों और जंगलों में बिखरे हुए वैभव को बताने का प्रयत्न किया गया है? क्या हमारी भाषा में इस देश के पशु-पक्षियों, पेड़-पौधों का ज्ञान करानेवाली पुस्तकें हैं? क्या हम अपने देशवासियों को उनकी ही मातृभाषा के माध्यम से यह बता सकते हैं कि इस देश में कितने प्रकार के लोग बसते हैं, उनकी धर्म-साधना किस प्रकार क्रमशः विकसित होती हुई वर्त्तमान रूप में पहुँची है? क्या हम उन्हें समझा सकते हैं कि इस देश को विभिन्न स्तरों में विभाजित करनेवाली जाति-प्रथा का क्या उद्गम है? क्या हम उन्हें बता सकते हैं कि हमारी पुरानी सभ्यता किन-किन अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितियों का सामना करती हुई वर्त्तमान दशा में पहुँची है? क्या हम इस महान् जनसमूह को उसी की भाषा में यह बताने का प्रयास कर सके हैं कि उनके अधिकार क्या हैं; वे क्या-क्या कर सकने की शक्ति अपने में सँजोये हुए हैं? यदि हमारे पास इन सब प्रश्नों का उत्तर नकारात्मक है, तो निश्चय समझिए कि जनता अपनी मातृभूमि से उस प्रकार का प्रेम नहीं कर सकती, जो एक महत्त्वपूर्ण जनतन्त्र की जनता के लिए वांछनीय है। उस अवस्था में हमारा देश-प्रेम केवल मौखिक बात है। इसका कोई अर्थ नहीं होता।

इसी महान् कार्य को करने की आकांक्षा से आज हम साहित्य-सभाओं का संघटन करते हैं या करना चाहिए। इससे कम किसी साहित्य-सभा का क्या उद्देश्य हो सकता है? केवल अदालतों और कौंसिलों और विश्वविद्यालयों में मातृभाषा का प्रवेश करा देने से यह कार्य नहीं हो सकता। इसकी भी आवश्यकता है और जो लोग यह कार्य कर रहे हैं वे निश्चय ही बहुत महत्त्वपूर्ण कार्य कर रहे है, परन्तु सबसे महत्त्वपूर्ण बात है सम्पूर्ण जनता को शिक्षित करना। उसे इस योग्य बनाना कि वह अपने अधिकारों को समझ सके, अपनी स्थिति का ज्ञान प्राप्त कर सके, देश की वृहत्तर समस्याओं के समाधान में अपना योग दे सके। यदि आप जनता को इस योग्य बनाते हैं तो बहुत-से कार्य अनायास हो जायेंगे। जनता यदि अपनी समस्याओं को समझ सकेगी, अपनी भाषा और सभ्यता के गौरव का अनुभव कर सकेगी, अपने साहित्य के शाश्वत सत्यों को पहचान सकेगी, अपने पूर्वजों की साधना का महत्त्व हृदयंगम कर सकेगी, तो ऊपर बैठे रहनेवालों को झख मारके अपना गलत ढंग बदलना पड़ेगा। आप लोग जनपदों में बैठकर जो

कार्य करेंगे वही मुख्य होगा, 'ऊपर के' माने जानेवाले लोगों को बाध्य होकर अपना रवैया बदलना पड़ेगा। बहुत-से साधु-हृदय व्यक्ति अपनी भाषा के प्रति उपेक्षा का भाव पोषण करनेवाले शासकों से झुंझलाकर उनकी कटु समालोचना करते हैं। बहुत बार शासकों को समझाने-बुझाने का प्रयत्न असफल हो जाता है और लोग क्षुब्ध हो उठते हैं। मेरा मत इस विषय में यह है कि असली शक्ति जनता के हाथ मे है। भारतवर्ष की समस्याओं का वास्तविक हल इन गाँवों में फैली हुई असंख्य जनता के पास है। जो अधिकारारूढ़ व्यक्ति इस महिमाशालिनी शक्ति की उपेक्षा करेगा, वह कही का नही रहेगा। इसलिए, बड़े-बड़े ओहदों पर आसीन लोगों का मत बदलने का प्रयत्न करने मे शक्ति बरबाद न करके चुपचाप जनता को ही इस योग्य बनाना चाहिए कि वह अपनी समस्याओं को स्वयं समझ सके।

आज हिन्दी को जो गौरव मिला है और आगे जो और बड़ा गौरव मिलने जा रहा है, वह किसी बड़े पदाधिकारी या नेता की कृपा का फल नही है। एक बात में हिन्दी-जैसी भाषा शायद संसार मे कोई दूसरी नही है। मुझे नहीं मालूम कि वह कौन दूसरी भाषा है जो निरन्तर उपेक्षित रही है, सरकार ने जिसकी उपेक्षा की है, जननेताओं ने जिसकी अवहेलना की है, सब प्रकार से ठुकरायी जाती रही है और फिर भी अपनी भीतरी प्राणशक्ति के बल पर ही इतनी उन्नति कर गयी है। यह शक्ति जनता की शक्ति है, इन गाँवों में फैले हुए ऐसे असख्य लोगों की शक्ति है जिनका नाम-धाम भी इतिहास को नही मालूम। भविष्य में भी इसी जन-शक्ति की विजय होगी। हो सकता है कि आज हम भाषा को जो रूप देना चाह रहे है, वह भी जनता को पसन्द न हो। पर ध्रुव सत्य यही है कि होगा वही जो इस असंख्य जन-समूह को पसन्द आयेगा। अभी तक का इतिहास नहीं बताता है कि हिन्दी के आन्दोलनकारी जिस रास्ते सोचते आये है, वही सही रास्ता है। उसमे थोडी-बहुत काटछाँट हुई है, पर सब मिलाकर जनता-जनार्दन ने उनकी पूजा ग्रहण की है। आगे यदि उन्हें कुछ और काटछाँट की जरूरत होगी तो वे चूकेंगे नही और हमे इसके लिए तैयार रहना चाहिए।

मेरा विश्वास है कि साहित्य-सभाएँ कवि, नाटककार या दार्शनिकों को पैदा नही करती, केवल उसके लिए क्षेत्र तैयार करती हैं। वे सम्मान कर सकती हैं, उत्पादन नही। प्रतिभा को फलने-फूलने का मौका देना साहित्य-सभा का मुख्य कर्त्तव्य है। इसका सर्वोत्तम साधन पुस्तकालय और संग्रहालय है। मेरा विनम्र निवेदन है कि आप इस प्रदेश में पुस्तकालय और सग्रहालय का सगठन पूरी शक्ति लगाकर करें। एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कार्य है जनपदीय भाषाओं और लोक-गीतों, लोककथानकों, लोकप्रचलित आचारों आदि का संकलन और सम्पादन। आपको यह सुयोग प्राप्त है। आप इस प्रदेश की भाषा का और इस भाषा में प्रचलित लोकसाहित्य का अध्ययन करें तो केवल हिन्दी साहित्य की नहीं, समूची भारतीय जनता की सेवा होगी। जिस प्रदेश मे आपको कार्य करने का अवसर मिला है, वह बहुत बड़े ऐतिहासिक गौरव का साक्षी रहा है। आपके गाँवों मे उस ऐतिहासिक

गौरव के अवशिष्ट चिह्न बिखरे पड़े हैं। उनके प्रति आपकी दृष्टि सदा सतर्क बनी रहे तो आप हमारे इतिहास को बहुत-कुछ दे सकते हैं। ऐसा न समझिए कि मैं केवल पुरानी ईंटों और सिक्कों की ही बात कर रहा हूँ। ऐसा भी हो सकता है कि यहाँ जनता के गीतों में, कहावतों में, किंवदन्तियों में महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक तथ्य की गवाही बची रह गयी हो। इसलिए इन सबका महत्त्व है। हो सकता है कि आज किसी को किसी गीत का या किंवदन्ती का महत्त्व समझ में न आये, फिर भी आपको उसे संग्रह कर लेना चाहिए। आगे चलकर किसी पण्डित को उससे कुछ प्रकाश मिल सकता है। कुछ भी उपेक्षणीय नहीं है।

आपके इर्द-गिर्द जो जनता है, वह बहुत बड़ी चीज है। उसकी परम्परा महान् है। उसी को आप अपने अध्ययन का प्रधान विषय बनायें। जनता को पढ़ाइए। आपको इसी जनता के निकट-सम्पर्क में रहकर कार्य करना है। यदि आप इस जनता को सब प्रकार के ज्ञान के प्रति सचेष्ट बनायेंगे, तो आपका प्रयत्न अवश्य सफल होगा। यह कहना ही बेकार है कि मेरे जैसे व्यक्ति जो 'निचले सतह' की कही जानेवाली जनता की अपार शक्ति में विश्वास रखता है, आपकी इस संस्था को कितना महत्त्वपूर्ण समझता है। मैं आग्रह के साथ एक बार और निवेदन करना चाहता हूँ कि आप अपना कार्य-क्षेत्र और भी विस्तृत कीजिए। पुस्तकालय और संग्रहालय को अपने कार्य का अत्यन्त आवश्यक अंग तो समझिए ही, आस-पास की जनता की भाषा, रहन-सहन, आचार-विचार, जात-पाँत, धर्म-कर्म सबकुछ के विषय में ज्ञान-संग्रह करने का प्रयत्न कीजिए। मैं निश्चित रूप से जानता हूँ कि भविष्य का निर्माण वही संस्थाएँ कर सकती हैं जो जनता को उसकी सम्पूर्ण समस्याओं से परिचित करायें और उसे इस योग्य बना दें कि वह अपने अतीत को समझ सके, वर्तमान को देख सके और भविष्य को बना सके। इसी महान् उद्देश्य के पूर्तिकर्त्ता के रूप में मैं आपका अभिनन्दन करता हूँ। मेरा सप्रेम अभिवादन स्वीकार करें।

[हिन्दी साहित्य परिषद्, बरहज में दिया गया भाषण]

हमारी राष्ट्रीय शिक्षा-प्रणाली

साधारणतः भारतवर्ष की पुरानी शिक्षा-प्रणाली की बात उठते ही गुरुकुल प्रणाली याद आ जाती है। कभी यह भी प्रश्न उठता है कि यह गुरुकुल प्रणाली केवल आदर्श के रूप में ही स्वीकृत थी या व्यवहार में भी ऐसी ही थी? वस्तुतः हमारे

देश का इतिहास बहुत विशाल है और उसमें जीवन के इतने क्षेत्र और इतनी परिस्थितियों का वैचित्र्य भरा पड़ा है कि किसी एक प्रणाली को भारतीय प्रणाली कहना उचित नहीं है। भारतीय मनीषियों ने जीवन की अनेक समस्याओं को अनेक प्रकार की परिस्थितियों में देखा था और यथा-अवसर उनके समाधान का नया रास्ता सोचा था। सब समय से ये रास्ते एक ही समान नहीं थे और न सब परिस्थितियों में सोचे हुए समाधान अच्छे ही थे। आज परिस्थिति बहुत बदल गयी है। हमारे सामने शिक्षा और ज्ञान के प्रसार के लिए नये और शक्तिशाली साधन भी हैं और हमारे मार्ग मे अनुभूत नयी बाधाएँ भी हैं। हमारे पूर्वजों ने भी अनुभूत परिस्थितियों का सामना किया है और हमें भी करना है। हमारे दीर्घ इतिहास के सबसे कठिन समय मे भी हमने धैर्य नहीं खोया है। आज भी नहीं खोना चाहिए।

भारतवर्ष के सबसे प्राचीन उपलब्ध साहित्य मे भी ब्राह्मण और विद्या का सम्बन्ध बहुत घनिष्ठ पाया जाता है। जाति-व्यवस्था जैसी इस समय है, वैसी ही बहुत प्राचीन काल में नहीं रही होगी; परन्तु ब्राह्मण बहुत-कुछ एक जाति के रूप में रहा होगा, इसका प्रमाण पुराने साहित्य से ही मिल जाता है। ऐसा जान पड़ता है कि पुराने जमाने से ही भारतवर्ष में विद्या और कला के दो अलग-अलग क्षेत्र स्वीकार कर लिये गये थे। वेदों और ब्रह्म-विद्या का अध्ययन-अध्यापन 'विद्या' या ज्ञान के रूप में था और लिखना-पढ़ना, हिसाब लगाना तथा जीवन-यात्रा मे उपयोगी अन्यान्य बातें 'कला' का विषय समझी जाती रहीं। बहुत पहले से ही 'शिक्षा' एक विशेष वेदांग का नाम हो गया था और इसीलिए लिखना-पढ़ना, हिसाब-किताब रखना, विविध भाषाओं और कौशलों की जानकारी 'कला' नाम से चलने लगी थी। विद्या का क्षेत्र बहुत पहले से ब्राह्मण के हाथ में रहा और 'कला' का क्षेत्र क्षत्रियों, राजकुमारों और राजकुमारियों तथा वैश्यों के लिए नियत था। भारतवर्ष के दीर्घ इतिहास में यह नियम हमेशा बना रहा होगा, ऐसा सोचना ठीक नहीं है। वस्तुतः इस प्रकार की स्थिति एक खास अवस्था में ही रही होगी। पुराने साहित्य में अनेक उदाहरण है, जहाँ ब्राह्मण क्षत्रियों से ब्रह्मविद्या पढ़ते थे। 'शतपथ ब्राह्मण' (11-6-21-5) से पता चलता है कि याज्ञवल्क्य ने जनक से विद्या सीखी थी। काशी के राजा अजातशत्रु से बालाकि गार्ग्य ने विद्या सीखी थी। यह बात 'वृहदारण्यक' और कौशीतकी उपनिषदों से मालूम होती है। 'छान्दोग्य' से जान पड़ता है कि श्वेतकेतु आरुणेय ने प्रवाहण जैवल से ब्रह्मविद्या सीखी थी। इस प्रकार के और भी बहुत-से उदाहरण दिये जा सकते हैं। डायसन-जैसे कुछ चोटी के यूरोपीय विचारक तो इन प्रसंगों से यहाँ तक अनुमान करते हैं कि ब्रह्मविद्या के मूल प्रचारक वस्तुतः क्षत्रिय ही थे। यह अनुमान कुछ अधिक व्याप्तिमय जान पड़ता है, परन्तु यह सत्य है कि कर्मकाण्ड के उग्र और मृदु विरोधियों मे क्षत्रियों की संख्या बहुत अधिक थी और जिन महान् ज्ञानी नेताओं को भारतवर्ष आज भी याद किया करता है, उनमें क्षत्रियों की संख्या बहुत बड़ी है।

जनक, श्रीकृष्ण, भीष्म, बुद्ध, महावीर—सभी क्षत्रिय थे। महाभारत से तो अनेक शूद्र-कुलोत्पन्न ज्ञानी गुरुओं का पता चलता है। मिथिला मे एक धर्मनिष्ठ व्याध परमज्ञानी थे। तपस्वी ब्राह्मण कौशिक ने उनसे ज्ञान पाया था (वन. 206 अ.)। शूद्रागर्भजात विदुर बड़े ज्ञानी थे। सूत जाति के लोमहर्षण संजय और सौति धर्म-प्रचारक थे। सौति ने तो महाभारत का ही प्रचार किया था। परन्तु सम्पूर्ण हिन्दू-शास्त्रों में प्रधानतः ब्राह्मण ही गुरु-रूप में स्वीकृत पाये जाते है।

यद्यपि जाति-व्यवस्था भारतीय समाज की अपनी विशेषता है, तथापि संसार-भर में आदिम युग में खास-खास कौशल वर्ग-विशेष में ही प्रचलित पाये जाते हैं। इसका कारण यह होता कि साधारणतः पिता से विद्या सीखने की प्रथा हुआ करती थी। इसीलिए विशेष विद्याएँ विशेष-विशेष कुलों में ही सीमाबद्ध रह जाती थी। वेदों से ही पता चलता है कि ब्रह्मविद्या और कर्मकाण्ड आदि विद्याएँ वंश-परम्परा से सीखी जाती थी। बाद में तो इस प्रकार की भी व्यवस्था मिलती है कि जिसके घर में वेद और वेदों की परम्परा तीन पुश्त तक छिन्न हो, उसे दुर्ब्राह्मण समझना चाहिए ('बोधायन गृह्यपरिभाषा' 1-10-5-6)। परन्तु नाना कारणों से पितृ-परम्परा से शिक्षा-प्राप्ति का क्रम चल नही पाया। समाज में जैसे-जैसे धन की प्रतिष्ठा बढ़ती गयी और राजा और सेठ प्रमुख होते गये, वैसे-वैसे जानकारियो से द्रव्य-उपार्जन की आवश्यकता और प्रवृत्ति भी बढ़ती गयी। विद्या सिखाने के लिए भी धन मिलने लगा और धन की इस वितरण-व्यवस्था के कारण ही विद्या वंश के बाहर जाने लगी। ब्रह्मविद्या भी वंश-परम्परा तक सीमित नहीं रह सकी। महाभारत में दो प्रकार के अध्यापकों का उल्लेख है। एक प्रकार के अध्यापक तो अपरिग्रही होते थे। उनके पास विद्यार्थी जाते थे। भिक्षा माँगकर गुरु के परिवार का और अपना खर्च चलाते थे और गुरु के घर का सब कामकाज करते थे। कभी-कभी तो गुरु लोग विद्यार्थियों से बहुत काम लेते थे। इसकी प्रतिक्रिया के भी उदाहरण महाभारत मे मिल जाते है। अपने गुरु वेदाचार्य के पास रहते समय उत्तंक को अनेक दुःखपूर्ण कार्य करने पड़े थे। जब स्वयं उत्तंक आचार्य हुए, तो उन्हें पुरानी बातें याद थी और उन्होने अपने विद्यार्थियों से काम लेना बन्द कर दिया (आदि. 3। 81), परन्तु सब मिलाकर गुरु का अपार प्रेम ही अपने शिष्यो पर प्रकट होता है। दूसरे प्रकार के ऐसे अध्यापक थे, जिन्हें राजा लोग अपने घर पर वृत्ति देकर नियुक्त कर लेते थे ! द्रोणाचार्य और कृपाचार्य ऐसे ही अध्यापक थे। द्रौपदी और उत्तरा की कथाओ से पता चलता है कि राजकुमारियों के लिए इसी प्रकार के वृत्तिभोगी अध्यापक रखे जाते होंगे। बौद्धयुग मे भी यह प्रथा पायी जाती है। यह नहीं समझना चाहिए कि केवल 'कला' सिखाने के लिए ही घर पर अध्यापक नियुक्त किये जाते थे। ब्रह्मविद्या सिखाने के लिए भी अध्यापक बुलाकर पास रखने के उदाहरण मिलते हैं। राजर्षि जनक ने आचार्य पंचशिख को चार वर्ष तक घर रखा था। सम्भवतः उन्होंने कोई वृत्ति नही ली थी।

ब्राह्मण के लिए आदर्श यह था कि वह अत्यन्त निरीह भाव से गरीबो की

जिन्दगी में रहे; परन्तु ऊँचे से ऊँचा ज्ञान और चरित्र-बल रखे। फिर भी उसकी वृत्ति की कोई-न-कोई व्यवस्था रहती ही होगी। प्रतिग्रह, याजन और अध्यापन—ये तीन मार्ग थे, जिनसे ब्राह्मण जीविका-अर्जन कर सकता था। एक बार ऐसी भी अवस्था अवश्य आयी थी जब याजन (यज्ञ करना) और अध्यापन (पढ़ाना) बहुत अधिक अर्थकर मार्ग नहीं रह गये थे। सम्भवतः उसी समय दान लेने को (प्रतिग्रह को) सर्वोत्तम ब्राह्मण-वृत्ति मान लिया गया था। 'स्मृतिचन्द्रिका' में यम का एक वचन है, जिसमें कहा गया है—'प्रतिग्रहाध्यापनयाजनानां प्रतिग्रह श्रेष्ठतम वदंति' अर्थात् प्रतिग्रह, याजन और अध्यापन, इन तीनों में प्रतिग्रह ही सर्वोत्तम वृत्ति है। अनुमान किया जा सकता है कि जिन दिनों आर्यावर्त्त पर यवनों, ऋचिकों, तुषारों, हूणों और शकों के बार-बार आक्रमण हो रहे थे, उन दिनों याजन और अध्यापन-कार्य बन्द हो गये होंगे। उस समय प्रतिग्रह को श्रेष्ठ कहकर पण्डितों की परम्परा बचा रखने की व्यवस्था की गयी होगी।

बौद्धयुग में राजकुमारों और राजकुमारियों के लिए वृत्तिभोगी शिक्षकों के रखने की प्रथा प्रचलित थी। 'ललितविस्तर' के अनुसार कुमार सिद्धार्थ को 86 कलाएँ सिखायी गयी थीं। इनमें लिखना, पढ़ना, हिसाब-किताब भी है; उचकना, कूदना, तलवार चलाना, घोड़ पर सवारी करना आदि भी है; पोथी लिखना, चित्रकारी करना, गाना-नाचना आदि भी हैं, वस्त्रों और मणियों का रँगना, दवा-दारू, तीतर-बटेर, हाथी-घोड़े सबकी जानकारी भी है और वेद, शास्त्र, ज्योतिष, राजनीति, पक्षि-विद्या आदि भी हैं। इन 86 कलाओं के अतिरिक्त 64 काम-कलाएँ भी सिद्धार्थ को सिखायी गयी थीं। राजकुमारों ने इन विद्याओं में से अधिकांश को घर पर ही सीखा था। गणिकाओं को भी नाना प्रकार की कलाएँ सीखनी पड़ती थीं। यशोधरा को 'शास्त्रे विधिज्ञकुशला गणिका यथैव' कहा गया है। वस्तुतः जिन विद्याओं को 'काम-कला' कहा जाता था, उनमें भी अनेक उपयोगी विद्याएँ थीं। यह भी मालूम होता है कि स्त्रियों के सीखने के लिए कलाएँ और थीं और पुरुषों के लिए और तरह की। वात्स्यायन की बतायी हुई कलाओं में एक तिहाई के करीब तो विशुद्ध साहित्यिक हैं। कुछ ऐसी हैं जो प्रेमियों के मन बहलाव के साधन हैं, कुछ ऐसी भी हैं जो प्रात्यहिक जीवन में काम आ सकती हैं। रूप्य-रत्न-परीक्षा, वास्तु-विद्या या गृह-निर्माण-कला, कीमती पत्थरों का रँगना, वृक्षायुर्वेद या पेड़-पौधों की जानकारी आदि कलाएँ उपयोगी भी थीं और उस युग की समृद्धि के अनुकूल भी। उस युग में बड़े-बड़े नगर रहे होंगे और नगर के लोग गाँव के लोगों से बहुत भिन्न तरह का जीवन बिताते होंगे। उनके लिए शिक्षा की विधियाँ भी अलग तरह की होंगी, 'कामसूत्र' और उसी प्रकार की अन्य पुस्तकों से इसका यथेष्ट आभास मिलता है। ऐसा जान पड़ता है कि इस समय केवल गुरु से ही विद्या सीखना आवश्यक नहीं रह गया था। सरस्वती-मन्दिरों, समाजों, कवि-सम्मेलनों, नागरिक गोष्ठियों आदि में नाना प्रकार से शास्त्र-चर्चा होती थी और बहुत-सी बातें अनायास सीख ली जा सकती थीं। पुस्तकों से भी विद्याप्रचार

होता होगा, नहीं तो पुस्तक लिखना परिश्रमसाध्य कला नही मानी जाती। दूसरी तरफ महाभारत और पुराणो से स्पष्ट मालूम होता है कि यज्ञों, मेलों, तीर्थों पर राजसभा द्वारा आयोजित शास्त्रार्थों से भी जनता को ज्ञान-विज्ञान का परिचय मिलता रहता था।

यद्यपि नाना भाव से समाज और राज्य की ओर से इन ज्ञान-प्रचारकों की सहायता की जाती थी, तथापि कला से या विद्या से वृत्ति चलाना अच्छा नही समझा जाता था। गरीब नागरिक जब 'कला' से वृत्ति पैदा करने लगते थे, तो ऊँची मर्यादा से भ्रष्ट मान लिये जाते थे। शूद्रक के 'मृच्छकटिक' नाटक मे वसन्त-सेना नामक गणिका ने एक संवाहक का परिचय पाकर बड़ी प्रसन्नता प्रकट की कि "तुमने तो अच्छी कला सीखी है। सवाहक ने लजाकर उत्तर दिया कि क्या बताऊँ, आर्ये, 'कला' जानकर ही सीखी थी, पर अब तो यह 'जीविका' बन गयी है।" निश्चय ही राजकुमारों, राजकुमारियो तथा अन्य समृद्ध लोगों के घर कलाओं के जो शिक्षक नियुक्त होते होंगे, वे ब्राह्मण ही नही होते होंगे। उन दिनो कला के नाम पर ऐसी अनेक उपयोगी विद्याएँ प्रचलित थी, जिन्हें ब्राह्मण लोग अच्छी वृत्ति नहीं मानते थे।

इस प्रकार हमारे सुदीर्घ इतिहास मे नाना भाव से शिक्षण देने के उदाहरण पाये जा सकते हैं। ये सब भारतीय प्रथाएँ है। यद्यपि इनमें देश-काल-पात्र के अनुसार किसी को कम, किसी को ज्यादा महत्त्व प्राप्त होता रहा है। इन सारी प्रथाओं के भीतर एक बात सर्वत्र सामान्य रूप से पायी जाती है, वह है गुरु का प्राधान्य। भारतीय मनीषा ने अनेक प्रयोगों के भीतर एक बात को सदा मुख्य स्थान दिया है। शिक्षा का मुख्य साधन उत्तम गुरु है। कोई निश्चित प्रणाली या योजना उतने महत्त्व की वस्तु नही है, जितना उदार, नि.स्पृह और प्रेमी गुरु। दूसरी बात जो अत्यन्त स्पष्ट है वह यह है कि बदली हुई अवस्था के साथ सदा सामंजस्य स्थापित करने का प्रयास किया गया है। उपलब्ध साधनों का—यज्ञों का, तीर्थों का, मेलों का, गोष्ठियों का, समाजों का यथेच्छ उपयोग किया गया है। विद्या जीवन से विच्छिन्न कभी नही की गयी है। पुस्तकों का सहारा लेने में भी नही हिचका गया है: किन्तु सर्वत्र और सर्वदा 'गुरु' का आदर्श वही रहा है—नि.स्पृह, उदार, प्रेमी और चरित्रवान्।

मध्य युग में भी बदली हुई परिस्थितियो के साथ सामंजस्य स्थापित किया गया था। पिछले सौ-डेढ़ सौ वर्षों से मार्ग में बाधा पड़ी है। परिस्थिति के साथ भारतीय मनीषा को निबटने का मौका नही दिया गया। विदेशी विद्वानों ने अपने लाभालाभ को सामने रखकर इस देश के लिए एक योजना बनायी और उस योजना के साँचे मे आदमी ढाले जाने लगे। यही काल क्षेपक का काल है। इसके पहले यद्यपि भारतीय विद्या नाना कारणों से म्लान हो आयी थी, फिर भी उसने अपनी शिक्षा-प्रणाली को एक ढंग पर लाने का प्रयत्न किया था। सन् 1815 ई. के आसपास वार्ड नामक अंग्रेज ने भारतवर्ष के नाना स्थानों की अवस्था देखकर

'हिन्दूज' नामक एक पुस्तक लिखी थी। काशी में उसने अनेक पाठशालाएँ देखी थी। उनमें विद्यार्थियों की अधिक-से-अधिक संख्या 25 और कम-से-कम 10 थी। प्रत्येक पाठशाला में एक गुरु होते थे। उनकी वृत्ति साधारणतः मठों और मन्दिरों से बँधी होती थी। वार्ड ने इन पण्डितों के अध्याप्य विषयों की भी सूची दी है। ऐसा जान पड़ता है कि उन दिनों शिक्षण-व्यवस्था का भार मठों और मन्दिरों ने सँभाल लिया था; लेकिन सरकारी व्यवस्था ने इस व्यवस्था को अधिक स्वस्थ और सबल होने में बाधा पहुँचायी और मन्दिरों और मठों से शिक्षा का जो योग था वह कट गया। अब समय आया है कि बाहरी हस्तक्षेप की उपेक्षा करके हम सम्पूर्ण उपलब्ध साधनों का उपयोग करके बदली हुई अवस्था के साथ अपनी शिक्षा-प्रणाली का सामंजस्य स्थापित करें। हमें पुराने साहित्य में इतने प्रकार के प्रयोग मिलते हैं कि किसी विशेष प्रथा को अपनी राष्ट्रीय प्रथा मानने का बन्धन स्वीकार करने की जरूरत नहीं है। केवल एक ही बात हमारी राष्ट्रीय परम्परा की देन है और हमारे स्वभाव संस्कारों से अविच्छेद रूप में सम्बद्ध है—'गुरु' का प्राधान्य। हमें बँधी योजनाओं और प्रणालियों पर उतना जोर नहीं देना चाहिए, जितना आदर्श गुरु की खोज पर। योजनाओं के साँचे में मनुष्य को नहीं ढालना है। मनुष्य के आदर्श पर योजनाओं को मोड़ना है। इसी एक अर्थ में भारतीय राष्ट्रीय शिक्षा-प्रणाली को 'गुरुकुल' प्रणाली कहा जा सकता है; क्योंकि इस व्यवस्था के केन्द्र में 'गुरु' का रहना आवश्यक है।

ऊँची शिक्षा में हिन्दी-माध्यम—1

काफी अर्से से देश में यह माँग की जाती रही है कि शिक्षा का माध्यम अंग्रेजी भाषा के स्थान पर देशी भाषाएँ होनी चाहिए। हमारे देश के सभी मनीषी नेताओं ने कहा है कि शिक्षा का माध्यम देशी भाषा ही होनी चाहिए। सबके नाम गिनाने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि यह बात सर्वविदित है। सभी स्वीकार करते हैं कि अंग्रेजी माध्यम से ऊँची शिक्षा देने का परिणाम यह हुआ है कि उच्च शिक्षित लोगों और जनता के बीच भारी व्यवधान आ गया है। हमारे विश्वविद्यालयों से शिक्षा प्राप्त करके निकलनेवाले युवक अपने देश की मिट्टी से अपरिचित रह जाते हैं। इस माँग के पीछे दूसरा महत्त्वपूर्ण कारण राष्ट्रीय स्वाभिमान भी है। अपने विश्वविद्यालयों ने अपनी भाषा के माध्यम से शिक्षा न दे सकने के कारण हमारी

विशाल सांस्कृतिक परम्परा और राष्ट्रीय गौरव के लिए लज्जाजनक स्थिति उत्पन्न कर दी है।

पिछले पचीस वर्षों में इस विषय पर काफी चर्चा हो चुकी है और अब देशी भाषाओं को शिक्षा का माध्यम बनाने के पक्ष में या विपक्ष मे कही जाने योग्य कोई बात रह नहीं गयी है। शिक्षा-आयोग ने (पृ. 24) स्वीकार किया है कि विदेशी भाषा के माध्यम से दी हुई शिक्षा रटन्त विद्या को ही प्रोत्साहित करती है, आधिकारिक ज्ञान को नहीं। यह भी मान लिया गया है कि पढ़ाई आदि से अन्त तक एक ही माध्यम से होनी चाहिए, यह नही कि माध्यमिक स्तर तक देशी भाषा के माध्यम से और विश्वविद्यालय स्तर अंग्रेजी माध्यम से। शिक्षा-आयोग ने कहा है कि 1937 ई. के पहले माध्यमिक स्तर की पढ़ाई भी अंग्रेजी माध्यम से होती थी। उस समय विश्वविद्यालयों की शिक्षा का माध्यम अंग्रेजी होने का कोई तुक भी था, पर आज तो उसका कोई तुक ही नही है। कम-से-कम हिन्दीभाषी क्षेत्रों मे हिन्दी को शिक्षा का माध्यम बनाने मे विवाद की गुंजायश नही रह गयी है।

हम यह मानकर चल रहे हैं कि हिन्दी को शिक्षा का माध्मय बनाना आवश्यक है, परन्तु हम इस बात पर जोर देना चाहते है कि हिन्दी को शिक्षा का माध्यम इसलिए बनाना है कि—

1. इस भाषा के माध्यम से जो पढ़ाई होगी, उसमें विद्यार्थी अपने अध्येतव्य विषय को अधिक स्पष्टता और गहराई से जान सकेंगे।

2. हमारी शिक्षा-पद्धति में जिस रटन्त विद्या का प्रभाव व्याप्त हो गया है, उसे कम करके विद्यार्थी को विषय के साथ सही अर्थों में परिचित कराना ही लक्ष्य है।

विश्वविद्यालय की पढाई में हिन्दी माध्यम आने का उद्देश्य यह कदापि नही है कि आसानी से परीक्षा उत्तीर्ण की जा सके और अनायास उपाधियों के लुभावने स्वर्गलोक पर अधिकार किया जा सके। हमारा दृढ विश्वास है कि अपनी देशी भाषा के माध्यम से जो पढ़ाई होगी, वह विद्यार्थियो के लिए अधिक ग्राह्य होगी, वे गम्भीरता और स्पष्टता के साथ विषय को ग्रहण करेंगे और आज की तुलना में उनका उपलब्ध ज्ञानस्तर कही अधिक ऊंचा होगा। साधारण जनता और पढ़े-लिखे लोगों के बीच जो खाई पैदा हो गयी है, वह दूर होगी और राष्ट्रीय अन्तर्ग्रंथन को सही और गम्भीर रूप प्राप्त हो सकेगा।

हमारे देश के मनीषियों ने शिक्षा को राष्ट्रीय अन्तर्ग्रंथन (नेशनल इन्टीग्रेशन) का महत्त्वपूर्ण साधन माना है। मानना ही चाहिए। जून, 1962 में राष्ट्रीय अन्तर्ग्रंथन परिषद् (नेशनल इन्टीग्रेशन कौंसिल) ने स्पष्ट शब्दों मे घोषणा की थी कि देशी भाषा के माध्यम से उच्चतर कक्षाओं की पढाई राजनीतिक या सांस्कृतिक भावावेश के कारण आवश्यक नही है, बल्कि इसलिए आवश्यक है कि उसके बिना हमारे विश्वविद्यालयों के शिक्षित नौजवान जनता के भीतर उच्चतर ज्ञान-विज्ञान विशेष रूप से औद्योगिक और तकनीकी जानकारी को सही ढंग से प्रचारित नहीं

नींव शुरू से ही कमजोर है और जो आसानी से परीक्षा उत्तीर्ण करने के लिए हिन्दी माध्यम अपनाना सुविधाजनक मानते हैं।

इस प्रसंग में अंग्रेजी की अच्छी शिक्षा देनेवाले कन्वेंटो और अन्य स्कूलो की बढ़ती लोकप्रियता ध्यान देने योग्य है। यद्यपि हमारे पास इस श्रेणी के विद्यालयों की बढ़ती संख्या का कोई आँकड़ा उपलब्ध नही है, तथापि इसमे कोई सन्देह नही है कि हर नगर में उनकी संख्या निश्चित रूप से बढ़ रही है। पढ़ाई के अच्छे स्तर के साथ-ही-साथ उनकी लोकप्रियता का एक प्रमुख कारण अखिल भारतीय प्रतियोगिताओ मे अंग्रेजी भाषा का बोलबाला भी है। यह व्यवस्था तब तक रहेगी, जब तक विद्यार्थियों को स्पष्ट रूप से यह विश्वास न हो जाये कि हिन्दी माध्यम से पढ़ने से उनके भविष्य की उन्नति का मार्ग अवरुद्ध नही हो जाता। विश्वविद्यालय अनुदान आयोग और केन्द्रीय शिक्षा मन्त्रालय से हमे बार-बार अनुरोध करना चाहिए कि वे ऊपर के स्तर पर ऐसी नीतियो की स्पष्ट घोषणा करें, जिससे हिन्दी माध्यम से पढ़नेवाले विद्यार्थियों का अहित न हो और वे औसत से कुछ निचले स्तर के विद्यार्थी न समझे जायें। शिक्षा आयोग ने इस प्रकार की आशंका पहले ही व्यक्त कर रखी है।

यदि हिन्दी माध्यम से ऊँची पढ़ाई राष्ट्र-निर्माण का कार्य है तो हिन्दी माध्यम से या अन्य क्षेत्रीय भाषाओ के माध्यम से पढ़नेवालों को शुरू मे कुछ वरीयता दी जानी चाहिए।

ऐसा अनुरोध करने के लिए हम इसलिए कह रहे है कि हमारी निश्चित धारणा है कि विश्वविद्यालय पर शिक्षित जनता के ज्ञान के स्तर को ऊँचा और यथार्थ करने का उत्तरदायित्व है। और, यह उत्तरदायित्व तब तक भली-भांति नही निवाहा जा सकता, जब तक देश की जनता की भाषा को उचित और सम्मानजनक स्थान नही प्राप्त हो जाता। यह हमारे राष्ट्र का पवित्र उत्तरदायित्व है और इसके लिए जहाँ-जहाँ आवश्यक हो, उसे अवश्य प्रयत्न करना चाहिए।

पिछले कई वर्षों से हमारे देश मे प्राथमिक शिक्षा का काफी विस्तार हुआ है, यद्यपि वह अब भी हमारे संकल्प से बहुत कम है। मैंने 1910 ई. में सागर विश्वविद्यालय के दीक्षान्त भाषण के अवसर पर शिक्षा प्रसार के कुछ आंकडे संग्रह किये थे। उस अवसर पर मैंने बताया था कि हाल ही मे प्राप्त विवरणो के अनुसार सन् '51 में जहाँ 1,915,000 छात्र प्राथमिक शिक्षा प्राप्त कर रहे थे, वहाँ 5 वर्ष बाद सन् '55-56 मे यह संख्या बढ़कर 2,51,70,000 हो गयी और सन् '68-69 में 5,41,60,000 हो गयी है, अर्थात् पिछले 20 वर्षों में यह संख्या लगभग तिगुनी हो गयी है। इस अवधि में विश्वविद्यालयों मे पढ़नेवाले विद्यार्थियों की संख्या जहाँ सन् '50-51 मे 3,60,000 थी, वहाँ सन् '68-69 मे 18,31,000 हो गयी, अर्थात् 5 गुना से ऊपर हो गयी। अनुमान है कि सन् '73-74 मे जबकि प्राथमिक कक्षाओ मे पढ़नेवाले छात्रों की संख्या 6,82,70,000 हो जायेगी, वही विश्वविद्यालयों में पढ़नेवालों

संख्या 26,70,000 के करीब होगी, अर्थात् चौथी योजना के अन्त तक जहाँ प्राइमरी शिक्षा पानेवाले विद्यार्थियों की संख्या साढ़े तीन गुनी बढ़ेगी, वहीं विश्वविद्यालय में पढ़नेवालों की संख्या सात गुनी से भी ऊपर हो जायेगी। इससे आसानी से समझा जा सकता है कि आगामी 3-4 वर्षों में विश्वविद्यालयों की शिक्षा पानेवालो के लिए प्रवेश की व्यवस्था करने में कितनी कठिनाई आ सकती है। इससे यह भी स्पष्ट है कि प्राइमरी शिक्षा पानेवाले विद्यार्थियों का जो अनुपात विश्वविद्यालय में पहले 54.1 था, वह सन् '68-69 में 30.1 हो गया और सन् '74-75 के अन्त तक लगभग 22.1 हो जायेगा। स्पष्ट है कि अब जनता का अधिक अंश उच्च शिक्षा पाने के लिए प्रयत्नशील है। जो विद्यार्थी विश्वविद्यालयों और महाविद्यालयों में पढ़ने के लिए आते हैं, उनमें अधिकाश के परिवारों मे शिक्षा का वैसा वातावरण नहीं है, जैसा कि उच्च समझे जानेवाले घरानों में हुआ करता है। साथ ही आर्थिक दबाव के कारण अब ज्ञान की साधना की अपेक्षा, रोजगार प्राप्त करना अधिक आवश्यक होता जा रहा है। विद्यार्थियों में इन दिनों परीक्षा की वैतरणी जैसे-तैसे पार करने की उतावली बढ़ती जा रही है। उनमें परीक्षा उत्तीर्ण करने के बाद उपयुक्त काम न मिलने का असन्तोष और रोष का भाव भी अधिक होता है। इस प्रकार उच्च शिक्षा, कठिन सामाजिक समस्या का रूप ग्रहण करती जा रही है। कहना व्यर्थ है कि शिक्षितों की बेकारी अशिक्षितों की बेकारी की तुलना में अधिक भयंकर होती है।

हमारे देश मे तकनीकी शिक्षा पर अधिकाधिक बल दिया जाने लगा है और कृषि तथा प्रौद्योगिक शिक्षा के लिए ही विशेष रूप से कई विश्वविद्यालयो की स्थापना हुई है। ऐसा स्पष्ट होता जा रहा है कि नये सन्दर्भों में विश्वविद्यालय की *सार्थकता नयी कसौटी पर कसी जायेगी। परन्तु जैसे-जैसे विश्वविद्यालय* की शिक्षा, रोजगार तलाश करनेवाली माँगों से बोझिल होती जायेगी, वैसे-वैसे शास्त्रीय पठन-पाठन की गति मन्थर होती जायेगी और अधिकाधिक माँगों की भार से अनासक्त चिन्तन की देवी हतप्रभ होती जायेगी। प्रयत्न करना चाहिए कि वह हतप्रभ न होने पाये।

परीक्षा की पद्धति जो लगभग सौ-सवा सौ वर्षों तक इस देश मे कायम रही है, अब अनुपयोगी सिद्ध हो रही है और कटु आलोचनाओं का लक्ष्य बनती जा रही है। अभी तक हम अंग्रेजी माध्यम से उच्च शिक्षा देने का मोह छोड़ नहीं सके हैं। परन्तु जो विद्यार्थी उच्चतर शिक्षा के लिए आ रहे हैं, उनकी अंग्रेजी की नींव निरन्तर कमजोर होती जा रही है। वे अंग्रेजी मे दिये व्याख्यान को ठीक-ठीक ग्रहण नही कर पाते और अंग्रेजी मे उत्तर देने मे उन्हे बड़ी कठिनाई होती है। यद्यपि विश्वविद्यालयो मे स्नातक स्तर तक की शिक्षा के लिए देशी भाषाओं को माध्यम स्वीकार किया गया है, तथापि यह बात उतनी गम्भीरता से हमने स्वीकार नही की है। अब तक विभिन्न विषयों की सैकड़ो पाठ्यपुस्तकें बन जानी चाहिए थी, परन्तु अभी तक स्नातकोत्तर स्तर का साहित्य तो दूर रहा, हम स्नातक स्तर

का साहित्य भी यथेष्ट मात्रा में नहीं बना पाये है। इसका कारण ऊपर से नीचे तक हमारी संकल्पशक्ति की कमजोरी और आत्मविश्वास की मात्रा मे कमी के सिवाय और कुछ नहीं हो सकता। अभी जो जब हम देशी भाषा के माध्यम से उच्च शिक्षा देने की बात करते हैं, तो साधारणत: कामचलाऊ विधान या लाचारी की नीति के रूप मे उसे ग्रहण कर लेते है। यह ठीक नही है। वस्तुत. अपनी जानी-पहचानी भाषा के माध्यम से ज्ञान का सम्प्रेषण अधिक स्वस्थ और उपयोगी होता है। ज्ञान के स्तर को ऊँचा उठाने के लिए ही स्वभाषा के माध्यम की आवश्यकता है।

अपनी भाषा के माध्यम से शिक्षा पाने से ज्ञान अधिक स्वाभाविक होगा और विद्यार्थियो में स्वतन्त्र चिन्तन की शक्ति और आत्मविश्वास का सचार होगा, इस विश्वास के साथ ही माध्यम-परिवर्तन की बात सोचनी चाहिए। दुर्भाग्यवश अभी हम इस बात को पवित्र कर्त्तव्यदृष्टि से नही देखकर कामचलाऊ व्यवस्था या लाचारी की नीति मानकर ही चल रहे हैं। स्वभाषा की नीति के लिए जिस प्रकार की कठिन साधना और दृढ़ संकल्प आवश्यक हैं, उनका अभी तक कोई प्रमाण नही मिल रहा है। निरन्तर कठिनाई का रोना केवल सकल्पशक्ति की दुर्बलता का ही द्योतक है। कम-से-कम इस क्षेत्र मे हृदय-दौर्बल्य को त्याग देना ही सही कर्त्तव्य है। ऊँचे से-ऊँचे ज्ञान को सहज स्वभाषा मे वितरण करने की व्यवस्था बहुत ही पवित्र कर्त्तव्य है।

हम जो देना चाहते है, उसे जब विद्यार्थी नही पाता तब परीक्षा के अवसर पर वह नाना प्रकार के गलत उपायों का आश्रय लेता है। वह भरसक कोशिश करता है कि परीक्षा की तिथि टल जाये, प्रश्न-पत्र का कुछ पहले से ही आभास मिल जाये, यदि प्रश्न कुछ कठिन जान पड़ें तो दूसरी बार परीक्षा करने के लिए दबाव डाला जाये, यदि परीक्षक अधिक अंक नही देता तो उसके विरुद्ध वातावरण प्रस्तुत किया जाये, सम्भव हो तो नकल करके काम चला लिया जाये और इस प्रकार जैसे-तैसे परीक्षा की वैतरणी पार कर ली जाये। इन उपायों मे सफल होकर जब वह आगे बढ़ता है तब उसके लिए और भी कठिन समस्याएँ उत्पन्न हो जाती हैं। उसके नीचे-ऊपर, दायें-बायें सर्वत्र असन्तोष का बवण्डर मँडराता रहता है। उसे उचित समय पर आवश्यक आर्थिक सहायता नही मिलती। पढ़ाई के दौरान वह जब जैसे-तैसे पाठ्य-पुस्तकें या नोटबुक सग्रह करके अर्द्धमुक्त विद्या का अर्द्धउच्छिष्ट बटोरता है और इस क्षतविक्षत नौका के सहारे बाहर के विषम जीवन-सागर मे उतरता है, तो उसे और भी विषम परिस्थितियों का सामना करना पड़ता है। कुछ करने के बाद जब वह छोटी-मोटी नौकरी के लिए दर-दर भटकता फिरता है और कही नही मिलने पर फिर विश्वविद्यालय में लौटकर कुछ और पढ़ने का प्रयत्न करता है, तब वह असमजस के वात्याचक्र में बुरी तरह उलझ जाता है। उसकी खीज नाना रूपों मे प्रकट होती है और कभी-कभी भयकर रूप धारण कर लेती है। वह सचमुच सहानुभूति का पात्र है।

[साप्ताहिक हिन्दुस्तान, 19 अगस्त, 1973]

ऊँची शिक्षा में हिन्दी-माध्यम—2

विश्वविद्यालय की शिक्षण-व्यवस्था का माध्यम हिन्दी होने में निम्नांकित कठिनाइयाँ बतायी जाती हैं :

1. सार्वदेशिक या केन्द्रीय मामलों में अंग्रेजी का प्रभुत्व,
2. विश्वविद्यालय के अध्यापकों में मानसिक रूप से सन्देह और झिझक,
3. पाठ्यपुस्तकों का अभाव,
4. भाषा में अभिव्यक्ति देने योग्य शब्दों और मुहावरों की कमी,
5. नये निर्माण के प्रति उत्साह का अभाव,
6. विश्वविद्यालय की सभी महत्त्वपूर्ण समितियों का अंग्रेजी में ही कामकाज और पत्र-व्यवहार का बोलबाला।

1. जैसा कि ऊपर बताया गया है, जब तक केन्द्रीय मामलों में हिन्दी को और अन्य देशी भाषाओं को सम्मानपूर्ण पद नहीं मिलता, तब तक हिन्दी माध्यम से होनहार विद्यार्थियों के पढ़ने और परीक्षा देने के मामले में भी बराबर कठिनाई अनुभव की जाती रहेगी।

2. हमारे विश्वविद्यालयों के अनेक वरिष्ठ अध्यापकों के मन में हिन्दी को माध्यम बनाने के सम्बन्ध में सन्देह और झिझक है। कुछ अध्यापक जो हिन्दी भाषा-भाषी नहीं है, उनकी कठिनाइयाँ स्पष्ट है। उन्होंने कभी हिन्दी के माध्यम से उच्च विचारों को प्रकट करने का अभ्यास नहीं किया। जिनकी मातृभाषा हिन्दी है, उनमें भी कई ईमानदारी के साथ स्वीकार करते हैं कि वे अपना सर्वोत्तम विद्यार्थियों को नहीं दे सकते, क्योंकि उन्होंने ऐसा अभ्यास नहीं किया। यह एक वास्तविक कठिनाई है। हमारा उद्देश्य यह है कि हिन्दी माध्यम से पढ़नेवाले विद्यार्थी विषय की बारीकियों को अंग्रेजी-माध्यम की अपेक्षा अधिक स्पष्टता से ग्रहण कर सकें। प्रायः हिन्दी माध्यम से कामचलाऊ विद्या ही सिखायी जाती है। विज्ञान, प्राविधिक संस्थान, चिकित्सा-विज्ञान आदि में यह समस्या अधिक उग्र है। यदि हिन्दी के विद्यार्थियों को उसी स्तर पर पढ़ाना है, जिस स्तर पर पढ़ाने की आशा विश्वविद्यालय से की जाती है, तो हिन्दी में पढ़ानेवाले उचित योग्यता के प्रोफ़ेसरों और रीडरों की नियुक्ति करनी होगी। नहीं तो जिस उद्देश्य से हम हिन्दी माध्यम विश्वविद्यालय में ले आना च— ते हैं, वह पू[illegible] ।

समस्या केवल उन अध्यापकों त[illegible] नहीं [illegible] हिन्दी नहीं है। पुरानी पीढ़ी के व[illegible] उनके संस्कार भी अंग्रेजी भाषा के [illegible] प्रकार के सन्देह और झिझक [illegible]

बाधा मात्र है। यदि पारिभाषिक शब्दों के बहुत पचड़े में न पड़ा जाये और अंग्रेजी में प्रचलित पारिभाषिक शब्द और मुहावरे यथाप्रयोजन हिन्दी माध्यम से पढ़ानेवालों को भी व्यवहार करने की छूट दे दी जाये तो कदाचित् यह कठिनाई दूर हो सकती है। ऐसी छूट कुछ थोड़े वर्षों के लिए ही दी जानी चाहिए, क्योंकि विद्वानों की अगली पीढ़ी जो हिन्दी माध्यम से पढ़कर आयेगी, इस प्रकार के मानसिक संस्कारों से जकड़ी नहीं होगी और उसकी भाषा अधिक स्वाभाविक और सम्प्रेषणशील होगी।

3. पाठ्यपुस्तकों के अभाव की शिकायत काफी अर्से से की जा रही है। इसके लिए केन्द्रीय सरकार और प्रान्तीय सरकारों की मदद से साहित्य-निर्माण का कार्य भी हो रहा है। केन्द्रीय सरकार ने विभिन्न विषयों के लिए पारिभाषिक शब्दावली के निर्माण में भी महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। सब मिलकर अब ऐसी स्थिति है कि बहुत-से विषयों में पाठ्यपुस्तकें मिल सकती हैं, यद्यपि उनका स्तर इस समय आशा के अनुरूप नहीं है, तथापि जब यह साहित्य पढ़ा-पढ़ाया जायेगा, तभी उसके स्तर के अनुरूप होने की आशा की जायेगी।

उत्तरप्रदेश में 'उत्तरप्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी' और 'हिन्दी समिति' विश्वविद्यालयों के प्राध्यापकों के सहयोग से उच्च स्तर की पुस्तकें लिखा रही है। अन्य राज्यों की अकादमियों और अन्य अभिकरणों ने उच्च शिक्षा के लिए उपयोगी ग्रन्थों का प्रकाशन किया है। इन पुस्तकों को विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रम में स्थान तुरन्त मिलना चाहिए। विश्वविद्यालय के सुयोग्य अध्यापकों को इस कार्य को राष्ट्र-निर्माण का महत्त्वपूर्ण अंग समझकर इसमें लग जाना चाहिए। इस विषय में भारी प्रयत्न की आवश्यकता है। कठिनाइयाँ बहुत हैं, परन्तु जिस प्रकार राष्ट्र-निर्माण के प्रत्येक क्षेत्र में कठिनाइयों पर विजय पाने के लिए दृढ़ निश्चय और कठिन परिश्रम की आवश्यकता है, उसी प्रकार इस कार्य में भी कठिनाइयों पर विजय प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिए। हम पिछले पचीस वर्षों से कठिनाइयों का रोना रोते आ रहे है, परन्तु यदि दृढ़ निश्चय के साथ प्रयत्न न किया गया, तो पता नहीं कब तक रोते रहेंगे।

विश्वविद्यालय स्तर की पाठ्यपुस्तकों का निर्माण राष्ट्रनिर्माण का कार्य है। इसे ऐसी निष्ठा और लगन के साथ सम्पन्न करना चाहिए और इस कार्य में लगे लोगों को वही सम्मान मिलना चाहिए, जो राष्ट्रनिर्माण व्रती के लिए उचित है।

4. विश्वविद्यालयों में ऐसी केन्द्रीय संस्थाएँ होनी चाहिए, जो विविध विषयों पर 'मोनोग्राफ पुस्तकें' व्याख्यानमाला में प्रकाशित करें और इस बात के लिए भी सदा प्रयत्नशील रहें कि किस विभाग में किस पुस्तक के अभाव में अध्यापकों और विद्यार्थियों को कठिनाई हो रही है, उस विषय की प्रामाणिक पुस्तक यथासम्भव शीघ्र प्रकाशित करने के लिए सचेष्ट रहना चाहिए। हमारी उपसमिति यह अनुभव करती है कि यह बहुत महत्त्वपूर्ण राष्ट्रनिर्माण का कार्य है और इसके लिए हर साधन अवश्य जुटाने चाहिए।

जब कभी इस विषय की चर्चा होती है, तब अनुवाद-कार्य पर बल दिया जाता है। अनुवाद अवश्य होना चाहिए, परन्तु मुख्य रूप से पुस्तकें समर्थ अध्यापकों द्वारा अपनी परिस्थिति और सन्दर्भ के अनुकूल बनाकर मौलिक रूप में लिखी जानी चाहिए। यह बात प्रायः नहीं समझी जाती कि केवल पारिभाषिक शब्दमात्र देने से भाषा का कार्य पूरा नहीं होता। हर भाषा की अपनी स्वतन्त्र अभिव्यंजना-प्रणाली है और हर विषय के अपने स्वतन्त्र मुहावरे हैं। विश्वविद्यालयों में कभी भी कामचलाऊ मनोवृत्ति को प्रोत्साहन नहीं मिलना चाहिए। अधिक-से-अधिक सटीक और प्रांजल भाषा ही हमारे मूल लक्ष्य को पूरा कर सकती है। दया करके वंचित करना दया का अपमान है। हिन्दी माध्यम से पढ़ाना ज्ञान को अधिक स्वायत्त करने में पूर्ण समर्थ होना चाहिए। यद्यपि शुरू में कुछ कठिनाइयाँ होंगी, तथापि जब तक ये कठिनाइयाँ सामने नहीं आयेंगी, तब तक इनका हल भी नहीं ढूँढ़ा जा सकेगा। विश्वविद्यालयों का यह भी कर्त्तव्य होना चाहिए कि विभिन्न विषयों में पढ़ाई के मार्ग में आनेवाली कठिनाइयों का पता लगाते रहें और सूचना मिलने पर विद्वानों से सलाह-मशविरा करके उचित परामर्श दें।

5. आजकल सभी स्वीकार करते है कि विद्यार्थियों का जो समुदाय इन दिनों विश्वविद्यालय पढ़ने के लिए आता है, उसके अंग्रेजी-ज्ञान का स्तर बहुत ही नीचा होता है। इसीलिए उसे अंग्रेजी में उच्चतर ज्ञान देना सम्भव नहीं हो पाता। परन्तु यह शिक्षा की यथार्थ समस्या है। केवल दुख प्रकट कर देना या निराश हो रहना इसका समाधान नहीं है। इसका उपाय यही है कि अध्यापकों में नवनिर्माण का उत्साह जागे। अध्यापक के सामने यह एक बड़ी भारी चुनौती है, उसे इसका सामना करना ही पड़ेगा। इसलिए यदि विद्यार्थी अंग्रेजी में नहीं समझ रहे हैं, तो उन्हें हिन्दी में समझाने का प्रयत्न करना ही होगा। यदि ऐसा प्रयत्न नहीं किया गया तो देश की भावी पीढ़ियाँ बहुत कमजोर होती जायेंगी। यदि युवा अध्यापक सचाई के साथ प्रयत्न करें तो कोई कारण नहीं कि हिन्दी जल्दी-से-जल्दी अंग्रेजी ही के समान समर्थ भाषा सिद्ध न हो सके। विश्वविद्यालयों की कार्यकारिणी समितियाँ और विद्वत् समितियों को ऐसे वातावरण के निर्माण में भी प्रयत्नशील होना चाहिए, जिसमें हर अध्यापक को नया साहित्य-निर्माण करने का उमंग सहज ही प्राप्त हो सके। और इस उमंग के पैदा होने में जो बातें बाधक हैं, उन्हें दूर करने का भी प्रयत्न होना चाहिए।

6. श्रीमद्भगवत गीता में कहा है कि 'यद्यदाचरति श्रेष्ठः तत्तदेवेतरो जनः'; श्रेष्ठ लोग जो आचरण करते है, वैसा ही अन्य लोग भी करते है। विश्वविद्यालयों में हिन्दी का वातावरण तैयार करने के लिए विश्वविद्यालयों की उच्चतर संस्थाओं में हिन्दी केवल शिक्षा और परीक्षा में ही नहीं, प्रशासन में भी शुरू हो जानी चाहिए। जितना आवश्यक है, उससे अधिक अंग्रेजी का प्रयोग नहीं करना चाहिए। इस प्रकार यदि उच्चतर अधिकारी और समितियाँ हिन्दी में काम करने लगें तो उसका बड़ा व्यापक प्रभाव सभी पर पड़ेगा और वह उचित वातावरण

तैयार होगा जिसकी हमने ऊपर चर्चा की है।

शिक्षण का माध्यम हिन्दी हो, यह वांछनीय है, परन्तु इसकी तर्कसंगत परिणति यह होगी कि परीक्षा का माध्यम भी हिन्दी हो और प्रश्नपत्र भी हिन्दी में आयें। कई बार विद्यार्थियों की ओर से अभियोग सुनने को मिलता है कि प्रश्नपत्र हिन्दी में या तो दिये ही नहीं जाते है, यदि दिये भी जाते है तो अंग्रेजी प्रश्नपत्र के अनुरूप नही होते। प्रश्नपत्रों को अंग्रेजी और हिन्दी मे एक ही समान होना चाहिए।

प्रशासकीय कार्यालयों में हिन्दी के प्रयोग मे विशेष बाधा नही होनी चाहिए। शिक्षण के क्षेत्र की भाँति यहाँ भी उच्च पदस्थ अधिकारियों मे हिन्दी के प्रयोग के विषय में किसी-न-किसी प्रकार की मानसिक कुण्ठा और हिचक विद्यमान है। यहाँ भी केन्द्रीय सरकार की नीति का प्रभाव पडता है, क्योकि केन्द्रीय सरकार के साथ जो पत्र-व्यवहार होता है, वह प्राय: अंग्रेजी मे ही होने से अधिक फलप्रद होता है। फिर भी यदि मानसिक कुण्ठा त्याग कर दें, सरकारी पत्र-व्यवहार में हिन्दी का प्रयोग किया जाये, तो कोई बाधा नही है। कार्यालय-सम्बन्धी काम ज्यादा-से-ज्यादा हिन्दी में ही होना चाहिए। और, इस विषय में विश्वविद्यालयों के उच्च अधिकारियों और समितियों को अधिक-से-अधिक काम हिन्दी भाषा के माध्यम से करना चाहिए, ताकि उसका प्रभाव निम्न स्तर के लोगों पर पड़े। एक प्रमुख विश्वविद्यालय के विभिन्न अधिकारियों से पूछताछ करने पर निम्नांकित कठिनाइयाँ पायी गयी :

1. हिन्दी टंकण यन्त्रों का अभाव।
2. प्रशिक्षित आशुलिपिकों और टंककों का अभाव।
3. शब्दावली और वाक्यांशो की जानकारी की कमी।

इनमें पहला अर्थात् टंकण यन्त्रों का अभाव कुछ ऐसी समस्या नही है जिस पर विशेष विचार करने की आवश्यकता है। टंकण यन्त्र खरीदने के लिए अवश्य ही कुछ धनराशि की आवश्यकता होगी। सरकार और विश्वविद्यालयों का कर्तव्य है कि प्रत्येक विभाग को उसके आवश्यकतानुसार टंकण यन्त्र सुलभ करें। इसके लिए बजट मे कुछ उपयुक्त धनराशि का परिविधान आवश्यक है।

अच्छे टंककों और प्रशिक्षित आशुलिपिको का अभाव अवश्य ही एक समस्या है, परन्तु इस अभाव को थोड़ा प्रयत्न करके दूर किया जा सकता है। इस सम्बन्ध मे हमारा सुझाव है कि आशुलिपिकों के प्रशिक्षण के लिए हर विश्वविद्यालय की ओर से एक कोर्स शुरू किया जाये और इस बात का भी प्रयत्न किया जाये कि प्रचलित आशुलिपि-प्रणालियों को अधिक उपयोगी बनाने के लिए क्या किया जा सकता है।

प्रशासनिक शब्दावली भी अब इतनी बड़ी समस्या नही है। केन्द्रीय सरकार ने और कई राज्य सरकारों ने प्रशासनिक शब्दावली और रोजमर्रा काम आनेवाले प्रशासनिक वाक्यांशों का हिन्दी रूप तैयार कर दिया है। प्रशासन कार्यालय के प्रत्येक विभाग में केन्द्र द्वारा प्रकाशित शब्दावली और तत्सम्बन्धी

साहित्य की प्रतियाँ दी जानी चाहिए। यह बहुत आवश्यक है। यद्यपि यह वक्तव्य केवल हिन्दी के शिक्षण तक ही सीमित है, तथापि प्रशासन-सम्बन्धी प्रश्न भी इससे जुड़े हुए हैं। इसलिए उसकी थोड़ी-सी चर्चा यहाँ कर दी गयी है। यदि विश्वविद्यालयों में प्रशासन की भाषा अंग्रेजी बनी रहे तो वह प्रशिक्षण की भाषा को बराबर प्रभावित करती रहेगी। दोनों को अलग नहीं किया जा सकता।

अभी हमने जिन सारी कठिनाइयों की चर्चा की है वे उतनी कठिन नहीं हैं जितनी ऊपर-ऊपर से दिखायी देती है। कठिन भी हों तो उन पर विजय पानी ही होगी। यह देश के आत्मनिर्भर बनने का प्रश्न है। आज देश के हर क्षेत्र में आत्मनिर्भर बनने की आकांक्षा है। पिछली बार देश ने एक शत्रु पर विजय पायी है और देश में आत्मविश्वास का भाव आया। क्या सब ओर आत्म-निर्भर बनकर भी हम विचारों के क्षेत्र में परावलम्बी बने रहेंगे ? चाहें भी तो हम ऐसा कर सकते है ?

इस बात पर ध्यान देना हमें नही भूलना चाहिए कि शिक्षा का सामाजिक सन्दर्भ बदल गया है। कोई जमाना था जब शुद्ध ज्ञान की तलाश में लोग विश्वविद्यालयों में जाया करते थे, आज अधिकांश विद्यार्थी अच्छी जीविका या रोजगार पाने के लिए विश्वविद्यालयों मे जाते है। जनसंख्या की वृद्धि के साथ-साथ उपयुक्त शिक्षा-व्यवस्था और रोजगार देने की समस्या निरन्तर बढ़ती जा रही है। बेरोजगारी बढ़ने से समाज की अव्यवस्था भी बहुत बढ़ गयी है और लगता है कि और भी बढ़ेगी। शिक्षा-संस्थाओ मे इस बेचैनी की तरंगें तेजी से टकरा रही है। उनमे प्रवेश से लेकर अन्तिम परीक्षा देने तक भी जो अनेक प्रकार के दबाव, सारे कायदे-कानून को अस्त-व्यस्त कर रहे है, उनके मूल में यही सामाजिक परिस्थिति है। सन्दर्भ के बदल जाने से परिप्रेक्ष्य बदलता है और परिप्रेक्ष्य के बदलने से अर्थ भी बदल जाया करता है। आज निश्चित रूप से सामाजिक सन्दर्भ बदल रहा है, और इसलिए हमारी सार्थकता भी क्रमशः बदल जाने को बाध्य है, इसीलिए समय की माँग पूरी करने मे हम असमर्थ होते जा रहे है। चाहे अन्न की समस्या को लें, चाहे बेरोजगारी की समस्या को लें, चाहे बढ़ती हुई आबादी की समस्या को लें, जब तक हम आधुनिक विज्ञान और प्रविधिशास्त्र का सहारा नही लेते और आधुनिकतम पद्धतियों को नही अपनाते, तब तक हम सही समाधान भी नहीं ढूंढ सकते। इसलिए आज के युग में विश्वविद्यालय की शिक्षा को सामाजिक सन्दर्भ मे रूप देने की आवश्यकता बढ़ गयी है। हम चाहे भी तो इससे अलग नही रह सकते। अपनी भाषा द्वारा शिक्षा आज के सामाजिक [illegible] के अनुकूल है। जिसे अंग्रेजी मे 'रेलिवेंस' कहते हैं, [illegible] कहते हैं,

मोह में भी बँधे हुए हैं और यथार्थ की विवशता से भी संघर्ष करते जा रहे हैं। भगवान् श्रीकृष्ण ने बहुत पहले सावधान कर दिया है : 'जो बात तुम मोहवश करना नही चाहते, उसे विवश होकर करना पड़ेगा।'

सो, यह करना तो पड़ेगा ही। सूझबूझ के साथ करना अच्छा होगा।

[साप्ताहिक हिन्दुस्तान, 26 अगस्त 1973]

शिक्षा की सार्थकता

आपने इस समावर्त्तन समारोह मे मुझे उपस्थित होने का अवसर दिया है, उसके लिए मैं आपका आभारी हूँ। विद्या और व्रत में स्नान करके पवित्र बने हुए तरुण स्नातकों से मिलने से बड़ा आनन्द और क्या हो सकता है! प्राचीन भारत मे स्नातक का सम्मान बहुत अधिक था, राजा को भी उसके लिए रास्ता छोड़ना पड़ता था। विद्या प्राप्त करके निकला हुआ स्नातक सचमुच वन्दनीय है। उसमे एक ओर जहाँ जीवन की उद्वेल तरगें हिलोर लेती रहती हैं, वही यथार्थ जगत् के स्वार्थ-संकुल मनोविकारों से बिल्कुल अछूता चित्त उज्ज्वल दर्पण के समान सब-कुछ को ठीक-ठीक समझने और ग्रहण करने के लिए प्रस्तुत रहता है। यद्यपि वर्तमान शिक्षा-व्यवस्था मे विद्या में जैसे-तैसे स्नान कर लेना ही आवश्यक मान लिया गया है, समाज को सुखी और समृद्ध बनाने के लिए कठोर संयम और आत्म-नियन्त्रण का व्रत उपेक्षित रह जाता है, फिर भी किसी प्रकार की जानकारी प्राप्त करने के लिए कुछ-न-कुछ संयम और साधना आवश्यक हो ही जाती है, विद्या और व्रत एक-दूसरे से किसी-न-किसी रूप में जुडे ही रहते है, इसलिए आज की बहुत बदली हुई परिस्थिति में भी स्नातक किसी-न-किसी रूप मे विद्यास्नान के साथ ही व्रत-स्नान भी करता ही है। अगर विद्या के साथ-साथ उचित मात्रा में व्रतस्नान की व्यवस्था नही की गयी है, तो यह शिक्षा-व्यवस्था का दोप है, इन किशोर स्नातको को उसके लिए दोषी नही माना जा सकता। हमारे देश मे, और शायद अन्यत्र भी, किशोरावस्था को बहुत गौरव दिया गया है। इस अवस्था में मन, प्राण और इन्द्रिय, सभी पूर्ण प्रस्फुटन की ओर अग्रसर होते रहते है। यही कारण है कि पूजनीय देवी-देवताओ के किशोरवय का ही ध्यान किया जाता है—किशोरवय, 'ब्लूमिंग एज'! शास्त्रकारो ने विधान किया है कि किशोरावस्था का ही ध्यान करना चाहिए—"वयः कैशोरकं ध्यायेत्"! सो आपने विद्याव्रत-स्नात किशोर

तरुणों के सामने, जो विश्वात्मा की उत्तरंग जीवन-धारा के साक्षात् विग्रह हैं, उपस्थित होने का अवसर देकर मुझे परम अनुगृहीत किया है। इस कृपा के लिए सचमुच आभारी हूँ।

परन्तु, आपने मेरे ऊपर इन विद्याव्रत-स्नात तरुणों को सम्बोधन करके कुछ कहने का भार भी दिया है। इस भार के लिए आभार प्रकट करने का उत्साह मुझमें नही है। बड़े दुर्घटकाल मे इन लोगों ने विद्या के महानद में स्नान किया है। सारा देश अभाव की मार से जर्जर है, बेरोजगारी की सुरसा अपने विकराल जबड़े को निरन्तर फैलाये ही जा रही है, सर्वत्र अविश्वास की आँधी बह रही है, आर्थिक दुर्व्यवस्था और सामाजिक विघटन का वात्याचक्र दुरन्त वेग से घूमता जा रहा है, परस्पर के आरोप-प्रत्यारोप के कोलाहल का कुहासा इतना घना हो गया है कि सामने का कुछ भी स्पष्ट दिखायी नही दे रहा है। इसी दुर्घटकाल में इन तरुणों ने पढाई समाप्त की है और अब जीविका के सन्धान के लिए विद्यालय की सुरक्षित चहारदीवारी के बाहर के समस्या-सकुल समाज में प्रविष्ट होने को बाध्य हैं। देश वही है, जनता वही है, हवा-पानी वही है; पर मन बदल गया है, बुद्धि कुण्ठित दिख रही है, प्रकाश की क्षीण रेखा भी दुर्लभ हो रही है। क्या कहा जाय—'सखि वै, तुम वै, हम वैही रहे पै कछू-के-कछू मन ह्वै गये हैं !'

मेरे तरुण मित्रो, मैंने अभी जो कुछ कहा है, उसका उद्देश्य आपको हतोत्साहित करना नही है। यह स्थिति है और रहेगी। भविष्य में समस्याओं के घटने की कोई आशा नही है। अनेक श्रेणी के विज्ञानों के नित्य नये आविष्कार, मनुष्य-अन्तरतर के सुधार के लिए किये गये बहुविध तत्त्व-चिन्तन, प्रौद्योगिकी और प्रविधि की निरन्तर बढ़ती हुई जानकारी हमारे मन पर जमे हुए संस्कारों पर निरन्तर चोट कर रही है।

समाज-व्यवस्थापन के पुराने कायदे-कानून निरन्तर उलझते और टूटते जा रहे हैं, नये-नये संशोधनों और निषेधात्मक कानूनों के द्वारा पुराने और नये के बीच उभरे हुए संघर्षों को अधिक उग्र बनाने से रोकने का प्रयास किया जा रहा है। परन्तु, जब तक नये-नये संशोधन और निषेधात्मक नियम बनकर कार्यरूप मे परिणत होते हैं, तब तक विज्ञान आगे बढ़ जाता है—समस्या उलझी रह जाती है। किसी भी देश और उसके किसी भी क्षेत्र की कानूनी पुस्तकों को देखिए, तो उसमें निषेधमूलक प्रतिबन्धों का विशाल आडम्बर मिलेगा। पुराने नियमों के साथ, 'शर्त यह है कि' या 'इस प्रतिबन्ध के साथ' जैसे वाक्यांश इतने अधिक हैं कि मूल चादर की तुलना में पैबन्द ही अधिक मुखर देखे जायेंगे। हमारे विश्वविद्यालयों के नियमों में भी प्रतिबन्ध-परक निषेधात्मक उपनियमों का बाहुल्य है। सारे देश से विच्छिन्न होकर विश्वविद्यालय रह भी कैसे सकते हैं? वस्तुतः हमने गुरुकुल-प्रणाली को तिलांजलि दे दी है। गुरुकुल—जिसके केन्द्र में गुरु प्रतिष्ठित था—अब बात-की-बात है। हमने शिक्षा के क्षेत्र में 'कानून कुल' प्रणाली को अपना लिया है। यह होगा और इसके साथ इसका अवश्यम्भावी परिणाम भी होगा। कानूनी व्यवस्था

दो प्रकार के तत्त्वों से मिलकर बनती है—परम्परा के प्रति निष्ठ संसवित और परिवर्त्तन तथा रूपान्तरण के लिए नवीन प्रकल्पन और अन्वेषण। समस्त मानव-जीवन की ही भाँति समाज-व्यवस्था मे भी सन्दिग्ध प्रकल्पनों का पहले विरोध होता है, फिर वे स्वीकृत होते हैं, और इसके बाद स्वयं घटित होने लगते हैं। फिर तो हम नयी परिस्थितियों पर आ जाते हैं। शुरू-शुरू में सडक पर चलने के सम्बन्ध में बनाये गये नियम का सीखना कठिन होता है। प्रारम्भ में उसका विरोध भी होता है, परन्तु बाद में वह स्वतः मान्य हो जाता है, और वही नियम नयी परिस्थितियो से उत्पन्न अपने अनुवर्त्ती नियमों के विरोध का स्वयं आधार बन जाता है। इस प्रक्रिया में पुनः सामंजस्य-विधान प्रक्रिया निहित होती है। परिवर्तनशील परि-स्थितियो के साथ निरन्तन अनुकूलन का क्रम चलता रहता है। कभी-कभी तो यह पुनर्गठन और अनुकूलन, क्रान्ति की प्रसव-पीड़ा के साथ और कभी अधिक शान्ति-पूर्ण परन्तु शिथिल ढंगों से प्राप्त हुआ है। परिवर्त्तन के आघातों को जहाँ तक सम्भव हो, अल्पकालिक और कम क्षयकारी बनाने का कार्य सदैव चलता आया है। सामान्यतः जो सामाजिक शक्ति व्यक्तिगत और राष्ट्रीय कलहों में व्यय हो जाती है, उसके समुचित विनियोग में विधि, न्यायालय, पुलिस, प्रशासन, संसद, कूटनीतिक सन्धि, संघ आदि सभी उपयोगी सिद्ध हुए है।

ध्यान से देखें तो इनमें बहुत-सी बातें नयी है और नया दृष्टिकोण लेकर चलायी जा रही है। मनुष्य की समानता और सभी को उचित अवसर देने के महान् संकल्प से यह नया दृष्टिकोण बना है। कोटि-कोटि उपेक्षित और सुयोग-वंचित मनुष्यो को जब समान अवसर देने की बात उठेगी, तो कोलाहल होना अचरज की बात नही होगी। पुराने संस्कार के खूँटो से बँधे चित्त भडकेंगे भी, अभाव और छीनाझपटी की सम्भावना भी होगी। हमारा देश जिस महान् संकल्प के साथ अग्रसर हो रहा है, उसके ये परिणाम हो ही सकते हैं। कितने दिनों तक यह झमेला बना रहेगा, कोई नहीं कह सकता। राजनीति और सामाजिक उलट-फेर की भविष्यवाणियाँ अधिकतर मिथ्या सिद्ध हुई हैं। आपको यह सब इसलिए सुना रहा हूँ कि आप मानसिक दृष्टि से सन्नद्ध होकर बृहत्तर समाज मे प्रवेश करें। इस उपवन में वासन्ती बयार में झूमते पुष्पो की मादकता ही नही है, विपाक्त दंशवाले सर्प और डंक मारनेवाले जहरीले बिच्छू भी भरे पड़े हैं। प्रौढ़वय के लोग यथा-स्थिति को ही पसन्द करने लगते हैं, नौजवान परिवर्त्तन की आँधी का स्वागत करते है। इसीलिए, आपसे यह बात कहने मे मुझे सकोच नहीं है। आप बाधा-विघ्न से जूझने में उत्साह ही अनुभव करेंगे, जवानी विघ्नों और बाधाओं को रौंदकर चलनेवाली अवस्था है :

"बाधाएँ हैं, है विघ्न जानता हूँ मैं,
पर यही जानकर प्राण बस मे झूमें।"

मेरे तरुण मित्रो, परिवर्त्तन होगा ही, यह प्रकृति का नियम है। विज्ञान, मनो-विज्ञान, और समाज-विज्ञान के क्षेत्र में सामूहिक रूप से और योजनाबद्ध तरीके

से मानव-मस्तिष्क का उद्घाटन होता जा रहा है और उसे कार्यान्वित करने के लिए निरन्तर अर्जित मानवीय-मनीषा से उद्भूत प्रविधि-ज्ञान उसमें अभूतपूर्व तेजी भी ला रहा है। सो, परिवर्तन भी होगा, उसमें तेजी भी आयेगी और हर आँधी के साथ आनेवाली उथल-पुथल भी दिखायी देगी। परन्तु, परिवर्तन अपने-आपमें कोई बड़ा मूल्य नहीं है। इस दुनिया में सब-कुछ परिवर्तित होने को बाध्य है। यही प्रकृति का विधान है। परन्तु, मनुष्य की सामूहिक मनीषा से जो तेजी आयी, वह उसे दो दिशाओं में ले जाती है। जो जैसा होने को बाध्य है वह 'प्रकृति' है, पर इसे परिमार्जित और वांछित दिशा में ले जानेवाला परिवर्तन 'संस्कृति' कहा जाता है, कुत्सित और अवांछित दिशा में ले जानेवाला परिवर्तन 'विकृति' कहा जाता है; प्रकृति या तो संस्कृति की ओर ले जायी जाती है, या विकृति की ओर। इसी में मूल्य की अवतरणा होती है। केवल परिवर्तन नहीं, संस्कृति की ओर ले जानेवाला परिवर्तन ही वांछनीय है। प्रसिद्ध समाजशास्त्री चार्ल्स ई. मेरियम ने कहा था—"*इसमें आश्चर्य नहीं कि राजनीति की क्रियाविधि और साधनों का कभी-कभी इस प्रकार दुरुपयोग किया गया है कि उनसे सामाजिक उपकार की अपेक्षा अपकार ही प्रतिफलित हुआ है। सैन्य-व्यवस्था समाज की सुरक्षा के कार्य को तज-कर आक्रामक युद्ध की ओर अग्रसर हो सकती है, न्यायालय अन्याय का साधन बन सकता है, संसद षड्यन्त्रकारियों के कलुषित अभिकल्पों पर पर्दा डाल सकती है, प्रशासन अक्षम नौकरशाही का रूप धारण कर सकता है, परन्तु यह बात राज्य के सम्बन्ध में उतनी ही सही है जितनी कि चर्च या अन्य किसी भी सामाजिक या आर्थिक संस्था के सम्बन्ध में, जिसके संगठन किसी साध्य के साधन होने की अपेक्षा स्वयं अपने में साध्य बन जाते हैं। इन सभी संस्थाओं में पराश्रयी, पथभ्रष्टकर्ता, विश्वासघाती और अयोग्य व्यक्ति होते ही हैं, जो संस्था के प्रतीक को—चाहे वह संस्था चर्च हो या व्यापार-मण्डल या श्रमिक-संघ या विश्वविद्यालय—सर्वथा अनुचित उद्देश्यों की पूर्ति के लिए प्रयुक्त करते हैं। और, यही बात किसी भी मानव-संस्था के विषय में कही जा सकती है।*

परिवर्तन की दिशा सामूहिक कल्याण की ओर होनी चाहिए। क्षुद्र, स्वार्थी और असंयमी तथा विवेकहीन व्यक्तियों के हाथों में परिवर्तन विकृति की ओर चला जाता है। देश को इस समय संयमी, चरित्रवान् और विवेकशील युवकों की आवश्यकता है। आपको जो भी विद्या मिली है, उसकी पृष्ठ-भूमि में अगर संयम, चरित्रबल और विवेक नहीं है, तो वह केवल व्यर्थ ही नहीं जायेगी [illegible] समाज को महानाश के गर्त्त में ढकेल देगी। ज्ञान [illegible] सार्थक ह[illegible] संयम, इन्द्रिय-निग्रह और विवेक से अनुवर्ति[illegible] सेवा [illegible] रखकर चलती है।

मस्ति !' जो अपने को दे नहीं सका, वह अपने को पा भी नहीं सकता। मनुष्य की महिमा दातृत्व-शक्ति मे है। वही बड़ा होता है जो निरन्तर अपने को लुटाता रहता है—सामूहिक कल्याण के लिए, सामाजिक मंगल के लिए। तुलसीदास के शब्दों में :

"सो अनन्य अस जाहिकर मति न टरै हनुमन्त।
मैं सेवक, सचराचर रूप राशि भगवन्त॥"

आज सारा देश खण्ड-स्वार्थों में बँट गया है, हर आदमी किसी-न-किसी दल, वर्ग या जाति का कल्याणकामी है, विश्व-कल्याण की बात तो छोड़ दीजिए, पूरे देश को सामने रखकर सोचनेवाला आदमी भी दुर्लभ होता जा रहा है। कहाँ 'सचराचर रूप राशि' को भगवन्त समझकर सेवक बनने की उदात्त भावना और कहाँ खण्ड-स्वार्थों का तुमुल कोलाहल ! जो नौजवान आदर्शवादी बनकर विद्यालय से निकलता है, वह भी इस विकट जाल में फँस जाता है। बार-बार खण्ड-स्वार्थों की मार सहकर वह भी किसी-न-किसी दल या वर्ग का आश्रय खोजने को बाध्य होता है। व्यक्तिगत और दलगत स्वार्थ अन्ततः सैकड़ों प्रकार के भ्रष्ट उपाय सीखने को प्रोत्साहित करते है। कुछ ऐसा माहौल बन गया है कि हर आदमी भ्रष्टाचार की शिकायत भी करता है और स्वयं अवसर पाने पर उस प्रकार के ही आचरण करने लगता है। सदाचार केवल भीरु और मूर्ख और अकर्मण्य लोगों के लिए छोड दिया गया है। इस दुश्चक्र को तोड़ना है। अन्तिम विजय सत्य की होती है, सदाचार की होती है। सदाचार अकर्मण्यता का नाम नही है। वह जीवन को छोटे स्वार्थों के जाल से निकालकर समाज के सामूहिक मगल की ओर प्रेरित करता है। अगर कही उसका अभाव है, तो वह इसलिए है कि मन छोटा हो गया है, आत्मकेन्द्रित हो गया है, लक्ष्य-भ्रष्ट हो गया है। पहली बात है प्रशस्त मन, उदार हृदय, पर-दु ख-कातर सवेदना, अपने को लुटाकर दूसरे को सुखी बनाने की उमंग। गोस्वामी तुलसीदास ने ठीक ही कहा था कि "परहित बस जिनके मन माही। तिन कहँ जग दुर्लभ कुछ नाही"। समस्त सफलताओ की कुञ्जी है उदार मन। जिसके हृदय मे स्वार्थ से ऊपर उठने की उमंग है, उसके लिए ससार में कुछ भी असाध्य नही है। देश को आज ऐसे ही उदारमना नौजवानों की आवश्यकता है। छोटे मन और खोटे दिलवालों से समस्या का समाधान नही होनेवाला है।

निस्सन्देह इतिहास ने आपको नयी चुनौती दी है। अपने विद्यालय में आपने जो कुछ पढ़ा है, वह बहुत थोड़ा है, लेकिन वही साधन है, वही सम्बल है। अब आप बड़े विद्यालय मे जा रहे हैं—जीवन के, कर्म के, संकटों के महाविद्यालय मे, यहाँ सही शिक्षा मिलेगी। बडी कठोर शिक्षा होगी वह। दफ्तरों में भर्ती होने की होड़ मे मत पड़िए। आपने लिखना-पढ़ना सीखा है। हमारे देश की जनता के बारे मे परिचयात्मक पुस्तकें हमारी भाषाओ में नही हैं। क्यों न आप अपने गाँव-जवार को

से मानव-मस्तिष्क का उद्घाटन होता जा रहा है और उसे कार्यान्वित करने के लिए निरन्तर अर्जित मानवीय-मनीषा से उद्भूत प्रविधि-ज्ञान उसमें अभूतपूर्व तेजी भी ला रहा है। सो, परिवर्तन भी होगा, उसमे तेजी भी आयेगी और हर आँधी के साथ आनेवाली उथल-पुथल भी दिखायी देगी। परन्तु, परिवर्तन अपने-आपमें कोई बड़ा मूल्य नहीं है। इस दुनिया मे सब-कुछ परिवर्तित होने को बाध्य है। यही प्रकृति का विधान है। परन्तु, मनुष्य की सामूहिक मनीषा से जो तेजी आयी, वह उसे दो दिशाओ मे ले जाती है। जो जैसा होने को बाध्य है वह 'प्रकृति' है, पर इसे परिमार्जित और वांछित दिशा मे ले जानेवाला परिवर्तन 'संस्कृति' कहा जाता है, कुत्सित और अवांछित दिशा में ले जानेवाला परिवर्तन 'विकृति' कहा जाता है; प्रकृति या तो संस्कृति की ओर ले जायी जाती है, या विकृति की ओर। इसी मे मूल्य की अवतरणा होती है। केवल परिवर्तन नही, सस्कृति की ओर ले जानेवाला परिवर्तन ही वांछनीय है। प्रसिद्ध समाजशास्त्री आर्ल्स ई. मेरियम ने कहा था—"इसमें आश्चर्य नही कि राजनीति की क्रियाविधि और साधनो का कभी-कभी इस प्रकार दुरुपयोग किया गया है कि उनसे सामाजिक उपकार की अपेक्षा अपकार ही प्रतिफलित हुआ है। सैन्य-व्यवस्था समाज की सुरक्षा के कार्य को तज-कर आक्रामक युद्ध की ओर अग्रसर हो सकती है, न्यायालय अन्याय का साधन बन सकता है, संसद षड्यन्त्रकारियो के कलुषित अभिकल्पो पर पर्दा डाल सकती है, प्रशासन अक्षय नौकरशाही का रूप धारण कर सकता है, परन्तु यह बात राज्य के सम्बन्ध में उतनी ही सही है जितनी कि चर्च या अन्य किसी भी सामाजिक या आर्थिक सस्था के सम्बन्ध में, जिसके संगठन किसी साध्य के साधन होने की अपेक्षा स्वयं अपने मे साध्य बन जाते है। इन सभी संस्थाओ में पराश्रयी, पथभ्रष्टकर्त्ता, विश्वासघाती और अयोग्य व्यक्ति होते ही है, जो संस्था के प्रतीक को—चाहे वह संस्था चर्च हो या व्यापार-मण्डल या श्रमिक-सघ या विश्वविद्यालय—सर्वथा अनुचित उद्देश्यों की पूर्ति के लिए प्रयुक्त करते हैं। और, यही बात किसी भी मानव-संस्था के विषय मे कही जा सकती है।

परिवर्तन की दिशा सामूहिक कल्याण की ओर होनी चाहिए। क्षुद्र, स्वार्थी और असंयमी तथा विवेकहीन व्यक्तियों के हाथों मे परिवर्तन विकृति की ओर चला जाता है। देश को इस समय संयमी, चरित्रवान् और विवेकशील युवकों की आवश्यकता है। आपको जो भी विद्या मिली है, उसकी पृष्ठ-भूमि में अगर सयम, चरित्रबल और विवेक नही है, तो वह केवल व्यर्थ ही नही जायेगी, बल्कि समाज को महानाश के गर्त्त में ढकेल देगी। जानकारी तभी सार्थक होती है, जब वह संयम, इन्द्रिय-निग्रह और विवेक से अनुवर्त्तित होती है और सेवा तथा प्रेम को सामने रखकर चलती है।

इसी जगह आपको पूर्वजो के अनुभव और तत्त्व-चिन्तन से सहायता मिल सकती है। छोटे-छोटे लाभों और खण्ड-स्वार्थों में भटकना सुख नही है। सुख है, महान् सत्य के लिए अपने-आपको निछावर कर देने में—'भूमैव सुखं नाल्पे सुख

मस्ति !' जो अपने को दे नहीं सका, वह अपने को पा भी नही सकता। मनुष्य की महिमा दातृत्व-शक्ति मे है। वही बडा होता है जो निरन्तर अपने को लुटाता रहता है—सामूहिक कल्याण के लिए, सामाजिक मंगल के लिए। तुलसीदास के शब्दों मे :

"सो अनन्य अस जाहिकर मति न टरै हनुमन्त।
मैं सेवक, सचराचर रूप राशि भगवन्त॥"

आज सारा देश खण्ड-स्वार्थों मे बँट गया है, हर आदमी किसी-न-किसी दल, वर्ग या जाति का कल्याणकामी है, विश्व-कल्याण की बात तो छोड़ दीजिए, पूरे देश को सामने रखकर सोचनेवाला आदमी भी दुर्लभ होता जा रहा है। कहाँ 'सचराचर रूप राशि' को भगवन्त समझकर सेवक बनने की उदात्त भावना और कहाँ खण्ड-स्वार्थों का तुमुल कोलाहल ! जो नौजवान आदर्शवादी बनकर विद्यालय से निकलता है, वह भी इस विकट जाल में फँस जाता है। बार-बार खण्ड-स्वार्थों की मार सहकर वह भी किसी-न-किसी दल या वर्ग का आश्रय खोजने को बाध्य होता है। व्यक्तिगत और दलगत स्वार्थ अन्ततः सैकड़ों प्रकार के भ्रष्ट उपाय सीखने को प्रोत्साहित करते है। कुछ ऐसा माहौल बन गया है कि हर आदमी भ्रष्टाचार की शिकायत भी करता है और स्वयं अवसर पाने पर उस प्रकार के ही आचरण करने लगता है। सदाचार केवल भीरु और मूर्ख और अकर्मण्य लोगों के लिए छोड़ दिया गया है। इस दुश्चक्र को तोड़ना है। अन्तिम विजय सत्य की होती है, सदाचार की होती है। सदाचार अकर्मण्यता का नाम नही है। वह जीवन को छोटे स्वार्थों के जाल से निकालकर समाज के सामूहिक मगल की ओर प्रेरित करता है। अगर कही उसका अभाव है, तो वह इसलिए है कि मन छोटा हो गया है, आत्मकेन्द्रित हो गया है, लक्ष्य-भ्रष्ट हो गया है। पहली बात है प्रशस्त मन, उदार हृदय, पर-दु.ख-कातर सवेदना, अपने को लुटाकर दूसरे को सुखी बनाने की उमंग। गोस्वामी तुलसीदास ने ठीक ही कहा था कि "परहित बस जिनके मन माही। तिन कहँ जग दुर्लभ कुछ नाहीं"। समस्त सफलताओं की कुञ्जी है उदार मन। जिसके हृदय में स्वार्थ से ऊपर उठने की उमंग है, उसके लिए ससार में कुछ भी असाध्य नही है। देश को आज ऐसे ही उदारमना नौजवानों की आवश्यकता है। छोटे मन और खोटे दिलवालो से समस्या का समाधान नहीं होनेवाला है।

निस्सन्देह इतिहास ने आपको नयी चुनौती दी है। अपने विद्यालय मे आपने जो कुछ पढ़ा है, वह बहुत थोड़ा है, लेकिन वही साधन है, वही सम्बल है। अब आप बड़े विद्यालय मे जा रहे हैं—जीवन के, कर्म के, सकटों के महाविद्यालय मे, वहाँ सही शिक्षा मिलेगी। बडी कठोर शिक्षा होगी वह। दफ्तरों मे भर्ती होने की होड मे मत पड़िए। आपने लिखना-पढना सीखा है। हमारे देश की जनता के बारे मे परिचयात्मक पुस्तकें हमारी भाषाओं मे नही हैं। क्यों न आप अपने गाँव-जवार को

अध्ययन का क्षेत्र बनायें ? वहाँ कौन-से लोग रहते हैं, क्या उनका इतिहास है, क्या खाते-पीते हैं, भूमि कैसी है, बाढ-सूखे का क्या हिसाब है, कौन-सी भाषा बोलते हैं, किन रीति-रस्मों का पालन करते है, शिक्षा की क्या गति है, आर्थिक उन्नयन का कोई साधन है या नही, कौन-से शिल्प और उद्योग हैं, खपत का कोई उपाय हो सकता है या नही, उनको कुछ नया कौशल दिया जा सकता है या नही, यातायात की सुविधाएँ कैसे दी जा सकती है, क्या कुछ खनिज द्रव्य मिल सकते है, बाहर की दुनिया की खबर उन तक पहुँच सकती है या नही, क्यों नही पहुँचती ? फिर दूसरे देशों की इन्ही समस्याओं से तुलना करके देखने की भी जरूरत है । आज सरकार जन-कल्याण के अनेक प्रयत्नों में लगी है । सब समय सरकारी मशीन सन्तोषजनक ढंग से नही चलती । क्यों नही चलती, देनेवालों की त्रुटियाँ क्या है, लेनेवालों की बाधाएँ कहाँ है ? शिकायत करने का प्रश्न नही है, सुधार करने का सवाल है। नौकरी पाने के लिए नही, शुद्ध चित्त से सेवा करने के लिए । मन को दृढ़ कीजिए, उदार बनाइए । जिनके हाथ मे अधिकार है, वे गलत समझ सकते हैं, पर डरिए नही । कुछ समय तक सन्देह और कष्ट का शिकार बनना पड़ेगा, पर अधिक देर तक नहीं । वे दिन लद गये हैं जब अधिकारी हमेशा अधिकारी ही बना रहता था। अगर आप लिखने मे रुचि रखते हैं, तो लिखने की सामग्री का अभाव नही है। लक्ष्य निश्चित हो जाने पर रास्ता भी मिल जाता है। पहले लक्ष्य निश्चित कीजिए और फिर रास्ते पर निकल पडिए। रास्ता ही रास्ता बता देगा। निराश होकर बैठ रहना अपना ही अपमान है । अगर आपका हृदय सवेदनशील है, तो चारो ओर फैली हुई वेदना का कम्पन उसमे अवश्य सुनायी देगा । आप बैठे नही रह सकते। जब मैं अपने विद्यार्थियो से यह सुनता हूँ, कि 'बैठा हूँ' तो सिर ठोक लेता हूँ। हमने कैसी शिक्षा दी है कि जिसे सौ-पचास की नौकरी नही मिलती, वह बैठ जाता है ? मानो पेट भरने के लिए कुछ रोजगार न मिले तो कुछ कर्त्तव्य शेष ही नही रह जाता ! वह आपका नही, हमारी दी हुई शिक्षा का दोष है। यह कैसी शिक्षा है जो चारो ओर फैली हुई दीनता की त्राहि-त्राहि की पुकार सुनने योग्य भी नही बनाती ? वह शिक्षा शिक्षा नही है जो सवेदनशून्य, निष्क्रिय बना दे। वह क्या है, मैं नही जानता, कदाचित् कोल्हू है जो शिक्षित के दिमाग और हृदय को पेरकर रसशून्य, संवेदनशून्य खली बना देती है।

आपने आज कुछ प्रतिज्ञाएँ की हैं। आपने सत्य बोलने की, धर्माचरण की, स्वाध्याय से प्रमाद न करने की प्रतिज्ञा ली है। मैं ठीक नही जानता कि आपने ऐसी प्रतिज्ञा करते समय इसका अर्थ समझा है या नही, इसे गम्भीर भाव से ग्रहण किया है या नहीं, पर मेरी सलाह है कि आप इस प्रतिज्ञा पर जीवन-भर दृढ़ बने रहें। सत्य अपना पूरा मूल्य वसूलता है। आपको कदाचित् कठिन परिस्थितियों का सामना करना पडे । उस समय विचलित न होइए। सत्य से, धर्म से, स्वाध्याय से आप जीवन को चरितार्थ करेंगे । इनके साथ धोखा-धड़ी करने से तात्कालिक लाभ भले ही मिल जाय, अन्त तक न आपका अपना हित हो सकेगा, न समाज

का। मेरी हार्दिक शुभकामना है कि सत्य के, धर्म के, निरन्तर ज्ञान ग्रहण करने के मार्ग से विचलित न हों। आपका कल्याण हो, आपकी जीवन-यात्रा मंगलमय हो—"शुभास्ते सन्तु पन्थानः"।

[का. सु. साकेत स्नातकोत्तर महाविद्यालय, फैजाबाद में पठित दीक्षान्त भाषण—16 मार्च 1974]

स्वतन्त्रता-संघर्ष का इतिहास

भारत के स्वतन्त्रता-संघर्ष का इतिहास काफी लम्बा और पेचीदा है। अठारहवी शताब्दी के प्रथम चरण मे हिन्दुस्तान इस अर्थ मे स्वतन्त्र था कि उसके किसी भाग पर किसी बाहरी शक्ति का आधिपत्य नही था। भारत ही सभी अधिपतियों का जन्मस्थान था, भारत के बाहर किसी स्थान पर न उनका आधिपत्य था और न उसकी मिलकियत पर उनका कोई दावा था। पर उस समय देश की राजनीतिक शक्ति काफी बिखरी हुई थी। देश विभिन्न राज्यो मे बँट गया था और उनमें काफी प्रतिद्वन्द्विता और टकराव था। इस टकराव ने किसी हद तक साम्प्रदायिकता का रूप धारण जरूर किया, जब मराठाओ ने हिन्दू पादशाही का नारा लगाया और शाह वलीउल्लाह साहब ने मराठा काफिरो को दिल्ली से मार भगाने के लिए अफगानिस्तान के अहमदशाह अब्दाली को आमन्त्रित किया। पर ये संघर्ष वास्तव मे साम्प्रदायिकता की बजाय साम्राज्यिक थे, आधिपत्य की भावना से प्रेरित थे। अहमदशाह अब्दाली के सैनिको ने जब दिल्ली लूटनी शुरू की तब उन्होंने हिन्दू और मुसलमान दोनों को बुरी तरह सताया, दोनों पर अत्याचार किये, यहाँ तक कि शाह वलीउल्लाह साहब को भी घर छोड़कर दूसरी जगह जाना पड़ा। और, हिन्दू पादशाही का नारा लगानेवाले मराठो ने आगरा के जाटों को ही नही सताया, बल्कि आपस में भी मारकाट शुरू कर दी। आधिपत्य की भावना से प्रेरित सरदारो को न जनता की भलाई की कोई चिन्ता थी, न जनता की स्वतन्त्रता के प्रति कोई आदरभावना। उन्हे जनता की वास्तविक शक्ति की भी कोई अनुभूति नही थी। गद्दी के दावेदार हर प्रकार का कुचक्र और छल करने को तैयार रहते थे और अपनी महत्त्वाकांक्षा की पूर्ति के लिए अपनी जाति, धर्म और परिवार के शत्रुओ से सहायता लेने में उन्हें कोई हिचक नही होती थी।

अठारहवीं शताब्दी के दूसरे चरण में फ्रान्सीसियों और अंग्रेजों ने इस स्थिति

से काफी लाभ उठाया, उन्होंने सरदारों के पारिवारिक कलह में डटकर भाग लिया, एक दावेदार के विरुद्ध दूसरे दावेदार को सहायता करते हुए दक्षिण में अपना प्रभावक्षेत्र स्थापित करने का प्रयत्न किया, जिसमें वे बहुत हद तक सफल भी हुए।

अठारहवीं शताब्दी के तीसरे चरण में आपसी कलह से लाभ उठाकर अंग्रेजो ने बंगाल और बिहार पर अपना वास्तविक आधिपत्य स्थापित कर लिया। सन् 1757 ई. मे प्लासी के युद्ध में बंगाल के नवाब शिराजउद्दौला की पराजय का मूल कारण सेनापति मीर जाफर और सेठ अमीचन्द की गद्दारी थी। उस समय क्लाइव को भय था कि जनता विदेशी शक्ति के राजनीतिक प्रभाव को सहन नहीं करेगी, और बगावत कर देगी, पर न जनता ने बगावत की और न किसी सरदार ने जनता को इसके लिए संगठित करने का कोई प्रयत्न किया। मीर जाफर के बड़े पुत्र मीराम ने अंग्रेजों के दुर्व्यवहार से तंग आकर जब लड़ने की ठानी तब उन्होंने जनता की शक्ति को जुटाने की बजाय फ्रान्सीसियों और डचों का मुंह ताका, उनकी सहायता से अपने देश में अपना आधिपत्य प्रतिष्ठित करने की कोशिश की।

सन् 1773 ई. तक बंगाल और बिहार पर अपना राजनीतिक प्रभुत्व अच्छी तौर पर स्थापित कर अगले पचहत्तर वर्षों में अंग्रेजों ने धीरे-धीरे सारे देश पर अपना साम्राज्य कायम कर लिया। इसमें अंग्रेजों की महत्त्वाकांक्षा, उनके राजनयिक कौशल तथा ब्रिटिश सैन्यदल का योगदान अवश्य था, पर भारतीय सरदारों और राजाओं की आपसी सामन्तशाही कलह ही देश की पराजय का मूल कारण थी, और यह कलह साम्प्रदायिकता की कुत्सित भावना की बजाय सामन्तों की क्षुद्र भावनाओं और आकांक्षाओ से प्रेरित थी। यदि भारतीय नरेश और सरदार देश-प्रेम और स्वतन्त्रता की उत्कृष्ट भावनाओं से अनुप्राणित हो आपस में मिलकर संघर्ष करते तो ब्रिटिश सैन्यदल कभी विजयी नहीं हो पाता। पर भारतीय सामन्तों के लिए यह सम्भव नहीं हो सका। अवध के नवाब शुजाउद्दौला ने रुहेलखण्ड के हाफिज रहमत अली खाँ के विरुद्ध अंग्रेजों से सामरिक सहायता की याचना की और अंग्रेजो ने रुहेलो की शक्ति को छिन्न-भिन्न करने के साथ-साथ अवध के नवाब को परतन्त्रता की बेड़ियो मे अधिक जकड़ दिया। इसी तरह रघुनाथराव और बाजीराव ने मराठा सरदारों की इच्छा के विरुद्ध पेशवा बनने की इच्छा से, अंग्रेजों से इस प्रकार के समझौते किये जिसका अन्तिम परिणाम परतन्त्रता ही हो सकती थी। जब पूना के मराठा सरदारों ने इसका विरोध किया, तब उन्हें मराठा राजमण्डल से सम्बन्धित सब मराठा दरबारों का सहयोग प्राप्त नहीं हो सका। रघुनाथराव और बाजीराव तो बहुत दिन तक पेशवा नहीं बने रह सके, पर मराठा राजमण्डल छिन्न-भिन्न हो गया और मराठे अपना आधिपत्य खो बैठे। इसी तरह जब मैसूर के हैदरअली और टीपू को अंग्रेजो से मुठभेड़ हुई, तब हैदराबाद के निजाम ने उनका साथ देने की बजाय अंग्रेजों से सन्धि करके मैसूर राज्य के एक भाग पर अपना आधिपत्य स्थापित करने का निर्णय किया। पर मैसूर राज्य की पराजय

और विघटन के साथ-साथ निजाम साहब की शक्ति भी क्षीण हो गयी। महाराजा रणजीतसिंह के निधन के बाद, सिक्खो को भी परेशानी का सामना करना पड़ा। सिक्ख सरदार साहसी और वीर सिक्ख सैनिकों का नेतृत्व ठीक तौर पर नही कर सके। उन्होंने तो सिक्ख सैनिको का नेतृत्व करने की बजाय उनको पराजय के लिए अंग्रेजों से षड्यन्त्र करके उन्हे हरवा दिया। उन्हे आशा थी कि वे पराजित सिक्ख सैनिको की सरदारी करते हुए पजाब के शासन का सचालन कर सकेंगे। पर थोड़े समय मे ही उन्हे लारेंस बन्धुओ के कुचक्रों ने परेशान कर दिया। दूसरा सिक्ख-युद्ध हुआ, सिक्ख सरदारी खटाई मे पड गयी, उनमे इतना साहस और शक्ति बाकी नही रही कि वे 1857 ई. के विप्लव मे कोई योगदान कर सकें।

बहुत-से सामन्तों ने 1857 ई. के विद्रोह का नेतृत्व किया, जनता ने भी इसमे भाग लिया। यह विद्रोह हिन्दू और मुसलमान दोनो का सयुक्त प्रयास था। उसे राष्ट्रीय विद्रोह कहा जा सकता था, पर बहुत-से रजवाड़े और सामन्त इसमे शरीक नही हुए। नेतृत्व के अभाव में दक्षिण की जनता भी इसमें कोई विशेष भाग नही ले सकी। वह विद्रोह ठीक तौर पर संघटित और संचालित भी नही हो सका। ब्रिटिश साम्राज्यशाही पुनः स्थापित हो गयी और हिन्दुस्तान की स्वतन्त्रता का प्रश्न बना रहा।

अंग्रेजों की राजनयिक नीति क्रूर, उनकी मैत्री अविश्वसनीय सिद्ध हुई। उनकी मैत्री ने लार्ड वेलसली के काल में सहायक सन्धि का और लार्ड हेस्टिंग्ज के काल मे अधीनस्थ मैत्री का रूप धारण कर लिया। जिन राजाओं और नवाबो ने उनसे मैत्री की सन्धि की और ईमानदारी के साथ उसका निर्वाह किया, उन्हे अधीनस्थ बनकर अंग्रेजो की सर्वोच्च सत्ता स्वीकार करनी पड़ी। सन् 1857 ई. के बाद तो वे अंग्रेजो के हाथ को कठपुतली ही बन गये। सन् 1857 ई. के विद्रोह के बाद भारत की सामन्तशाही की शक्ति भी बहुत क्षीण हो गयी। विद्रोही सामन्तो की जायदादें और जमीदारियाँ जब्त करके हुकूमतपरस्तों मे बाँट दी गयी और भारत की सामन्तशाही हुकूमतपरस्तों की टोली बन गयी।

सन् 1857 ई. के विद्रोह के बाद लगभग तीस वर्षो तक ब्रिटिश साम्राज्यशाही इस हुकूमतपरस्त जमीदार वर्ग को जनता का स्वाभाविक नेता घोषित करते हुए उन्हें कौंसिलो में मनोनीत कर बिना किसी विरोध के मनमाने ढग पर दमनकारी कानून बनाते रहे तथा ब्रिटेन के हितो की वृद्धि मे जनता का शोषण और देश के साधनों का दुरुपयोग करते रहे। सन् 1858 ई. से लेकर सन् 1880 तक ब्रिटिश अधिकारियों ने मुश्किल से दो-चार ऐसे कार्य किये जिन्हे जनता के हित मे समझा जा सके; उनके अधिकांश क्रियाकलापों से जनता की दशा सुधरने की बजाय बिगडती चली गयी। जनता ने यदा-कदा विद्रोह का भी प्रयत्न किया, पर उनके प्रयास दीर्घकालीन देशव्यापी आन्दोलन का रूप धारण नही कर सके।

इस विषम परिस्थिति मे मध्यवर्गीय शिक्षितों को नेतृत्व का भार वहन करना पड़ा। उनके लिए स्वतन्त्रता की घोषणा करना सम्भव नही था। न तो देश में

सशस्त्र संघर्ष की शक्ति थी और न उनमे सशस्त्र विद्रोह के नेतृत्व की क्षमता थी। पर उन्हें ब्रिटेन की उत्तरदायी शासन-व्यवस्था का, उसके मूलभूत सिद्धान्तों का, तथा सवैधानिक आन्दोलन की गतिविधि का ज्ञान था। शान्तिमय वैधानिक ढंग से जनता की कठिनाइयो और माँगों को अधिकारियों के सामने प्रस्तुत करने की तथा राजनीतिक सुधारों के लिए प्रयत्न करने की क्षमता उनमें अवश्य थी। सन् 1875 ई. से पहले उनके क्रियाकलाप कुछ क्षेत्रों मे सीमित थे, पर उसके बाद उनकी गतिविधि धीरे-धीरे देशव्यापी रूप धारण करने लगी और दिसम्बर 1885 ई. में उसने आल इण्डिया नेशनल कांग्रेस का रूप धारण कर लिया।

यद्यपि कांग्रेस मुख्यत: मध्यवर्गीय संस्था थी, पर उसके संस्थापक उसे सर्व-वर्गीय राष्ट्रीय संस्था का रूप देना चाहते थे। अत: उसके संचालकों ने निश्चय किया कि आर्थिक वर्ग-सघर्षों से अपने को अलग रखते हुए वे देश की आर्थिक उन्नति के लिए, जनता की आर्थिक दशा सुधारने के लिए प्रयत्न करें; सरकार की उन नीतियो और कार्यों का विरोध करें जिनसे आर्थिक हितों की हानि होती है, जो राष्ट्र की आर्थिक उन्नति मे बाधा पहुँचाते है। कांग्रेस के संचालकों ने समाज-सुधार के प्रश्नों की उलझनो से भी उसे अलग रखना ही उचित समझा। वे चाहते थे कि देशप्रेम के आधार पर सब वर्गों, सम्प्रदायों, जातियो और प्रान्तों के भारतीयों को एकसूत्र मे बाँधकर बृहद् भारतीय राष्ट्र का निर्माण किया जाय और उसके राजनीतिक जीवन और व्यवस्था को धीरे-धीरे उदार लोकतान्त्रिक सिद्धान्तो पर आधारित किया जाय। तीन-चार वर्षों में कांग्रेस ने बृहद् राजनीतिक सस्था का रूप धारण कर लिया, पर वह अधिकांश जमीदारों, मुसलमान नेताओं तथा नृपतन्त्र पर विश्वास रखनेवाले कट्टरपन्थी पण्डितों का सहयोग प्राप्त नही कर सकी।

बीस वर्ष तक कांग्रेस ने सवैधानिक ढंग से देश मे प्रातिनिधिक व्यवस्था प्रतिष्ठित करने का तथा राजनीतिक, आर्थिक और शैक्षिक उन्नति का प्रयत्न किया। ब्रिटिश अधिराज और साम्राज्य के प्रति अपनी निष्ठा को अक्षुण्ण बनाये रखते हुए भद्र भाषा में पर काफी निर्भीकता और दृढ़ता के साथ, उसने सरकार की नीति-रीति और सरकारी अफसरो की गतिविधि की समीक्षा की, जनता की दयनीय दशा और आवश्यकताओ की ओर सरकार का ध्यान आकृष्ट किया और माँग की कि विधान कौसिलों मे निर्वाचित सदस्यों की सख्या आधे से कम न हो, भारत में सिविल सर्विस की परीक्षाओं का प्रबन्ध किया जाय, सैनिक खर्चा घटाया जाय, योग्य भारतीय सैनिकों को सेना के ऊँचे पदो पर नियुक्त किया जाय और भारत में एक सैनिक कालेज स्थापित किया जाय, साम्राज्यशाही आक्रामक अभियानो मे भारतीय सेना का प्रयोग न किया जाय, दमनकारी कानून वापस लिये जायँ, जनता की मौलिक स्वतन्त्रताओ की रक्षा की जाय, न्यायतन्त्र को प्रशासन के नियन्त्रण से मुक्त किया जाय, पुलिस राज्य के स्थान पर जनकल्याण राज्य स्थापित किया जाय, शिक्षा और चिकित्सा का समुचित प्रबन्ध किया जाय, कृषिक और औद्योगिक

विकास के लिए प्रयत्न किया जाय, लगान और मालगुजारी का स्थायी बन्दोबस्त किया जाय।

ब्रिटिश नौकरशाही ने कांग्रेस की मांगों की उपेक्षा करते हुए अपनी पुरानी साम्राज्यशाही नीति-रीति और गतिविधि जारी रखी। सन् 1892 ई. में विधान कौंसिलों की व्यवस्था में थोड़ा-सा हेरफेर जरूर कर दिया गया, पर न्यायिक व्यवस्था और प्रशासनिक व्यवस्था में कोई महत्त्वपूर्ण परिवर्तन नहीं किया गया। आधिपत्य की भावना ही शासन की प्रमुख प्रेरणा बनी रही। दमन और शोषण जारी रहा तथा जनकल्याण की वृद्धि के निमित्त कोई ठोस काम नहीं किया गया।

कांग्रेस के नेताओं और कार्यकर्त्ताओं की आलोचना भी काफी कड़ी होती गयी। अन्ततोगत्वा 1904 ई. में दादाभाई नौरोजी ने कांग्रेस के प्रधान मन्त्री दिनशाइदुलजी वाचा को लिखा कि स्वशासन के लिए प्रयत्न करना प्रशासनिक सुधारों की मांग करने से कहीं अधिक आवश्यक है।

सरकार ने राजनीतिक चेतना की उपेक्षा करते हुए दमननीति जारी रखी। लार्ड कर्जन ने कांग्रेस, विशेषतः बंगाल के राजनीतिज्ञों, की शक्ति को छिन्न-भिन्न करने के लिए बंगलाभाषी जनता को दो प्रान्तों में विभाजित किया तथा अपनी योजना को साम्प्रदायिक स्वरूप देकर मुसलमानों में साम्प्रदायिक भावना प्रोत्साहित की। कर्जन और मिण्टो की नीति अंशतः सफल हुई। कांग्रेस दो भागों में विभाजित हो गयी तथा मुस्लिम साम्प्रदायिकता ने सुसंगठित मुस्लिम लीग का रूप धारण कर लिया। पर कर्जन और मिंटो की दमननीति ने उग्र राष्ट्रीयता और हिंसात्मक क्रान्तिकारी शक्तियों को बल प्रदान किया। ब्रिटिश सरकार को मजबूर होकर 1909 ई. में नये राजनीतिक सुधार चालू करने पड़े और 1911 ई. में बंगलाभाषी जनता को बंगाल प्रान्त में पुनः संगठित करना पड़ा।

उग्र राष्ट्रवादियों की धारणा थी कि स्वतन्त्रता, जो मनुष्य और प्रत्येक राष्ट्र का प्राकृतिक अधिकार है, अनुनय, विनय, प्रार्थना, प्रतिवाद द्वारा प्राप्त नहीं की जा सकती। उसके लिए तो परतन्त्र देश के नागरिकों को तप और त्याग करना होगा, संघटित हो साम्राज्यशाही शक्तियों से संघर्ष करना होगा, कष्ट सहन करने होंगे। उनके विचार में जनजाग्रति, जनान्दोलन और जनसंघटन स्वतन्त्रता-संघर्ष के आवश्यक उपकरण हैं। उनकी यह भी धारणा थी कि विदेशी सरकार से सहयोग की प्रेरणा ही हमारी परतन्त्रता का मूल कारण है तथा विदेशी शासन का राजनीतिक और आर्थिक बहिष्कार स्वतन्त्रता का सुन्दर उपकरण है। इस तरह उनके विचार में शान्तिमय प्रतिरोध द्वारा स्वतन्त्रता प्राप्त की जा सकती है।

क्रान्तिकारी दल स्वदेशी, बहिष्कार तथा सरकार से असहयोग के सिद्धान्त को स्वीकार करता था, पर अहिंसात्मक प्रतिरोध में उसका विश्वास नहीं था। देश को आजाद कराने के लिए वह रक्तपात को उचित और आवश्यक समझता था। उसकी दृढ धारणा थी कि पशुबल पर आश्रित विदेशी शासन का अन्त पशुबल के प्रयोग से ही किया जा सकता है।

दमन द्वारा क्रान्तिकारी शक्तियों को कुचलना, जमींदारों की सामन्तशाही शक्तियों को सुदृढ़ कर लोकतान्त्रिक तत्त्वों की शक्ति क्षीण करना, मुसलमानों को ब्रिटिश शासन का मित्र बनाना और कांग्रेस के विरुद्ध उन्हें प्रोत्साहित करना तथा नये राजनीतिक सुधारों द्वारा सवैधानिक निरंकुशता प्रतिष्ठित करना मिण्टो की नीति के मूल तत्त्व थे। वे नये राजनीतिक सुधारों को संवैधानिक निरंकुशता का रूप देना चाहते थे और इसमें काफी सफल हुए। निरंकुशता और दमन जनता को सताते रहे, कौंसिलों के प्रगतिशील सदस्य शासन की गतिविधि को प्रभावित नहीं कर सके। फिर भी कौंसिलों ने लघुरूप मे संसदीय सस्थाओं का रूप धारण कर लिया। कम-से-कम केन्द्रीय कौंसिल मे लोकहितकारी माँगो के आधार पर कांग्रेसी सदस्यों के नेतृत्व में धीरे-धीरे स्वस्थ प्रतिपक्ष विकसित हो गया। उन्होंने सरकार की प्रशासनिक और वित्तीय नीतियो की समीक्षा तथा दमन और निरकुशता का विरोध करते हुए माँग की कि प्रशासन को लोकहितकारी बनाया जाय, भारत को वित्तीय स्वायत्तता प्रदान की जाय, भारत की वित्त नीति भारत के हित मे, भारतीय जनता के प्रतिनिधियो की देखरेख मे, भारत सरकार द्वारा निर्धारित हो। उन्होंने यह भी माँग की कि सैनिक खर्च घटाया जाय, प्रशासन का भारतीयकरण किया जाय; दमनकारी कानूनों को वापस लिया जाय, जनता के मौलिक अधिकारों की रक्षा की जाय, तथा न्याय के सर्वमान्य सिद्धान्तों के आधार पर न्याय का आधिपत्य स्थापित किया जाय। अक्टूबर सन् 1916 मे 22 गैरसरकारी हिन्दुस्तानी सदस्यो मे से 19 ने राजनीतिक सुधारो के सम्बन्ध मे एक मेमोरेण्डम सरकार को पेश किया। सन् 1917 और सन् 1918 मे एक-दो को छोड़कर सब भारतीय सदस्यों ने इस्लिगटन पब्लिक सर्विस कमीशन की संस्तुतियो का विरोध किया, तथा श्रीनिवास शास्त्री के अनिवार्य शिक्षा के प्रस्ताव का समर्थन किया। सन् 1919 मे सभी गैरसरकारी भारतीय सदस्यों ने रौलट बिल के विरोध में वोट दिये। टकराव के निराकरण के लिए शासन-व्यवस्था मे सुधार की आवश्यकता महसूस की जाने लगी।

उधर सन् 1909-1910 में ही दक्षिण अफ्रीका के गोरागों की प्रजातीय नीति के विरुद्ध गाधीजी ने ट्रान्सवाल में सविनय प्रतिरोध (पैसिव रेजिस्टेंस) संघर्ष शुरू किया जो सन् 1914 तक चलता रहा। गोपालकृष्ण गोखले ने उसका नैतिक समर्थन किया। परिस्थिति से बाध्य हो लार्ड हार्डिंग ने प्रवासी भारतीयों की माँग की पुष्टि की, और सन् 1911 मे दक्षिण अफ्रीका के लिए प्रतिज्ञाबद्ध कुलियों की भरती बन्द कर दी गयी। विश्वयुद्ध की सम्भावना ने दक्षिण अफ्रीका के प्रधानमन्त्री जनरल स्मट्स को गाधीजी से समझौता करने को मजबूर किया, पर विश्वयुद्ध के बाद स्मट्स ने समझौते की अवहेलना की। दक्षिण अफ्रीका और अन्य ब्रिटिश उपनिवेशो मे प्रवासी भारतीयों की दुर्दशा भारतीय राजनीतिज्ञों को उद्विग्न और उत्तेजित करती रही।

यूरोप की अन्तरराष्ट्रीय स्थिति के राजनयक लार्ड हार्डिंग को कांग्रेस के

नरमदलीय नेताओं से सम्पर्क बढ़ाने को प्रेरित किया। वे अपने प्रयास में किसी हद तक सफल भी हुए। पर ईरान और तुर्की सामाज्य के प्रति ब्रिटिश सरकार की द्वेषपूर्ण नीति ने भारतीय मुसलमानों को क्षुब्ध कर दिया। जबकि बहुत-से मुसलमान नेताओं ने संवैधानिक ढग से स्वायत्त शासन की माँग को पुष्ट करना शुरू किया, कुछ मौलवी बगावत के जरिये ब्रिटिश सत्ता को उलट देने की योजना बनाने लगे। सन् 1914 ई. मे विश्वयुद्ध शुरू हुआ। अन्ततोगत्वा तुर्की ने ब्रिटेन का विरोध और जर्मनी का साथ देने का निश्चय किया। विश्वयुद्ध ने भारत की राजनीति को नयी गति प्रदान की। क्रान्तिकारी क्रियाकलाप तीव्र हो गये। सन् 1916 ई. में जहाँ तिलक और श्रीमती बेसेण्ट ने आत्मनिर्णय और स्वशासन की माँग को पुष्ट करने के लिए होमरूल लीगें स्थापित की, वहाँ कांग्रेस और मुस्लिम लीग दोनो ने मिलकर राजनीतिक सुधारों की योजना तैयार की।

लार्ड चैम्सफोर्ड की सरकार राजनीतिक सुधारों से अधिक दमन पर विश्वास करती थी, उसने दमन द्वारा क्रान्तिकारीक्रियाकलापों के साथ-साथ होम रूल लीग के आन्दोलन को भी कुचल डालने का प्रयास किया। ब्रिटिश सरकार दमन और राजनीतिक सुधार दोनो को आवश्यक समझती थी। अतः अगस्त, 1917 ई. मे ब्रिटिश सरकार की ओर से भारतमन्त्री मान्टेग्यू ने राजनीतिक सुधारों के सम्बन्ध मे नयी नीति घोषित की और दिसम्बर, 1917 ई. में ब्रिटिश सरकार की अनुमति से भारत सरकार ने जस्टिस रौलेट की अध्यक्षता में नये दमनकारी कानून का प्रारूप तैयार करने को एक कमेटी गठित की। सन् 1918 ई. मे राजनीतिक सुधार और नये दमनकारी कानून दोनों की योजनाएँ प्रकाशित की गयी। सुधार योजना किसी अंश में उदार थी, पर जनता की आकांक्षाओं की तुलना मे अपर्याप्त थी। उसमे आत्मनिर्णय का सिद्धान्त स्वीकार नहीं किया गया था, ब्रिटेन की साम्राज्यशाही अधिकार को अक्षुण्ण बनाये रखा गया था। उसमे न तो पूर्ण उत्तरदायित्व स्थापित करने की कोई अवधि निश्चित की गयी थी और न केन्द्र में किसी विषय को उत्तरदायी मन्त्रियों को हस्तान्तरित करने की चर्चा थी। प्रान्तों मे भी जनता के प्रतिनिधियों को सीमित अधिकार ही हस्तान्तरित किये गये थे। दूसरी तरफ दमनकारी कानूनों का प्रारूप काफी कड़ा था। जबकि सुधार योजना पर काफी मन्द गति से विचार होता रहा, दमनकारी विधेयक साधारण वैधानिक नियमों को स्थगित करते हुए भारतीय प्रतिनिधियों के सर्वसम्मत विरोध के बावजूद जल्दी मे बना डाला गया। गांधीजी ने इसके विरुद्ध जनान्दोलन की घोषणा की और पंजाब में भारत सरकार की अनुमति से प्रान्तीय सरकार ने मार्शल ला लागू कर दिया, जनता को बुरी तरह अपमानित और दण्डित किया।

उधर विश्वयुद्ध के बाद ब्रिटेन और फ्रान्स ने पराजित तुर्की साम्राज्य पर कड़ी सन्धि लागू करने का निश्चय किया। खिलाफत की सत्ता और प्रतिष्ठा को बनाये रखने के लिए मुसलमानों ने इसका विरोध करना अपना कर्तव्य समझा। खिलाफत कान्फरेन्स और जमीयत-उल-उलेमाये-हिन्द गठित की गयी तथा कांग्रेस

और इन दोनों संस्थाओं ने असहयोग-आन्दोलन चला दिया।

असहयोग-आन्दोलन राजनीतिक चेतना, सुधारवाद, परम्परावाद और धार्मिकता का अद्भुत सम्मिश्रण था। जहाँ धार्मिक परम्परा पर आश्रित खिलाफत की पुष्टि उसका लक्ष्य था, वहाँ कतिपय धार्मिक परम्पराओं को सुधारकर अस्पृश्यता-निवारण उसके कार्यक्रम का महत्त्वपूर्ण अंग था। स्वराज्य के निमित्त राजनीतिक चेतना का विस्तार और खिलाफत-सम्बन्धी धार्मिक भावनाओं की पुष्टि, दोनों ही उसके महत्त्वपूर्ण कार्य थे।

असहयोग के जमाने मे कतिपय उदारदलीय नेताओं ने सरकार से सहयोग करने का निश्चय किया। जब तक असहयोग चलता रहा, तब तक सरकार ने उनके सहयोग का स्वागत किया। उसके बाद उनकी उपेक्षा की जाने लगी और जब उनके सहयोग के कारण 1923 ई. के चुनावों में वे बुरी तरह पराजित हुए तब नौकरशाही उनकी दुर्दशा पर प्रसन्न हुई। उसके बाद उदारदलीय नेताओं के लिए भारत की राजनीति में महत्त्वपूर्ण योगदान करना कठिन हो गया, पर ब्रिटिश उपनिवेशों मे रहनेवाले भारतीयों की महत्त्वपूर्ण सेवा वे अवश्य करते रहे।

असहयोग-आन्दोलन ने राजनीतिक कार्यकर्त्ताओं तथा जनता मे प्रतिरोध की भावनाओं को पुष्ट किया, तथा देश को गांधीजी का नेतृत्व तथा स्वतन्त्रता-संघर्ष का नया उपकरण प्रदान किया। पर खिलाफत आन्दोलन ने मुसलमानों में जितनी राजनीतिक जाग्रति पैदा की, उससे अधिक उनमें धार्मिक भावनाओ को पुष्ट किया और दोनों ने आगे चलकर उग्र साम्प्रदायिक राजनीति का रूप धारण कर लिया।

सन् 1857 के विप्लव के बाद सन् 1920-21 का असहयोग-आन्दोलन ब्रिटिश साम्राज्यशाही को सबसे बड़ी चुनौती था। हिन्दू-मुस्लिम एकता उसका मूल आधार तथा खिलाफत का पुनरुत्थान और स्वराज्य की उपलब्धि उसके प्रमुख उद्देश्य थे। अहिंसात्मक प्रतिरोध—असहयोग और सत्याग्रह—तथा राष्ट्र-निर्माण उसके प्रमुख उपकरण थे। असहयोग आन्दोलन अन्तरराष्ट्रीय गतिविधि को प्रभावित नही कर सका। गाजी मुस्तफा कमाल पाशा और उनकी सरकार खिलाफत का उत्तरदायित्व वहन करने को राजी नही हुए। किसी दूसरे मुस्लिम राज्य को भी यह उत्तरदायित्व नही सौंपा जा सका। खिलाफत का अस्तित्व मिट गया। खिलाफत कान्फरेन्स का नेतृत्व छिन्न-भिन्न, तेजहीन और गतिहीन हो गया। जमीयत-उल-उलेमा का प्रभाव भी काफी घट गया। हिज हाइनेस आगा खाँ, मुहम्मद अली जिन्ना, सर फजले हुसैन, फजलुल हक, मियाँ मुहम्मद शादी, डाक्टर मुहम्मद इकबाल—जिन्होने खिलाफत आन्दोलन मे कोई खास हिस्सा नही लिया था, पुन: मुस्लिम कम्युनिटी के प्रमुख नेता समझे जाने लगे। स्वराज्य से अधिक साम्प्रदायिक हितों की पुष्टि और सरक्षण पर ध्यान दिया जाने लगा। साम्प्रदायिक तनाव ने वैमनस्य और उपद्रवो का भयकर रूप धारण कर लिया। हिन्दू संगठन और मुस्लिम तनजीम की प्रक्रियाओं ने जोर पकड़ा। समझौते के सब प्रयास

विफल हुए। तनाव बढ़ता चला गया।

इस परिस्थिति में सक्रिय प्रतिरोध ने संवैधानिक संघर्ष का रूप धारण कर लिया। केन्द्रीय असेम्बली मे सरकार की सैनिक, प्रशासनिक तथा आर्थिक और वित्तीय नीतियों और क्रियाकलापों की कड़ी समीक्षा की गयी और 1925 ई. में केन्द्रीय असेम्बली के करीब-करीब सभी भारतीय निर्वाचित सदस्यों ने राजनीतिक सुधारों के सम्बन्ध में पण्डित मोतीलाल नेहरू का प्रस्ताव पारित किया। पर सरकार ने इस सर्वसम्मत राष्ट्रीय माँग की उपेक्षा करते हुए अपनी साम्राज्यशाही निरंकुशता जारी रखी।

सन् 1927 ई. में वाइसराय लार्ड अर्विन की सलाह से ब्रिटिश सरकार ने भावी संवैधानिक सुधारों के सम्बन्ध मे सर जान साइमन की अध्यक्षता में एक ऐसा कमीशन नियुक्त किया जिसके सभी सदस्य ब्रिटिश पालियामेण्ट के अंग्रेज सदस्य थे। लार्ड अर्विन को विश्वास था कि भारत की लिबरल पार्टी, मद्रास की जस्टिस पार्टी और मुसलमान सहयोग करेंगे और कांग्रेस जनता को अधिक प्रभावित नही कर पायेगी। भारत मन्त्री वर्कन हेड को तो विश्वास था कि स्वराज्य पार्टी मे भी फूट पड़ जायेगी और बहुत-से स्वराजी सहयोग करेंगे। पर कांग्रेस नेशनलिस्ट पार्टी और उदारदलीय नेताओं ने उसका बाईकाट किया। मुस्लिम लीग दो टुकड़ों मे बंट गयी; जबकि जिन्ना साहब के नेतृत्व मे गठित मुस्लिम लीग ने कमीशन का बहिष्कार किया, सर मुहम्मद शफी के नेतृत्व में मुस्लिम लीग के दूसरे गुट ने कमीशन से सहयोग करना ही उचित समझा। कमीशन की रिपोर्ट बहुत ही निराशाजनक थी, पर उसने ब्रिटेन की कंजर्वेटिव पार्टी और लिबरल पार्टी के नेताओं को काफी प्रभावित किया। कमीशन की संस्तुतियों के आधार पर ही भावी सुधारों को सुनिश्चित करना वे उचित समझते थे। सर शंकरन नायर की अध्यक्षता मे आयोजित कमेटी ने राजनीतिक सुधारों के सम्बन्ध में कतिपय प्रगतिशील सुझाव प्रस्तुत किये। पर साइमन कमीशन और सरकार ने उन पर कोई ध्यान नही दिया।

पण्डित मोतीलाल नेहरू की अध्यक्षता में आयोजित सर्वदलीय कमेटी ने भावी संविधान की रूपरेखा तैयार की, जिसे सर्वदलीय कान्फरेन्स ने स्वीकार कर लिया। पर यह कान्फरेन्स साम्प्रदायिक समस्या सुलझाने में विफल रही।

हिज हाइनेस आगा खां और सर मुहम्मद शफी के नेतृत्व में आयोजित मुस्लिम कान्फरेन्स ने नेहरू रिपोर्ट को नामजूर करते हुए, मुस्लिम हितों के सरक्षण के निमित्त चौदह-सूत्रीय योजना तैयार की। ये चौदह सूत्र ही बहुत समय तक मुसलमानों की प्रमुख माँगें समझी जाने लगी। पर आगे चलकर इन माँगों में कई अन्य बातें भी जोड़ दी गयी।

दूसरी तरफ कांग्रेस ने नेहरू कमेटी द्वारा प्रस्तावित संविधान को भारत की राजनीतिक और साम्प्रदायिक समस्याओं के समाधान की ओर एक बड़ा योगदान स्वीकार करते हुए घोषित किया कि यदि 31 दिसम्बर. 1929 ई. तक

संविधान को सरकार ने मंजूर नही किया तो कांग्रेस उसे मानते रहने को तैयार नही होगी और अहिंसात्मक असहयोग फिर चालू कर दिया जायेगा।

गतिरोध को दूर करने के लिए 31 अक्तूबर, 1929 ई. को वाइसराय अर्विन ने घोषित किया कि डोमिनियन स्टेटस की प्राप्ति 1917 ई. की घोषणा मे अन्तर्निहित है तथा आगामी शरद्ऋतु मे लन्दन मे एक गोलमेज कान्फरेन्स निमन्त्रित की जायगी जिसमें ब्रिटिश-भारत, भारतीय रियासतों और ब्रिटेन की समस्त पार्टियों के प्रतिनिधि मिलकर नये भारतीय संविधान की रूपरेखा तैयार करेंगे। कांग्रेस ने वाइसराय को सूचित किया कि जब तक सरकार इस बात का आश्वासन नही देती कि डोमिनियन सविधान की तैयारी ही कान्फरेन्स का उद्देश्य होगा और ब्रिटिश सरकार उसका समर्थन करेगी, तब तक कांग्रेस गोलमेज कान्फरेन्स मे हिस्सा नही लेगी। चूंकि वाइसराय इस प्रकार का आश्वासन देने को तैयार नही थे, इसलिए 1 जनवरी, 1930 ई. को कांग्रेस ने पूर्ण स्वतन्त्रता अपना ध्येय घोषित करते हुए सविनय अवज्ञा और करबन्दी शुरू करने का निश्चय किया।

मार्च, 1930 ई. में गांधीजी के नेतृत्व में नमक-सत्याग्रह शुरू किया गया। यह सत्याग्रह असहयोग-आन्दोलन से कई मौलिक बातों मे भिन्न था। असहयोग-आन्दोलन संघर्ष की तैयारी था। नमक-सत्याग्रह वस्तुतः एक संघर्ष था। असहयोग-आन्दोलन खिलाफत के प्रश्न से सम्बन्धित था, मुसलमानो की पान-इस्लामी भावना से अनुप्राणित था और धार्मिकता की उस पर गहरी छाप थी। स्वतन्त्रता ही नमक-सत्याग्रह का मुख्य लक्ष्य था, इसलिए असहयोग-आन्दोलन की तुलना में नमक-सत्याग्रह धर्मनिरपेक्ष था। नमक-सत्याग्रह मे किसानो और स्त्रियों का पहले से कही अधिक योगदान था, यद्यपि इसमें मुसलमानों का सहयोग सीमित था।

सन् 1925 ई. में कतिपय कम्युनिस्ट नवयुवकों ने अन्तर्राष्ट्रीय कम्युनिस्ट संघटन की शाखा के रूप मे भारत में कम्युनिस्ट पार्टी गठित की। सन् 1928 ई. मे अन्तर्राष्ट्रीय संस्था ने निश्चय किया कि संसार की सभी कम्युनिस्ट पार्टियाँ मध्यवर्गीय लोकतान्त्रिक और लोकतान्त्रिक समाजवादी संस्थाओ से अपना सम्बन्ध-विच्छेद कर तथा उनका भण्डाफोड़ कर जनता को अपने नेतृत्व में लाने का प्रयत्न करें। भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी को कांग्रेस से अपना सम्बन्ध तोड़ना पड़ा और कांग्रेस द्वारा आयोजित सत्याग्रहों में उसने कोई भाग नही लिया।

लार्ड अर्विन समझते थे कि नेताओ को गिरफ्तार करके आन्दोलन शान्त किया जा सकेगा, पर जब सत्याग्रह ने जोर पकड़ा तब उन्होंने महसूस किया कि केवल दमनकारी तरीको से भारत की राजनीतिक समस्या नही सुलझायी जा सकती, साइमन कमीशन की रिपोर्ट से काम नही चल सकता, ब्रिटिश सरकार को घोषित करना चाहिए कि हिन्दुस्तान को डोमिनियन स्टेटस प्राप्त करने मे सरकार हरसम्भव मदद करेगी। उन्होने भारतमन्त्री को यह भी लिखा कि अल्पसंख्यकों के प्रति हमारा कर्त्तव्य अवश्य है, पर एक या अधिक अल्पसंख्यकों के समर्थन पर निर्भर रहकर बहुसंख्यकों को उनके अधिकार से वंचित करना किसी तरह उचित

नहीं होगा। पर कजरवेटिव पार्टी के नेता बाल्डविन साइमन कमीशन की संस्तुतियों से आगे बढने को तैयार नहीं थे और प्रधानमन्त्री मेकडानल्ड उनकी रजामन्दी के बिना कोई नयी घोषणा करना ठीक नही समझते थे। सत्याग्रह और दमन का सिलसिला चलता रहा।

नवम्बर, 1930 ई. में लन्दन मे प्रधानमन्त्री रमसे मेकडानल्ड की अध्यक्षता मे गोलमेज कान्फरेन्स आयोजित हुई जो लगभग दो मास तक चलती रही। कान्फरेन्स के कतिपय सदस्यों को खुशी थी कि उनके प्रयत्नो के फलस्वरूप प्रान्तों में स्वायत्तता, केन्द्र में उत्तरदायी शासन और अखिल भारतीय संघ के सिद्धान्तों को स्वीकार कर लिया गया है और कई अन्य समस्याओं पर भी निर्णय हो गया है। पर बहुत-से सदस्य कान्फरेन्स की गतिविधि और निर्णयो से सन्तुष्ट नहीं थे। उनकी शिकायत थी कि बहुधा जनता के साधारण अधिकारों की उपेक्षा करते हुए निहित स्वार्थों की पुष्टि की गयी है। उनकी माँग थी कि सघीय व्यवस्था स्थापित हो अथवा न हो, भारत को केन्द्र मे स्वायत्तता की इतनी मात्रा मिलनी चाहिए जितनी परिस्थिति इजाजत दे। पर ब्रिटिश राजनीतिज्ञ इसके लिए तैयार नही थे। केन्द्र में उत्तरदायी व्यवस्था के लिए अखिल भारतीय सघ की स्थापना वे अनिवार्य रूप से आवश्यक समझते थे। राजाओ ने सघ की स्थापना के विचार को सिद्धान्त-रूप मे स्वीकार करते हुए स्पष्ट कर दिया कि उनकी रजामन्दी उनके सम्पूर्ण हितों और अधिकारो की समुचित रक्षा पर निर्भर हैं। अल्पसख्यक समुदायो के प्रतिनिधियो ने स्पष्ट कर दिया कि जब तक उनकी माँगें उचित रूप से पूरी नही की जाती, तब तक वे हिन्दुस्तान के लिए स्वशासित सविधान पर राजी नही हो सकते। सम्राट् की ओर से प्रधानमन्त्री ने घोषित किया कि केन्द्रीय और प्रान्तीय विधान-मण्डलों को उन प्रतिबन्धों के साथ उत्तरदायित्व हस्तान्तरित होगा जो सक्रान्तिकाल मे कतिपय उत्तरदायित्वों के अनुपालन की गारंटी के लिए तथा अन्य स्थितियों का सामना करने के लिए आवश्यक हों और जिन्हें अल्पसंख्यक अपनी स्वतन्त्रता और रक्षा के लिए माँगें।

कांग्रेस वर्किंग कमेटी को प्रधानमन्त्री मेकडानल्ड की घोषणा और गोलमेज कान्फरेन्स की गतिविधि ठीक नही जँची। पर सर तेजबहादुर सप्रू और श्री श्रीनिवास शास्त्री के आग्रह पर वह सविनय अवज्ञा आन्दोलन को स्थगित कर गोलमेज कान्फरेन्स के दूसरे सत्र में भाग लेने को तैयार हो गयी। पर जिस आशा से कांग्रेस ने भाग लेना निश्चय किया था, वह पूरी नही हुई। ब्रिटिश सरकार और राजनीतिज्ञो ने गांधीजी के विचारो पर कोई ध्यान नही दिया और गांधीजी को खाली हाथ लौटना पड़ा। प्रधानमन्त्री की घोषणा निराशाजनक और भारत-मन्त्री होर का रुख बहुत संकीर्ण और कड़ा था। वह केन्द्र मे सुधारों का वायदा करते हुए बहुत-से प्रतिबन्धों के साथ प्रान्तो में स्वायत्तता ही स्थापित करना चाहते थे। स्वराज्य-विरोधी तत्त्वों से मुसलमान प्रतिनिधियों का गठनबन्धन और राजाओं की सकीर्ण मनोवृत्ति तथा उनकी राजमण्डलीय योजना कान्फरेन्स की

विफलता के अन्य प्रमुख कारण थे।

कतिपय उदारदलीय भारतीय राजनीतिज्ञों के आग्रह पर गोलमेज कान्फरेन्स का तीसरा सत्र आमन्त्रित किया गया। पर इस अधिवेशन में संविधान-सम्बन्धी सभी समस्याओं पर भारतीय राजनीतिज्ञों के विचारों की उपेक्षा करते हुए ऐसे निर्णय लिये गये जो श्री शिवस्वामी अय्यर, श्री श्रीनिवास शास्त्री, चिम्मनलाल सीतलवाद आदि उदारदलीय नेताओं को ठीक दिखायी नही देते थे। उन्होंने एक वक्तव्य द्वारा माँग की कि (1) प्रान्तों मे पूर्ण और उन्मुक्त उत्तरदायी शासन स्थापित किया जाय, (2) प्रान्तीय स्वायत्तता के साथ ही केन्द्र में भी उत्तरदायित्व स्थापित किया जाय, (3) वित्तीय और आर्थिक नीतियों पर तथा मुद्रा, विनिमय और सीमाशुल्क पर केन्द्रीय असेम्बली का नियन्त्रण तथा सेना और देश की रक्षा पर उसका अधिकार केन्द्रीय उत्तरदायित्व के आवश्यक अंग हो, (4) संरक्षण निश्चित संक्रान्तिकाल के लिए हों और वे स्पष्ट रूप से भारत के हित में हों।

ब्रिटिश सरकार ने प्रगतिशील भारतीय राजनीतिज्ञों की समालोचनाओं और आकांक्षाओं की उपेक्षा करते हुए अगस्त, 1932 ई. मे विघटनकारी साम्प्रदायिक निर्णय और मार्च, 1933 ई. मे प्रतिक्रियावादी श्वेतपत्र प्रकाशित किया। श्वेतपत्र के प्रस्तावों पर विचार करने के लिए एक संयुक्त पार्लियामेण्ट कमेटी गठित की गयी। ब्रिटिश-भारतीय प्रतिनिधिमण्डल ने सहयोगी की हैसियत से कमेटी के काम में काफी भाग लिया और उसने एक सर्वसम्मत मेमोरेण्डम पेश किया। पर लेबर पार्टी के प्रतिनिधियों को छोड़कर कमेटी के अन्य सदस्यो ने मेमोरेण्डम की कोई महत्त्वपूर्ण संस्तुति स्वीकार नहीं की।

भारत की नेशनल लिबरल फेडरेशन ने संयुक्त पार्लियामेण्टरी कमेटी की रिपोर्ट की कड़ी आलोचना की। फेडरेशन ने घोषित किया कि कमेटी की रिपोर्ट श्वेतपत्र से भी अधिक आपत्तिजनक और प्रतिक्रियावादी है, तथा उस पर आश्रित संविधान मौजूदा गम्भीर राजनीतिक असन्तोष को तीव्र कर देगा। उसने माँग की कि कमेटी की संस्तुतियों के आधार पर कोई विधान न बनाया जाय। कमेटी की रिपोर्ट पर केन्द्रीय असेम्बली, राज्यसभा और प्रान्तीय विधानसभाओं मे काफी विचार-विमर्श हुआ। यद्यपि मनोनीत सदस्यों, मद्रास की नान-ब्राह्मण पार्टी और कतिपय अन्य सदस्यों ने रिपोर्ट का समर्थन किया, पर भारतीय जनता के प्रतिनिधियों ने बहुत भारी संख्या में रिपोर्ट में प्रस्तावित योजना को अपर्याप्त, असन्तोषप्रद और आपत्तिजनक घोषित किया।

पर ब्रिटिश सरकार ने पार्लियामेण्टरी कमेटी की अधिसंख्यक रिपोर्ट की संस्तुतियों के आधार पर गवर्नमेण्ट आफ इण्डिया बिल तैयार किया और ब्रिटिश पार्लियामेण्ट ने काफी लम्बी बहस के बाद उसे पारित पर दिया। 14 अगस्त, 1935 ई. को सम्राट् ने उसे स्वीकृति प्रदान कर दी। 1 अप्रैल, 1937 ई. को अखिल भारतीय संघ से सम्बन्धित दूसरा भाग और रेलवे प्रशासन से सम्बन्धित आठवाँ भाग छोड़कर बाकी सारा अधिनियम चालू हो गया। चूंकि केन्द्र में उत्तर-

दायित्व अखिल भारतीय संघ की स्थापना पर निर्भर था और संघ की स्थापना रियासतों की रजामन्दी पर निर्भर थी और नृपसमुदाय सघ मे शामिल होने को राजी नही होते थे, इसलिए केन्द्र मे उत्तरदायी शासन स्थापित नहीं हो सका और केन्द्रीय शासन भारत-मन्त्री के निर्देशन और नियन्त्रण मे 1919 ई. के अधिनियम के अनुसार गवर्नर-जनरल-इन-कौंसिल द्वारा संचालित होता रहा।

जनवरी, 1932 ई. मे कांग्रेस ने दूसरी बार सविनय अवज्ञा आन्दोलन शुरू किया। वह किसी-न-किसी रूप में दो वर्ष तक चलता रहा। मई, 1934 ई. में वह स्थगित कर दिया गया। विधान कौंसिलों मे प्रवेश करने के पक्ष मे प्रस्ताव स्वीकार किया गया। इस वर्ष ही कांग्रेस ने केन्द्रीय असेम्बली के चुनावों मे हिस्सा लिया और काफी सफलता प्राप्त की।

कांग्रेस शुरू से ही 1935 ई. की शासन-व्यवस्था को अधोगामी और निकम्मी समझती थी। वह उसके विरुद्ध संघर्ष करने को वचनबद्ध थी। पर 1936 ई. मे उसने अपने इस निर्णय को दोहराते हुए तथा नये विधान और साम्प्रदायिक निर्णय दोनों की कटु शब्दों में निन्दा करते हुए किसान हितकारी कार्यक्रम के आधार पर प्रान्तीय कौंसिलों का चुनाव लड़ने का निर्णय किया। 1937 ई. के चुनावों मे हिन्दू किसानों ने कांग्रेस के आर्थिक कार्यक्रम को स्वीकार करते हुए उसका डटकर साथ दिया और उनके भरपूर समर्थन से कांग्रेस ने बिहार, संयुक्त प्रान्त, उड़ीसा, मध्य प्रान्त तथा मद्रास प्रदेश की विधान सभाओं मे बहुमत प्राप्त कर लिया। कुछ स्वतन्त्र सदस्यों के सहयोग से सीमा प्रान्त और महाराष्ट्र मे भी कांग्रेस पार्टी को बहुमत प्राप्त हो गया।

इन चुनावों मे मुस्लिम लीग ने भी भाग लिया। ग्यारह प्रान्तों में से पाँच प्रान्तों में अर्थात् सीमा प्रान्त, बिहार, उड़ीसा, सिन्ध और मध्य प्रान्त में उसे कोई स्थान प्राप्त नही हुआ। पंजाब मे वह केवल दो स्थान प्राप्त कर सकी। बंगाल मे प्रजा कृषक पार्टी और स्वतन्त्र प्रत्याशियो ने डटकर टक्कर ली और वहाँ मुस्लिम लीग 35 प्रतिशत से कम मुस्लिम स्थान प्राप्त कर सकी। पर बम्बई में दो-तिहाई और संयुक्त प्रान्त में 40 प्रतिशत मुस्लिम स्थानों पर मुस्लिम लीग के प्रत्याशी कामयाब हुए।

मन्त्रिमण्डल बनाने के प्रश्न पर कांग्रेस मे काफी मतभेद था। कांग्रेस के बहुत-से कार्यकर्त्ताओं की धारणा थी कि जब तक देश स्वतन्त्र नही होता, तब तक कांग्रेस को ब्रिटिश सरकार द्वारा निर्मित संविधान के अन्तर्गत मन्त्रिमण्डल नही बनाना चाहिए। जो कार्यकर्त्ता मन्त्रिमण्डल बनाने के पक्ष मे थे, उनका विचार था कि यद्यपि कांग्रेस ने अपनी चुनाव घोषणा मे नये विधान के अन्तर्गत मन्त्रि-मण्डल बनाने की बात नही कही है, पर चूंकि किसानो ने कांग्रेस का भारी समर्थन किया है, इसलिए कांग्रेस को मन्त्रिमण्डल बनाकर कृषि-सम्बन्धी कार्यक्रम पूरा करना चाहिए। काफी बहस के बाद अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी ने 70 वोटो के विरुद्ध 127 वोटो से गांधीजी का यह प्रस्ताव स्वीकार कर लिया कि कांग्रेस

पार्टी उन प्रान्तों मे, जहाँ उसका बहुमत है, मन्त्रिमण्डल गठित कर सकती है बशर्ते गवर्नर इस बात का आश्वासन दें कि वे मन्त्रियों के काम मे किसी प्रकार का हस्तक्षेप नही करेंगे और मन्त्रियों की सलाह की अवहेलना नहीं की जायेगी। गवर्नर इस प्रकार का आश्वासन देने को तैयार नही थे। पर काफी गतिरोध और वाद-विवाद के बाद 21 जून, 1937 ई. को गवर्नर जनरल लार्ड लिनलियगो ने अपने एक वक्तव्य में गवर्नर के विशेष अधिकार के औचित्य पर काफी विस्तार के साथ प्रकाश डालते हुए जनता को आश्वासन दिया कि जिन विशेष स्वार्थों की रक्षा के लिए ये विशेष अधिकार दिये गये हैं, उनकी देखरेख करते हुए गवर्नर हर जायज उपाय से कोशिश करेंगे कि विशेष अधिकारों के कारण उनमें और उनके मन्त्रियों मे कडवाहट पैदा न हो।

जुलाई में गवर्नरों के निमन्त्रण पर मद्रास, बम्बई, मध्य प्रान्त, बिहार, उड़ीसा, संयुक्त प्रान्त और सीमा प्रान्त में कांग्रेस ने मन्त्रिमण्डल बना लिये। कांग्रेस मन्त्रिमण्डलों ने काफी क्षमता और तत्परता से काम किया। उन्होंने सिद्ध कर दिया कि भारतीय राजनीतिज्ञों मे संसदीय ढंग का उत्तरदायी स्वशासन चलाने की काफी योग्यता है और देश की अत्यावश्यक आर्थिक और सामाजिक समस्याएँ, जो विदेशी सरकार द्वारा हल नहीं की जा सकी, जनता के चुने नेताओं द्वारा ही सफलता के साथ सुलझायी जा सकती हैं।

पर साम्प्रदायिक समस्या सुलझने की बजाय अधिक गम्भीर होती गयी। कांग्रेस एक राष्ट्रीय संस्था थी। इसे हिन्दुओ के अतिरिक्त बहुत-से पारसी, सिक्ख, ईसाइयों का समर्थन प्राप्त था। सीमा प्रान्त के खुदाई खिदमतगार और उनके समर्थक मुस्लिम भी कांग्रेस के साथ थे। फिर भी मुस्लिम लीग, जो एक साम्प्रदायिक पार्टी थी, कांग्रेस को भी एक साम्प्रदायिक दल घोषित करती थी। उसका कहना था कि कांग्रेस हिन्दुओं का ऐसा राजनीतिक संगठन है जो सारे देश पर हिन्दू आधिपत्य स्थापित करना चाहता है। उसने कांग्रेस मन्त्रिमण्डलों पर बहुत-से आरोप लगाये। वे सब निराधार थे। पर मुस्लिम लीग के प्रचार से मुस्लिम जनता इतनी प्रभावित हुई कि देखते-देखते दो वर्ष में मुस्लिम लीग, जिसे 1937 ई. के चुनावों में 485 मुस्लिम स्थानों मे से केवल 108 स्थान प्राप्त हुए थे, मुसलमानों की प्रमुख राजनीतिक संस्था बन गयी। कांग्रेस ने जिन्ना साहब से बातचीत करने का प्रयत्न किया, पर कोई अच्छा नतीजा नही निकला।

दूसरे सविनय अवज्ञा आन्दोलन के बाद 1934 ई. में कांग्रेस के अन्दर ही कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी गठित हुई। पूर्ण स्वराज्य की उपलब्धि और समाजवादी समाज की स्थापना उसके लक्ष्य निश्चित हुए। स्वतन्त्रता और समाजवाद की स्थापना के लिए किसानों और मजदूरों को संघटित करना, उनकी वर्गसंस्थाओ का कांग्रेस से सम्बन्ध स्थापित करना, कांग्रेस द्वारा आयोजित संघर्षों मे भाग लेने के लिए उन्हें प्रोत्साहित करना, ब्रिटिश सरकार से किसी स्थिति मे भी समझौता न करना, तथा साम्राज्यशाही युद्धों का विरोध करना और स्वतन्त्रता-संग्रामों को

मजवूत वनाने में उनका प्रयोग करना कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी के कतिपय प्रमुख निर्धारित लक्ष्य थे। उसके सदस्यों ने 1937 ई मे काग्रेस के प्रत्याशियों की हैसियत से चुनावों मे भाग लिया, पर पार्टी ने मन्त्रिपद स्वीकार करने का विरोध किया।

3 सितम्बर, 1939 ई. को यूरोप मे युद्ध शुरू हुआ। वाइसराय ने हिन्दुस्तान को युद्ध में शामिल कर दिया, असाधारण स्थिति की घोषणा कर दी और उनके आदेश पर गवर्नरों ने मन्त्रियो से परामर्श किये बिना जिला-अधिकारियों को गुप्त आदेश जारी कर दिये।

कांग्रेस ने लोकतन्त्र के प्रति अपनी दृढ निष्ठा व्यक्त करते हुए मांग की कि युद्ध के लक्ष्य घोषित किये जायें तथा भारत की पूर्ण स्वतन्त्रता की मांग स्वीकार की जाय। काफी विचार-विमर्श के बाद 17 अक्टूबर, 1939 ई. को वाइसराय लार्ड लिनलिथगो ने एक वक्तव्य प्रसारित किया, जिसमें यह तो घोषित किया गया कि ब्रिटेन अपने लिए कुछ नही चाहता और डोमिनियन स्टेटस की उपलब्धि ही भारत की राजनीतिक प्रगति का अन्तिम लक्ष्य है। पर इस वक्तव्य मे ब्रिटिश साम्राज्य के अधीन देशो की स्वतन्त्रता के सम्बन्ध मे कोई आश्वासन नही था और इस बात का भी वायदा नही था कि युद्ध के बाद भारत को डोमिनियन स्टेटस प्राप्त हो जायगा और उसे अपने प्रतिनिधियो द्वारा अपना मनचाहा सविधान बनाने का अधिकार होगा।

24 अक्टूबर को काग्रेस ने इस वक्तव्य की कड़ी आलोचना करते हुए घोषित किया कि ऐसी स्थिति मे ब्रिटेन को किसी प्रकार की सहायता देना साम्राज्यशाही नीति का समर्थन करना होगा। उसने असहयोग की नीति निर्धारित करते हुए कांग्रेसी मन्त्रिमण्डलो को इस्तीफा देने का आदेश दिया। काग्रेसी मन्त्रिमण्डलों ने इस्तीफे दे दिये।

इसके बाद गवर्नर जनरल ने केन्द्रीय मन्त्रिमण्डल के विस्तार के सम्वन्ध में कांग्रेस और मुस्लिम लीग से बातचीत शुरू की। पर तीनों में कोई समझौता नही हो सका। कांग्रेस का कहना था कि ब्रिटिश सरकार पहले युद्ध के लक्ष्य घोषित करे, फिर दूसरी बातें होंगी। उसका यह भी कहना था कि प्रश्न साम्प्रदायिक नही राजनीतिक है, दूसरी ओर सरकार साम्प्रदायिक पक्ष पर जोर देती थी और कहती थी कि वह कांग्रेस की मांग स्वीकार नही कर सकती; क्योंकि वह मुसलमानों के प्रति अपने उत्तरदायित्व की उपेक्षा नहीं कर सकती। मुस्लिम लीग की पार्थक्य भावना दिन-प्रतिदिन कड़ी होती जाती थी। मार्च, 1940 ई. में उसने द्वि-राष्ट्र के सिद्धान्त को प्रतिपादित करते हुए पाकिस्तान की मांग की। बहुत-से मुस्लिम विद्वानो ने सयुक्त राष्ट्रीयता के सिद्धान्त को इस्लाम के मूलभूत सिद्धान्त के विरुद्ध घोषित किया।

कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी को कांग्रेस के दक्षिणपन्थी नेताओं की गतिविधि पसन्द नही थी। वह चाहती थी कि विश्वयुद्ध को साम्राज्यवादी युद्ध घोषित करते

हुए शीघ्र-से-शीघ्र स्वतन्त्रता-संघर्ष शुरू किया जाय। पर पार्टी के नेताओं की धारणा थी कि साम्राज्यशाही के विरुद्ध देशव्यापी संघर्ष के लिए सभी साम्राज्य-विरोधी शक्तियों के सहयोग की जरूरत है, यथासम्भव सभी कांग्रेसजनों को साथ लेकर संघर्ष शुरू करना है, और कांग्रेस ही गांधीजी के नेतृत्व में स्वतन्त्रता-संघर्ष का संचालन कर सकती है। इस कारण से उन्होंने कांग्रेस से अलग वाम-पक्षीय मोर्चा बनाने का विरोध किया और गांधीजी के नेतृत्व में संचालित संघर्षों मे यथासम्भव योगदान किया।

कम्युनिस्ट पार्टी की नीति सोवियत रूस की गतिविधि से निश्चित होती थी। सन् 1939 ई. में उसने कांग्रेस से सम्बन्ध-विच्छेद कर ब्रिटिश साम्राज्यशाही से संघर्ष अपना लक्ष्य घोषित किया। पर जब जर्मनी ने सोवियत रूस के विरुद्ध युद्ध घोषित किया, तब कम्युनिस्ट पार्टी ने विश्वयुद्ध को जनयुद्ध घोषित करते हुए गाधीजी और सुभाषचन्द्र बोस द्वारा संचालित संघर्षों का विरोध किया।

अन्ततोगत्वा कांग्रेस ने अक्टूबर, 1940 ई. में भाषण की स्वतन्त्रता पर व्यक्तिगत सत्याग्रह शुरू किया। यह आन्दोलन एक वर्ष तक चलता रहा। लगभग बीस हजार नर-नारियों ने इसमें भाग लिया और जेल की यातनाएँ सहीं। दिसम्बर, 1941 ई. में सब सत्याग्रही छोड़ दिये गये।

30 दिसम्बर 1941 ई. को जापान के आक्रमण की सम्भावना के कारण कांग्रेस की वर्किंग कमेटी ने सरकार से सहयोग करने का निर्णय किया, बशर्ते ब्रिटेन ऐसी स्थिति पैदा करने को तैयार हो जिसमें हिन्दुस्तान सम्मानपूर्वक स्वतन्त्रता और लोकतन्त्र के लिए लड़ सके।

काफी हिचकिचाहट के बाद प्रेजीडेंट रूजवेल्ट के आग्रह पर मार्च, 1942 ई. में ब्रिटिश मन्त्रिमण्डल ने दो योजनाओं के साथ सर स्टेफर्ड क्रिप्स को भारतीय राजनीतिज्ञों से समझौता करने के लिए भारत भेजा। दीर्घकालीन योजना किसी को पसन्द नही थी। मुस्लिम लीग को वह पसन्द नही थी; क्योंकि उसमें मुस्लिम राष्ट्र के आत्मनिर्णय का सिद्धान्त स्पष्ट रूप से स्वीकार नही किया गया था। कांग्रेस को वह मंजूर नही थी; क्योंकि वह संघीय व्यवस्था पर विचार करते समय ही विभाजन को प्रोत्साहित करती थी, और इस तरह उस समय वैमनस्य पैदा करती थी, जब अधिक-से-अधिक सहयोग और सद्भाव आवश्यक था।

कांग्रेस चर्चिल की अल्पकालीन योजना को भी ठीक नही समझती थी, पर गम्भीर अन्तरराष्ट्रीय परिस्थिति में केन्द्र मे लोकप्रिय सरकार गठित करने के प्रश्न पर बात करने को तैयार थी। वह चाहती थी कि कन्वेंशनों के जरिये केन्द्रीय शासन को राष्ट्रीय सरकार का स्वरूप दिया जाय और रक्षा विभाग के मामलो के प्रबन्ध का उत्तरदायित्व कौंसिल के हिन्दुस्तानी सदस्य को हस्तान्तरित किया जाय। इन दोनों बातो पर क्रिप्स से कोई समझौता नही हो सका और उन्हें खाली हाथ लौटना पड़ा।

इसके बाद गांधीजी ने 'भारत छोड़ो' स्वतन्त्रता-संघर्ष शुरू करने का निश्चय

किया। मौलाना आजाद, जवाहरलाल नेहरू, राजगोपालाचारी, गोविन्दवल्लभ पन्त, भूला भाई देसाई इसके पक्ष में नहीं थे; पर गाधीजी के आग्रह पर कांग्रेस ने इसे शुरू करने का निश्चय किया। इस पर मौलाना आजाद, नेहरूजी और गोविन्दवल्लभ पन्त भी उसमे शरीक हो गये।

यद्यपि यह आन्दोलन देशव्यापी था, पर महाराष्ट्र, उत्तरप्रदेश, बिहार, मध्य प्रदेश, बंगाल, उड़ीसा और असम के कतिपय जिलों में उसका खास जोर था। इस विद्रोह में सभी वर्ग के लोग शामिल थे। जहां जमीदारों और साहूकारों की सहानुभूति उसके साथ थी, वहां किसानों ने बहुत डटकर उसमें हिस्सा लिया और मजदूरों ने कई स्थानों और कारखानों मे हड़ताल के जरिये सघर्ष मे सक्रिय योगदान किया। विद्यार्थियों और नवयुवकों ने सबसे आगे बढ़कर काम किया। कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी और फारवर्ड ब्लाक के कार्यकर्त्ताओं ने डटकर काम किया। पर कम्युनिस्ट पार्टी, रेडिकल डिमोक्रेटिक पार्टी और मुस्लिम लीग ने इसका विरोध किया, यद्यपि मुसलमानो ने सरकार की कोई सक्रिय सहायता नही की।

यातायात तथा संचार के साधनों को ठप करना, सरकारी इमारतों पर राष्ट्रीय झण्डा फहराना, पुलिस थानों पर कब्जा करना तथा जहां सम्भव हो वहां समानान्तर शासन-व्यवस्था प्रतिष्ठित करना इस आन्दोलन के विशिष्ट काम थे। रोष और जोश की स्थिति में भी विद्रोहियों ने जान और माल के भेद को ध्यान में रखते हुए माल को क्षति पहुँचाते हुए जान की रक्षा करने की कोशिश की। सरकार ने आन्दोलन को दबाने के लिए काफी नियोजित ढग से सख्ती से काम लिया। उसने अपनी सैनिक शक्ति का प्रयोग कर देश में आतक का राज्य स्थापित कर दिया। पुलिस और फौज ने अशान्त क्षेत्रों मे घुसकर निर्दोषियों को भी अपमानित, दण्डित और पीड़ित किया। सरकार के आतक से क्षुब्ध और क्रान्तिकारी भावनाओं से अनुप्राणित बहुत-से नवयुवको ने गोरिल्ला युद्ध की तैयारी का प्रयत्न किया। कुछ समय बाद खुला जन-विद्रोह भूमिगत हो गया और आगे चलकर एकमात्र सांकेतिक बन गया।

सुभाषचन्द्र बोस कांग्रेस की गतिविधि और युद्ध-सम्बन्धी नीति से सन्तुष्ट नही थे। वे चाहते थे कि विश्वयुद्ध के जमाने में शीघ्र-से-शीघ्र स्वतन्त्रता-संघर्ष शुरू कर दिया जाय। उन्होंने घोषित किया कि यदि कांग्रेस ऐसा नहीं करेगी तो फारवर्ड ब्लाक, जो उनके नेतृत्व मे मई, 1939 ई. मे गठित हुआ था, सघर्ष शुरू कर देगी। उन्हे भय था कि कांग्रेस के नेता समझौता करना चाहते हैं, संघर्ष छेड़ना नहीं चाहते। मार्च, 1940 ई. में किशनगढ में उन्होंने समझौता-विरोधी सम्मेलन आयोजित किया। सम्मेलन ने समझौते की नीति का विरोध करते हुए अप्रैल में ही स्वतन्त्रता-संघर्ष करने का निश्चय किया। इस प्रयास मे कोई विशेष सफलता प्राप्त नहीं हुई। 17 जनवरी, 1941 ई. को सुभाष बाबू पुलिस को चकमा देकर बर्लिन चले गये। वहां हिटलर ने भारत की स्वतन्त्रता के सम्बन्ध मे घोषणा करने

से इन्कार कर दिया। इसके बाद जून, 1943 ई. में बोस बाबू जापान गये, वहाँ प्रधानमन्त्री तोजो ने उनके अनुरोध पर घोषित किया कि भारत को स्वतन्त्रता दिलाने में जापान उसकी पूरी सहायता करेगा। 21 अक्टूबर, 1943 ई. को सुभाष बोस की अध्यक्षता मे अस्थायी स्वतन्त्र भारतीय सरकार गठित हो गयी। उसके बाद उनके नेतृत्व मे आजाद हिन्द फौज ने जापानी सेना के साथ ब्रिटिश सेनाओं से टक्कर ली। ब्रिटिश सेनाओं को पराजित कर जापानी सेना और आजाद हिन्द के सैनिक भारत के कतिपय भागों में घुस गये। पर जून, 1944 ई. मे जापान के सैनिक अधिकारियों ने अपनी फौजें भारत से हटाने का निश्चय किया और कुछ समय बाद सुभाष बाबू का अभियान समाप्त हो गया।

सन् 1944 ई. मे गांधीजी ने वाइसराय से समझौते के सम्बन्ध में विचार-विमर्श करना चाहा, पर वाइसराय ने मिलने से इन्कार कर दिया और भारत मन्त्री ने घोषित किया कि गांधीजी के सुझावों के आधार पर कोई बातचीत नही हो सकती। इसके बाद गांधीजी ने जिन्ना साहब से बातचीत की, पर कोई समझौता नही हो सका।

जून-जुलाई, 1945 ई. में लार्ड वेविल ने अन्त.कालीन सरकार के पुनर्गठन के सम्बन्ध मे विचार-विमर्श के लिए शिमला में सर्वदलीय कान्फरेन्स आयोजित की, पर कांग्रेस और मुस्लिम लीग में कोई समझौता नहीं हो सका। जिन्ना साहब चाहते थे कि केन्द्रीय अन्तःकालीन सरकार के सब मुस्लिम सदस्य मुस्लिम लीग द्वारा चुने जायें। कांग्रेस इसे मानने को तैयार नही थी। लार्ड वेविल भी मुस्लिम लीग की यह माँग ठीक नही समझते थे।

अगस्त, 1945 ई. में लेबर पार्टी की सरकार की ओर से वाइसराय ने घोषित किया कि आगामी जाड़े में केन्द्रीय और प्रान्तीय विधानसभाओं के चुनाव होंगे। आगे चलकर सितम्बर मे उन्होने यह भी घोषित किया कि चुनावों के बाद संविधान निर्माण समिति गठित की जायेगी। दिसम्बर में केन्द्रीय असेम्बली के चुनाव हुए, जिनमे कांग्रेस और मुस्लिम लीग की भारी विजय हुई। प्रान्तीय कौंसिलों के चुनावों मे आम निर्वाचन-क्षेत्रो में कांग्रेस की भारी विजय हुई। सीमा प्रान्त के मुस्लिम क्षेत्रों में भी कांग्रेस को काफी विजय प्राप्त हुई। हरिजन और पिछडी जातियों के सुरक्षित स्थानों में से भी लगभग दो-तिहाई स्थान कांग्रेस ने प्राप्त कर लिये। लगभग एक-तिहाई सिक्ख सीटों पर भी कांग्रेस विजयी हुई। मुस्लिम लीग ने अधिकांश मुस्लिम सुरक्षित क्षेत्रों में विजय प्राप्त की। आठ प्रान्तों मे कांग्रेस के, दो प्रान्तों मे मुस्लिम लीग पार्टी के और पंजाब मे यूनियनिस्ट पार्टी के नेतृत्व में संयुक्त दलीय मन्त्रिमण्डल गठित हो गये। चुनावों ने सिद्ध कर दिया कि कांग्रेस का प्रभाव देशव्यापी है, उसे सभी सम्प्रदायों के निर्वाचको का समर्थन प्राप्त है, पर सीमा प्रान्त को छोड़कर अन्य प्रान्तों में कांग्रेस से कही अधिक मुस्लिम लीग को मुस्लिम निर्वाचको का समर्थन प्राप्त है।

1 जनवरी, 1946 ई. को भारत मन्त्री लार्ड पैथिक लारेंस ने लेबर सरकार

की ओर से घोषित किया कि ब्रिटिश सरकार और ब्रिटिश जनता चाहती है कि भारत शीघ्र ही ब्रिटिश कामनवेल्थ में समान भागीदार के पूर्ण और स्वतन्त्र स्टेटस को प्राप्त करे। 24 मार्च को भारत के भावी सविधान के सिद्धान्तों और प्रक्रियाओ को भारतीय राजनीतिज्ञों के विचार-विमर्श से निश्चित करने के लिए एक केबिनेट मिशन भारत आया।

केबिनेट मिशन ने वाइसराय, केन्द्रीय कौंसिलो के सदस्यो, गवर्नरो, प्रधान मन्त्रियों आदि से बात करने के बाद काग्रेस और मुस्लिम लीग के नेताओं से बातचीत की। दोनो में कोई समझौता नही हो सका। जिन्ना साहब की माँग थी कि पंजाब, सीमा प्रान्त, बलूचिस्तान, सिन्ध, असम और बंगाल को मिलाकर पाकिस्तान गठित किया जाय। काग्रेस विकेन्द्रित सघ-व्यवस्था के पक्ष में थी। केबिनेट मिशन ने देश को विभाजित करने की, स्वतन्त्र सत्ताओ को राजमण्डल मे गठित करने की तथा एक-दो अन्य योजनाएँ तैयार कीं। पर उन पर भी काग्रेस और मुस्लिम लीग में कोई समझौता नही हो पाया।

अन्ततोगत्वा 16 मई 1946 ई. को केबिनेट मिशन ने स्वय ब्रिटिश सरकार की ओर से एक योजना घोषित की जो दो भागो मे विभाजित थी। दीर्घकालीन योजना में सविधान के कतिपय सिद्धान्त निश्चित किये गये थे। अल्पकालीन योजना मे अन्त.कालीन (अन्तरिम) सरकार की व्यवस्था की गयी थी। दोनो को इस तरह सम्बन्धित कर दिया गया था कि दीर्घकालीन योजना को स्वीकार करने पर ही कोई पार्टी अल्पकालीन योजना के अनुसार संयुक्त अन्तरिम सरकार मे शामिल हो सकती थी।

दीर्घकालीन योजना में देश को इस तरह तीन हिस्सो मे विभाजित किया गया। जहाँ बंगाल-असम खण्ड मे और पजाब-सिन्ध-बलूचिस्तान-सीमाप्रान्त के खण्ड मे मुसलमानों की अधिक सख्या थी, वहाँ तीसरे खण्ड मे, जिसमे बाकी सब प्रान्त थे, हिन्दू अधिक संख्या मे थे। इस योजना मे निश्चय किया गया था कि केन्द्रीय सरकार के अधिकार राष्ट्र की रक्षा, अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध तथा यातायात से सम्बन्धित विषयो तक सीमित रहेगे, बाकी सब अधिकार क्षेत्रीय और प्रान्तीय सरकारों में विभाजित होगे, जिसका निर्णय क्षेत्रीय सभा द्वारा होगा। योजना परिपत्र की धारा 15 (5) द्वारा निश्चित किया गया था कि ग्रुप (खण्ड) बनाने मे तथा प्रत्येक ग्रुप यह निश्चय करने में कि कौन-से विषय साथ लिये जायें, प्रान्त स्वतन्त्र होगा, पर परिपत्र की धारा 19 मे कहा गया था कि विधानसभा के सदस्य प्रारम्भ में ही तीन भागों मे बँट जायेंगे, प्रत्येक भाग के सदस्य अपने ग्रुप (खण्ड) से सम्बन्धित प्रान्तो तथा खण्ड का सविधान तैयार करेंगे और उसके तैयार हो जाने पर प्रत्येक प्रान्त की नवनिर्वाचित विधानसभा यदि चाहे तो ग्रुप (खण्ड) से अपना सम्बन्ध तोड़ सकती है। इस योजना-परिपत्र द्वारा यह भी निर्धारित किया गया था कि साम्प्रदायिक प्रश्नों पर कोई निर्णय करने के लिए सारी सविधान सभा के बहुमत के अतिरिक्त हिन्दू सदस्यों के तथा मुस्लिम सदस्यों के बहुमत की

अनुमति भी आवश्यक होगी।

केबिनेट मिशन ने दावा किया कि उनकी योजना से अस्सी प्रतिशत से अधिक मुसलमानो को पाकिस्तान का सार प्राप्त हो जाता है। मुस्लिम लीग को क्षोभ था कि मुस्लिम राष्ट्र के आत्मनिर्णय के सिद्धान्त को मान्यता प्रदान करते हुए पाकिस्तान की मांग स्वीकार नही की गयी। पर 6 जून को उसने यह समझकर कि दीर्घकालीन योजना द्वारा पूर्ण प्रभुतासम्पन्न पाकिस्तान का निर्माण किया जा सकता है, योजना को पाकिस्तान का आधार घोषित करते हुए कुछ रिजर्वेशनों के साथ उसे स्वीकार कर लिया। लीग ने घोषित किया कि पृथक् प्रभुसत्तासम्पन्न पाकिस्तान ही उसका लक्ष्य है तथा प्रान्तों और ग्रुपों को यूनियन से अपना सम्बन्ध-विच्छेद करने का अधिकार मिशन की योजना मे निहित है। कमेटी ने यह भी घोषित किया कि मुस्लिम लीग जरूरत पड़ने पर आगे चलकर योजना-सम्बन्धी अपने निर्णय को बदल भी सकती है।

भारत को तीन खण्डो मे विभाजित कर खण्डीय उपसंघों की स्थापना कांग्रेस को पसन्द नही थी। वह विकेन्द्रित संघ-व्यवस्था के पक्ष में थी, पर चाहती थी कि यातायात, सरक्षा तथा वैदेशिक विषय के अतिरिक्त मुद्रा, सीमाशुल्क तथा बुनियादी अधिकारों का सूत्रीकरण भी संघ को हस्तान्तरित किये जायें और खर्च का भुगतान करने के लिए करारोपण करने का भी संघ को अधिकार हो। उसकी धारणा थी कि प्रान्तो को खण्ड में शामिल होने को बाध्य नही किया जा सकता। वह चाहती थी कि अखिल भारतीय संघीय संविधान तैयार हो जाने के बाद यदि प्रान्त चाहे तो अपने को ग्रुपों में गठित कर अपने-अपने ग्रुप का संविधान तैयार कर सकते हैं। केबिनेट मिशन के आग्रह पर 26 जून को कांग्रेस की वर्किंग कमेटी ने कुछ शर्तों के साथ योजना के कतिपय प्रबन्धो के सम्बन्ध मे अपनी व्याख्या पर अडिग रहते हुए दीर्घकालीन योजना स्वीकार कर ली। स्वतन्त्र, संयुक्त और लोकतान्त्रिक सविधान तैयार करने के निमित्त प्रस्तावित सविधान सभा में भाग लेना उसने स्वीकार कर लिया।

अल्पकालीन योजना के सम्बन्ध में विवाद चलता रहा। मुस्लिम लीग चाहती थी कि अन्तरिम सरकार मे कांग्रेस और मुस्लिम लीग के सदस्यों की संख्या बराबर हो और सब मुसलमान सदस्यो की नियुक्ति मुस्लिम लीग की संस्तुति पर की जाय। मुस्लिम लीग के विचारों को ध्यान मे रखते हुए केबिनेट मिशन ने 5 : 5 : 2 का सूत्र तैयार किया। कांग्रेस को यह फार्मूला पसन्द नही था। इस पर निश्चय किया गया कि कौंसिल मे तेरह सदस्य हो, जिनमें 6 कांग्रेस के और 5 मुस्लिम लीग के प्रतिनिधि और 1 ईसाई और 1 सिक्ख हों। कांग्रेस को यह फार्मूला भी पसन्द नही था। 16 जून को केबिनेट मिशन और वाइसराय ने अन्तरिम सरकार के 14 सदस्यों की सूची घोषित की। इसमे मुस्लिम लीग से सम्बन्धित पांच मुसलमानों और कांग्रेस से सम्बन्धित छह हिन्दुओं के नाम थे।

गाधीजी को यह चयन पसन्द नही था। उनका कहना था कि (1) चूंकि

मुस्लिम लीग एक साम्प्रदायिक संस्था है, उसकी सूची में केवल मुसलमानों का नाम ही हो सकता है; (2) एक राष्ट्रीय संस्था की हैसियत से कांग्रेस को अपनी सूची में कांग्रेस मुसलमान को शामिल करने का अधिकार होना चाहिए; (3) अपने पाँच मुस्लिम सदस्यों के चयन के अतिरिक्त मुस्लिम लीग को अन्य सदस्यों की नामजदगी में हस्तक्षेप करने का अधिकार नही होना चाहिए; (4) अन्तरिम सरकार को अपने व्यवहार में केन्द्रीय असेम्बली के प्रति उत्तरदायी होना चाहिए।

कांग्रेस के विरोध के कारण 24 जून को केबिनेट मिशन ने अपनी सूची वापस लेते हुए घोषित किया कि कुछ समय के बाद वाइसराय अन्तरिम सरकार गठित करने का प्रयत्न करेंगे। काफी वादविवाद के बाद 29 जुलाई को मुस्लिम लीग ने केबिनेट मिशन की दीर्घकालीन योजना मानकर सविधान सभा मे भाग लेने से इन्कार कर दिया और 31 जुलाई को जिन्ना साहब ने अन्तरिम सरकार से सम्बन्धित सुझावों की आलोचना करते हुए कहा कि वे गलत हैं; क्योंकि उनमे कांग्रेस के लिए छह और मुस्लिम लीग के लिए पाँच स्थान रखे गये हैं, क्योंकि काग्रेस के लिए एक गैर-लीगी मुसलमान नियुक्त करना सम्भव होगा और क्योंकि अनुसूचित जातियो के प्रतिनिधि का चयन कांग्रेस को दिया गया है।

भारतमन्त्री के आदेश पर वाइसराय ने 6 अगस्त को जवाहरलाल नेहरू को अन्तरिम सरकार गठित करने को आमन्त्रित किया और कुछ वाद-विवाद के बाद 2 सितम्बर को अन्तरिम सरकार गठित हो गयी।

लार्ड वेविल ने मुस्लिम लीग के प्रतिनिधियों को अन्तरिम सरकार और सविधान सभा मे शामिल करने का प्रयास जारी रखा। 10 अक्तूबर को लीग की वर्किंग कमेटी ने अपने प्रतिनिधियो को अन्तरिम सरकार मे भेजने का निश्चय किया। और, 26 अक्तूबर को मुस्लिम लीग की ओर से जिन्ना साहब द्वारा चुने चार मुसलमान और एक हरिजन अन्तरिम सरकार मे शामिल हो गये।

इस समय इस बात की आशा की जाती थी कि अन्तरिम सरकार के सब सदस्य मिलकर काम करेंगे और मुस्लिम लीग दीर्घकालीन योजना को स्वीकार करके संविधान सभा मे भाग लेने को राजी हो जायगी। पर मुस्लिम लीग के सदस्यों ने गुटबन्दी और असहयोग की नीति का अनुकरण किया और केन्द्रीय शासन मे गतिरोध पैदा हो गया। लीग ने दीर्घकालीन योजना भी स्वीकार नही की। उसके सम्बन्ध में लीग और कांग्रेस मे गहरा मतभेद बना रहा।

अन्ततोगत्वा 20 फरवरी, 1947 ई. को भारतमन्त्री एटली ने घोषित किया कि जून, 1948 ई. में ब्रिटेन भारत छोड़ देगा और यदि उस समय तक सविधान सभा सब प्रतिनिधियो के साथ काम करते हुए कोई ऐसी व्यवस्था स्थापित नही कर पाती जो सब क्षेत्रों को मंजूर हो, तो सरकार को सोचना पडेगा कि ब्रिटिश भारत में केन्द्रीय सरकार के अधिकार किसे हस्तान्तरित किये जायें।

24 मार्च, 1947 ई. को लार्ड माउण्टबेटन ने गवर्नर जनरल का उत्तरदायित्व ग्रहण किया। उन्होंने प्रमुख सरकारी अफसरों और राजनीतिक नेताओं

से बातचीत करने के बाद 2 मई को एक योजना ब्रिटिश सरकार की स्वीकृति के लिए तैयार की जिसमें पाकिस्तान और केन्द्रीय सरकार की कोई चर्चा नही थी और निर्धारित किया गया था कि सारे अधिकार प्रान्तीय सरकारोंको हस्तान्तरित कर दिये जायें और वे यदि चाहे तो आपस मे मिलकर कभी भी केन्द्रीय सरकार गठित कर सकते है। ब्रिटिश मन्त्रिमण्डल ने कुछ संशोधनों के साथ इसे स्वीकार कर लिया, पर कांग्रेसने इसका डटकर विरोध किया। लार्ड माउण्टबेटन ने महसूस किया कि उन्होंने भारी गलती की। कुछ दिन बाद दूसरी योजना तैयार की गयी जिसमे केन्द्रीय सरकार, उसके डोमिनियन स्टेटस, बगाल और पजाब के विभाजन और पाकिस्तान की स्थापना की व्यवस्था थी। ब्रिटिश सरकार ने इसे भी मंजूर कर लिया और कुछ हिचकिचाहट के बाद कांग्रेस और मुस्लिम लीग ने भी इसे स्वीकार कर लिया और इसके आधार पर 14-15 अगस्त, 1947 ई. को भारत दो भागो मे विभाजित हो गया।

पंजाब, बगाल और सिन्ध की विधानसभाओं के बहुसख्यक सदस्यो तथा सीमा प्रान्त और सिलहट की बहुसंख्यक जनता की राय से सिन्ध, बलूचिस्तान, उत्तर-पश्चिम सीमाप्रान्त तथा पंजाब और बगाल के बहुसंख्यक मुस्लिम क्षेत्र पाकिस्तान का अग बन गये। साम्प्रदायिकता के आधार पर सेना और लोकसेवाएँ भी दो भागों मे विभाजित हो गयी।

यद्यपि दोनों राज्यों मे स्वतन्त्रता का स्वागत हुआ। पर पाकिस्तान के हिन्दुओं और सिक्खों ने तथा सीमा प्रान्त के खुदाई खितमतगारों ने मुसीबत का अनुभव किया। भारत के अल्पसख्यक मुसलमानों को पाकिस्तान बनने की खुशी थी, पर अपने भविष्य के सम्बन्ध में काफी घबराहट थी।

पूर्वी और पश्चिमी पजाब मे साम्प्रदायिक रोष ने निर्दयता और नरसंहार का रूप धारण कर लिया। पाकिस्तान में लाखो हिन्दुओं और सिक्खों को और भारत मे लाखो मुसलमानों को नाना प्रकार के अमानुषिक अत्याचार सहन करने पड़े। पैतृक घरो को छोडकर सैकड़ो मील पैदल चलकर, वर्षों तक बुरी हालत में शरणार्थी का जीवन बिताना पड़ा। पूर्वी बगाल, सीमा प्रान्त और सिन्ध के हिन्दुओ तथा बिहार, दिल्ली आदि कतिपय क्षेत्रो मे बसनेवाले बहुत-से मुसलमानो को भी काफी कष्ट सहन करने पड़े। इस तरह विभाजन साम्प्रदायिक समस्या का समाधान करने में विफल हुआ। समस्या ने अधिक भयकर रूप धारण कर लिया।

—

संकीर्णताओं पर हथौड़े की चोट

26 जनवरी आयी और चली गयी। आठ वर्ष पूर्व इस दिन भारतवर्ष ने अपना नया संविधान कार्यान्वित किया। तब से कुछ क्रान्तिकारी आचरण समाज में तेजी से परिवर्तन लाने लगे हैं। यद्यपि आठ वर्ष का समय बहुत थोड़ा है और यह हिसाब लगाना कठिन है कि ये क्रान्तिकारी परिवर्तन कितनी मात्रा में देश को आगे बढ़ाने या पीछे सरकाने में समर्थ हुए है, फिर भी कुछ परिवर्तन इतने स्पष्ट हैं कि वे बिना किसी अभ्यास के दीख जाते हैं। थोड़े में उनकी चर्चा करना सम्भव नहीं है, परन्तु थोड़े में उनकी ओर इंगित अवश्य किया जा सकता है।

पहली बात जो बिल्कुल स्पष्ट है, वह है बालिग मताधिकार वर्ग-स्वीकृति के कारण घटित परिवर्तन। हमने दो देशव्यापी चुनाव शान्तिपूर्वक लड़े हैं। बालिग मताधिकार के कारण बहुत-से उपेक्षित जन-समूह राजनीतिक अधिकारों की चेतना से शताब्दियों बाद उद्बुद्ध हुए हैं। वे अपनी शक्ति अनुभव करने लगे है। चुनाव का यह सुपरिणाम है। परन्तु स्वाभाविक रूप से यह चेतना भारतवर्ष की पुरानी और निन्दित जाति-प्रथा को उभाड़ने मे और बल देने मे समर्थ हुई है। संविधान मे हम जाति-भेद को समूल नष्ट करने का संकल्प कर चुके है। परन्तु उस संकल्प का आरम्भिक परिणाम उल्टा हुआ है। कुछ लोग इससे चिन्तित हुए हैं। चिन्तित होना स्वाभाविक है। यदि 'लिखत सुधाकर लिखिगा राहू' वाली उक्ति चरितार्थ हुई है तो चिन्ता का उचित कारण है। पर वे लोग भूल जाते हैं कि अग्नि-शिखा के पहले धुआँ उठा करता है। हमारी राष्ट्रीय चेतना के व्यावहारिक रूप का यह पहला कदम है। हजारो वर्ष की प्रथा एकदम नही नष्ट हो सकती। राजनीतिक अधिकार की प्रथम चेतना उस प्रथा मे उलझकर प्रकट हो रही है। आगे चलकर आर्थिक और सामाजिक हितो के आगे यह अधिक देर तक टिक नहीं सकेगी।

26 जनवरी, 1950 को लगभग समूचा हिन्दू भारत एक संविधान के अंतर्गत आ गया। नेपाल और पूर्वी पाकिस्तान के कुछ थोड़े-से हिन्दू इसके बाहर रह गये हैं। इतिहास में यह कदाचित् पहला अवसर है जब हिन्दू सभ्यता एक शासन के अन्तर्गत आ गयी है। जाति-पाँति का भेदभाव इस सभ्यता का अविच्छेद्य अंग रहा है। पिछले दिनों भारतीय गणतन्त्र की संसद ने कुछ ऐसे कानून बनाये है, जो आगे चलकर इस भेदभाव को निस्सन्देह समाप्त कर सकेंगे। 18 मई, 1955 ई. को पारित 'हिन्दू विवाह विधेयक', 17 जून, 1956 ई. का 'हिन्दू उत्तराधिकार विधेयक', 25 अगस्त, 1956 ई. का 'हिन्दू अल्पवयस्कता और संरक्षण विधेयक' और 14 दिसम्बर, 1956 ई. का 'हिन्दू दत्तक ग्रहण और निर्वाह विधेयक' अत्यन्त क्रान्तिकारी और दूरगामी कानून हैं। पहली बार हिन्दुओं की सभी शाखा-प्रशाखाओ को—ब्राह्म समाज, आर्यसमाज, वीरशैव, लिंगायत तथा बौद्ध और

जैन को भी—ये कानून एक प्रकार के सामाजिक नियमों में बाँधते हैं। स्त्रियों को सम्पत्ति का समान भागी माना गया है, असवर्ण और प्रतिलोम विवाह को सामाजिक स्वीकृति मिली है, तलाक-प्रथा को कानूनी घोषित किया गया है, इन कानूनों के फलस्वरूप उत्पन्न बच्चों को पैतृक सम्पत्ति का अधिकारी माना गया है और इस प्रकार शताब्दियों की दृढ़प्रतिष्ठित जाति-व्यवस्था के मूल पर कठोर कुठाराघात किया गया है। परिणाम अभी स्पष्ट रूप से नहीं रहे हैं, पर ज्यों-ज्यों समय बीतता जायेगा, त्यों-त्यों ये कानून समाज को तेजी से परिवर्तित करेंगे। अच्छा होगा या बुरा, यह बहस का विषय हो सकता है, पर परिवर्त्तन होगा यह निश्चित है। जाति से बहिष्कृत होने का अब भय नहीं रहेगा, दहेज आदि की कुरीतियाँ शिथिल होंगी, स्त्रियाँ अधिक शक्ति अनुभव करेंगी, छोटी जाति नाम की चीज क्रमशः समाप्त हो जायगी और बालिग मताधिकार से उठा हुआ धुआँ शान्त होने को बाध्य होगा।

इस बीच हमारी संसद ने एक और दूरगामी कानून पास किया है—मृत्यु-कर। आर्थिक दृष्टि से इसका प्रभाव यह होगा कि बहुत बडी धनराशि कोई संचित नहीं रखना चाहेगा। अपनी जीवितावस्था में ही बडी धनराशि को वह बाँटकर छोटी करने का प्रयत्न करेगा और यद्यपि यथासम्भव वह परिवार मे ही रह जायेगी, तथापि अत्यधिक संचय का विघटन शुरू हो जायेगा। मुझे एक प्रतिष्ठित वकील ने बताया कि इस कानून मे कुछ दरार खोजा जा सका है और इसकी प्रत्याशित सफलता कुछ सन्देहास्पद है, फिर भी वह मानते हैं कि दरार बहुत बडा नही सिद्ध होगा और भविष्य में अनुभव के आधार पर उसे पाटा भी जा सकेगा। ससद ने आर्थिक समानता लाने के लिए और भी अनेक कदम उठाये हैं, जिनसे आर्थिक वैषम्य के दूर होने की आशा की जा रही है।

देश के विभाजन के समय देश मे हिन्दू-मुसलिम-वैमनस्य का वातावरण बहुत ही भयंकर था। आज अनुभव से सिद्ध होता है कि पिछले आठ वर्षों की उदारतापूर्ण नीति ने देश में सौहार्द का वातावरण प्रस्तुत किया है। मुसलमान आज भी कुछ सहमी अवस्था मे है। भारतीय संघ मे उनकी झिझक और अरक्षणकातर मनोभाव को दूर करने का प्रयत्न किया है। भारतीय मुसलमान अपनी पिछली भूलों को समझने लगा है और इसीलिए वह अधिकाधिक सतर्क होता जा रहा है। पर अभी साम्प्रदायिक मनोवृत्ति निर्मूल नहीं हुई है। पैगम्बर-विषयक अंग्रेजी किताब और कुत्तेवाली घटना से उत्पन्न आन्दोलन इसके सबूत हैं। पड़ोसी देश निरन्तर सन्देह और विच्छेद की भावना को उकसाता रहता है। इसलिए अभी यह अवस्था कुछ दिन और रहेगी, पर अधिक दिन यह नही टिक सकती। मुसलमानों के चित्त से शंका दूर होकर रहेगी। जिस दिन दूर होगी, वह बहुत शुभ दिन होगा। हिन्दुओं की ओर से कुछ भी ऐसा नही किया जाना चाहिए, जो इस दिन को लाने में बाधा उत्पन्न करे। भारतवर्ष का कोई समाज अपने को अरक्षित न समझे, यही भावी उन्नति का प्रधान चिह्न माना जाना चाहिए।

प्रान्तीयता का भूत इधर अधिक शक्तिशाली हुआ है। भाषावार प्रान्तों के पुनर्गठन से उसे बल मिला है। राष्ट्रभाषा की ओर आगे बढ़ने की बजाय जो हम पीछे हटे हैं, वह इस प्रान्तीय भावना के कारण ही। एक तरफ अंग्रेजी की स्तुति शुरू हुई है, दूसरी तरफ प्रान्तीय भाषाओं की ओर जनता का ध्यान आकृष्ट हुआ है। पहला अशुभ परिणाम है, दूसरा शुभ लक्षण है। सभी भाषाओं को एक-दूसरे के निकट लाने की आवश्यकता जनता और सरकार दोनों ने अनुभव की है। यह उत्तम प्रयत्न है। परन्तु भारतवर्ष की सभी भाषाओं को अपनी भाषा समझने की प्रवृत्ति उतार पर है। उसे अधिक बल मिलना चाहिए। किसी भी भारतीय भाषा की उन्नति समूचे भारतीय जन-समूह के लिए गर्व और गौरव का विषय होना चाहिए। इस बात में हम आगे नहीं बढे है।

भारतवर्ष की अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिष्ठा बढ़ी है। हमारा देश शान्ति और मानवता का प्रबल समर्थक सिद्ध हुआ है। संघर्ष और कटुता के वातावरण को शान्त करने मे हमारा सहयोग सर्वत्र आदर की दृष्टि से देखा जा रहा है। इसके लिए हमे दण्ड भी भोगना पड़ रहा है, पर ऊँचे आदर्श के लिए ऊँचा दाम देना ही पड़ता है।

भीतरी शासन में कुछ कमजोरियों का सबूत पाया गया है। मानव-मूल्यों और मानव-आदर्श मे विश्वास करनेवाले देश के व्यक्तियो और समूहों मे आचरण और विचार की जिस पवित्रता और निष्ठा की आवश्यकता होती है, सब समय हम उसके पास नही सिद्ध हुए। चरित्रगत कमजोरी सब कमाई को नष्ट कर देती है। दुर्भाग्यवश यह कई क्षेत्रों मे प्रकट हुई है।

परन्तु सब मिलाकर पिछले आठ वर्ष मे हमारा देश सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक रूप से दुर्भेद्य महाजनित बनने के लिए महत्त्वपूर्ण कदम उठा चुका है। यह सकल्प बहुत महान् है और इसीलिए बहुत बड़े त्याग और धैर्य की अपेक्षा रखता है। आशा करनी चाहिए कि हम इस संकल्प के उचित पात्र सिद्ध होंगे।

पिछले साठ वर्षों मे कुछ ऐसी भी बातें दीखी है, जो परस्पर-विरोधी लगती हैं। कई बार आशा एक प्रकार की की गयी, लेकिन फल दूसरे प्रकार का दिखायी दिया। दो-एक उदाहरण दिये जा रहे है। स्वायत्त शासनीय स्थानीय सस्थाओं और ग्राम-पंचायतो ने जहाँ गाँवों के अनेक चिर-उपेक्षित वर्गों में आत्मगौरव और आत्म-चेतना का भाव उद्बुद्ध किया है, वहीं तनातनी और अविश्वास का वातावरण भी उत्पन्न किया है। दूर-दूर के गांवो मे विकास-योजनाओं ने आशा का संदेशा पहुँचाया है; नहरों, नल-कूपों, सड़कों आदि के निर्माण से नवयुग गांवों के द्वार पर झांकने लगा है। देखा यह जा रहा है कि नवीन साधनों ने गाँव की जनता को शहर की ओर भागने का मार्ग सुगम बना दिया है और आशा यह की जा रही है कि गांव खुशहाल होगे और शहर के लोग भी गाँव की ओर आकृष्ट होंगे और शहरों की भीड कम होगी। गाँव आबाद न होकर उजड़ रहे हैं, शहर खाली न होकर भर रहे हैं। गाँवो में लोग निरन्तर अपने को अरक्षित अनुभव कर रहे हैं।

एक ओर सरकार सुनिश्चित योजनाओ द्वारा देश के व्यवसायिकीकरण पर

तुली हुई है और दूसरी ओर दूरगामी कानूनों द्वारा पूंजी के विघटन का भी प्रयास कर रही है। कहा जा रहा है कि निजी क्षेत्र मे पूंजी लज्जावती वधू के समान घर से बाहर निकलने में संकुचित हो रही है।

कदाचित् आरम्भ मे ऐसा ही होना स्वाभाविक हो। पर जब बात सुनायी एक तरह से दे और दिखायी दूसरी तरह दे, तब बुद्धि-भेद उत्पन्न होने को बाध्य है। सामयिक पत्रों मे निकली हुई आलोचनाओ के विश्लेषण से यही सिद्ध हो रहा है कि उनके मूल में कान और आंख का असामजस्य है। जो बात सुनायी देती है, वह दिखायी नही देती; जो बात दिखायी देती है, वह सुनायी नहीं देती।

एक बात निश्चित है। अभी से वह स्पष्ट दिखायी देने लगी है। हमारी जनता अब अधिक चलनशील है। दूसरी पचवर्षीय योजना सफल होने पर वह और भी अधिक चलनशील होगी। कृषि-निर्भरता के कारण जो स्थान-विशेष में स्थायी भाव से रहने की प्रवृत्ति बद्धमूल हो गयी थी, वह शिथिल होती जा रही है। अब एक प्रान्त के लोग दूसरे प्रान्तो मे अधिक जाने-आने लगे हैं। आगे और भी जायेंगे-आयेंगे। कदाचित् इतिहास-विधाता घिरौंदों को तोड़ने मे ही प्रयत्नशील हैं। बड़ी तेजी से संकीर्णताओं पर हथौड़े की चोट पड़ रही है। भारतवर्ष मुस्तैदी से महाजाति के रूप मे अग्रसर होने लगा है। दूसरी पचवर्षीय योजना स्थानीय विशेषताओं को समाप्त तो नही कर सकेगी, पर उसकी अनेक कड़ियां टूट जायेंगी। इस अर्थ मे हम शुभ यात्रा के लिए निकल चुके हैं।

[विचार-प्रवाह से—26 जनवरी, 1957]

राष्ट्रीय संकट और हमारा दायित्व

मित्रो, आपने इस अधिवेशन का सभापति बनाकर मेरा जो गौरव बढ़ाया है उसके लिए किन शब्दों मे कृतज्ञता प्रकट करूँ? यह आपकी विशालहृदयता और विरल उदारता का ही परिचायक है—'परगुण परमाणून्पर्वतीकृत्य नित्यं, निजहृदि विलसन्तः सन्ति सन्तः कियन्तः!'

हमारा यह अधिवेशन बडे भारी संकटकाल में हो रहा है। हमारी मातृभूमि इस समय सीमापार के शत्रुओ के अकारण आक्रमण से विक्षुब्ध है। हमारी साहित्यिक, धार्मिक और आध्यात्मिक प्रेरणा का सर्वोच्च स्रोत देवात्मा नगाधिराज हिमालय, शत्रु के अपावन पद-संचार से कलुषित हुआ है। सारा देश अप्रत्याशित

काल्पनिक आशंका से मुक्ति पा जाता है। वह शक्ति को ग्रहण कर सकता है और तदनुसार आचरण कर सकता है। उपनिषद् के ऋषियों ने बताया है कि ज्ञान की इस स्वरूप की उपलब्धि जिसे हो जाती है वह कभी भय का शिकार नहीं होता—'आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कदाचन।' विश्वविद्यालय के अध्यापकों से यह आशा की जाती है कि वे निर्भीक होकर सत्य का अनुशीलन, ग्रहण और संवर्द्धन करेंगे। उन्हें भय दुर्बल नहीं बनायेगा, मोह आसक्त नहीं होने देगा, शोक चिन्तित बनाकर कातर नहीं बनने देगा। परन्तु इस महती तपश्चर्या के लिए देश के राजनीतिक और आर्थिक वातावरण की शान्ति आवश्यक है। आततायी जब अविचारपूर्ण आक्रमण करता है तो पशुबल का सहारा भी लेता है और प्रतिपक्षी को पशुबल का सहारा लेने को बाध्य भी करता है। साधारणतः आक्रान्त देश जब आक्रमण के प्रतिरोध की तैयारी करने लगता है तो उसे बहुत-से सांस्कृतिक महत्त्व के कामों को स्थगित करना पड़ता है। विश्वविद्यालय इसके पहले शिकार होते हैं। वस्तुतः युद्ध का प्रथम डिण्डिम घोष अनासक्त चिन्तन और ज्ञान की निर्भीक उपासना को सबसे पहले निष्क्रिय बनाता है। संसार के युद्ध के इतिहास को देख लीजिए। इनका प्रथम प्रहार ज्ञान की पवित्र साधना पर ही होता है। ऐसी स्थिति में विश्वविद्यालय में काम करनेवाले सहज गति से चल नहीं पाते। देश ही जहाँ संकट में हो, वहाँ देश को बचाना ही प्रथम कर्त्तव्य हो जाता है। पेड़ और लता के नष्ट हो जाने पर अच्छे फूल और फल की आशा करना मोह-मात्र है। भवभूति ने ठीक ही कहा था—'लतायां पूर्वलूनायां प्रसूनस्यागमः कुतः।' इसीलिए मित्रो, इस आक्रमण का उद्देश्य चाहे जो कुछ भी रहा हो, यह निःसन्देह हमारी ज्ञान-साधना पर कसकर आघात करता है। हम इसकी उपेक्षा नहीं कर सकते और अनासक्त साधना के नाम पर देश के मूल पर ही किये गये इस कुठाराघात का प्रतिरोध किये बिना नहीं रह सकते। अन्याय का विरोध और बर्बरता का उन्मूलन हमारा प्रथम कर्त्तव्य है। परन्तु साथ ही हम उन मानवीय मूल्यों को नष्ट भी नहीं होने देना चाहते जो हमारी दीर्घकालीन संस्कृति के मनोहर परिणाम हैं।

यदि हम सावधानी से मोहमुक्त होकर इस आक्रमण के परिणामों का विश्लेषण करें तो हम अपनी कमजोरी और शक्ति का ठीक-ठीक मूल्यांकन कर सकेंगे। इस आक्रमण ने हमारे सामने कुछ अत्यन्त स्पष्ट परिस्थितियाँ खोलकर रख दी हैं। देखा गया है कि हमारे देश की जनता के सम्बन्ध में जो यह समझा गया था कि उसमें एकता नहीं है, परिस्थिति को ठीक-ठीक समझने की क्षमता नहीं है, फिरकापरस्ती है, गुटबन्दी है, व्यर्थ की लड़ाई है, वह सब झूठ था। देश की जनता अपने प्यारे नेता नेहरू के एक ही आह्वान पर वज्रनिर्मित चट्टान की भाँति दृढ़ होकर खड़ी हो गयी। उसने अपने आराम और सुख की परवा किये बिना सब-कुछ को अपने नेता के हवाले कर दिया है। फूट और गुटबन्दी का आरोप मिथ्या और कुहेलिकामात्र सिद्ध हो चुका है। देश की गरीब जनता ने दिल खोलकर अपना सबकुछ मातृभूमि की सेवा में अर्पण कर दिया है। उसमें कहीं भी हिचक

भारवाहक को तेज चला देने की क्षमता होती है, लेकिन वह सहज गति नहीं है। किसी प्रकार जल्दी-से-जल्दी अपने को भारमुक्त कर देने की उतावली-मात्र है। कविवर रवीन्द्रनाथ ने अपने एक गान मे कहा था :

भारेर वेगेते वहिया चलेछि ए बोझा आमार नामाओ बन्धु, नामाओ।
ए जात्रा मोर थामाओ बन्धु, थामाओ ॥

[हे बन्धु, हम भार के वेग से जा रहे हैं, तुम दया करो और इस बोझ के भार को उतारकर हमे सहज गति दो ।]

यदि सचमुच ही शिक्षा-व्यवस्था ने हमे भार ढोने को बाध्य किया है तो हमे इसका प्रतिकार करना होगा। चीनी आक्रान्ताओं ने हमे इस सच्चाई के सम्मुख आमने-सामने खड़ा कर दिया है। मित्रो ! दीर्घकाल से हम यह माँग पेश करते आ रहे हैं कि देश की जनता के साथ देश के शिक्षितों के व्यवधान का एक प्रमुख कारण विदेशी भाषा का माध्यम है। यद्यपि हम अन्तस्तल से चाहते हैं कि दुर्घट काल मे हम किसी भी ऐसे मतभेद को ऊपर न आने दें जो हमारे युद्ध-प्रयत्नों में बुद्धिभेद उत्पन्न करे। परन्तु यह एक मौलिक प्रश्न है और इसने जिस विकराल रूप मे हमें प्रभावित किया है, उसकी उपेक्षा करना बुद्धिमानी नही होगी। हमारी शिक्षा-व्यवस्था और सैनिक संगठन में लोकभाषाओं की उपेक्षा की गयी है। साधारण जनता की आशाओं-आकाक्षाओं से हमारे शासक अनभिज्ञ सिद्ध हुए हैं। स्थानीय समस्याओं से वे एकदम अपरिचित साबित हुए हैं। क्योकि हमने अपनी शिक्षा-व्यवस्था में बहुत दूर के लोगों का अन्धानुकरण किया है, अतः वे अपने देश की मिट्टी से अपरिचित रह जाते हैं। उन्हे वास्तविक देश से, उसकी रहन-सहन से, उसकी रीति-नीति से, उसकी भाषा से, उसके सुख-दुःख से, उसकी आशा-आकाक्षा से, उसके संस्कारों से परिचित होने का अवसर ही नही मिलता। बुद्धि में हमारे युवक संसार के अन्य देशों के युवकों से कम नही हैं, परिश्रम मे वे कभी-कभी बीस ही सिद्ध होते है, उन्नीस नहीं। किन्तु यदि हमारी उच्चतर शिक्षा-व्यवस्था उन्हें अपने घर में ही विदेशी बना देती है, अपनी ही भाषा मे अपने भावो को अभिव्यक्त करने मे असमर्थ बना देती है, अपने ही समाज में उन्हें अजनबी कर देती है, तो दोष उनका नही उस शिक्षा-व्यवस्था का ही है। इसलिए आज के सकटकाल में हमें नये सिरे से सोचने की जरूरत है कि किस प्रकार अपने शिक्षित युवको को इस देश की धरती और जनता के अनुकूल बनाना सम्भव है। सबसे पहली बात जो समझ मे आती है वह यह है कि उन्हें ऐसी शिक्षा मिलनी चाहिए जो उनके जीवन से एकमेक होकर रह सके और उसे अपनी भाषा में अपने देशवासियो के सामने प्रस्तुत करने की सामर्थ्य दे सके। इसमें कोई द्विविधा या सकोच हमारे मन में नही होना चाहिए। 'नान्यः पन्था विद्यते अयनाय'—छुटकारा का दूसरा रास्ता नही है।

मैं किसी की ईमानदारी पर शंका नही करता। परन्तु ईमानदारी से कही हुई बात भी कभी-कभी गलत होती है। कहते है, वृक्ष की पहचान उसके फल से

होती है। मैं यह बात इसलिए कहने को बाध्य हुआ हूँ कि फल हमारे सामने है और अब निस्सन्दिग्ध रूप से अपना परिचय दे चुका है। हमारे बुद्धिजीवी वर्ग के उपरले स्तर के लोगों ने पिछले पन्द्रह वर्षों मे वक्त-बेवक्त बराबर यह प्रचारित किया है कि हमारी भाषाएँ कमजोर हैं, असमर्थ है और इस प्रकार प्रकारान्तर से देश और जनता को ही कमजोर बताने का प्रयास किया है। इस कठोर संकट ने बिल्कुल साफ कर दिया है कि न देश कमजोर है न जनता। और वह भाषा, जो जनता को सही ढंग से सोचने की प्रेरणा देती है, किसी तरह कमजोर नही कही जा सकती। वस्तुतः उन्नति की कसौटी भाषा की उन्नति से मापी जानी चाहिए, इस उक्ति मे सार है। जब भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने कहा था :

"निज भाषा उन्नति अहै सब उन्नति को मूल।
बिन निज भाषा ज्ञान कै मिटै न हिय को सूल।"

तो वह एक बहुत बड़ी सच्चाई को व्यक्त कर रहे थे। भाषा की उन्नति सच्ची उन्नति का माप है। अगर हमारे युवक देश की जनता की कमाई के करोड़ो रुपये व्यय करके विदेशी भाषा में ही लिखते-बोलते है तो इससे बढ़कर फिजूलखर्ची कुछ नही है। लेकिन फिजूलखर्ची तो यह है ही, यह बहुत बड़ा अन्याय भी है। याद रखिए कि ये विश्वविद्यालय जनता की रक्त और पसीने की गाढ़ी कमाई के बल पर खड़े हैं, किन्तु प्रतिदान में उन्हें मिलता क्या है ? बुन्देलखण्ड के एक अनपढ़ किसान के मुँह से मैंने एक छोटा-सा वाक्य सुना था जो जनता की प्रतिक्रिया की सच्ची आवाज है और शिक्षित समुदाय के लिए बार-बार सोचने का आह्वान भी है। उस किसान ने कहा था कि यह पढ़ाई क्या है 'थोड़ा पढ़ै तो हर छूटै ज्यादा पढ़ै तो घर छूटै'। इस घर-छोड़ पढाई की कड़ी जाँच अब आवश्यक हो गयी है।

विश्वविद्यालयों ने अपनी पढाई मे हिन्दी साहित्य के उच्च शिक्षण की भी जैसी-तैसी व्यवस्था की है। परन्तु अब भी हिन्दी अपना उचित गौरव प्राप्त नही कर सकी है। यह बात मैं बड़े दु.ख से निवेदन कर रहा हूँ और साथ ही यह अनुभव कर रहा हूँ कि अपनी उचित मर्यादा प्राप्त करने मे हिन्दी की असमर्थता हिन्दी के सेवकों की असमर्थता को सामने लाती है। यह भूलना बडी भारी गलती होगी कि हिन्दी वही है जो हम उसे बना रहे हैं। अगर हम बडे नही हो पाते, हम संकीर्ण स्वार्थों के दलदल में फँसे रहते हैं और मौका-बे-मौका एक-दूसरे के मुँह पर थूकने मे ही गौरव प्राप्त करते हैं तो हिन्दी को हम छोटा बनाते हैं, उसे उसका उचित आसन दिलाने में बाधा खड़ी करते हैं।

बड़ा काम करने के लिए बड़ा हृदय होना चाहिए। यदि हम विश्वास करते हैं कि हमने अपने ऊपर बडी जिम्मेदारी ली है और सचमुच ही देश की मौलिक समस्या के समाधान में लगे हैं, सक्षेप मे यदि हमारा सकल्प महान् है, तो हमारे प्रयत्न भी महान् होने चाहिए। हमारा आचरण भी तदनुकूल शुद्ध और प्रयत्न विशाल होना चाहिए। हमें यह भी सोचना चाहिए कि हम जो कुछ कर रहे हैं उसके मूल मे केवल स्वार्थ का संघर्ष ही निहित है या उसमे बड़ा कोई उद्देश्य हमारे

सामने है। हिन्दी का आन्दोलन केवल कुछ व्यक्तियों के ज्यादा वेतन पाने का आन्दोलन नहीं है, वह उससे बड़ा है—बहुत बड़ा है। वह समूचे देश को आत्म-निर्भर और समृद्ध बनाने का संकल्प है। भाषा की उन्नति केवल कुछ शब्दों का भाण्डार-वर्धन नहीं है। भाषा और अर्थ का अविच्छेद सम्बन्ध है। तुलसीदास ने 'गिरा अरथ जल बीचि सम' कहकर भाषा और अर्थ के अविच्छेद सम्बन्ध की ओर इंगित किया है। यदि हमारी भाषा में हवाई जहाज शब्द हो और एक भी हवाई जहाज न हो तो भाषा व्यर्थ का बोझ होती है। व्यर्थ अर्थात् अर्थहीन। बाह्य-जगत् में पदार्थों की बहुलता ही पदबहुलता के औचित्य को सिद्ध कर सकती है। इसीलिए भाषा की उन्नति का सच्चा अर्थ है—पदार्थगत समृद्धि। जब हम पदार्थ का संचय छोड़कर केवल पद का संचय करते हैं तो वह सच्चे अर्थों में निरर्थक है। निरर्थक का मतलब ही होता है पद है किन्तु अर्थ नहीं है। हम जो देश की भाषा की उन्नति में लगे हैं, उसका सीधा अर्थ यही हो सकता है कि हम देश की जनता की समृद्धि के सूचक पदार्थों की समृद्धि चाहते हैं। यह बात केवल भौतिक पदार्थों की सीमा में ही सत्य नहीं है। यह हमारे बौद्धिक और आध्यात्मिक क्षेत्र में भी उतना ही सत्य है। यदि हमारी भाषा में सत्य शब्द है और आचरण में नहीं है, तो यह भी एक निरर्थक बोझ मात्र है। किसी जाति की उन्नति का अर्थ है उसके प्रत्येक क्षेत्र की समृद्धि और यह समृद्धि ही भाषा में नये-नये अर्थों और प्रकाशन भंगिमाओं को उत्पन्न करती है और भाषा को शक्तिशालिनी बनाती है। आत्मबल, बाहुबल और धनबल यदि सच्चे अर्थों में हमारे सामने उपस्थित नहीं हैं तो वे बात-की-बात मात्र हैं। और यदि वे सच्चे अर्थों में हमारे पास हैं तो वे भाषा को नित्य नवीन समृद्धि से पुष्ट करते रहते हैं। इसीलिए जिन लोगों ने भाषा की उपासना का व्रत ले रखा है, उनका व्रत बहुत बड़ा है। देश की भाषा में देश के समूचे ज्ञान-विज्ञान को प्रकट करने का सामर्थ्य इस बात का प्रमाण है कि वे वस्तुएँ हमारे पास हैं और उन पर देश की जनता का स्वामित्व है। विश्वविद्यालयों में हिन्दी का प्रवेश एक सीमित अर्थ में हुआ है, वह क्षेत्र साहित्य का क्षेत्र है। परन्तु देश की समृद्धि का अर्थ इससे बड़ा है। हम दर्शन, विज्ञान, शिल्पकला सब पर जनता का स्वामित्व चाहते हैं और इसीलिए हम जनता की भाषा की उन्नति की बात करते हैं। हमारा उद्देश्य इससे छोटा नहीं है और हमारा दृढ़ विश्वास है कि इससे बड़ा कोई उद्देश्य और किसी के सामने है भी नहीं। एक बार इस बड़े संकल्प की ओर देखिए और फिर देखिए अपनी भाषा में फैली हुई साहित्यिक अखाड़ेबाजी, एक-दूसरे को धकिया देनेवाली गुटबन्दी और स्वार्थ के लिए किसी भी स्तर पर उतर आने की हल्की मनोवृत्ति तो आपको स्पष्ट हो जायेगा कि हमारे उद्देश्य और हमारे प्रयत्नों में कितना बड़ा व्यवधान है।

देश की स्वाधीनता के बाद जहाँ हमारी शक्ति जनता की आवाज को शक्तिशालिनी और प्रभावोत्पादक बनाने के लिए लगनी चाहिए थी, वहाँ सारी ताकत मुकदमेबाजी और अखाड़ेबाजी में खर्च हो रही है। इससे बढ़कर दयनीय अवस्था

और क्या हो सकती है ? आज हमारी साहित्यिक संस्थाएँ अन्तर्विरोधों से पंगु हो गयी है और हमारे विश्वविद्यालयो में आपसी मतभेद के द्वन्द्व ने हमे निष्क्रिय और हतचेतन बना दिया है। सर्वत्र एक प्रकार की निराशा और उत्साहहीनता का दौर-दौरा है। सच्ची पुरानी तेजस्विता को लकवा मार गया है और अपनी गलतियों से अशक्त बने हुए हम दूसरो पर दोपारोप की मनोवृत्ति के बुरी तरह शिकार हो रहे हैं।

यह बड़ी ही भयंकर स्थिति है। इसे खतम होना चाहिए। गुटबन्दियो ने हमे ही जर्जर नही बनाया है, हमारी साधना के स्तर को नीचा किया है। घटिया माल पैदा करने की हममे होड पैदा की है और अपने ही भीतर के विकारो, अपने ही बनाये फन्दों में फँसाकर अपने स्वयं के मनन और चिन्तन को धूमिल बनाया है। हम काम करते है—बहुत काम करते है, परन्तु कुछ पैदा नही कर पाते। जो शक्ति चिन्तन और स्वाध्याय में लगनी चाहिए वह दूसरे ऐसे गलत कामों मे व्यय हो रही है जिसे किसी प्रकार विद्वज्जनोचित नही कहा जा सकता। किसी दूसरे पर दोपारोपण करने के पहले हमे आत्मसंशोधन की ही सबसे बड़ी आवश्यकता है।

अपना दोप स्वयं देख लेना कमजोरी नही, मजबूती का लक्षण है। इस कटु तथ्य की चर्चा करने का मेरा उद्देश्य यह नही है कि हम यह बताना चाहते हैं कि हमने कोई बड़ा काम किया ही नही। निस्सन्देह भाषा और साहित्य के क्षेत्र मे हमने कुछ किया भी है और जितना किया है उससे हमारी शक्ति को बल भी मिला है। मेरा यह सब कहने का उद्देश्य सिर्फ यही है कि इस सकटकाल में भी, जबकि हम छोटी-छोटी बातों मे भी फिजूलखर्ची रोकने का प्रयास कर रहे है, यह बेमतलब की बरबादी अवश्य रुकनी चाहिए। ईमानदारी और बुद्धिमानी के साथ किया हुआ काम कभी व्यर्थ नही जाता। यदि हम अपनी सारी ताकत सच्चे दिल से अपने महान् आदर्श को साकार बनाने मे लगा दें तो निस्सन्देह देश का बहुत बड़ा हित होगा। हम अपने परिश्रम, निष्ठा, सच्चाई और सेवाभाव से ही उन लोगों को अपने साथ ले सकते हैं जो किसी कारणवश ठीक-ठीक देखने मे अभी तक समर्थ नही हुए है। आज जब कि युद्ध ने वास्तविकता को नग्न रूप मे हमारे सामने खड़ा कर दिया है; हमें अपनी बात की सच्चाई सिद्ध करने का सुनहरा मौका अनायास हाथ लग गया है। आज स्वदेशी आन्दोलन को परिपूर्ण रूप से स्वदेशी बनाने का औचित्य अनायास सिद्ध हो गया है। हम सच्चाई के साथ उन देश-वासियों का आह्वान करें जो अब तक हमारे ही समान सोचने को विवश नही हो गये हैं। विदेशी भाषा के अनुकरण ने हमे सिर्फ अपने ही देश मे अजनबी नहीं बना दिया है, बल्कि आसपास के पडोसी देशों मे भी हमे उसी प्रकार का अजनबी बना दिया है। अपनी भाषा को मान न देनेवाली मनोवृत्ति का ही परिणाम है कि हमने अपने पड़ोसियो की भाषा और संस्कृति की अवहेलना की है। यह क्या सचमुच दुःख की बात नही है कि हजारों मील दूर के लोगो ने हमारी वार्ता जितनी

सहानुभूति से सुनी, पड़ोसियो ने नही सुनी ? वे पड़ोसी जिन्हें हमारे बहुत निकट होना चाहिए, जिनकी नाड़ियों का पदसंचार हमारी नाड़ियों के पदसचार से मिलकर चला करता है, जिनके साथ हमारे धार्मिक और साहित्यिक सम्बन्ध हजारों साल पुराने है।

अगर आज भी हमारे देश के मनीषी स्वेच्छा से इस गम्भीर परिस्थिति का अनुभव नही कर रहे है तो निश्चय मानिए कल उन्हें बाध्य होकर मानना पड़ेगा। महाकालदेवता का निष्करुण रथचक्र रुकता नही। आज मोहवश जिसे नही कर रहे है, उसे कल विवश होकर करना पड़ेगा :

कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात् करिष्यसि अवशोऽपि तत्।

बुद्धिमान को स्वेच्छा से सही मार्ग पर चलना चाहिए। विवश होकर किसी बात को मानना मोहग्रस्त मूढ़ लोगों का काम है। अपनी भाषा में जब तक देश का सम्पूर्ण काम नही होता तब तक युद्ध में, कला में, उद्योग में सहजबुद्धिसम्पन्न नेताओं का भी अभाव बना रहेगा। विश्वविद्यालय के अधिकारियों को शान्त भाव से इस परिस्थिति पर विचार करना ही होगा। साधारण जनता और उच्च शिक्षित के बीच जो चौड़ी खाई तैयार हो गयी है, उसे पाटने के लिए कोई भी कीमत बड़ी नही है। कठिनाइयां हैं, कौन नही जानता ? बाधाएँ है, बहुत साफ हैं; परन्तु करना है और हमें ही करना है। कायर कहता है : बहुत कठिनाई है, शूर कहता है : यही तो आनन्द है। रवीन्द्रनाथ की कविता की कुछ पंक्तियां यदि हिन्दी में प्रस्तुत करने का प्रयत्न करूँ तो कुछ इस प्रकार होंगी—'बाधाएँ हैं, जानता हूँ मैं, पर यही जान कर प्राण वक्ष में झूमे।'

इस समय देश सकट-काल से गुजर रहा है। यदि शत्रु के अब तक के व्यवहारों का इतिहास देखें तो स्पष्ट हो जायेगा कि यह टण्टा जल्दी दूर होने का नही है। हमारी दृढ़ता और सामरिक शक्ति को देखकर शत्रु थोड़ी देर के लिए दब जा सकता है, किसी अन्य चालाकी-भरी चाल में हमें फँसाने का प्रयत्न कर सकता है या मौके की तलाश में चुपचाप दुबककर हमें धोखा दे सकता है। जब तक शत्रु का मन इस साँचे मे ढला रहता है, तब तक हम निश्चिन्त नहीं हो सकते। निस्सन्देह हमारा बाहुबल ही अन्त तक हमारी सुरक्षा और आन्तरिक समृद्धि का प्रहरी सिद्ध होगा, पर ससार की निरन्तर बढ़ती हुई जटिलताओं को देखते हुए हमे पूर्ण रूप से बौद्धिक दृष्टि से जागरूक रहना होगा और अपनी आर्थिक व्यवस्था को सुदृढ़ रखना होगा। लड़ाई से आज तक कभी कोई समस्या सुलझी नही है, आगे भी नही सुलझेगी। यह ध्रुव सत्य है। चीन के मदगर्वित शासक इस सीधी-सी बात को नही समझ रहे हैं। अनुभव ही उन्हें यह बात समझा सकेगा। वे युद्ध का डका बजाकर, सत्यानाश की धमकी देकर अपना उल्लू सीधा करना चाहते हैं। उन्हें शान्ति की भाषा समझ में नहीं आ रही है; वे मैत्री को दुर्बलता का लक्षण मानते हैं। उनके मन मे मनुष्य के अब तक के अर्जित मूल्यों का कोई आदर नही है। वे एक ही भाषा समझते है—युद्ध। उन्हें शान्ति का पाठ

भी इसी भाषा में पढ़ाने को बाध्य होना पड़ा है। परन्तु चीन की विशाल जनता भी क्या ऐसी ही है? मेरा विश्वास है कि चीनी जनता की आवाज हम तक नहीं पहुँच पा रही है। उसके महत्त्वाकांक्षी उन्मत्त नेता चीनी जनता को आशा-आकांक्षाओं का प्रतिनिधित्व नहीं कर रहे हैं। उनके उन्मत्त सामारिक अभियानों से जनता त्रस्त है, उनकी ऊँची छलांगों की मार से चीन की मिट्टी कम्पमान है। भुखमरी और शासकीय पैंतरेबाजी से जनता त्राहि-त्राहि कर रही है। गरीब जनता के कंकालों से युद्ध का घर्घरकारी रथ तैयार हुआ है। जब तक वह शान्तिकामी जनता अपनी गर्दन के इस रक्तशोषी जुए को उतार नहीं फेंकती तब तक स्थायी शान्ति की आशा नहीं करनी चाहिए। वर्त्तमान नेताओं के रहते चीन कभी स्वस्थ चित्त से समझौते की बात नहीं कर सकता। वह उस पड़ोसी की भाँति है जिसके घर का मालिक विक्षिप्त है। एक लम्बे अर्से तक चलनेवाला सिरदर्द है। हमें इसका ठीक उपचार सोचना होगा। हमें स्पष्ट रूप से चीन के वर्त्तमान शासकों और उनके अत्याचार से दबी हुई निरीह जनता में अन्तर करना होगा। इतिहास में ऐसे उदाहरण कम नहीं मिलेंगे। शासकों के मदमत्त गुट के साथ जनता का जो आन्तरिक विरोध होता है, वह तभी प्रकट होता है जब वह गुट विनाश के गड्ढे में गिर पड़ता है! आँधी के वेग से बढ़नेवाले मत्त शासक यह भूल ही जाते हैं कि जड़त्वसम्पन्न पिण्ड की उत्थान की गति से पतन की गति अधिक तीव्र होती है। भभक उठनेवाले की आँच बड़ी जल्दी बुझ जाती है। पर जब तक भभक है तब तक उसके शमन का उपचार तो सोचना ही पड़ता है। भाषा और साहित्य के क्षेत्र में काम करनेवाले इस लम्बे सिरदर्द के शमन के लिए क्या कर सकते हैं? क्या उनका कोई योगदान हो सकता है? मेरा निवेदन है कि हम अवश्य ही कुछ महत्त्वपूर्ण कार्य कर सकते हैं। हमारे देश में भाषा सीखने की कठिनाइयों का एक बेकार का हौवा खड़ा किया गया है। उत्तर भारत की भाषाएँ एक-दूसरी से इतनी मिलती हैं कि एक भाषा का जानकार थोड़े परिश्रम से प्रायः सभी को सीख सकता है। हिन्दी जाननेवाले के लिए अपने देश की चार-पांच प्रमुख भाषाओं को जान लेना कोई कठिन बात नहीं है। दक्षिण भारत की भाषाओं को सीखना भी बहुत मुश्किल नहीं है। शब्दभण्डार तो बहुत-कुछ एक ही है। फिर भी हम लोगों के मन में अपने देश की दो-चार भाषाओं के सीख लेने और उनके साहित्य का रसास्वाद करने की उमंग नहीं दिखायी देती। मैं देश के हर व्यक्ति को पाँच-छह भाषा सीखने की बात नहीं कह रहा हूँ। मैं उन लोगों की बात कह रहा हूँ जो भाषा और साहित्य के विशेषज्ञ होते हैं। हाल में ही मैं रूस गया था। वहाँ के भाषा और साहित्य के विद्वानों का भाषाज्ञान और अपने पास-पड़ोस के साहित्य के रसास्वाद की लगन देखकर चकित होना पड़ता है। जो भारतीय साहित्य के अध्ययन में लगे हैं वे अनायास भारत की चार-पाँच भाषाएँ सीख लेते हैं। उनके साहित्य को रूसी भाषा में अनुवाद करते हैं और अधिकाधिक सीखने के लिए उत्सुक रहते हैं। श्री चेलिशेव भारत की कई भाषाएँ जानते हैं, बोल और लिख

सचाई और विश्वास की ईमानदारी से हम दूसरो को अनुकूल बना सकते है।

हम नही जानते कि हमारे ऊपर आया हुआ संकट कब तक रहेगा। विजय हमारी होगी, यह ध्रुव सत्य है। पर इस बीच हमे अपने पावन कर्त्तव्य का दृढता के साथ पालन करते हुए सब प्रकार के त्याग के लिए प्रस्तुत रहना पड़ेगा। अपने साथियों और विद्यार्थियों में दृढ मनोबल और स्वदेश तथा पास-पडोम के देशो की भाषा और साहित्य के सीखने की उमंग संचारित करते रहने में हमे आगे रहना होगा। हमें उन सब प्रयत्नों के संवर्द्धन का संकल्प करना होगा जो देश को समृद्ध और शक्तिशाली बनाते है। इस समय हमे सकोचनशील मनोवृत्ति की नही, विकसनशील मनीषा की आवश्यकता है।

मित्रो, मैं फिर एक बार आपके प्रति अपनी आन्तरिक कृतज्ञता निवेदन करता हूँ। परमात्मा हमे शक्ति, स्पष्ट चिन्तन और सद्बुद्धि दे।

[कुटज से]

लड़ाई खत्म हो गयी

मार्च में मैं अस्वस्थ हो गया और मार्च मे ही इतिहास की गति मे तेजी आ गयी। न जाने मेरे स्वास्थ्य और इतिहास मे क्या सम्बन्ध है कि जब इतिहास जरा वेग पकड़ता है तभी मेरे शरीर के नाना जाति के कीटाणुओ मे भी हलचल पैदा हो जाती है। 1947 ई. मे भी यही हुआ था और 1972 ई. मे भी यही हुआ। लगता है कि जब इतिहास-विधाता का रथ जरा तेज होता है, तब उसकी घरघराहट मेरे रक्त को प्रभावित अवश्य करती है। मेरे कृपालु चिकित्सक उस धड़कन को अनेक नामों से बताते हैं, पर मेरे अन्तर्यामी कहते रहते हैं—यह तुम्हारी धडकन नहीं है, कही कुछ घट रहा है, कुछ पिट रहा है, कुछ मिट रहा है! हाय रे भाग्य, इतिहास-विधाता की सड़क क्या मेरी धमनियों में ही गुजरती है? जब उनकी भवें तनती हैं तभी मेरी आँखें लाल हो जाती हैं, जब उनके मन मे रोष की ऊष्मा उदित होती है तभी मेरा तापमान बढ़ जाता है। इस बार वह कुछ अधिक क्रुद्ध जान पड़ते हैं। मेरा शरीर, मेरा मन, मेरी अन्तरात्मा साक्षी है।

मैं उन दिनों व्याकुल था, शायद इसलिए कि इतिहास चचल था। रवीन्द्रनाथ की वे पक्तियाँ बार-बार याद आती थी जिन्हें कभी मैंने दमनोद छन्द मे भाषान्तरित करने का प्रयास किया था—

"आज तेरी नाड़ियों में
सुन रहा हूँ किसी चंचल की पगध्वनि,
वक्ष में रणरणित नि.स्वन,
है न कोई जानता यह—
नाचती है रक्त में तेरे उदधि की लोल लहरें,
काँपती है आज मन में विकल व्याकुलता वनों की।"

इतिहास इच्छा है, गति है; भूगोल क्रिया है, स्थिति है। मनुष्य की सामूहिक इच्छा जब जड़ता से टकराती है, तब इतिहास आगे बढ़ता है। जब स्थिति उस पर हावी हो जाती है, तब इतिहास पीछे हटता है, लड़खड़ाता है, फिसलता है और जब गति तीव्र होती है और स्थिति को पछाड़ देती है, तब भूगोल लड़खड़ाता है, टूटता है, पिटता है। इस बार क्या होनेवाला है? क्या यथास्थिति विजयी होगी? क्या सामूहिक इच्छा कुछ आगे बढ़ेगी? कौन जाने 'चंचल' के चरण किधर धकेल ले जायें!

पहला उत्तर मिला आम चुनाव के परिणामों में। सामूहिक इच्छा विजयी हुई। भारत के इतिहास में इन्दिरा महाशक्ति के रूप में उदित हुई—सामूहिक मगलेच्छा की मूर्ति-रूप में, उद्धत विशृंखलता पर कशाघात के रूप में। इतिहास ठीक रास्ते पर चल रहा है, यथास्थिति लडखड़ा गयी है—मन मेरे, इतिहास-विधाता आज रुद्र रूप में नही, शिवरूप में दिखायी देनेवाले हैं। इन्दिरा उनकी मगल स्थितरेखा के रूप मे उदित हुई है। कुछ अच्छा घटित होनेवाला है! मगर क्या? अन्तर्यामी ने मौनव्रत ले लिया था।

मार्च का महीना बीतते-न-बीतते महाकाल देवता का रथ-घर्घर एकदम ठप्प हो गया। जान पड़ता था रथ उनकी मनोवांछित गति से चल नही पा रहा है, वह कूद पड़े है। उनका उन्मत्त ताण्डव अब एक ही स्थान पर जम गया है। शायद वह पूर्वी बंगाल मे कूद पड़े है। आगे नही बढ़ रहे, पीछे नही हट रहे, केवल नाच रहे है—विकट चारिकावाला वात्याचक्र नृत्य। मेरे चिकित्सकों ने बताया कि मेरा रक्तचाप बहुत कम हो गया है, बहुत कम। क्या होनेवाला है?

असुरो के भीतर जब तामसी वृत्ति बढ़ जाती है तब सुना है, महाकाल का कुण्ठ नर्त्तन शुरू हो जाता है। उसमे गति होती है, पर बढ़ाव नही होता। वह महाबवण्डर की तरह अपनी गति से आप ही बेचैन हो उठता है, अपने ही भीतर आप ही टकराने लगता है, जो कुछ सामने, आगे-पीछे, दायें-बायें पड़ जाता है वही उस भयंकर घूर्णचक्र की लपेट में आ जाता है। महाकाल का यह कुण्ठ नर्त्तन तामसिक शक्तियों को आन्दोलित करता है, मथित करता है और अन्त मे जड़मूल से उखाडकर फेंक देता है। अधर्म का नाश इसी क्रम से होता है—उसका आश्रय लेनेवाला बढता है, प्रतिद्वन्द्वी को पछाड़ता है, समृद्धि के सपने देखता है और फिर जड़-मूल के साथ उखड़कर ध्वस्त हो जाता है। मनु भगवान् ने ऐसा ही क्रम बताया है :

हूँ। गांधीजी की ऐसी ही वानरी सेना में भर्ती था तो संशय नहीं था। आज संशय है। क्या भयकर दावानल को पानी के छीटों से बुझाया जा सकता है? लड़के जूझ पड़े है। उनका नेता कैद है। बाहर भी होता तो क्या कर लेता? लड़कों ने सचमुच डण्डा उठा लिया है। महाघन-अन्धकार को ध्वस्त करने के लिए क्या इस नन्हे-से दीये से कुछ हो सकता है? इतिहास यही कहता है कि हो सकता है। बूढ़ा-थका मन सशय में है, कौन जाने!

अचानक सारे अन्धकार को चीरती हुई एक विद्युत्-शिखा आसमान पर चमक उठी है। यह चंचल है, व्याकुल है। मातृशक्ति की वेदना दहाड़ उठी है। पूरब मे, पश्चिम में, उत्तर में, दक्षिण में व्याकुल भाव से यह दिव्य ज्योति दौड़ रही है – यह अनर्थ है, इसे बर्दाश्त नही किया जायेगा। नकसूनों में दशहत है—वे कानून की आड़ लेने लगे हैं। कानून अर्थात् यथास्थिति। फिर एक बार इतिहास-विधाता का रथ जड़ता से टकरा गया है। भयंकर वेग है। विद्युत्-शिखा की गति और तेज हो गयी है, और तेज। मेरी नाड़ियों में विकट स्पन्दन शुरू हो गया है, 'सुन रहा हूँ, किसी चचल की पगध्वनि'। मेरे चिकित्सक कहते हैं, रक्तचाप ठीक हो रहा है।

ठीक तो होकर रहेगा। ऐसी तेजोदृप्त अमृतवाणी तो इतिहास में कभी-कभी ही सुनायी देती है। विद्युत्-शिखा इन्दिरा। भारतवर्ष की युग-युग से संचित सुप्त तपस्या की मूर्त्तिमती ज्योति इन्दिरा। मातृशक्ति जाग उठी है। इन्दिरा बोल रही हैं, मदमत्त सिंहासन डोल रहे हैं, संशयात्मा विचलित हो उठे हैं, जनता मानो अपनी आवाज आप सुन रही है। वीरता का स्वांग भरनेवाले कायर प्रलाप करने लगे है। इन्दिरा नही, भारत का स्वाभिमान बोल रहा है। स्वर मे जरा भी स्खलन नही है, जरा भी आक्रोश नही है, पर वज्र से भी अधिक शक्तिशाली है यह स्वर। रोम-रोम अभिभूत है। आशा की ज्योति दिख गयी है—धन्य हो अन्तर्निगूढ चेतनामयी—

पापानि सर्वजगतां प्रशय नयाशु
उत्पातपाकजनिआश्च महोपसर्गान्।

यह 'सप्तशती' (चण्डी पाठ) के ग्यारहवें अध्याय का एक मन्त्र है। रोज पढ़ता हूँ, पर आज नया अर्थ पा रहा हूँ—'उत्पात-पाक-जनितांश्च महोपसर्गान्'। पाक-जनित महा-उपसर्ग। आजकल व्याकरण-चर्चा मे ही दिन बिता रहा हूँ। उस शास्त्र का 'उपसर्ग' बलपूर्वक धातु के अर्थ को बदल देता है—'उपसर्गेण धात्वर्थो बलादन्यत्र नीयते'। और महा-उपसर्ग? शायद वह अनर्थ की ओर ले जाता है, ले जा रहा है।

डॉ. शिवप्रसाद सिंह हिन्दी-जगत् के सुपरिचित विद्वान् और कथाकार हैं। मिलते हैं तो ढाढ़स बंधानेवाली सौ बातें अनायास कह जाते हैं। अमरीका में किसने क्या कहा, चीन मे क्या हो रहा है, हिन्दी के चोटी के विद्वान् और पत्रकार बाग्लादेश से क्या-क्या देखकर लौटे है, इत्यादि। मैं चकित होता हूँ, और

आश्वस्त भी होता हूँ। इस बार कुछ होके रहेगा। देश जागा है, देश का स्वाभिमान जागा है, शत्रुओं का पाप जागा है—सब एक साथ जाग गये हैं। परन्तु ये बताते हैं इन्दिराजी पशोपेस में हैं। सोचता हूँ यह भी हो सकता है? इन्दिरा को उनके छुटपन से जानता हूँ—तेजस्विनी, मधुरभाषिणी, दृढ़-निश्चयी, अपराजेय। वही इन्दिरा पशोपेश में हैं? यह हो नही सकता। कुछ और बात होगी। इन्दिरा झुकना नहीं जानतीं, रुकना नही जानती—आपाद-मस्तक तेजोमयी। कोई बात होगी। हम लोग कितना जानते है? रक्तचाप थोड़ा और नीचे की ओर जा रहा है। पर शिवप्रसादजी कह रहे हैं, मेरा ग्रह 16 दिसम्बर को ठीक स्थान पर आ रहा है। नीरोग होने मे बहुत देर नही है।

शिवप्रसादजी का और मेरा जन्म एक ही अंग्रेजी तारीख को हुआ है—19 अगस्त। पर उनके ग्रह ठीक हैं, मेरे कुछ गड़बड़ हैं। उनकी यही धारणा है। ठीक तो क्या होगी, पर फिलहाल मान ही लेने मे कौन-सा पहाड़ टूटा जा रहा है। इस अंग्रेजी तारीख ने एक बात में हम लोगो मे समानता ला दी है। मैं ज्योतिष जानता हूँ, वह मानते हैं। पर ऐसा कहना भी शायद ठीक नहीं है। जहाँ तक ज्योतिष का सवाल है, चार कोटियों के मनुष्य प्राय: मिल जाते हैं: एक जो जानते हैं, मानते नहीं; दूसरे जो मानते हैं, जानते नहीं; तीसरे जो जानते है, मानते भी हैं; और चौथे जो न जानते हैं, न मानते है। शिवप्रसाद इनमे से किसी कोटि मे नही आते। उनके लिए एक और श्रेणी बनानी पड़ेगी। वह पाँचवी कोटि उन लोगों की है जो थोड़ा-थोड़ा जानते है, थोड़ा-थोड़ा मानते है। सो, थोड़ा-थोड़ा जानने और थोड़ा-थोड़ा माननेवाले शिवप्रसादजी कह रहे है कि मेरा बृहस्पति 16 दिसम्बर से अनुकूल हो रहा है। झपटके एक पन्ना खीचकर देखता हूँ, उसमे 14 दिसम्बर की तारीख दी हुई है। क्या फर्क पड़ता है? मजेदार बात यह है कि इसी तारीख को बांग्लादेश भी आजाद होगा—शिवप्रसादजी को कहीं से पता लग गया है। किसी ज्योतिषी ने बताया होगा।

और लो, वह लड़ाई छिड़ गयी? पश्चिमी सीमान्त पर पाकिस्तानी शासकों ने नरमांस-लोलुप भुक्खड़ गिद्धों को उड़ा दिया है। एक ही साथ अनेक वायुकेन्द्रों को नेस्तनाबूद करने का इजरायली तरीका। लाखों निरीहों की हत्या करके, करोड़ो का घर-वार वर्बाद कर अधमरा करके, हजारों-लाखो की सम्पत्ति जला-कर राख करके भी इन असुरो की रक्त-लोलुपता समाप्त नही हुई है। अब वे भारतवर्ष की शान्त जनता पर टूट पड़े है। टूट पड़े हैं बड़ी उमगें लेकर, बड़ी आशा लेकर। जैसे भुनगों पर आक्रमण किया हो। पाकिस्तान टूट पड़ा है। लेकिन सुना है, इस बार किसी के दिल में दहशत नही है। भारतवर्ष कमजोर नही है—'इहाँ कोंहड़-बतिया कोउ नाही, जो तर्जनि देखत मरि जाहीं'। देश का तारुण्य आज सजग है—एक आदेश की प्रतीक्षा मे है। आदेश मिल गया है बहुत शान्त, संक्षिप्त, संयत भाषा में—मदमत्त शत्रु के उन सभी ठिकानो को ध्वस्त कर दो जहाँ से वह जहरीली फुंकार छोड़ सकता है, सभी साधन बर्बाद कर दो जिनसे

वह गिहत्थी निरीह जनता को बर्बाद कर रहा है। गरीबों पर हाथ उठाना मना है, असैनिक ठिकानों पर आक्रमण करना मना है, आवश्यकता से अधिक एक बूंद रक्त बहाना भी मना है। सो, आदेश मिल गया है। ठन गयी है।

मैं खुश हूँ। मुझे स्वय आश्चर्य है कि मैं क्यों खुश हूँ। जानता हूँ और विश्वास करता हूँ कि लड़ाई बुरी चीज है। वह मनुष्य के भीतर प्रच्छन्न पशु को जगाती है, वह उससे कोई समस्या कभी सुलझाती नही है। परन्तु आज मैं सचमुच प्रसन्न हूँ। क्यों?

सोचता हूँ, संसार में क्या कभी ऐसी लड़ाई लड़ी गयी है? सताये हुए लोगों की रक्षा के लिए, क्रूर अत्याचार को उखाड़ फेंकने के लिए, निर्मम अमानुषिकता का प्रतिरोध करने के लिए, लाख-लाख शरणार्थियों की रक्षा के लिए, उन्मत्त क्रूरता को विध्वस्त करने के लिए। मिलेगा क्या? राज्य नही, धन नही, भूमि नहीं, भोग नही। केवल कामना है—'कामये दुखतप्तानां प्राणिनाम् आर्ति-नाशनम्!' ऐसा तो कभी नही देखा गया। सारा भारत एक है—कोई हिन्दू नही, मुसलमान नही, सिख नही, ईसाई नही, सब एक—दुर्भेद्य एक! रणबाँकुरे भारतीय जवान हथेली पर प्राण लेकर निकल पड़े है। दुश्मन बुरी तरह तैयार हैं। मगर आज उन्हे आटा-दाल का भाव मालूम हो जायेगा। 'आजु भले घर बायन दीने।'

महाकाल का रथ आगे बढ़ रहा है। अत्याचारियो को चीरता हुआ, मदमत्त शासकों को रौंदता हुआ, गर्वोद्धत राष्ट्रनायकों को दहलाता हुआ, कायरो को चूर करता हुआ—महाकाल का रथ आगे बढ़ रहा है। इतिहास ने भूगोल की छाती में चोट की है। भूगोल लड़खड़ा गया है। लगता है खण्ड-खण्ड होकर टूटेगा। मैं स्वस्थ हो रहा हूँ—'रथ' मे स्थित, अपने आपमे जमकर बैठा हुआ—नार्मल! और, यथास्थिति भहरा रही है। हमारे रणबाँकुरों ने जल, स्थल, आकाश—सर्वत्र तहलका मचा दिया है। उद्धत राष्ट्रपतियों और नकसून जन-नायकों की चल नही पा रही है। शिवप्रसादजी कह गये हैं, कोई भयंकर जहाजी बेड़ा आ गया है। अमरीका ने भेजा है। चिन्तित है, पर बहुत नही; मुझे डर लग रहा है, कही विश्वयुद्ध न छिड़ जाये। लोग कह रहे हैं कि सैकड़ों वर्ष पहले कोई शेख ज्योतिषी कह गया है कि विश्वयुद्ध हिन्दुस्तान-पाकिस्तान की लड़ाई से नहीं, मिस्र-इजराइल की लडाई से शुरू होगा। ज्योतिषी भी क्या-क्या जानते हैं!

सातवां बेड़ा सचमुच आ गया है। सुना है, बड़ा शक्तिशाली है, पर आंगछ का कपूत है। जिसकी सहायता को जाता है, उसी को बर्बाद करता है। मुझे ही नही, ससद के सदस्यों को भी परेशानी हो रही है। पर हमारे रक्षामन्त्री जगजीवनराम बिल्कुल नही डरे हैं। कहते हैं—'देहौं उत्तर जो रिपु चढ़ि आवा।' सो तो देना ही पड़ेगा, पर उत्तर देना आसान नही जान पड़ता। मन कहता है, चिन्ता बेकार है, पैटन देखा, सैबर देखा, मिराज देखा, इसे भी देख लिया जायेगा। बुद्धि कहती है, कैसे देख लोगे, 'ढाल-न-तलवार, निधिराम सरदार!' कुछ बुद्धिमान् मित्र

कह गये हैं, रूसी जहाज भी आगे-पीछे हो गये हैं, भय नहीं है। रूस सदा सताये हुए गरीबों का पक्ष लेता आया है। आज भी ले रहा है, पर अमरीका को क्या हो गया है ? इतना बडा लोकतन्त्र क्या केवल प्रतिक्रिया और यथास्थिति के लिए ही फूलता जा रहा है ? गुस्सा आता है परीक्षितजी पर। कलियुग को अव्वल तो दुनिया में रहने की इजाजत देना ही गलत था, पर उसे सोने मे रहने की अनुमति देना तो घातक गलती थी। अब वह रहने लगा है, सोने के अम्बार में। अमरीका में उसे अच्छी बस्ती मिल गयी है। सातवें बेडे को उसने 'पेर' के भिजवाया होगा—'बहुरि राम मायहि सिर नावा। पेरि उर्मिह जेहि झूठ कहावा' ! कलियुग भी राम की माया का ही रूप है। विशाल स्वर्ण-भण्डारवाले अमरीका को वह 'पेर' रहा है—पाप करा रहा है, झूठ बुलवा रहा है, धोखाधड़ी के मार्ग पर घसीट रहा है। कलियुग ने अमरीका को दबोच लिया है। परीक्षितजी ने बुरा किया था।

लड़ाई चौदह दिनों मे खत्म हो गयी। भारतवर्ष जीत गया, दो के बदले तीन टुकड़ों में बँट गया ! सारा भारत प्रसन्न है। मैं भी खुश हूँ। यह क्या एक के अनेक होने की आदिम प्रसन्नता का ही प्रच्छन्न रूप है ?

इतिहास-विधाता धूल झाडकर फिर अपने रथ पर सवार हो गये है। भूगोल टूट गया है, यथास्थिति भहरा गयी है। रथ उनका चल पड़ा है—मन्थर गति से। हम प्रसन्न हैं, पर इतिहास-विधाता भी क्या प्रसन्न हैं ? कौन जाने ! इतना जानता हूँ कि वे न कभी किसी के हुए हैं, न होनेवाले है—निष्ठुर निर्मम।

द्वितीय विश्वयुद्ध बड़ा भयकर था। सारी दुनिया उसकी चपेट मे आ गयी थी। कुछ राष्ट्र जीत गये, कुछ हार गये। जो लोग जीते थे, वे चिन्तित भी थे। यदि इसी तरह एकाध और लड़ाई हो गयी तो संसार का नाश ही हो जायेगा। 'संसार' अर्थात् उनकी दृष्टि का रचित संसार। काण्ट ने कभी बताया था कि ससार हमारी बुद्धि द्वारा रचित होता है। कहा जाता है कि काण्ट ने ऐसा कहकर महान् ज्योतिषी कोपरनिकस द्वारा निर्धारित सिद्धान्त से उद्भूत निराशा का निराकरण किया था और मनुष्य में फिर से आशा की ज्योति जगायी थी। पहले लोग मानते थे कि पृथ्वी ब्रह्माण्ड के केन्द्र मे है और पृथ्वी का सर्वश्रेष्ठ जीव मनुष्य ही ब्रह्माण्ड का महत्तम प्राणी है। कोपरनिकस ने साबित कर दिया कि पृथ्वी ब्रह्माण्ड के केन्द्र मे नही है। अन्यान्य ग्रहो की भाँति यह भी दूर-दूर से ही सूर्य की परिक्रमा कर रही है, निपुण खिलाड़ी के इशारे पर नचाये जानेवाले सर्कस के आज्ञाकारी घोड़े की तरह ! जब पृथ्वी ही केन्द्र में नही तब मनुष्य के केन्द्र में होने का सवाल ही कहाँ उठता है—'लतायां पूर्वलूनायां प्रसूनस्यागमः कुतः'। जब लता ही कट गयी तो फूल का सवाल ही कहाँ उठता है ! विचारशील लोगों में निराशा छा गयी थी। महामति काण्ट ने यह साबित करके उन्हें ढाढस दिया कि मनुष्य की धरती केन्द्र में नही है तो क्या हुआ, दुनिया जैसी कुछ दिख रही है वह मनुष्य की बुद्धि की ही बनायी हुई है। मनुष्य इतना उपेक्षणीय नही है। इसके बाद लोगों

ने और भी बहुत-कुछ कहा। हीगेल ने कहा, मार्क्स ने कहा, गांधी ने कहा, पर बुद्धिमान् लोग अब चक्कर में नही पडते। काम की बात माननी चाहिए, बाकी बकवास है। काम की बात है कि दुनिया को हमने बनाया है। उसे वैसे ही बना रहना चाहिए जैसा हम चाहते हैं। काण्ट ने कुछ कहा है तो कहता रहे? काम की बात इतनी ही है। इसलिए दूसरे विश्वयुद्ध के बाद एक विश्वसभा बनायी गयी ताकि अब आगे गड़बड़ न हो। तय पाया कि पाँच राष्ट्र चौधरी माने जायें और कोई ऐसी बात न होने पाये जो इनमे से किसी एक की भी मर्जी के खिलाफ हो। उस दिन इतिहास-विधाता हँसे थे, पर उसकी ओर देखने की फुर्सत किसी को नही थी।

इतिहास-विधाता की हँसी अकारण नही थी। प्रस्ताव की स्याही सूखी भी नही थी कि एक बडा चौधरी अपने देश से ही मार भगाया गया। यही सही अर्थों में एशियाई राष्ट्र था। मेरा मतलब चीन से है। दो और बड़े चौधरी बुरी तरह दुबले हो गये। उनका साम्राज्य बालू की भीत की तरह ढह गया। बड़े-बड़े देश, जिनके बल पर उनकी चौधरायी टिकी हुई थी अलग हो गये। ये थे ब्रिटेन और फ्रांस। रह गये दो— अमरीका और रूस। पता नहीं इतिहास-विधाता के मन मे कितने क्रूर परिहास सँजोये पड़े हैं! एक मजाक तुरन्त उद्धरित हुआ। उन दिनो सबसे भयंकर मारणास्त्र अमरीका के पास थे—एटमबम। बस, अमरीका को लगा कि असली चौधरी वही है। वह दुनिया का स्वयं-नियुक्त पहरेदार बन गया। दुनिया का सन्तुलन बनाये रखने के लिए उसने कमर कस ली। कही डांट-फटकारकर, कही पुचकार-चुमकार के साथ और कही-कही तो सचमुच का हथियार उठाकर ईमानदार चौकीदार की तरह वह 'खबरदार-होशियार' की हाँक लगाता रहा। कही-कही तो ऐसा फँसा कि निकलना मुश्किल हो गया। चौकीदारी महँगी पड़ने लगी। इतना होने के बाद लोगों को इतिहास-विधाता का मजाक समझ मे आया। उधर सभी चौधरी मारणास्त्रों से लैस हो गये। वह भी जिसे पंचायत मे बैठने ही नही दिया गया था। अमरीका की नीयत खराब हो, ऐसी बात शायद नही थी। वह ईमानदारी से बड़े चौधरी का अभिनय कर रहा था, गलती उसकी सिर्फ इतनी थी कि उसने स्वयं इतिहास-विधाता बनना चाहा था। चाहने से क्या होता है बाबा, बहुतो ने बहुत चाहा, लेकिन सब चाहना कब पूरा हुआ है! आगे-पीछे देख-कर चाहा करो! दुनिया मनुष्य की बनायी हो सकती है, पर सब दो टाँगवाले मनुष्य ही नही होते। पहले मनुष्य बनो और तब दुनिया को बनाने की बात सोचो। चौधरी बन सकते हो, चौकीदार बन सकते हो, पर मनुष्य बनना कठिन साधना है। सीधी लकीर खीचना बड़ा टेढ़ा काम है। मगर छोड़िए इस बात को। जो जैसा करेगा, वैसा भरेगा। हम क्यो परेशान हों?

अच्छा यही होता कि हम परेशान न होते, पर चौधरियो ने हमे इस लायक रहने ही नही दिया कि हम परेशान न हों। भारतवर्ष लम्बी पराधीनता के बाद मुक्त हुआ था। पर चैन से रहना उसके भाग्य मे नही था। उसे खण्डित करके

छोड़ा गया था। उसके पीछे एक अकारण दुश्मन लगा दिया गया। ऐसा दुश्मन—जिसका एक ही काम है, भारतवर्ष की हर यात्रा में असगुन करना। इस महत्त्वपूर्ण कार्य के लिए यदि नाक भी कटानी पड़े तो उसे आपत्ति नहीं। सभी चौधरियों ने उसकी पीठ ठोंकी। अस्त्र दिया, पैसा दिया, शाबाशी दी। संसार का सन्तुलन बनाये रखने के लिए यह आवश्यक समझा गया कि भारतवर्ष को सिर उठाने का मौका न दिया जाये। अगर यह सँभल गया तो यथास्थिति की सारी योजना चौपट हो जायेगी। सबसे बड़ी चिन्ता अमरीका को हुई—आज भी है।

और, वह दुश्मन भी ऐसा जिसके साथ बात करना भी मुश्किल। प्रेम की बात करो तो गाली देगा, शान्ति की बात करो तो काटने दौड़ेगा। हर तीसरे, चौथे उत्पात करने पर उतारु। उसके जीवित रहने का उपाय ही यही था। उसे अस्तित्व में लाने का कारण भी यही था। भारतवर्ष किसी प्रकार आत्मनिर्भर न होने पाये, यही चौधरियों का लक्ष्य था; इसके लिए पाकिस्तान को चारा चुगाते रहो, यही उनका उपाय था। दोनों ही ठीक चल रहे थे। भारतवर्ष—सभ्यता का अग्रदूत भारतवर्ष— अपने ही तेज से आप जलता रहा, निरुपाय के समान—आदर्शों के मोह से जकड़ा हुआ, वास्तविकता की मार से जर्जर। तंग आकर कभी जरा हाथ उठाये तो चौधरियों में तहलका मच जाये—बन्द करो यह शेखी, लौट जाओ, जहाँ थे वहीं। न उठाये तो और तेज दरेरा! दुनिया कहती, यह तो मार खाने के लिए बना ही है; हम भी सोचने लगे, इस दुश्चक्र से छुटकारा नहीं। अजीब असमंजस, अजीब दुविधा। हमने भी इतिहास-विधाता के साथ होड़ मचाने की कोशिश की—शान्ति, शान्ति, शान्ति! मानो हम ही शान्तिदूत बनाकर दुनिया में भेजे गये हैं! इतिहास-विधाता का परिहास चलता ही रहता है! और भी चलता रहेगा। भारतवर्ष पाशबद्ध सिंह की तरह छटपटाता रहा, गुर्राता रहा। चौधरी हँसते रहे। मजा यह कि पाश हमारा अपना बनाया था, मोह का, संशय का, दुविधा का!

यह आत्मपराभवी संशय—युद्ध हमारे मन और प्राण को दबोच बैठा था, हम धुँधआ रहे थे, जल नहीं पा रहे थे। और इसी समय पूर्वी सीमान्त जल उठा। पूर्वी बंगाल में पाकिस्तानी सेना के बर्बर अमानुषिक अत्याचार से भीत-त्रस्त लाखों शरणार्थियों से धरती कसमसा उठी। किसी देश की अर्थव्यवस्था, समाज-व्यवस्था और नैतिकता को ध्वस्त कराने की विचित्र युक्ति। उस पर अपमान का असहनीय दरेरा! भारतवर्ष परेशान, चौधरी बोले—शान्ति, शान्ति! अपमान की भी कोई सीमा होती है!

और तीन दिसम्बर की रात बीतते-न-बीतते संशय और दुविधा की लड़ाई खत्म हो गयी। कुहासा फट गया, नवीन ज्योति उदित हो गयी। शान्ति, जो दुर्बल के अभिशाप से नहीं मिली थी, सबल के हुंकार से तत्काल मिल गयी। चौदह दिनों में ही सब खेल खत्म हो गया। फूलते हुए गुब्बारे के लिए एक पिन की चुभन काफी सिद्ध हुई। चौधरी निराश। लड़ाई तीन दिसम्बर की रात को खत्म हुई।

ततः किम् ? संशय और दुविधा की लड़ाई ही खत्म हुई है। हार-जीत का प्रश्न गौण है। भारतवर्ष अब तक यही सोचता रहा कि किसी प्रकार अपनी चहारदीवारी में शान्ति से रहे। उसकी सारी शक्ति आत्मरक्षा तक ही सिमटी हुई थी। बड़ा मूल्य चुकाकर उसने आज पाया है कि सारे क्षेत्र की शान्ति अविभाज्य है। जब तक पूरे क्षेत्र में शान्ति नहीं आती, तब तक घर में भी शान्ति नहीं मिलेगी। प्रधानमन्त्री इन्दिरा ने ही सत्य को देखा है और व्यावहारिक रूप दिया है। शान्ति पूरे क्षत्र में चाहिए। यहाँ किसी की चौधरायी असह्य है। भारत भी अगर चौधरी बनना चाहे तो वह बात भी असह्य होगी। इन्दिराजी ने ठीक समझा है। हम किसी की जमीन नहीं चाहते, किसी के घरेलू मामले में हस्तक्षेप करना हमारा अभीष्ट नहीं है, पर घरेलू मामले के नाम पर बर्बर आचरण को बर्दाश्त नहीं कर सकते। तथाकथित बड़ी शक्तियों को हम अपने सिर पर नारियल तोड़ने की छूट नहीं दे सकते। हम सुखी होना चाहते हैं, दूसरों को भी सुखी देखना चाहते हैं, पर अनन्त काल तक नककटैया की लीला नहीं चलने देंगे। भारतवर्ष आज स्वस्थ है, अपनी महिमा में आप ही प्रतिष्ठित है। संशय की कमर टूट गयी है। भीरुता का दुविधा भरा वह युग समाप्त हो गया है। पहली और मुख्य लड़ाई जीत ली गयी है। इतिहास-विधाता प्रसन्न है।

[साप्ताहिक हिन्दुस्तान, 23 अप्रैल, 1972]

छब्बीस जनवरी : गणतन्त्र-दिवस

गणतन्त्र-समारोह हमारे देश में बहुत पुराना उत्सव नहीं है। इसका इतिहास चौथाई शताब्दी से भी कम पुराना है। जिस 26 जनवरी के साथ यह जुड़ा हुआ है, उस तिथि के महत्त्व का भी इतिहास बहुत अधिक पुराना नहीं है। किसी समय पूर्ण स्वाधीनता की अभिलाषा व्यक्त करने के लिए देशवासी इस तिथि को एकत्र होते थे, लाठियाँ चलती थी, गिरफ्तारियाँ होती थीं और कई बार होनहार युवकों को प्राणों से भी हाथ धोना पड़ता था। परन्तु इसका अपना इतिहास बहुत पुराना न होने पर भी इस तिथि के साथ जिस आकांक्षा और भावना का योग है, वह बहुत पुराना है। सैकड़ो वर्षों से भारतवर्ष ने अपनी राजनीतिक और आर्थिक स्वाधीनता खो दी थी और सांस्कृतिक स्तर उसके बहुत नीचे आ गया था। अपने-आपको फिर से पाने के लिए जो व्यग्रता थी और अपने वास्तविक स्थान को फिर

से ग्रहण करने की जो व्याकुलता थी, उसने शानदार बलिदान की परम्परा कायम की। भारतवर्ष ने इस संघर्ष के बीच निश्चित रूप से अपने को पाया। हजारों पुरुषों और स्त्रियों ने अपूर्व साहस के साथ समार की सबसे बडी साम्राज्यवादी शक्ति के साथ लोहा लिया। महात्मा गांधी के नेतृत्व मे देश का नैतिक धरातल बहुत ऊँचे उठा। भयंकर संघर्ष के भीतर भी जनता का नैतिक धरातल ससार-भर के लिए अनुकरणीय बना रहा। पशु-बल का मुकाबला विशुद्ध मानव-बल के द्वारा किया गया। देश केवल पराधीनता से ही मुक्त नही हुआ; घृणा, विद्वेष और प्रतिहिंसा के पशुसुलभ भावों से भी मुक्त बना रहा। 26 जनवरी उसी नैतिक साहस तथा अपराजेय उत्साह का प्रतीक है। देश ने पूर्ण स्वाधीनता के सकल्प को 16-17 वर्षों के भीतर ही पा लिया; क्योंकि उसके पीछे काम करनेवाली शक्ति अदम्य थी। भारतवर्ष की स्वाधीनता का परिणाम बहुत ही आश्चर्यजनक रहा। एशिया और अफ्रीका में साम्राज्यवादियों का जो विपुल जाल फैला हुआ था, वह कच्चे धागे के समान टूट गया। अंग्रेजी साम्राज्य ताश के महल की तरह भहरा गया, और उसके साथ फ्रांस, हालैण्ड, बेल्जियम और पुर्तगाल जैसे देशों के साम्राज्य भी भहरा गये। 26 जनवरी इस महान् ऐतिहासिक क्रान्ति का प्रतीक बन गयी।

आज के दिन पिछले संघर्ष याद आ रहे हैं। जब से मैंने होश सँभाला है—और यह काल पचास वर्षों से भी अधिक का है—तब से बराबर संघर्ष का ही दौर रहा है। शायद ही कोई ऐसा वर्ष बीता हो जबकि देश पर विक्षेप के बादल न मँडराये हों। प्रथम महायुद्ध के समय मैं बहुत छोटा था। लडाई क्यों हो रही है, यह मालूम नही था। परन्तु उसका दुष्परिणाम प्रतिदिन देखने को आता था। भयंकर महँगाई, चीज-वस्तुओं का अभाव, हर तीसरे दिन चन्दा वसूल करने के लिए सरकारी अफसरों और दलालो का आक्रमण, बाढ़, अकाल, ये नित्य की घटनाएँ थी। गांव में खबर जरा देर से पहुँचती थी, सो भी अनेक अवरोधो से छनकर आती थी। परन्तु दुर्भाग्य के बादल बच्चों के लिए भी प्रत्यक्ष मँडराते हुए दिखायी देते थे। एक अजीब प्रकार की बेबसी और आशंका हर आदमी को परेशान किये रहती थी। बहुत धुँधली-सी खबर लड़ाई के बाद इस प्रकार की भी आने लगी थी कि पजाब मे अंग्रेजों ने बहुत भयंकर अत्याचार किया है, परन्तु अत्याचार का क्या स्वरूप है यह बिल्कुल स्पष्ट नहीं था।

उसके बाद महात्मा गांधी का नेतृत्व आया और असहयोग का ऐतिहासिक आन्दोलन प्रचण्ड आंधी की तरह समूचे देश मे व्याप्त हो गया। मैं और मेरे थोड़े-से साथी स्कूल छोड़कर गांधीजी की सेना मे भर्ती हो गये। हमने तिलक स्वराज्य फण्ड के लिए बड़े जोश के साथ चन्दा वसूल करना शुरू किया। स्वयसेवकों की वाहिनी के लिए मुठिया वसूल करना भी हम लोगों का काम था। इस असहयोग की लड़ाई के पीछे कौन-सी विचारधारा काम कर रही थी, यह हमे नही मालूम था, परन्तु हमारा दृढ विश्वास था कि एक साल के भीतर ही स्वराज्य मिल जायगा। जिन लोगों ने तिलक स्वराज्य फण्ड के लिए चन्दा दिया, वे भी नहीं जानते थे

कि क्यों ऐसा कर रहे हैं, परन्तु गांधीजी पर अटूट श्रद्धा थी जिसमें अन्धविश्वास और निराधार चमत्कारों का कम मिश्रण नहीं था। कितने ही व्यवहार-कुशल भोलेभाले लोग चन्दे की रसीद सँभालकर रखते थे; क्योंकि उनका विश्वास था कि स्वराज्य होते ही ये रसीदें नोट के रूप में चलने लगेंगी। गांधीजी के बारे में तरह-तरह की अतिरंजित चमत्कारपूर्ण बातें जनता में फैली थीं और मेरे-जैसे उत्साही लड़के उसमें नित्य नया अध्याय जोड़ते थे। जुलूस निकलते थे, गिरफ्तारियाँ होती थीं, पर लड़कों में उत्साह की मात्रा दिन दूनी और रात चौगुनी होती जाती थी। एक बात बिल्कुल स्पष्ट थी, लोगों के मन से अंग्रेजी सरकार का भय बिल्कुल जाता रहा।

एक वर्ष में स्वराज्य नहीं हुआ, लेकिन उत्साह में कमी नहीं आयी। चुनाव का सिलसिला चलता रहा; क्योंकि कांग्रेस में एक दल सीमित अधिकारवाली विधानसभा में जाने के लिए प्रस्तुत हो गया। मोतीलाल नेहरू और सी. आर. दास इस पक्ष के नेता थे। चुनाव का धूम आया, कांग्रेस की ओर से जो कोई भी खड़ा कर दिया जाता था, धोबी, जमादार, किसान, वह बड़े-से-बड़े नरमदलीय नेता को पछाड़ देता था। इसके बाद हिन्दू और मुसलमानों के मतभेद बढ़ते गये। सारा भारतवर्ष दंगों से व्याकुल हो उठा। प्रथम महायुद्ध के बाद राष्ट्रीय आन्दोलन में जो हिन्दू-मुस्लिम-मिलन का भाव दिखायी दिया था, वह बहुत कमजोर पड़ गया। हिन्दुओं और मुसलमानों के पृथक् निर्वाचन की ब्रिटिश नीति ने देश को बुरे साम्प्रदायिक दलदल में फँसा दिया। अंग्रेजों की फूट डालनेवाली नीति बहुत दूर तक सफल रही। इधर आतंकवादियों का भी कार्य-कलाप चलता रहा। बड़े-बड़े अंग्रेज अफसरों को गोली मारने के समाचार भी प्रायः आते रहे और बदले में दमन का जोर बढ़ता रहा, बीच-बीच में दंगों की खबरें भी आती रहीं। आशा और निराशा में झूलता हुआ युवक-वर्ग आजादी के लिए तड़पता रहा। सन् 1930 ई. में नमक-सत्याग्रह का आन्दोलन शुरू हुआ। कांग्रेस ने निश्चय किया था कि पूर्ण स्वाधीनता से कम में देश सन्तुष्ट नहीं होगा। पूर्ण स्वाधीनता या मुकम्मल आजादी मोहक मन्त्र के रूप में आया, एक बार फिर सीधा संघर्ष शुरू हुआ। नमक-सत्याग्रह के दौरान विदेशी कपड़ों और शराब का बहिष्कार और नमक बनाने का साहसिक अभियान, इन दो कामों में मतवाले स्वाधीनताप्रेमी उलझ गये। साइमन कमीशन आया, बहिष्कार किया गया। राउण्ड टेबुल कान्फरेंस की बातचीत चली। सन् 1932 ई. में हमारे श्रद्धेय नेता लोग विलायत गये। महात्मा गांधी और पण्डित मदनमोहन मालवीय की प्रति दिन समाचारपत्रों में सनसनीखेज खबरें छपती रहीं। फिर दंगे, फिर गिरफ्तारियाँ, फिर दमन। ऐसा लगता था, इस चक्र का अन्त नहीं है।

राष्ट्रीय-मुक्ति का आन्दोलन ज्यों ही थोड़ा धीमा पड़ा कि दंगों की बाढ़ आ गयी। ऊपर का वातावरण अत्यन्त विक्षुब्ध था, किन्तु नीचे तेजी से शिक्षा का प्रचार हो रहा था, सामाजिक सुधार के प्रयत्न चल रहे थे, थोड़ा-बहुत औद्योगिक

विकास भी हो रहा था। राउण्ड टेबुल कान्फरेंस के फलस्वरूप प्रान्तों को थोड़ी स्वायत्तता दी गयी और फिर एक बार चुनाव के दलदल में सारा देश उतर पड़ा। मिनिस्ट्रियाँ बनीं, सत्ता के साथ टकराव हुआ और देश में उत्तेजना की लहर फैल गयी। कांग्रेस में फूट हुई। नेताजी सुभाषचन्द्र बसु के समय कांग्रेस के अन्य नेताओं का मतभेद उग्र रूप से सामने आया और फिर दूसरा महायुद्ध शुरू हो गया। परन्तु इन सारी हलचलों के भीतर देश की आन्तरिक शक्ति निश्चित रूप से मजबूत होती गयी; क्योंकि सारी हलचलों को सक्रिय बनानेवाली शक्ति नैतिक थी। देशवासियों में कभी अपने आदर्शों और लक्ष्यों के बारे में संशय या दुविधा का भाव नहीं था। अपने राष्ट्र के गौरव के प्रति सर्वत्र अटूट आस्था थी।

इसके बाद एक-पर-एक नींद हराम करनेवाली घटनाएँ होती रहीं। महायुद्ध में से अनेक सपने टूटे, फ्रांस और ब्रिटेन जैसे दुर्दान्तवादी देश एक ही धक्के में भहरा गये। अमरीका और जापान भी एक-दूसरे के विरुद्ध महायुद्ध में शामिल हो गये। युद्ध सीधे भारतवर्ष की सीमान्त पर टकराने लगा। इसी बीच सन् बयालीस का आन्दोलन शुरू हुआ। वह भी अजीब समय था, कब कौन जेल जायेगा, लाठी और गोली का शिकार हो जायेगा या सड़क पर छुरा भोंककर मार दिया जायगा, कुछ ठिकाना नहीं। बंगाल का अकाल मैंने अपनी आँखों देखा। वह भयंकर दृश्य था! भूख के मारे तड़प-तड़पकर सड़कों पर और गलियों में लोगों को इस प्रकार मरते हुए कभी नहीं देखा गया। उधर भारतवर्ष के युवक सन् '42 में सही अर्थों में सर पर कफन बाँधकर निकल पड़े थे। उन दिनों जीवनयात्रा अत्यन्त भयंकर हो उठी थी। कितने ही लोग भूख से मरे, कितने ही गोलियों से मरे, कितने ही दंगों में मारे गये। महँगाई इतनी बढ़ी कि हर चीज का भाव आसमान छूने लगा। इसी बीच इतिहास की सबसे बड़ी क्रूर घटना घटी। हीरोशिमा पर पहले-पहल एटमबम का आक्रमण हुआ। दुनिया स्तब्ध रह गयी। युद्ध समाप्त हो गया, पर भारतवर्ष में शान्ति नहीं आयी।

अंग्रेज बुरी तरह चूर हो गया था। अपने विशाल साम्राज्य को सँभालने की शक्ति उसमें नहीं रह गयी थी। फिर समझौते की बातचीत शुरू हुई। देश के विभाजन का प्रश्न आया और एक दिन देश के विभाजन का निश्चय भी हो गया। इसी विभाजित-विखण्डित देश को 1947 ई. में स्वाधीनता मिली। एक की जगह दो देश हो गये, हिन्दुस्तान और पाकिस्तान। लेकिन चैन तब भी नहीं मिला। विस्थापितों की भयंकर समस्या, मार-काट, लूट-पाट, आगजनी और गुण्डागर्दी ने विपत्तियों का पहाड़ ला खड़ा किया। फिर पाकिस्तान ने कश्मीर पर हमला कर दिया, झगड़ा राष्ट्रसंघ तक पहुँचा और किसी प्रकार युद्ध-विराम मान लिया गया। अपने पीछे अंग्रेजों ने सैकड़ों स्वाधीन देशी राज्य छोड़ दिये थे। सरदार पटेल की दूरदर्शिता के कारण ये देशी राज्य भारतवर्ष के अंग बन सके। हैदराबाद में पुलिस कार्रवाई करनी पड़ी। गोवा में पुर्तगीजों के खिलाफ सैनिक कार्रवाई करनी पड़ी और भारतवर्ष पहले की तुलना में अधिक 'एक' हुआ। फिर चीन ने

आक्रमण कर दिया। यह विश्वासघात था। देश को *सैन्य शक्ति की कमी* का पहला अहसास हुआ। मगर यह भी पता चला कि संकट के समय सारा देश दुर्भेद्य चट्टान बन सकता है। पाकिस्तान ने फिर आक्रमण किया और हार भी गया। बाहर और भीतर के संघर्षों से देश का तेज निखरता गया। उपरले स्तर पर बेचैनी भी बनी। यहाँ कोई ब्योरेवार इतिहास नही दिया जा रहा है। देश में पिछले 50 सालो में जो संघर्ष और कशमकश का वातावरण रहा है, उसे बिना किसी सिलसिले के स्मरण किया गया है। बहुत-सी बातें छूट गयी हैं, बहुत-सी छोड़ दी गयी हैं। कहाँ तक याद रखा जाय ! आज पुराने संघर्षों की कृतियाँ बताती है कि भारतवर्ष की आन्तरिक शक्तियाँ कितनी प्रबल रही हैं। एक बार घोर निराशा और दुश्चिन्ता का माहौल बना है, पर हमने उन पर निश्चित विजय पायी है। जब-जब हम ऊँचे आदर्शो से हटे है, तब-तब निराशा और बेचैनी बढ़ी हैं; पर ज्यों ही हम प्रकृतिस्थ होकर आदर्शों के ऊँचे धरातल पर उठे हैं, विपत्तियाँ कट गयी हैं।

सन् 1950 ई. में भारतवर्ष गणतन्त्र के रूप में घोषित हुआ। उसी साल 26 जनवरी को पहला गणतन्त्र-दिवस मनाया गया। उस गणतन्त्र-दिवस के पीछे *संघर्षों का, कष्टों का, यातनाओं का, अपमानों का, कोलाहल का लम्बा इतिहास* था, पर उन सबको छापकर स्वाभिमानी भारतवर्ष का-उदय इस तिथि के साथ जुडा हुआ है। इस बीच भारतवर्ष ने शिक्षा में, समाजसुधार में, उद्योग में, वाणिज्य मे, साहित्य और कला मे काफी उन्नति की, लेकिन स्वाधीनताप्राप्ति के पहले जो आदर्श-निष्ठा थी, त्याग और बलिदान की भावना थी, स्वदेशी के प्रति गम्भीर निष्ठा थी, स्वभाषा के प्रति प्रगाढ आग्रह था, वह क्रमशः कम होता गया। राष्ट्र मे स्वाभिमान के बदले अपने-आपके प्रति अवज्ञा और हीनता का भाव स्थान पाने लगा। निस्सन्देह भारतवर्ष ने उद्योग, कृषि, वाणिज्य, शिक्षा और युद्ध के क्षेत्र में बहुत-कुछ प्राप्त किया है, फिर भी वह अपना निजी राष्ट्रीय आदर्श निश्चय नही कर पाया है। अपने लम्बे इतिहास मे जब-जब देश समर्थ, समृद्ध और शक्तिशाली हुआ है, तब-तब उसने महान् आदर्शों की स्थापना की है। संग्रह और त्याग, *चरित्रबल और सत्य-निष्ठा, स्वाभिमान और पर-सम्मान महान् जीवनादर्श* की अपेक्षा रखते हैं। समय आ गया है कि हम अपनी महान् सभ्यता और संस्कृति के परिप्रेक्ष्य मे वर्तमान सन्दर्भों के अनुकूल निजी जीवनादर्शों पर विश्वास प्रकट करें। इसके बिना समृद्धि निरर्थक हो जाती है और प्रगति निरुद्देश्य।

पिछले वर्ष श्रीमती इन्दिरा गांधी के नेतृत्व मे देश ने अद्भुत साहस, सयम, मानवप्रेम और शूरता का प्रमाण दिया है। देश मे इस महान् ऐतिहासिक मोड़ के कारण आत्मविश्वास जगा है, परन्तु अतिरिक्त सावधानी बरतनेवालों ने उसका उत्तम उपयोग नही किया। पिछले संघर्षों के इतिहास से अपने-आप पर विश्वास होना चाहिए और देश की जनता में हर चुनौती का मुकाबला करने की जो महती शक्ति है, उसके प्रति निष्ठा बढ़नी चाहिए। *निस्सन्देह हमारे देश में गरीबी और*

बेरोजगारी का बड़ा विकट प्रश्न उपस्थित है, लेकिन आत्मविश्वास के बिना हम इस विकट समस्या का हल नही कर सकेंगे। 26 जनवरी आस्था का, विश्वास का और आशा का सन्देश लेकर आती है। यह पूर्ण स्वाधीनता के संकल्प के साथ जुड़ी हुई, राजनीतिक स्वाधीनता के बाद गणतन्त्र-दिवस के रूप मे उजागर हुई और अब उसे आर्थिक और सांस्कृतिक स्वराज्य के लिए आगे बढ़ना है। पिछले 40-42 वर्षों मे न जाने कितने अवसर आये हैं जब लोगो मे निराशा और अविश्वास का भाव देखा गया, परन्तु देश की आन्तरिक शक्ति इतनी प्रबल है कि सारी आशंका और उद्वेगों को छिन्न-भिन्न करके एक विजय से दूसरी विजय की ओर निरन्तर बढ़ती गयी। वह और भी बढ़ेगी, इसमे कोई द्विविधा या संशय का भाव नही रहना चाहिए। 26 जनवरी भारतवर्ष की आन्तरिक शक्ति के निरन्तर दृढ़ और प्राणवन्त होने की भावना के साथ जुड़ी हुई है। इस भावना की जय हो।

[1973 ई.]

मैं सोचता हूँ

इन दिनों देश में बहुत अनुशासन का वातावरण बनने लगा है। विश्वविद्यालयों और अन्य विद्यालयों मे पढ़ाई-लिखाई ठीक चल रही है, गाड़ियाँ ठीक समय से चलने लगी हैं, बिना टिकट यात्रा कम हुई है, बाजार मे सामान मिलने लगे हैं, कीमतें कुछ घटी है, सुनने मे आता है कि दफ्तरों मे भी कामकाज होने लगा है। यह सब सुखद समाचार है पर चिन्ताजनक भी है। यह सब क्या भय के कारण हो रहा है? लोग जान गये हैं कि सरकार अब ऊधम और स्वार्थपरता को अधिक नही चलने देगी। उसकी कठोर दण्ड-व्यवस्था सक्रिय है। गलत काम करनेवाले अवश्य दण्ड के भागी होंगे। और, काम-काज ठीक चलने लगा है।

पर यह क्या हमारे देश की गरिमा के अनुकूल है? क्या मनोनिग्रह और आन्तरिक अनुशासन, जो इस देश के मनीषियों का निर्विवाद सिद्धान्त रहा है, एकदम लुप्त ही हो गया है? स्वतन्त्रता का अर्थ क्या इतने दिनों बाद भी स्वेच्छाचार या अतन्त्रता ही माना जाता रहेगा? क्या होगा उस समाज का जिसमें आत्मानुशासन नही है, अपने को अपने ही नियन्त्रण में रखने की क्षमता नहीं है? घटनाओं से लगता है कि निराश होने की आवश्यकता नहीं है। प्रधानमन्त्री ने सच्चे नेता के अनुरूप ही कार्य किया है। आपातस्थिति के साथ ही उन्हों

जनता को रचनात्मक आर्थिक कार्यक्रमों की ओर मोड़ दिया है। उत्साहपूर्वक काम करने का वातावरण भी बहुत दिनों बाद बनने लगा है। ऐसा लगता है कि साधारण जनता अब भी सचेत है। वह रचनात्मक कार्यों में आस्था रखती है। यह आशाजनक है।

लगता है कि उपरले स्तर के लोग ही बहक गये हैं। साहित्य के क्षेत्र में भी और जीवन के अन्यान्य क्षेत्रों में भी। साहित्य के क्षेत्र की बहक और भी चिन्तनीय है। इस समय वातावरण में जो स्थिरता दिखायी दे रही है, उसे स्थायी बनाना होगा। मैं सोचता हूँ कि आर्थिक कार्यक्रमों के साथ मानसिक और आध्यात्मिक आत्म-नियन्त्रण का वातावरण भी तैयार करना बहुत जरूरी है। जब तक वैसा वातावरण नहीं बनता, तब तक यह खतरा बना रहेगा कि हम फिर भटक सकते हैं। सारे देश में आत्मविश्वास, आत्मसंयम और आन्तरिक सौहार्द का वातावरण बनना चाहिए। इसके बिना देश के स्वाभिमान की रक्षा खतरे में रहेगी।

[30 अगस्त, 1975]

भोजपुरी साहित्य-परम्परा

बन्धुगण, अपने सभ हमरा के बहुत बड़ाई दिहलीं जे एह सम्मेलन के सभापति बनवली। एह कृपा खातिर हम बहुत आभारी बानी। हमार मातृभाषा भोजपुरी जरूर बा बाकिर हम भोजपुरी के कवनो खास सेवा नइखीं कइले। हम त इहे समझली हां जे अपने सभ में उदारता बहुत बा आ हिन्दी आ भोजपुरी दूनों के समान भाव से प्रेम करीले। अइसन ना होइत त हमरा नियर आदिमी के, जे सही माने में 'ना देव के ना लोक के' बा, ओकरा के काहे बोलइतीं। माननीय पाण्डेजी के हुकुम भइल जे आवे के होई, चुपचाप राजी हो गइली। मगर जब उहाँ का कहेली जे सभापति के भाषण लिखि के ले आवे के परी त थोरिका चिन्ता भइल। बड़ बना दिहला से केहु बड़ थोरे हो जाला? कुछ भीतरो होखे के चाहीं। कबीरदासजी साइत भोजपुरी के आदिकवि हवी। उहाँ का कहि गइल बानी जे, 'जो रहे करवा त निकसे टोंटी'। बधना में पानी रही तबे त टोटी से निकसी? इहाँ एको ठोप पानी नइखे। सोचत रहली जे भोजपुरी त आपन मातृभाषा ह, एमे लिखल बड़ा सोझ होई। अब देखतानी जे सोझे डाँड़ि खींचल सभसे टेढ़ काम बा, टेढ़ डाँड़ि खींचे में कवन मेहनत बा। रोजे जवना भाषा में बोलल जाता ओही में

लिखल कठिन काम लागत बा। कवनो भाषा आ बोली मे लिखे खातिर कुछ साधना चाही, कुछ पहिले से आदत डाले के चाही, कुछ मेहनत-मसक्कत क लेबे के चाही। ऊ सभ अपना में ना देख के मन ऊभ-चूभ हो गइल बा। अब त अपनही सभ के आसरा बा, सभापति बनवली त ओकर भारो अपनही सभ के सम्हारे के परी।

भोजपुरी बहुते शक्तिशाली बोली ह। लोकसाहित्य के त अइसन भण्डार अउर जगह साइत नइखे। महावरा, लोकोक्ति, व्यंग्य-विनोद के त एकरा पासे खजाना बा। कुछ लोकगीतन के सगेरे के थोर-बहुत जतन भइल बा, एकाध कोसिस महावरा वगैरह के बटोरे के भी कइल गइल बा, बाकिर ई सभ काम समहुते बरोबरि बा। जतना काम भइल बा, ओतने से ई पता चले मे कवनो कठिनाई नइखे रहि गइल जे शक्तिशाली भाषा होखे खातिर जइसन गुन गरवर चाही, एकरा मे पूरा बा। एकर बोले वालन के तदादो बहुत अधिक बा। चार-पाँच करोड़ त होइबे करी। अपना देस मे, अउर बाहरो बहुत कम भाषा होइहें जेकर बोले वालन के तदाद एतना बड़ होई। बोले बालन के तदाद एतना बड़ बा जे बहुत बड़का कहाए वाली बहुत भाषा बा बोलिन से भोजपुरी कहि सकेले जे 'जवन तोहरा घरे भोज तवन हमरा घरे रोज'। भोजपुरी लोगनि मे अपना बोली के अभिमानो बहुत बा। देस मे रहो तऽ, बिदेस मे रहो तऽ, भोजपुरी घर मे अपने भाषा बोली। ग्रियर्सन साहेब त लिखले बानी जे अइसन भाषाप्रेम उन्हका अउर कही ना मिलल। सभ बा, लेकिन भोजपुरी हमेसा देस के अखण्डता के बात सोचेला। देस के अखण्डता के खतरा होई त ऊ अपना प्रिय से प्रिय चीजो के बाधा ना देवे दी। हमेसा भोजपुरी के नजर देस का एकता पर रहेला। एह खातिर ऊ सभ तियागि सकेला। भोजपुरी के ई गुन जग-जाहिर बा। एमे कतहीं खोट ना मिली। ई बात नइखे कि ओकरा मे अपना घर मे बोले जाए बाली सभ से मीठी बोली के अभिमान नइखे, ईहो नइखे कि ऊ अपना बोली मे कविता वा गाना लिखल छोड़ देले बा, मगर ऊ कबही अलग हो के रहे के बात ना कइलस। हमनी के जवन सार्वदेसिक स्वीकृत भाषा हिन्दी बा, ओकरा के गढ़े-सँवारे मे त भोजपुरी लोगनि के सबसे बेसी जोगदान बा। सदल मिसिर आ भारतेन्दु हरिश्चन्द्र से ले के आजु तरीक बहुत बड़-बड़ साहित्य-निर्माता भोजपुरी लोग रहलन हा। सदल मिसिरजी का बारे में त हमरा नइखे मालूम जे उहाँ का भोजपुरी मे कुछ लिखले बानी कि ना, बाकी भारतेन्दुजी त निश्चिते रूप से बनारसी बोली मे बहुत बढ़िया कविता लिखि गइल बानी। मगर अपना घर का बोली के प्रेम अछइत उहाँ सभे सार्वदेसिक भाषा के गढ़े-सँवारे मे जीव आ जान लगा दिहली। अपना बोली के प्रेम भी बनल रहल—सार्वदेसिक भाषा के भी ओतने, बलुक कुछ अधिके, प्रेम उहाँ सभ के रहल। बाकी कबही उहाँ सभ ई ना कहली जे अपना बोली के अलग कइ दिहाउ। ओ सभ का मन में सोगहग प्रेम रहल।

'सोगहग' जानते होइबि। लइकइयाँ मे हमार बड़की पितियाइनि—हमनी

का उहाँ के 'बाबूजीबो' कहत रहली, उहाँ का खास भोजपुरी गाँव के बेटी रहली आ कथा-कहनी के त उहाँ का पासे भण्डारे रहल—एगो कथा सुनवले रहलीं। कथवा भुला गइल बा, मगर ओकर नायक एगो राजकुमार रहले, कवनो सराप से बेंग हो गइल रहले। उन्हकर हठ रहे कि हम सोगहग लेब। बहुत-बहुत फितकाल में परले बाकी सोगहग खातिर अरियाइले रहले। कुछ साल पहिले डा. शिवप्रसाद सिंह का 'अलग-अलग बैतरनी' में सोगहग शब्द मिलल त हम सोचे लगली कि ई 'सोगहग' कइसे आइल। खोजत-खोजत संस्कृत मे एगो शब्द मिलल 'सयुगभाग'—दूनों हिस्सा समेत—पूरा। हमरा ई बुझाइल जे 'सोगहग' एही शब्द के परवर्ती रूप होई। भोजपुरी के सोगहग प्रेम, आपन पुरान अर्थ में 'सोगहग' होला। घर के बोली के प्रेम आ देस के बोली के प्रेम—प्रेम के दूनों हिस्सा मिलाके सोगहग—सयुगभाग! भोजपुरी आदिमी पुरानी कथा के राजकुमार हऽ—सोगहग के प्रेमी। भोजपुरी बोले बालनि पर आर्थिक कमजोरी के सरापो साइत लागत बा। एही से ई लोग कुछ बेंगिया गइल बाड़न। एह लोगन मे माण्डूक्य वृत्ति जरूर कहीं-ना-कहीं रह गइल बा। मगर लिहे त लिहें सोगहगे।

'सोगहग' प्रेम कवनो बाउर चीज ना हऽ। निमने हऽ। निमन अर्थात् निर्मल, निष्कलुष! बहुत दिन से स्वच्छ साफ बतावे खातिर ई शब्द चलल आवता। प्राकृत में 'निम्मल' चलत रहे—'निम्मल मरअद-माअण परिट्ठिया सखसुत्तिव्व'—निर्मल—'मरकत भाजन परिस्थिता शख शुक्तिरिव'। बहुत बोलिनि से ई उठि गइल, बाकिर भोजपुरी में बनल बा। का जाने काहे। अइसन बुझाता कि ए बोली के बोले वाला निर्मलता के भूला ना सकले। मगर इहो कइसे कहीं? गाँव मे एगो निमन्त्रण-पत्र शुद्ध हिन्दी में मिलल। निमन्त्रण देबे बाला लोग कहे के चाहत रहे कि निम्मन निम्मन आदिमी बोलावल गइल बाड़े। शुद्ध हिन्दी मे लिखल लोग जे 'निम्न निम्न आदमी बुलाये गये हैं'। छोड़ी ए बात के। एतना त साफे बुझात बा जे शुद्ध हिन्दी से ठीक पचत नइखे। तबो जवन भोजपुरी के सहज गुन हऽ, ओके छोड़े के ना चाही। थोरे नुकसानो होखे तबो ना छोड़े के चाही—'धरम करत में होखे हानि, तबो न छोड़ी धरम के बानि'। सोगहग के प्रेम, मगर निर्मल चित्त से, ई सही रास्ता लागत बा।

तनी खुलासा कइके मतलब समुझावतानी। पुराना जमाना से एह देस में दू तरह के भाषा के प्रयोग होत आवता बा। लोकभाषा आउर अभिजात संस्कृत भाषा। कई बार लोकभाषा मे बढ़िया साहित्य लिखाइल। थोरही बाँचल बा, बेसी त नष्ट हो गइल। बौद्ध लोगनि के, जैन लोगनि के विशाल धार्मिक साहित्य ओह जमाना का लोक प्रचलित बोली में लिखाइल। पालि के बहुते समृद्ध साहित्य मिलल बा। ऊ त हमरा बुझाला जे भोजपुरिये के पुरान रूप हऽ। फेरु प्राकृत में लिखाइल, फेरु अपभ्रंश में लिखाइल। मगर जब तक धार्मिक उपदेश, कुछ प्रेम आ नीति के कविता, कहानी, कुछ ज्ञान वगैरह तक के बात रहे तब तक मजे में काम निकलत गइल। जब दर्शन, तर्कशास्त्र आदि सूक्ष्म चिन्तन के जरूरत पड़ल तबे

फटाफट संस्कृत में लिखाये लागल। कई बार दोहा त लिखाइल अपभ्रंश में मगर टीका लिखाइल संस्कृत मे, जइसे कृष्णपाद के 'दोहा कोश' पर 'मेखला टीका'। 'सन्देशरासक' अपभ्रंश के बढ़िया काव्य रहे। कवि अब्दुल रहमान त कहले—जे जे ना मुरुख होखे ना पण्डित होखे, उनही लोगनि का सामने ई बार-बार पढबि :

जिण मुक्खु न पडिअ मज्झियार
तिण पुरउ पढिव्वइ सव्व वार।

मगर तीन गो टीका के पता चलल बा—दूगो त छपि भी गइल बाड़ीस—सब संस्कृत में। काहें? दू कारन से। पहिले त जइसहीं आवेगतरल सहज मनोभाव का क्षेत्र से उठि के विचार का बारीकी का क्षेत्र मे पहुँचल गइल तइसहीं अनुभव कइल गइल कि शुद्ध जनभाषा ई कुल करे के राजी ना होई। अब काटलि-छाँटलि, गढ़ल-छीलल, कसावटवाली भाषा चाही। माने संस्कारवती भाषा होखे के चाही। दूसर कारण ई रहे कि लोकभाषा के क्षेत्र सीमित होला। अगर दूर-दूर तक, विभिन्न भाषा बोले-समझे वाला लोगनि तक विचार पहुँचावे के बा त सार्वदेसिक, भले कृत्रिम होइ, भाषा के सहारा लेबे के पडी। एही से लोकभाषा के साहित्य ढर दिन जी ना सकल। जियल ओतने, जेतना के कवनो बड़ा धार्मिक आन्दोलन के सहारा मिलल।

आधुनिक हिन्दी पहिले त लोकभाषा का रूप मे चललि। बाकिर जइसे-जइसे ओह मे ज्ञान-विज्ञान के उच्चतर सूक्ष्म विचार आवे लागल, तइसे-तइसे ओकर लोकभाषा के मूल गुण के ह्रास होखे लागल बा। अब धीरे-धीरे ऊ उहे पद पावे लागल बा जवन पहिले संस्कृत के रहल। अबहियो ओकरा मे संस्कृत नाइन कसाव नइखे आइल, मगर आ जाई। विद्वाननि आ विशेष ज्ञानिनि के हाथ मे पड़ि जाए से ऊ अभिजात सार्वदेसिक भाषा के रूप ले ले जातिया। जहाँ तक ज्ञान-विज्ञान के सूक्ष्म चिन्तन-मनन-मूलक साहित्य के सवाल बा, हिन्दी निश्चित रूप से सार्वदेसिक भाषा के रूप लिही। बाकिर जहाँ तक रागात्मक अभिव्यंजना के प्रश्न बा, अइसन शिकायति बहुत सुने मे आवति बा जे हिन्दी जन-जीवन से दूर होत जाति बा। एक तरह के बौद्धिक कसरत बढ़ोतरी पर बाइ। असल मे हिन्दी के रागात्मक अभिव्यंजना उहें सफल होई जहाँ-जहाँ जन-जीवन मे घुलल-मिलल भाषा, प्रतीक, बिम्ब, मुहावरा जन-भाषा से लिहल जाई। ईहो प्रवृत्ति हिन्दी मे बढ़लि बा। आंचलिक कहे जाए वाली कथा-कहानी में ई प्रवृत्ति कुछ अधिक उजियार लउकति बा। बहुत लोकविद्या के प्रवेश भी बढि रहल बा। लेकिन बेसी प्रतिष्ठा पावे वाला साहित्य आ साहित्यकार लोग धरती का ओरि ओतना नइखनि, जेतना आसमान का ओरि बाड़नि। एकर भारी प्रतिक्रिया भी हो रहलि बा। अब हरेक बोली के प्रतिभावान साहित्यकार लोग, जन-भाषा का ओरि देखे लागल बा। अब एक तरह के खिचड़ी पकावे के कारबार शुरू भइल बा, नाँव दिहल गइल बा आंचलिकता। बडका-बड़का लोग कबे-कबे ईहाँ कहत बाड़े जे ए से भाषा के नास हो रहल बा। मगर कवनो असर त नइखे देखात। ई जन-भाषा के सच्चा प्रेम का ओजह से हो

रहल बा। एही से काफी मजबूत लागत बा। अब त हर बोली के लोग कहे लागल बाड़े जे सही ढंग के रागात्मक अभिव्यक्ति ओही भाषा में हो सकेला जवन जन-साधारण के आपन देख-सुख के भाषा होखे। भिन्न-भिन्न बोली में कविता-कहानी लिखाए लागलि बाड़ीस। अइसन बुझात बा जे ई प्रवृत्ति बढ़ोतरीए पर जाई।

ई सब बिना कवनो कारण के नइखे होत। इतिहास-विधाता का अंगुलि-निर्देश पर होइ रहल बा।

जवना विशाल क्षेत्र के हिन्दी भाषा-भाषी क्षेत्र कहल जाला ओमें बहुत बोली बोललि जालीं। ओमें केतना त हिन्दी का भाषाई ढाँचा से निकट बाड़ीस, केतना कुछ दूर बाड़ीस आउर कई गो त अति दूर बाड़ी। फिर कई बोली में दीर्घकाल से साहित्य-रचना में आपन निजी परम्परा रहलि हा। ब्रजभाषा निकट त बाड़, बाकिर ओकर साहित्य बहुत समृद्ध रहल। अवधि के त साहित्य संसार में प्रसिद्धे बा। राजस्थानी के आपन समृद्ध परम्परा बा। मैथिली त अब स्वतन्त्र भाषा माने जाए लागलि। ओकर भाषाई ढाँचा दूर के बा। ओकरा दीर्घकाल से साहित्यिक परम्परा रहलि हा। भोजपुरी ना निकट के ह, आ ना बहुत दूर के। साहित्यिक परम्परा एकरो कम पुरान नइखे। हिन्दी सबके आपन मानि के चललि। कुछ दिन त कहीं कवनो आवाज ना उठल, बाकिर अब बहुत जगह आवाज उठे लागल बा। जमाना अइसन जरे-बुताए लायक आइ गइल बा जे कवनो कहीं पत्ता खड़-कल ना कि उहां राजनीति पहुँचलि ना। भाषावार प्रान्त-विभाजन के सिद्धान्त अलगाव के उकसावही मे मदद कइ रहल बा। जब केहू अपना भाषा के स्वतन्त्र कहेला त पहिली शंका ईहे होले कि अलग राज्य बनावे के कवनो दुरभिसन्धि त ना ह। रउवां कतनो किरिया खाईं जे हम खाली जन-जीवन के सही अभिव्यक्ति देबे खातिर ई बात कहतानी, बुद्धिमान लोग ना मनिहें। 'मनवें मे चोर बा, केहू के ना जोर बा'।

ई त कवनो समझदार आदमी ना कही कि एक ठो शक्तिशाली केन्द्रीय भाषा ना होखे के चाही जे एतना बड़ा विशाल देश के एकता बनवले रहे। ओकरा के राष्ट्रभाषा कही, राजभाषा कही, सम्पर्क भाषा कही, कवनो फरक नइखे पड़े के। एगो सामान्य सार्वदेसिक भाषा रहल जरूरी बा। संविधान बनावे बाला लोग हिन्दी के चुनले बा। लेकिन बहुत लोग ए बात के माने के तइयार नइखनि। ऊ लोग हिन्दी नइखन चाहत। चाहत बा लोग जे अँगरेजिए ऊ काम करो। उहे सम्पर्क भाषा रहो। थोड़ा सरम पहिलवां रहल हा, बाकिर धीरे-धीरे अब सरम वाली बात मद्धिम परल जाति बा। अब लोग खुलि के कहे लागल बाड़ जे हिन्दी ना, अंगरेजिए सम्पर्क भाषा रही आउर रहे के चाही। कठिनाई ई बा जे एह देश के जनता अभी विदेशी के ओतना गुलाम नइखे भइल। घूम-फिरि के नजर जाति बा त हिन्दीए पर। बड़का-बड़का लोग जे चाहो कहो, अँगरेजी देश के आत्मसम्मान के उपेक्षा कइ के कबहूँ ना चलि सकेले। चली त हिन्दीए चली। हम कवनो बनाउटी बात नइखीं कहत। कुछ अँगरेजीप्रेमी लोग सोचे लागल बाड़े जे यदि हिन्दी एही

परिस्थिति मे रही त ओकरा के हटावल कठिन बा, काहे कि कवनो प्रान्तीय भाषा ओकरा आगे सार्वदेसिक भाषा का रूप में ना टिक सकेले। एह कारन से कोसिस ई हो रहल बा कि हिन्दी के शक्ति तूरि दिहल जाउ। ए प्रकार के विचार के प्रत्यक्ष रूप अब दिखाई देवे लागल बा। हिन्दी का अन्तर्गत आवे वाली बोलिनी में अलगाव के भाव ले आवे के कोसिस हो रहल बा। बाकिर जहाँ तक हम समुझत बानी हिन्दीभाषी कहे जाए वाला लोग ए अस्त्र से घायल ना होइहें। अलग-अलग बोलिनि मे सर्जनात्मक साहित्य लिखल भी जाइ आ हिन्दी के राष्ट्रभाषा रूप के सम्मान भी दिहल जाई। भोजपुरी के आदर्श 'सोगहग', बराबर स्वीकृत रही। बाकिर गलत ढग से सोचे वाला लोगनि से सावधान त रहही के परी।

ठीक बात ठीक ढंग से सोचे के चाही। भोजपुरी ए कारण से साहित्य-भाषा ना हो सकेले कि कुछु थोड़ आदमी का मन मे अइसन हुलास बा। हिन्दी एह कारण से ना मुरझा जाई कि कुछ लोग चाहताड़े कि ऊ कमजोर हो जाउ। सम्पूर्ण देश के बहुसंख्यक जनता के जवना से हित होई आ जवना बात के समर्थन मिली, उहे होई। हम का सोचत बानी आ रउवाँ का सोचतानी, एकर महत्व तब होई जब एह सोचला से देश के बहुसख्यक जनता के भलाई होई आ ओकर समर्थन मिली। भोजपुरी के साहित्य के वाहन तबे बनावल जा सकेला जब ओहि साहित्य से भोजपुरी बोले वाली जनता के आशा-आकाक्षा का अभिव्यक्ति में सहायता मिले, ऊ कुछ अधिक सुख-सुविधा मान-सम्मान पा सके। राष्ट्रभाषा हिन्दी से एकर कवनो विरोध नइखे। ना कवही भोजपुरी का सोचे के चाही कि ऊ हिन्दी के प्रतिस्पर्द्धी हो के रही। ठेठ भोजपुरी शूरता आउर निर्भीकता के भाषा हऽ, बन्धुता आउर सौहार्द के भाषा हऽ। राष्ट्रभाषा हिन्दी भी ओतने आपनि हऽ जेतना भोजपुरी। दूनो आपन भाषा हऽ। दूनों के, देश का जनता के सेवा खातिर स्वीकार कइल गइल बा।

कबीर, तुलसीदास, कुँवर सिंह आ भारतेन्दु के भाषा छोट उद्देश्य के भाषा कभी हो सकेले? ई सब लोग पूरा देश के, भीतर-बाहर से एक आ अखण्ड करे के साधना कइले बा लोग। भोजपुरी कबही छोट बात में ना परल आ ना परे के चाही। राष्ट्रभाषा हिन्दी हमइन के आपने भाषा हऽ। ओकरा के सजावे-सँवारे में भोजपुरी के रक्त आ पसीना कम नइखे लागल। दूनों मे लिखी, दूनो मे पढ़ी, दूनों एके हऽ। दाहिनी आँखि आ बाईं आँखि में कवनो झगड़ा बा? ब्राह्मधर्म और छात्रधर्म मे कवनो बैर बा?—'इद ब्राह्म मिदं क्षात्रम् शापादपि शरादपि।'

संविधान मे कुछ भारतीय भाषा के मान्यता दिहल बा। बाकिर बहुत अइसन भाषा बाड़ीस जवना के मान्यता त नइखे मिलल बाकिर उनहनि मे कुछ-ना-कुछ साहित्य-निर्माण हो रहल बा। कुछ दिन तक साहित्य अकादमी संविधान में स्वीकृत भाषनि का साहित्य के पुरस्कार देति रहलि, बाकिर एने आ के अइसन भाषा भी पुरस्कार वास्ते स्वीकार कइल गइली हा जेकर कवनो चर्चा संविधान में नइखे। उद्देश्य रहल साहित्य-निर्माण के प्रोत्साहन दिहल। कवनो

भाषा राजनीतिक दृष्टि से संविधान के अंग ना होके भी उत्तम साहित्य दे सकेला। राजशेखर कहि गइल बाड़न जे उत्तम उक्ति-विशेष काव्य कहल जाला, ओकर भाषा कोई भी हो सकेला। एह बात के आउरो बढ़ाइ के कहल जा सकेला कि रागात्मक सम्बन्ध के उजागर करे वाला साहित्य कवनो बोली मे लिखल जा सकेला। एही से अब साहित्य अकादमी अइसन अनेक बोली के साहित्य के पुरस्कार दे रहलि बा जेकर मान्यता संविधान में नइखे। शुरू-शुरू मे हमरा ई बात बहुत अच्छा ना मालूम भइल। ई डर बाइ जे आगे चलि के ई बात राज-नीतिक उलझन पैदा करी। मगर अब त साहित्य अकादमी धड़ाधड़ बोलिनि के मान्यता देत जाति बा। अब मगर सब बोलिनि में पुरस्कार प्राप्त होखे लागल त भोजपुरी, अवधी वगैरह शक्तिशाली बोलिनि के काहे उपेक्षा होई। हम समझतानी जे जब आउर बोलिनि के साहित्यिक मान्यता मिलि गइल त भोजपुरी के भी अवश्य मिले के चाही। एह भाषा के जे प्रतिभाशाली कवि, कथा-लेखक बाड़नि उनहूँ के पुरस्कार जरूर मिले के चाही। राष्ट्र के दसवाँ हिस्सा लोग जवना बोली के बोलत बा, आपन दुख-सुख, आशा-आकांक्षा के अभिव्यक्ति दे रहल बा, ओकर सम्मान होखही के चाहीं। बाकिर ई विशुद्ध साहित्यिक प्रस्ताव हऽ। एकरा साथे राजनीतिक सौदाबाजी ना होखे के चाही। केहू का मन में थोइसन बात होइ त तुरन्ते मन मे से ओके हटा देवे के चाहीं।

फेरु हम आप लोगनि के यादि दिलाईं जे हिन्दी आ भोजपुरी के एके समझि के काम करे के चाही। दूनो के दुइ मनले झंझटि पैदा होई। विद्यापतिजी कहले रहली जे 'देसिल बयना सब जन मिट्ठा, तँ तैसन जंपो अवहट्टा'। देसिल बयन आपन घर के बोली हऽ। अवहट्ठ सार्वदेसिक भाषा हऽ। आजु का युग मे ऊहे हिन्दी बा। विद्यापतिजी के कहनाम रहे कि जइसन देसिल बयन हऽ तइसन अवहट्ठ (परवर्ती अपभ्रंश) हऽ—'तइसन'! कवनो भेदभाव ना राखे के चाही। विद्यापतिजी दूनों मे लिखले रहली। हमनी का उहे मानि के चले के चाही। मउजि आइल त 'तैसने' हिन्दी। हमन के दूनों भाषा आपने हऽ। एह क्षेत्र के भोजपुरी लिखे वाला साहित्यकार भी नमस्य बाड़े आ हिन्दी में लिखे वाला भी प्रणम्य बाड़े। भगवान सबकर कल्याण करसु।

[द्वितीय अखिल भारतीय भोजपुरी साहित्य सम्मेलन के द्वितीय अधिवेशन में पठित अध्यक्षीय भाषण—पटना, 15 मई, 1976]

सन्तजीवनदर्शनपरिषदध्यक्षभाषणम्

विद्वद्वरेण्याः, अस्मिन् खलु विविधशास्त्रपारङ्गताना विदितवेदितव्याना गीर्वाणवाणीसमुपासकाना सम्मेलने लोकभाषाया स्वकीयमनुभूतिलब्ध ज्ञान वितन्वतां निर्गुणब्रह्मभक्तिसमर्पितात्मना महात्मनां मतमालोच्य जिज्ञास्य वा भवेदित्यपूर्वा काऽपि लोकाभिमुखी यथार्थान्वेषिणी प्रवृत्ति. शास्त्रालोचनैकधिया पण्डितप्रवराणामिति मत्वा नितरा मोदमनुभवन्नपि स्वकीयं ज्ञानदैन्यमपात्रत्व च विमृशन् जिह्रेमि किमपि वक्तुम् । तथापि 'परगुणपरमाणून् पर्वतीकृत्य नित्यं निजहृदि विलसन्तः' स्नेहवन्तो भवन्तो न गणयिष्यन्ति मदीयानि त्रुटिविच्युतिस्खलनानि, अपास्य चासाराणि फल्गुवचांसि तदेव ग्रहीष्यन्ति यद् ग्रहणोचितमिति विचिन्त्य किमपि वक्तुमुत्सहे ।

अपभ्रंश कालत एव शतृ-मतुप्प्रत्ययान्ता संस्कृतशब्दा अन्तान्ता बभुवु.—हसन्त-सन्त-भगवन्त-हनुमन्तादिवत् । त एवापभ्रंशशब्दाः हिन्दीभाषायामपि गृहीताः रिक्थभूता । 'सन्त' शब्दोऽपि 'सत्'शब्दस्य अपभ्रंशरूप एव काञ्चिदर्थपरिवृत्ति प्राप्य सामान्येन शीलविनयसम्पन्ने साधुपुरुषे, विशेषतश्च भगवदर्पितात्मनि भक्तजने सङ्केतितो जातः । साम्प्रतिके च कालेऽयमेव 'सन्त'शब्दोऽर्थसङ्कोचमुपलभ्य निर्गुणभक्तिमार्गप्रवृत्तानां नामदेव-कबीर-रविदास-नानक-दादूप्रभृतीनां भगवद्भजनमेव चरमचारितार्थ्यं मन्वानानां भक्तानामर्थे रूढः सञ्जातः । एते हि भक्ताः स्वसंवेद्य ज्ञानमेव पर प्रमाणम्, न पुन श्रुति-स्मृति-पुराणप्रथितान्याप्तवाक्यानीति वदन्ति । नैते श्रद्दधति तीर्थस्नानव्रतानुष्ठानयज्ञयागादिकर्मजातम् । बहुमानयन्ति हि सत्यतपोब्रह्मचर्यशमदमतितिक्षार्जवप्रभृतीन् सनातनधर्मान्, अवमानयन्ति च भगवद्भजनान्तरायभूतानि भोगवृत्तिवर्धनानि मद्यमांससेवनानि, मिथ्याचारभूतानि सिद्ध्यादिचमत्कारप्रदर्शनानि, असयतविलासमयान्याचरितानि । एतेषा लोकभाषानिबद्धा वाचो निरलङ्कारा अपि सहृदयजनप्रीतिभाजोऽभवन्, सहजमानवधर्मप्रतिपादनसामर्थ्यात्, निसर्गसौन्दर्यप्रकाशनक्षमत्वात्, भगवत्प्रेमप्रख्यापनयोग्यत्वाच्च । नेमा वाचो क्रमबद्धतर्कयुक्तिमूलां पूर्वपक्षोत्तरपक्षनिर्णयादिपरां शास्त्रसरणिमनुसरन्ती दर्शनशब्दप्रकाश्यां पदवीमधिरोहन्ति; भगवद्भजनैकलक्ष्याम्, रागवर्जितां सहजमानवधर्मप्रख्यापिनीं शीलविनयसदाचारप्रवणामकुतोभया समग्रां जीवनदृष्टिं तु दर्शयन्त्येव । आसां निष्कलुषहृदयसमुच्छ्रितानां वाचा महिमा तु तत्कालीनसामाजिकपरिस्थितिसन्दर्भ एव सम्यग्गन्तुं शक्यते । अत एव स एव सन्दर्भः सक्षेपतोऽत्र स्पष्टीक्रियते ।

वैक्रमाब्दस्य चतुर्दशशतकादनन्तरमेव 'सन्त' इति नाम्ना प्रसिद्धानां निर्गुणमतानुसारिणामेषां भक्ताना स्पष्टतरः प्रभावो दरीदृश्यते । तत्कालीनजनचेतसि प्रभावमुत्पादयद्भ्यो निर्गुणब्रह्मवादिभ्यो नाथमतानुयायिभ्य एषां साधनगत साध्यगतं च पार्थक्यमासीत् । ते हि भक्तिमार्गं न तथा श्रद्दधति स्म यथा एते

सन्तपदवाच्या महात्मान.। अत एव सत्यपि निर्गुणमेवोपास्यत्वेन समादृते, व्यावर्तते खलु भक्तिभावना सन्तानिमान् ज्ञानबद्धदृष्टिभ्यो योगिभ्यः।

इतः पूर्वमस्मिन् देशे इस्लामाख्यस्य 'मजहब'रूपस्य धर्ममतस्य प्रवेशादननुभूतपूर्वः कश्चित् सांस्कृतिको द्वन्द्वः प्रादुरासीत्। ततोऽपि पूर्वं तु बह्वयः शकहूणादयो जातयः प्राविशन्नस्मिन् देशे देशान्तरेभ्यः। कमप्यल्पकालीन समाजसंक्षोभ जनयन्तोऽपीमा जातयः कालक्रमेण वर्णव्यवस्थायामेव स्वगुणकर्मानुरूपं किमपि स्थानमध्यकुर्वन्; स्वकीयं वैशिष्ट्य रक्षमाणा अपीमा जातयो विशालतराया महाजातेरेवाङ्गतां प्रापुः। इस्लाममतानुयायिनस्तु न तथाविधं विलयमङ्गीचक्रुः। तेषां हि सुसंघटितं स्वाधीनं सुदृढ धर्ममतं न केवलं वर्णव्यवस्थामवामानयत्, अपि तु आक्रामकमपि सञ्जातम्। अत्र हि भारते कस्याश्चिज्जातेः शनैः शनैः संस्कारं स्वेच्छया स्ववैशिष्ट्यरक्षणपूर्वकं वेदविहितसनातनधर्माङ्गीकरणं ज्ञातमासीद् भारतीयानाम्, न पुनर्व्यक्तिविशेषस्य स्वजातिवैशिष्ट्यत्यागपूर्वकमन्यधर्माङ्गीकरणम्। इस्लामधर्मानुयायिनां तावदन्यमतावलम्बिव्यक्तिनिगरणोत्साहोऽदृष्टश्रुतपूर्वश्चासीदत्रत्यानाम्, एते हि इस्लाममतानुयायिनः चिरकालसम्मानितानां देवमन्दिराणा देवप्रतिमानां च विध्वंसनं विकृतकरणं च महत्पुण्यप्रदमिति सोत्साह सोल्लासं च मन्यन्ते स्म। नानाजातिविभक्ते समाजे, नूतनचिन्तापराङ्मुखे विज्ञजने, शिथिलितराजशक्तौ राजन्यजने, टीकामात्रैकप्रयासपरायणे विद्वज्जने, निर्वापिततेजसि भारतीये समाजे काऽपि सङ्कोचनशीला कुण्ठितावगुण्ठिता च प्रवृत्तिः प्रादुर्बभूव। हतदर्पे मानहीने चास्मिन् समाजे सन्ता इमे नवतरामाशां सञ्चारयामासुः। सारग्राहिणः इमे भक्ता भगवद्भजनान्तरायभूतानि सर्वाण्येव मिथ्याचाराणि वर्जयन्तः सहजमानवधर्ममहिमानमुज्जुघुषुः, प्रस्तूय च इस्लामसमानान्तरामपि सहजतरां समाजव्यवस्थाम्, गृहीत्वा च भारतीयपरम्पराप्रथितं सारभूतमध्यात्मसत्यम्, समुपदिश्य च सत्याचरणं वर्णव्यवस्थाया निम्नस्तरे विद्यमानानां लोकाना चेतसि सुप्रतिष्ठा हीनताग्रन्थि सर्वथा चिच्छिदुः। एते खलु महाभागा लोकचेतस्यभिनवां कामपि जीवनदृष्टिं सविवेकं प्रतिष्ठापयितुमयतन्। महानयमासीद् आशाविश्वासजनकः प्रयत्न.। सद्भावकृतं प्रयत्नमेव महिमानमाख्यपयति प्रयततान्, न पुन. साफल्यम्। एतेषा सहजधर्मप्रतिष्ठापनमार्गे साफल्यान्तरायभूतानि बहुविधानि कारणान्यासन्। अत्र तु तेषा परिगणनं नाभीष्टम्। कुण्ठिते खलु स्वाधीनचिन्तने प्रवर्तयामासुरेते कामपि नवीनां दृष्टिम्। सेयं दृष्टिरेव श्लाघ्या, न तु यथाविधि सोहापोहमालोचित दर्शनमिति पूर्वमेव मयोक्तम्।

एषा मते तु निर्गुणो राम एवाराध्यः, न तु दाशरथी रामः। वदतो व्याघातदोषदुष्ट इव श्रूयतेऽयमुपदेशः। कथं नाम निर्गुणः समाराध्यो वा समुपास्यो वा परमप्रेमविषयो वा भवितुमर्हति ? एतेषां लोकभाषानिबद्धासु वाणीषु निर्गुणोऽपि राम. परमानुग्रहकारी, जगदुद्भवरक्षणसंहारहेतुः, दयादाक्षिण्ययुक्तः, परमप्रेमपरायणो भक्तवत्सलश्च कथितोऽस्ति। एतेन त्विदमवगम्यते यदिमे महात्मानो

निर्गुणशब्देन गुणमयदेह-प्रतिमा-प्रतीकाद्यप्रकाश्यमेवार्थं लक्षयन्ति, न तु निर्विशेषम्, नापि निष्क्रिय ब्रह्म। एषा वाणीषु परमपरं च परतत्त्वमेकेनव निर्गुणशब्देनाभिहितमस्ति। इस्लामधर्मस्य जगत्स्रष्टा अल्लाहाख्यो हि एक एव ईश्वरोऽप्यनेन निर्गुणशब्देनैव समादृतो भवेदिति प्रतिभाति। अय निर्गुणो राम. सर्वगतः सर्वातीतः सर्वरूपो निखिलानन्दसन्दोहः सर्वरमणीयः। अनुगृह्णात्यय भक्तजनान्, वितरति च परिपूर्णानन्दं प्रपञ्चेभ्यः, प्रीणात्यसौ जपस्मरणाभ्या गुणानुकीर्तने न च। नायमवतरति त्रिगुणात्मके देहे, न च केवलं देवमन्दिरमस्जिदादयुपासनास्थल एव वर्तते, अपि तु सर्वान्तर्यामी सर्वव्यापकश्चास्ति। नायमुपलभ्य पूजानमाजप्रभृतिभिर्बाह्यप्रदर्शनपरैः कृच्छ्राचारैर्वा अहैतुकी नान्यभरा च भक्ति सर्वात्मना शरणागतिरेवास्योपलब्ध्युपाय.। गुरूपदिष्टविधानेनाचरित निरन्तर नामस्मरणम्, गुणकीर्तनम्, सतत ध्यान चास्यक्षोः साधनानि। आरूढस्य तु भक्तस्य तत्सर्वमपि निष्प्रयोजनम्। यावत् कर्मजात तु तस्याराधनमेवेत्यात्मिका सहजसमाधिस्तु चरमोपलब्धिः, भगवत्प्रेमैव महान् पुरुषार्थः। ततश्चानन्या भक्तिरेव अपुनर्भवस्याव्यवहितोपायभूता, सद्गुरूपदिष्टानि कर्माण्यपि भक्तेरेवाङ्गभूतानि साधनानि।

अयं हि निर्गुणो रामः स्वमायाशक्त्या सर्व रचयति। मायैव भ्रामयति देवासुरमनुष्यान्। यत्किञ्चित् क्षणिक गमनागमनधर्मि परतत्त्वोपलब्ध्यन्तरायभूत तत् सर्व मायाकृतम्, मायैव वा। प्रपन्ना भक्ता एव मायामेता तरन्ति। सिद्धा अपि योगिनो भ्रमन्ति सिद्धिसन्धानैकदृष्टय। इस्लामधर्मे यत्स्थानमधिकुरुते 'शैतानः' तदेवैषां मते मायाऽप्यधिकुरुते। अन्तर त्विद यत् 'शैतानः' तावद् अल्लाहाभिधेयस्येश्वरस्य शत्रुः, माया तु रामस्य मोहजनयित्री शक्तिरेव। रामः खलु मायापतिस्स्वानुग्रहशक्त्या भक्तान् रक्षति मायाप्रपञ्चात्।

कबीरादिभक्तनां वाणीनामाधुनिकपद्धत्या विश्लेषणविवेचनपरायणा विद्वांसस्तत्र कदाचिद् विवर्तवादप्रत्याख्यानम्, कदाचित् परिणामवादखण्डनम्, कदाचिदद्वैतप्रवणा विचारसरणि कदाचिच्च विशिष्टाद्वैतमतानुसरणमन्वेषयन्ति। एतेन मादृशानामल्पबुद्धीना परं व्यामोहमुत्पादयन्ति। किमेतत्सर्वं सत्यम्? वस्तुतस्तु सहजभक्ता इमेऽनुभवगृहीतं सत्य वक्तुकामास्तां ता विचारणा खलु भगवत्तत्त्वस्यावाङ्मनोगोचरत्व ज्ञातवस्तुमात्रविलक्षणत्वमनिर्वचनीयत्व च बोधयितुमेव तां ता विचारणामवतारयामासुः। वचसामगोचर हि किमप्यनिर्वचनीय कथं शब्दैर्व्याक्रियमाणं भवेत्? इङ्गितमात्रेणैवास्य संकेतः शक्य.। शब्दास्तु नियतार्थसंकेतिता न प्रभवन्ति व्याख्यातु सीमातीत नियतिरहित पर तत्त्वम्। नेमे भक्ताः शब्दरचनायामर्थकल्पनायां वा पटवः। उक्तं हि महता क्लेशेन केनापि भगवद्भक्तेन—"ये यत्राधिककल्पनाकुशलिनस्ते तत्र विद्वत्तमाः, स्वीयं कल्पनमेव शास्त्रमिति ते जानन्त्यहो पण्डिताः" सदैव हि अनुभूतिपराः परतत्त्वनिदर्शिन्यो वाचो व्याख्यापरवशा बह्वर्थप्रतिपादिन्यो जायन्ते। अनुभवैकदृष्टयो हि महात्मानो न शक्नुवन्ति अशब्दप्रकाश्य तत्त्वं प्रकाशयितु वैखरीवाग्भिः। महताश्चर्येण कथयन्ति च कबीरोक्तिमिमाम्—"ऐसा लो नहि तैसा लो! मैं केहि विधि कहौं अनूठा लो!" वैक्रमाब्दस्योनविंशशतकानन्तरमेषा शिष्यप्रशिष्येषु शास्त्रज्ञा विद्वांसोऽपि बभूवुः। ते तु कबीरकृतं बीजकं श्रुतिस्वरूपमुपकल्प्य टीकाव्याख्यादिभिर्निर्गुणमतं हि क्रमबद्धदर्शनपदं प्रापयितुमयतन्त। रीवांनरेशो महाराजविश्वनार्थासिंहः कबीरबीजके श्रुतिपुराणागमप्रतिपादितं द्विभुजं राममेव परमाराध्यरूपं व्याचष्टे। विशिष्टाद्वैतसिद्धान्त एवास्य सम्मतं इति प्रतिपादयामास। नानाशास्त्रवाक्यसमर्थिता

महता परिश्रमेण लिखितापीयं टीका न सम्प्रदाये समादृताभूत्। ततश्च पूर्णदासेन महात्मना तिर्ज्यानाम्नी टीका कृता। तत्र अद्वैतमतखण्डन कृतं महता सम्भारम्भेण। अद्वैतवादिभिः प्रतिपादितं ब्रह्म खल्वस्य मते 'धोखा' ब्रह्मैव। 'धोखा' इति भ्रान्ति-पर्यायः। अद्वैतमतप्रतिपादित ब्रह्म तु भ्रान्तिजन्यमेवेत्यस्य सिद्धान्तः। अनेन मतेन वैष्णवाचार्याणां जीवगोस्वामिपादानाम् "यस्य ब्रह्मेति संज्ञां क्वचिदपि निगमे याति चिन्मात्रसत्ता" इत्यादिका उक्तिरेव स्मृतिपथमायाति। अनेन जीवस्याणुत्व-नित्यत्वादिधर्मा विशिष्टाद्वैतमतानुसारमेव प्रतिपादिताः। तत्कालप्रचलिता हि लोकभाषा न समर्थाऽऽसीद् दर्शनविचारगाम्भीर्यमुद्वोढुमित्यत एव नेयं टीका पण्डितजनध्यानमाकृष्टु प्राभवत्, तथापि नैतत संशयास्पदं यदनेन किमपि नूतनं विचारजातं प्रदत्त लोकभाषायाम्। अन्ये च बहवो विद्वांसो मीमांसकसरणि-मनुसरन्तः कबीरवाक्यानि 'बीजक'न्यस्तानि गुरुमुखब्रह्ममुखमायामुखजीवमुखभेदेन व्याकुर्वन्तो गुरुमुख वाक्यान्येव प्रमाणभूतानि नेतराणीति व्याचख्युः। अन्ये च बहुविधानि व्याख्याभूतानि पुस्तकजातानि निबबन्धुः। एवं हि युक्तितर्कपरं वाङ्मयं विनिन्युः।

एवमेव नानकवाणीष्वपि टीकाकृद्भिर्वेदान्तप्रतिपादितानि मतानि व्याख्यातानि। दादूदयालवाक्यान्यपि शास्त्रविदां विश्लेषणविलासमावहन्; परन्तु, *अनुभवसिद्धाः सरला इमा वाचः सहजसत्यरूपेणैव स्वीकार्याः सन्ति। व्याख्या त्वेषा* यथापूर्वं बुद्धिवलापेक्षैवेति प्रतिभाति। वस्तुतस्त्वेते भक्ता सृष्ट्युद्भवादिव्यापार-मागमानुसारेणैव कथयन्ति। आगमिनस्तु "परमानन्दविभवात् सकलात् परमात्मन.। आसीन्नादस्ततो बिन्दुस्तस्मात् सृष्टिसमुद्भवः" इति वदन्ति। कबीरमन्सूरप्रभृतिग्रन्थेषु व्याख्याताः सिद्धान्तास्तु संग्रहश्लोकैरेभिरुपसंहर्तुं शक्यन्ते—

परमानन्दविभव यत्तत्व परतः परम्।
सकलत्वं गम्यमानं सहज भावमास्थितम्॥ 1॥
अंकुरत्व व्रजत्यस्मात् परेच्छा संप्रवर्तते।
इदन्ताऽहन्तयोर्योगं पर सोऽहमुदीर्यते॥ 2॥
अचिन्त्यरूपतां यात्यक्षरं च ततो भवेत्।
तस्मात् सृष्ट्यर्थं यतन् देवो निरञ्जन इहोच्यते॥ 3॥

एतत् सर्वं ह्यागममतविस्तार एव। यद्यपि "द्वैताद्वैतविलक्षणं परतत्त्वम्" इति वदन्त्येते, तथापि व्यवहारे विशिष्टाद्वैतमतस्य निरूढतरमेवैषा मतमित्यनुमीयते। सूफीसाधकेभ्यः परमप्रेमसिद्धान्तो गृहीत एभिरिति मन्ये। किन्त्वेषां महिमा न स्फुरति दार्शनिकीषु कल्पनासु। एते हि निराशाग्रस्ते विचिकित्साविजडिते च समाजे अभिनव कमपि आशाविश्वासदीप प्रज्वालयामासुर्भक्तिभावनासञ्चारेण शुद्धशीलसदाचारोन्मुखीकरणेन च लोकानाम्। एषा भक्ताना महिमा लोकचित्त एव भगवद्भक्तिपरायणीकरणे, क्षुद्राण्यस्थिराणि भोगवर्द्धनानि वस्तून्याचरणानि चापहाय परमप्रेमस्वरूपे भगवति विश्वासोत्पादने सघटितस्याक्रामकस्य च धर्ममतस्य गत्याः शिथिलीकरणे च द्रष्टुं शक्य इति॥

[वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय द्वारा आयोजित अखिल भारतीय दर्शन परिषद के अधिवेशन में 25 दिसम्बर, 1967 को पठित भाषण]।

हजारीप्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली हजारीप्रसाद द्विवेदी
ग्रन्थावली हजारीप्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली
हजारीप्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली हजारीप्रसाद द्विवेदी
ग्रन्थावली हजारीप्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली
हजारीप्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली हजारीप्रसाद द्विवेदी
ग्रन्थावली हजारीप्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली
हजारीप्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली हजारीप्रसाद द्विवेदी
ग्रन्थावली हजारीप्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली
हजारीप्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली हजारीप्रसाद द्विवेदी
ग्रन्थावली हजारीप्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली
हजारीप्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली हजारीप्रसाद द्विवेदी
ग्रन्थावली हजारीप्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली
हजारीप्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली हजारीप्रसाद द्विवेदी
ग्रन्थावली हजारीप्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली
हजारीप्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली हजारीप्रसाद द्विवेदी
ग्रन्थावली हजारीप्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली
हजारीप्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली हजारीप्रसाद द्विवेदी
ग्रन्थावली हजारीप्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली
हजारीप्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली
ग्रन्थावली हजारीप्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली
हजारीप्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली
ग्रन्थावली हजारीप्रसाद द्विवेदी
हजारीप्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली
ग्रन्थावली हजारीप्रसाद द्विवेदी
हजारीप्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली
ग्रन्थावली

ज्योतिष की परीक्षा [illegible] उत्तीर्ण की। शान्ति निकेतन प्रवास [illegible] (1930-1950) ई. [illegible] का [illegible] आचार्य [illegible], [illegible], [illegible] [illegible] और [illegible] [illegible]। 1957 ई. में [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]। 1957 ई. में संस्कृत साहित्य में [illegible] और 1960 में [illegible] [illegible] [illegible] की [illegible] [illegible]।

ये नवम्बर 1950 को हिन्दी [illegible] से [illegible] में [illegible] [illegible] 1950 से 1950 तक 'विश्वभारती' पत्रिका का सम्पादन, कलकत्ता (1948-50) 'विश्वभारती' पत्रिका का सम्पादन (1950-53); हिन्दी भवन, विश्वभारती के संचालक 1945-50; लखनऊ विश्वविद्यालय से सम्मानार्थ डॉक्टर ऑफ लिटरेचर की उपाधि 1949 तथा 1950 में काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में हिन्दी प्रोफेसर और हिन्दी विभागाध्यक्ष के पद पर नियुक्त। विश्वभारती विश्वविद्यालय की कार्यकारिणी के सदस्य 1950-53; काशी नागरी प्रचारिणी सभा के अध्यक्ष 1952-53; साहित्य अकादमी दिल्ली की साधारण सभा और प्रबन्ध-समिति के सदस्य; नागरी प्रचारिणी सभा, काशी के हस्तलेखों की [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] से लेकर, पंजाब विश्वविद्यालय चण्डीगढ़ के हिन्दी प्रोफेसर और विभागाध्यक्ष [illegible] [illegible] रेक्टर के पद पर भी रहे। 1973 में 'आलोक पर्व' पर साहित्य अकादमी पुरस्कार। जीवन के अन्तिम दिनों में उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान के उपाध्यक्ष रहे। 19 मई 1979 को देहावसान।